॥ श्रीमते रामानुजाय नम ॥

अस्मद्गुरुभ्यो नमः

शरणागति मीमांसा

लेखक—

श्री मदनन्त श्री जगद्गुरु भगवद्रामानुज संरक्षित
विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ
महात्मा श्री १००८ श्री प्रगट स्वरूप
सरकार श्री अयोध्या वैकुण्ठ
मण्डपस्थ
श्री स्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज

प्रचारक—
परम भागवत श्रीमान् रामजीलालजी कावरा

प्रथम वार ३००० | मूल्य ३) | संवत् २०१३

॥ श्रीमते राजानुजाय नम ॥

अस्मद्गुरुभ्यो नमः

शरणागति मीमांसा

जगद्गुरु भगवद्रामानुज संरक्षित विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य अयोध्या वैकुण्ठ मण्डपस्थ श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज के भ्रातृ पुत्र स्वामीजी श्री वैकुण्ठाचार्यजी महाराज की आज्ञा से र्० पी० प्रान्तीय पिपरिया ग्राम निवासी परम भागवत श्रीमान राधावल्लभजी गवरा के कनिष्ट भ्राता परम भागवत कावरा कुल भूषण श्रीमान रामजीलाल... कावरा ने इस ग्रन्थ-रत्न को मुमुक्षु जनों के कल्याणार्थ प्रचारित किया।

श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी वैकुण्ठाचार्यजी महाराज

वाणाद्रियोगिपदपङ्कजमक्तमीता—रामार्यदेशिकपदाम्बुजभृङ्गराजम् ।
श्री गर्गवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्र—वैकुण्ठदेशिकमहंशरणं प्रपद्ये ॥

इस अपूर्व ग्रन्थ के रचयिता श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी सीतारामाचार्य जी के आप भ्रात पुत्र, शिष्य तथा वर्तमान वैकुण्ठ मण्डपाधीश हैं। आप दर्शन शास्त्र के अद्वितीय विद्वान एवं भगवत साक्षात्कार सम्पन्न हैं। आप ही के अथक परिश्रम के फल स्वरूप इस ग्रन्थ रत्न का प्रकाशन हुआ है।

श्री वैकुण्ठाचार्य आर्य जनता उर चन्दन ।
वैवस्वत मन्वन्तर अन्तर शतश वन्दन ॥

श्रीमते रामानुजाय नम

भूमिका

— लेखक —

श्री श्री १००८ श्री स्वामी वैकुण्ठाचार्यजी महाराज

पाताल से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त, कीट से लेकर ब्रह्मा तक, अतीत से लेकर वर्त्तमान तथा भविष्यकाल को देखे, देख रहे हैं और देखेंगे किन्तु सब जगह दुःख के अतिरिक्त और कुछ न मिला है, न मिल रहा है, न मिलेगा। अनन्त काल से अनन्त योनियों मे दुःख से छुटकारा पाने वास्ते अनन्त प्रयास करने के पश्चात भी दुःख के भयकर गढ्ढे से अलग नहीं हुए और होते भी कैसे ? जब तक कि इस अनित्य मायिक जगत में आवागमन का क्रम चालू है, ब्रह्मलोक से लेकर पाताल तक कही भी चौदहलोक के अन्दर चले जाइए, कैसा भी अधिकार प्राप्त करिए, प्रचुर मात्रा में सुख सामग्री संग्रह कर लीजिए किन्तु वे सब कुछ हैं स्वप्नवत। एक भिक्षुक सडक के फुटपाथ पर रहकर निर्वाह करने वाला स्वप्नावस्था में अपने को एक राजसिंहासन पर राज चिह्नों से युक्त अनेक सेवकों के बीच देखता है, उसका देखना घण्टे दो घण्टे का है और हमारा दश, बीस, पचास, सौ वर्ष का। ब्रह्मा तक तो अपने नियत समय पर्यन्त ब्रह्मलोक में निवास कर पुनः काल के गाल में प्रवेश कर जाते हैं (आब्रह्मभुवना लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन) इस गीता वचन के अनुकूल। फिर दूसरे की बात ही क्या है। जेल का अपराधी चाहे जिस क्लास में रहे "सी" "बी" अथवा "ए" में, वह है अपराधी। जेल के अन्दर रहकर कोई सुखी नहीं बन सकता। यह चौदह लोक जेल खाने के समान है, स्वप्न विभूति के तद्वत है। यहा के हमारे सब कार्य वैसे ही हैं जैसा नियत समय के लिए एक

सुन्दर धमशाला में रहने वाला मनुष्य का कार्य। एक मनुष्य थोड़ा धन लेकर एक सुन्दर नगर में जहाँ व्यापार की विशेष सुविधा है जाता है अपने पिता की आज्ञा से। उद्देश्य यह है कि इस थोड़े धन से व्यापार कर लक्षपति होकर पिता को घर आकर सन्तुष्ट करूँगा; एक धर्मशाला में स्थान पाता है जहाँ से व्यापार का कार्य सुन्दर रूप से हो सकता था किन्तु वह मूर्ख बच्चा अपने उद्देश्य को भूलकर अपना सब धन उसी धर्मशाला के सजाने में लगा दिया जिसको अवधि समाप्त होने पश्चात इच्छा न होने पर भी छोडना पड़ेगा यह जानकर भी। अन्त में परिणाम यह होता है कि पिता की आज्ञा के विरुद्ध स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने से पिता के समीप न पहुँचकर अनेक कष्टों का पात्र बनता है, एक योग्य पिता का पुत्र होकर भी पद-पद पर अपमानित होता है, जिसके पिता के द्वारा सहस्रों का निर्वाह होय उसका पुत्र एक-एक कण अन्न के लिए दूसरे का मुख देखता है, हम चेतनों की भी ठीक यही स्थिति है। अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक श्रियःपति भगवान नारायण की आज्ञा से हम चेतन रूप, पुत्र सुन्दर नगररूप मृत्युलोक में सुन्दर धर्मशाला रूप देवदुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त किये, जहां से भगवत्प्राप्तिरूप व्यापार कार्य सुन्दर रूप से हो सकता है। नियमित पांच, दश, पचास, वर्ष की आयु को ही थोड़ा धन समझिये। इस थोड़े धनराशि से लक्षपति होना है। श्री भगवच्चरण रूप जिस महा धन के मिलने बाद गरीब होकर दुःख भोगने की सम्भावना नहीं है, अर्थात् मरना न होगा भगवान के इस कथनानुकूल (मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते) भाव यह हुआ कि हमको प्राप्त करने के बाद चेतन जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ता। जन्मता वही है जो मरता है। यह ध्यान रहे कि दूसरा लोक तथा दूसरी योनि भगवत्प्राप्ति के लिये उतनी अनुकूल नहीं है जितना कि भूलोक तथा मनुष्य शरीर। तभी तो देवगण भी मनुष्य शरीर से धरातल पर आना चाहते हैं। उसमें भी भारत तथा भारतियों का स्थान प्रथम है क्योंकि प्रारम्भ से ही भारतियों का दृष्टिकोण अध्यात्म वाद के तरफ रहा। अन्य देश निवासी मनुष्यों को भी आध्यात्मिक शिक्षा भारतीय गुरु जनों से ही मिली जब कि मानव जगत भौतिकवाद के चकाचौंध में पड़ अपने कर्त्तव्यपथ से विमुख मानवता के स्थान पर पशुता का व्यवहार प्रारम्भ करता है; तब पथ भ्रष्ट पथिक को यथार्थ पथ का ज्ञान भारतीय गुरुजन तथा उनके धर्म और संस्कृति से प्राप्त होता है। हमारे इन वाक्यों पर आज

के आर्य बच्चे भले ही विश्वास न करें क्योंकि आजकी इनकी शिक्षा दीक्षा इनके स्वरूप को बिगाड़ने वाली है। किन्तु मुसलमान भक्त रहीम तथा रसखान के ये पद इसके लिए पर्याप्त प्रमाण हैं—(लिख्यो पढ्यो नहिं जप कियो तप न कियो गजराज। रहिमन फूल दिखाय के टेर लियो ब्रजराज)।

रहीम के इस पद से स्पष्ट होता है कि परमभक्त श्री रहीमजी अपने को समझा रहे हैं कि रहीम! हिन्दुओं के पौराणिक कृष्ण जो ब्रज मे जाकर अपने आश्रित कल्याण वास्ते अनेक चरित्र किये, जो एक पशुयोनि प्रवृत गजराज को आर्त्तपुकार पर गरुड को मार्ग मे ही छोड-कर अपने आश्रित की रक्षार्थ दौड पडे, फिर तुम यदि प्रेम से उस सौशील्य, वात्सल्य, सौलभ्यादि अनन्त दिव्यगुण निकेतन श्यामसुन्दर यशोदानन्द ब्रजराज श्री कृष्णचन्द्र को बुलावो और वह प्रियतम प्रभु दौड कर तुमको हृदय से लगा, अपने चरणो मे स्थान दे, अपना सेवक बना लेवें; इसमें कौन आश्चर्य है। क्योंकि तुम मनुष्य हो उस प्रभु की प्राप्ति के लिए तुम्हें विशेष अधिकार प्राप्त है। लौकिक कार्य जिससे देह का पोषण सम्भव है वह सब योनियों में हो सकता है, किन्तु आत्मकल्याण का कार्य तो मनुष्य योनि से ही विशेषतया होना निश्चित है। अखिल कोटि ब्रह्माण्डनायक जगत्पिता श्री कृष्ण हिन्दूजाति तथा हिन्दू देश में इसलिए प्रकट हुए कि इस देश के निवासी उनमे विशेष श्रद्धा तथा विश्वास रखते हैं। उनकी प्राप्ति के लिए ही मनुष्य जीवन का निर्माण है। उनकी सेवा ही इसका यथार्थ फल है और भौतिकवाद को गौण तथा अध्यात्मवाद को मुख्य समझ रखे हैं।

यावत् स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्चदूरेजरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनाशुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोदीपे भवने च कूप खननं प्रत्युद्यमः किदृशः॥

इसका भाव यह हुआ कि जब तक तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, वृद्धावस्था नही प्राप्त है, इन्द्रिय शक्ति भी ठीक है, आयु के रहते हुए आत्म कल्याण का कार्य कर लो। शरीर का सब कुछ आत्म कल्याण के वास्ते ही है यह इनका ध्येय है। एक अन्य देशीय मनुष्य से

कहा जाय कि अमुक कार्य अच्छा है करलो, तो उसका प्रश्न होगा क्या इससे पेट भरेगा? किन्तु एक भारतीय से कहा जाय तो वह यह कह पडेगा कि क्या इससे मोक्ष हो जायेगा? अर्थात् जन्म-मरण के भयंकर कष्ट से छुटकारा मिल जायेगा? पिता के अनेक पुत्र हैं किन्तु वह पुत्र विशेष प्रिय है जो पिता को विशेष चाहता है। जिसका जीवन ही पिता की सेवा वास्ते है। पिता का निवास भी विशेषकर अपने सेवक पुत्र के ही घर में होता है। यही रहस्य भगवान श्रीराम, कृष्णादि अवतार का है। किन्तु भारत देश में रामकृष्णादि रूप सेआये हुए धर्म तथा धार्मिक जनकी रक्षा करने वाले चक्रवर्ती राज्य को त्यागकर वनवासी वेष में निषाद तथा जटायु जैसे चेतनों को भी हृदय से लगाने वाले, अठारह अक्षौहिणी सेना के बीच में सारथी बनकर अर्जुन जैसे आज्ञा की अवहेलना करने वाले की रक्षा, की प्रतिज्ञा करने वाले हिन्दुओं के भगवान तथा उनका धर्म केवल हिन्दुओं के ही नही अपितु मुसलमान, इसाई, पारसी यहूदी इत्यादि चेतन मात्र के हैं चाहे वह किसी देश का निवासी हो। भगवान श्री कृष्ण तो "पापयोनयः" कहकर पशुपक्षी कीट तक के हम हैं, इन को भी हमारी प्राप्ति का अधिकार है यह युद्ध के मैदान में घोषित किये और कहे ही नहीं गजराज आदि को अपनाकर हम मनुष्यों को स्पष्ट बता भी दिए। अतः अध्यात्मवाद का गुरु भारत ही है। मानव मात्र को समय-समय से अध्यात्म-वाद का उपदेश यहां ही से प्राप्त हुआ है, होता है, और होगा। परम विश्वासी भक्त रसखान ने तो अपने पदों में नन्दनन्दन भगवान श्री कृष्ण की सुगमता और सुलभता की हद्द कर दी। "ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं" इत्यादि अनेक पद ऐसे ही भाव पूर्ण श्री रसखानजी के हैं, जिनको लेख बढने के कारण नहीं लिख रहे हैं। आर्य सन्तान कहलाने वाले जिन भारतियों की मानसिक शक्ति पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से संकुचित हो गई है, पाश्चात्य विज्ञान के चकाचौंध में हृदय भाव बदल गया है अतः आर्य संस्कृति तथा धर्म सत्ता के प्रतिपादक श्रुति स्मृति, पुराण, महाभारत, रामायण तथा गीता आदि धर्म ग्रन्थ कपोल कल्पित दिखते हैं। अवतारवाद तथा मूर्ति पूजा और प्राचीन भारतीय सभ्यता पर तर्क उठते हैं। उन भारतीय बन्धुओं से हमारा कहना है कि रहीम तथा रासखान के भाव पूर्ण पदों से अपनी भूल को सुधारें। मैं फिर कहता हूं यह मनुष्य जीवन जो देवताओं के

लिये भी दुर्लभ है बार-बार नहीं प्राप्त होगा। "कीटेषु जन्म शतकोटि नु मानुषत्वम्" इस शास्त्र वचन के अनुकूल करोड़ों जन्म कीटादि योनियों में भ्रमण करने के बाद भगवान की परम दया से यह अवसर प्राप्त हुआ है और वह भी तब, जब कि अनन्त काल से जन्म-मरण के भयंकर कष्ट को भोगते हुए, उससे घबडा कर यह कह पड़े थे कि "मृतश्चाहं पुनर्जातः जातश्चाहं पुनर्मृतः" हाय! जन्म लिया फिर काल के गाल में गया, पुनः माता के गर्भ में नव मास भयकर अनेक कष्ट सहने के बाद गर्भ से बाहर आया, संसार में अनेक सुख दुःख का पात्र बन, पुनः मृत्यु के मुख में प्रवेश किया, यह कितना भयकर क्रम है; तब वह सर्व विधि बन्धु आपत्सख श्रीमन्नारायण हम अकिञ्चन चेतनों के अनादि पिता कृपा पूर्वक यह मनुष्य शरीर प्रदान किये और किये इस जन्म-मरण रूप भयकर कष्ट से छुटकारा पाने के लिए सत्-शास्त्रों में कर्म, ज्ञान, भक्ति का उपदेश। किन्तु काल कर्म स्वभाव के पाश में बंधा हुआ, अनादि काल का बिगड़ा हुआ यह चेतन इन कठिन साधनों के सम्यक् सम्पादन में असमर्थ इनके द्वारा हमारे समीप पहुँचनेमें असफल रहेगा, यह विचार दया सिन्धु हमारे प्रभु स्वयं श्रीराम कृष्णादि रूप से पधार कर इस लीलाविभूति में श्री रामायण तथा गीता जैसे सार्वभौम ग्रन्थ में अति सरल प्रपत्ति उपाय का प्रतिपादन किये। इसी प्रपत्तियोग का विषय जिसको साध्यभक्ति तथा शरणागति भी कहते हैं, "शरणागति मीमांसा" नामक ग्रन्थ में है, जिसकी यह भूमिका आपके समक्ष उपस्थित है। यों तो भगवत्प्राप्ति का अति सरल उपाय शरणागति शास्त्र का प्रकाश आपको श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, गीता आदि के सारतम् स्थलों में विशेषतः प्राप्त होगा। जहां इसका योग नहीं है वह ग्रन्थ असार, अल्पसार, सार और सारतर नाम से पुकारा गया है। किन्तु संस्कृत भाषा में कठिन शैली से प्रतिपादित होने के कारण संस्कृत भाषा-अनभिज्ञ सर्वसाधारण के लिये सुलभ न होते देख श्री मदनन्त श्रीजगद्गुरु भगवद्रामानुज सरक्षित विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य अयोध्या वैकुण्ठ मण्डपस्थ श्री श्री १००८ श्री सीतारामाचार्य स्वामीजी महाराज के द्वारा सर्वसाधारण के लाभार्थ सरल हिन्दी भाषामें इस अमूल्य ग्रन्थ "शरणागति मीमासा" का निर्माण हुआ। परमोदार भगवत्कृपा के प्रत्यक्ष स्वरूप श्री स्वामीजी महाराज निरन्तर इस विचार में रहा करते थे कि अनन्तकाल से श्रीभगवच्चरण विमुख चेतन श्री भगवच्चरण प्राप्त कर ले तो जन्म-मरण के भयकर कष्ट से

सर्वदा के लिये अवकाश पा जाय। आपके जीवन के विशेष भाग इसी कार्य में समाप्त हुए। पचासों वर्ष पर्यन्त आप भारत के अनेक प्रान्तों में जैसे सी० पी०, यू० पी० विहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, मारवाड़ आदि में निरन्तर भगवद्विषय का उपदेश देते रहे। आपके उपदेश से लक्षों नरनारियों का कल्याण हुआ, बडे-बडे नास्तिक भी श्री भगवच्चरणों में लगकर मनुष्य जीवन को सफल बनाये। कटनी पत्तन में २० वर्ष जो उपदेश हुआ उसका संग्रह "नित्य लीला ग्रन्थ" के नाम से ३ भागों में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ देखने से यह स्पष्ट होता है कि श्रीमदाचार्य चरण का धरातल में केवल इसीलिये अवतरन हुआ कि अगमवाद के चक्र में पड़ा यह चेतन अनन्तकाल से कष्ट पा रहा था सो भगवत्कृपारूप सुगमवाद को अपनाकर सुखी बन जावे।

"शरणागति मीमांसा" के पूर्व भी आपके द्वारा अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए जिनमें भगवत्प्राप्ति का सुलभ उपाय शरणागति का प्रतिपादन हुआ है। जैसे शरणागतोपदेश, सिय पिय मिलन छन्दावली। छन्दावली में तो यहाँ तक कहे कि—

इस देह में हरि मिलत हैं इस बात को भुलना नहीं।
मन इन्द्रियाँ वश हैं नहीं कलिकाल का अति जोर है॥
नहिं भक्ति ज्ञान विराग है इस चक्र में पड़ना नहीं।
दो पन्थ हैं हरि मिलन के एक सुकृत दूसरि हरि कृपा॥
निज कृपाश्रित को सुगम हरि संशय इमे करना नही॥

और भी अनेक पद इस भाव के हैं :—

श्री श्री स्वामीजी महाराज पर प्रत्यक्ष दर्शन देने की प्रभु कृपा किये थे और जिनका विश्वास इन वाक्यों पर हुआ उन्हें भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ और ये सब कुछ हुआ श्री स्वामीजी महाराज के सेवा विग्रह श्री श्री वेंकटनाथ के अनुग्रह से, जो प्रभु आज भी श्री अर्चा रूप से अयोध्या वैकुण्ठ मण्डप स्थान में विराजकर अपने श्री स्वामीजी महाराजके हृदय भाव को पूर्ण कर रहे हैं, जो छन्दावली के छन्द, छप्पय तथा अन्य पद्यों मे ओत प्रोत

हैं। अभी विक्रमीय सम्वत् २०१३ भाद्र मास में परमभागवत आचार्य निष्ठा अन्नपूर्ण स्वरूप महात्मा श्री ज्वालाप्रसादजी (जनार्दन रामानुज दासजी) तथा आपके भ्राता परम-भागवत श्रीमान् केशर देवजी (केशवप्रपन्नजी) और परम भागवत श्रीमान् मक्खनलालजी (माधवप्रपन्नजी) तथा पुत्र परमभागवत निष्ठा के प्रत्यक्ष स्वरूप श्रीमान हरिरामजी बागडोदिया के विशेष आग्रह से श्री मदनन्त श्री स्वामीजी महाराज के परम चार्य लाडिले श्री श्री वेंकट बाबू का पधारना कलकत्ता हुआ था। सेवा वास्ते साथ में श्री मद्चरणरेणु यह अकिंचन दास भी था। वहा पधारकर प्रभु श्री स्वामीजी महाराज के हृदय भाव को पूर्ण किये। परमभागवत श्रीमान् बाबू हरिरामजी बागडोदिया की सुपुत्री परम भागवती श्रीमती इन्दिराबाईजी के ऊपर अनुपम अनुग्रह हुआ। बाईजी अनेक दिवस पर्यन्त छन्दावली के पदों को श्री वेंकटनाथ के समक्ष बोलती हुई जिस स्थिति को प्राप्त हुई थी वह अवर्णनीय है। फिर क्या था सौशील्य, सौलभ्य, वात्सल्य गुण विशिष्ट श्री वेंकटनाथ अपने स्वामीजी के साथ पधारे। श्रीबाईजी को दर्शन दे कृतकृत्य किये। ग्यारह दिन पर्यन्त आपकी स्थिति विचित्र रही। शरीर का बाह्यज्ञान बिल्कुल जाता रहा। किन्तु हृदय में एक अपूर्व आनन्द की धारा चल रही थी जो मुखाकृति से स्पष्ट होती रही। ग्यारह दिन के अन्दर अन्न जल का लेना बिल्कुल बन्द रहा। बीच-बीच में अनायास कभी-कभी आपके मुख से अनुभव विषय का भी अपूर्व शैली के प्रतिपादन होता रहता था जिसको सुनकर बडे-बड़े दार्शनिक भी चकित हो जांय ; जिसका कुछ अश परम भागवत श्रीमान् बाबू हरिरामजी बागड़ोदिया के पास लिखा हुआ पड़ा है। आज एक मास से अधिक समय हो गया कलकत्ता छोड़े किन्तु आज भी वह अनुभव क्रम चालू है। श्री इन्दिराजी आज भी भगवान की सेवा कैंकर्य्य उसी निष्ठा से कर रहीं हैं। उनके द्वारा लगाये गये शयन भोग को भगवान ने लगातार ३ दिन तक पाया, एवं श्री भगवती बाई के लगाये गये बाल भोग में मिश्री का विशेष प्रसाद भगवान ने प्रदान किया। अन्नकूटोत्सव तथा राम विवाह के दिन भी दोनों को भगवान के साक्षात्दर्शन हुए और ५ घण्टों तक समाधि स्थिति रही। ऐसा भागवतों के पत्र द्वारा विदित हुआ।

श्री बाईजी के साथ ही चार-पांच दिन पश्चात श्रीमान् केशरदेवजी की पुत्री श्री विमला

वाईजी को भी यह अनुग्रह प्राप्त हुआ तथा श्री रामजी की पत्नी श्री भागवती वाईजी को जो आजतक चल रहा है। यों तो श्री स्वामीजी महाराज के हृदय के भाव की पूर्ति श्री मदनन्त श्री वेंकटनाथ अनेक भागवतों पर अनेक तरह से अनुग्रह करके किये। सर्वप्रथम महात्माजी परमभागवत श्रीमान् जनार्दन रामानुजदासजी की माताजी को कुछ देर के लिए यह सौभाग्य मिला आरती के समय। और हरिसन रोड से भगवान जब अलीपुर १५ दिन वास्ते परम भावुक श्रीमान् मखनलालजी के यहां पधारे। एक दिन वहाँ भी रात्रि के २ वजे भगवान तीन वार कौशल्या मैया नाम लेकर अपने कमरे से वोलने की कृपा किये। श्रीमखनलालजी की मातजी को जो परम श्रद्धाल्वी हैं, मैं कौशल्याजी कहा करता था, आप दौड़कर मेरे कमरे में गयीं जहां और भी अनेक व्यक्ति सोये थे हमें जगाकर वोलीं—सरकार आप नाम लेकर तीनवार पुकारे, हमें भी आश्चर्य हुआ, एक दो व्यक्ति और भी वोले कि हम भी सुने इस कमरे से वालक की जैसी आवाज आई। फिर भगवान का कमरा खोलकर देखा गया तो पखा वन्द था और उस दिन गर्मी भी विशेष थी। दूसरे दिन परम भागवत श्रीमान् ज्वालाप्रसादजी (जनार्दन रामानुज दासजी) कौशल्या मैया, गोदास्वरूपा श्री इन्दिराजी, श्री विमलाजी, श्री रामचन्द्रजी, श्री नन्दकिशोरजी, श्री कौशिल्याजी (श्री मखन लालजी की पुत्री) आपकी माता आदि अनेक भागवत आरती के वाद तीर्थ प्रसाद वितरण के समय पाठकर रहे थे इतने में भगवान वेंकटनाथजी के पीछे अपूर्व प्रकाश से युक्त चलते हुए श्री चक्रराज का दर्शन हुआ। भाव यह है कि श्री मदनन्त श्री स्वामीजी महाराज की कृपाधारा आज भी चालू है।

छन्दावली के अतिरिक्त नूतनस्तोत्र रत्नावली, श्री वष्णव भजन माला, हरिमंगल संकीर्तन नाम रामायण, मोक्षमाला, चितोपदेश शतक जैसे अनेक ग्रन्थों का निर्माण जन कल्याणार्थ हुआ। अन्तिम समय में शरणागति मीमासा जैसे ग्रन्थ रत्न का निर्माण कर मुमुक्षुजगत का जो उपकार किये हैं उसके लिए भागवतजन श्रीमदाचार्य चरण के सर्वदा ऋणी रहेंगे। अपने क्षेत्र में ग्रन्थ की रचना अपूर्व है। श्रुतिस्मृति, इतिहास, पुराण, गीता नारद पञ्चरात्र तथा भावुक जनके भाषा ग्रंथ के पद्यों और अकाट्य युक्तियों द्वारा सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वावस्था में सर्व वर्ण सर्व आश्रम के लिए भगवत्प्राप्ति का सरलतम उपाय शरणागति ही है। यहां श्री

मदनंत श्री स्वामीजी महाराज के साथ पिपरिया नगर निवासी आपके अनन्य शिष्य परमार्थ भूषण कावरा-कुल कमल परम भागवत परमपदवासी श्रीमान् राधावल्लभजी कावराजी की स्मृति भी अपेक्षित है। आप अपने समय के एक आदर्श भागवत थे। आपका शास्त्रोचित्त अनुष्ठान, आचार्यचरण निष्ठा, भगवद्भागवदाचार्य कैंकर्य परायणता, चेतन कल्याण तत्परता, मित-मधुर भाषण शीलता, अकिंचनता, अनन्यता, सत्यता आदि अनेक गुण आस्तिक जगत के लिए अनुकरणीय थे। आपके हृदय में यह निरन्तर उमङ्ग रहती थी कि भारत के कोने कोने में प्रपत्ति शास्त्र का प्रचार होना आवश्यक है। यह कार्य श्रीमदाचार्य चरणों के उपदेश से हो सकता है जैसे यहाँ पिपरिया तथा इसके समीप के अनेक ग्रामों मे श्री श्री स्वामीजी महा-राज के उपदेशों द्वारा भगवद्विषय का प्रचार हुआ ओर पशुवत् जोवन व्यतीत करने वाले हम चेतनों का जीवन सफल हुआ—अथवा सरल हिन्दी भाषा मे ऐसे ग्रन्थ का निर्माण होय जिसमें शरणागति विषय का सम्यक् प्रतिपादन हो जो सर्वसाधारण के लिये उपयोगी हो अनेक बार आपका यह भी निश्चय हुआ कि श्री स्वामीजी महाराज को उन स्थलोंपर पधार कर उपदेश देने की व्यवस्था की जाय जहां के मनुष्य बिल्कुल भगवद्विषय के उपदेश से रिक्त हैं, किन्तु यह कार्य विशेषतया श्री स्वामीजी महाराज के स्वास्थ्य वैपरित्य के कारण नही हो सका। तबतक इधर आस्तिक जन पर महान वज्राघात हुआ। हमलोगों के बीच से नश्वर शरीर त्याग कर महाभागवत महात्मा श्री कावराजी का महाप्रयाण दिव्यधाम मे दिव्य सेवा वास्ते हो गया। परमप्रिय श्रीमान् कावराजी का यह असामयिक वियोग श्री स्वामीजी महाराज के लिए अति दुःखद हुआ। स्वास्थ्य आपका विशेष विपरीत हो गया। फिर भी उसी अवस्था में परमभागवत श्रीमान् कावराजी के हृदयभाव को पूर्ण करने के लिए "शरणा-गति मीमांसा" जैसे बेजोड़ ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ किये। कई वर्षों के बाद ग्रन्थ का कलेवर तैयार हुआ, प्रकाशन की भी व्यवस्था होने ही वाली थी। तबतक लाखों भावुक जनों को अनाथ करके श्रीमदाचार्य चरण भी दिव्यधाम के लिये प्रस्थान कर दिये। भगवत्संकल्पा-नुकूल ही सब कुछ होता है। इस लीला विभूति का क्रम अति विचित्र है, प्रभु कृपापात्र ही इसके स्वरूप को यथार्थतः जान पाते हैं। श्रीमदनन्त श्री स्वामीजी महाराज के वैकुण्ठोत्सव के पश्चात् प्रकाशन कार्य परमपद वासी श्रीमान् कावराजी के कनिष्ठ भ्राता परमभागवत-

भगवद्भागवदाचार्य कैंकर्य परायण आचार्य चरण निष्ठ अनेक सद्गुण सम्पन्न श्रीरामजीलालजी कावरा अपने हाथ में लिए, आपका भी अनुष्ठान मुमुक्षु जनों के लिए अनुकरणीय है। श्रीमान् श्री बड़े भैयाजी के परमपद पधारने के पश्चात् हृदय में खलबली मची कि उस स्थान की पूर्ति अब किस तरह होगी ; किन्तु आप अपने अनुष्ठान से "दिलीपादधिकोरघुः" वाला पद अक्षरशः चरितार्थ किए। आप अपने क्षेत्र में उनसे भी विशेषता दिखाये, जो आप्तजन के लिए सन्तोषकर हुआ। आज वह ग्रन्थरत्न मुमुक्षु जगत के कल्याणार्थ श्रीमान् कावराजी के सहयोग से भारत के प्रधान नगर कलकत्ता में प्रकाशित होकर हमारे समक्ष उपस्थित है अतः यह महोपकारी कावरा वंश भी प्रपन्नजन के श्रद्धा के पात्र हैं। हमारे वे भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने मन बुद्धि तथा शारीरिक परिश्रम के द्वारा ग्रन्थ प्रकाशन में जो कठिनता थी उसको दूर किया है। उनमें सर्वप्रथम स्थान परमभागवत बागड़ोदिया कुलभूषण आचार्य चरण निष्ठ श्रीमान् हरिरामजी बागड़ोदिया का है। आपके ही परम उत्साह तथा विचित्र उमंग और अथक परिश्रम से यह कठिन कार्य सुगमता के साथ अति शीघ्र सम्पन्न हुआ है। कलकत्ता से हमारे आने के पश्चात प्रूफ आदि का संशोधन कार्य आपके ही ऊपर था और उसका निर्वाह भी आपने यथावत् किया परमभावुक श्रीमान् मोहनलालजी लोढा आदि अपने सहयोगियों के साथ अतः आपके लिए अनेक धन्यवाद है। विशेष स्वास्थ्य विपरीतता के कारण श्रीमदनन्त श्री स्वामीजी महाराज आसन पर सोते हुए विषय का प्रतिपादन करते थे और अन्य व्यक्ति लिखते थे। लिखने वालों की असावधानी के कारण ग्रन्थ के बहुस्थल अशुद्ध तथा संदिग्ध हो गये थे, अतः उनका संशोधन कर ग्रन्थ की दूसरी प्रति लिखने की आवश्यकता पड़ी सो लेखन कार्य को बड़ी सावधानी से श्री कृष्णाचारीजी ने किया, अतः इनका यह कार्य प्रशंसनीय है। बहु काल से मुमुक्षु जगत में ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी सो अखिलकोटि ब्रह्माण्डनायक श्री निकेतन आश्रित वत्सल श्रीवेंकटनाथ के परम अनुग्रह से श्रीमदनन्त श्री स्वामीजी महाराज के द्वारा अति परिश्रम के साथ दिव्यधाम निवासी श्रीमान् कावराजी के विशेष अनुरोध से ग्रन्थ आवश्यकता की पूर्ति हुई। आशा है मुमुक्षुजन ग्रन्थ का आद्यन्त सावधानी से अवलोकन कर ग्रन्थ के उद्देश्य को पूर्ण करेंगे।

———

श्री भगवत्स्तुति

जाताऽपराधमपि मामनुकम्प्य गोदे, गोप्त्री यदि त्वमसि युक्तमिदं भवत्याः ।
वात्सल्यनिर्भरतया जननी कुमारं, स्तन्येन वर्द्धयति दष्टपयोधरापि ॥ १ ॥

हैमोर्ध्वपुण्ड्रमजहन्मुकुटं, सुनासं, मन्दस्मित मकरकुण्डलचारुगण्डम् ।
बिम्बाधरं बहुलदीर्घकटाक्षमोक्ष, श्रीवेङ्कटेशमुखमात्मनि सन्निधत्ताम् ॥ २ ॥

पीताम्बर, वरदशीतलदृष्टिपात—माजानुलम्बिभुजमायतकर्णपाशम् ।
तं मेघमेचकमुदारविशालवक्षो—लक्ष्मीधरं किमपि वस्तु ममाविरस्तु ॥ ३ ॥

भ्रू विभ्रमेण मृदुशीतविलोकनेन, मंदस्मितेन मधुराक्षरया च वाचा ।
प्रेमप्रकर्षपिशुनेन विकाशिना च सम्भावयिष्यसि कदा मुखपङ्कजेन ॥ ४ ॥

कान्तालकान्तममलं कमलायताक्ष—मुद्भ्रू विलाससुदितस्मितमुन्नसंच ।
वक्त्र वहन्परमगोपगृहेषु किं त्व गोपीमनांसि नवनीतमुताभ्यमोपीः ॥ ५ ॥

अम्भोदनीलमरविन्ददलायताक्ष, पिच्छावतससुररीकृतवेणुपाणिम् ।
त्वां गोपवेषपरिकल्पित कायकान्तिं, धन्यास्तदा ददृशुरुन्मथितान्यभावाः ॥ ६ ॥

गोवर्द्धनो गिरिवरो, यमुनानदी सा, वृन्दावन च मथुरा च पुरी पुराणी ।
अद्यापि हंत सुलभाः कृतिनां जनाना—मेते भवच्चरणचारजुषः प्रदेशाः ॥ ७ ॥

वज्रांकुशध्वज, सरोरुहशखचक्रं—मत्सीसुधाकलशकल्पककल्पिताङ्कम् ।
त्वत्पादपद्मयुगल विगलत्प्रभाभि—र्भूयोऽभिषेक्ष्यति कदा नु शिरो मदीयम् ॥ ८ ॥

त्रैविक्रमक्रमकृताक्रमणत्रिलोक—मुत्तसमुत्तममनुत्तममुक्तिभाजां ।
नित्यं धन वद कदाहि मदुत्तमांग—मङ्गीकरिष्यति चिरं तव पादपद्मम् ॥ ९ ॥

उन्निद्रपत्रशतपत्रसगोत्रमंत, लेंखारविंदमभिनन्दनमिन्द्रियाणाम् ।
मन्मूर्ध्नि हन्त करपल्लव तल्लजन्ते, कुर्वन् कदा कृतमनोरथयिष्यसे माम् ॥१०॥

श्रीवत्सकौस्तुभकिरीटललाटिकाभिः, केयूरहारकटकोत्तमकण्ठिकाभिः ।
उद्दामदाममणिनूपुरनीविबन्धै—र्भान्त भवन्तमनिमेषमुदीक्षिषीय ॥११॥

ऐन्दीवरी क्वचिदपि क्वचिदारविंदी, चांद्रातपी क्वचन च क्वचनाऽथ हैमी ।
कांतिस्तवोढ़परभागपरस्पर श्रीः पार्येत पारणयितुं किमु चक्षुषो मे ॥१२॥
त्वांसेवितं जलदचक्रगदाऽसि शार्ङ्गै-स्ताक्ष्र्येण सैन्यपतिना ऽनुचरैस्तथान्यैः ।
देव्या श्रिया सह वसन्तमनन्तभोगे, भुञ्जीय साञ्जलिरसंकुचिताक्षिपक्ष्मा ॥१३॥
कैंकर्यनित्यनिरतैर्भवदेकभोगै—र्नित्यैरनुक्षण नवीनरसार्द्र भावैः ।
नित्याभिवाञ्छित परस्परनीचभावै—र्मद्दैवतैः परिजनैस्तव संग सीय ॥१४॥
ये धर्ममाचरितुमभ्यसितुं च योगं, बोद्धुं च किञ्चन न जात्वधिकारभाजः ।
तेपि त्वदाचरितभूतल वन्द्यगन्धाः, द्वन्द्वातिगा परगतिं गमितास्तृणाद्याः ॥१५॥
ह्वा जन्म तासुसिकतासु मया न लब्धं, रासे त्वया विरहिताः किल गोपकन्याः ।
यास्तावकीनपदपंक्तिजुषोजुषन्तः, निक्षिप्य तत्र निजमंगमनंगतप्तम् ॥१६॥
अय, दयालो, वरद, क्षमानिधे, विशेषतो विश्वजनीनविश्वद ।
हितज्ञ, सर्वज्ञ, समग्रशक्तिक, प्रसह्य मां प्रापय दास्यमेव ते ॥१७॥
हा हन्त हन्त भवतश्चरणारविंद, द्वन्द्वं कदानु भविता विषयो ममाक्ष्योः ।
यो ह्यनिरर्गल विनिर्गल द्वन्धकारै, वृक्षै स्तृणैश्च सुलभं समयं व्यतीतः ॥१८॥
वृन्दावन स्थिर चरात्मक कीट दूर्वा, पर्यन्त जन्तु निचये बतये तदानीम् ।
नैवाल भामहि जनिं हत कास्त एते, पापाः पदं तव कदा पुनराश्रयामः ॥१९॥
आयोध्य गानस पशु कीट तृणाश्चजन्तून्, किं कर्मणो नुवत कीदृशवेदनाढ्यान् ।
सायुज्य लभ्य विभवान्निजनित्य लोकान् सान्तानि कान गमयो वन शैलनाथ ॥२०॥
प्रेमार्द्र विह्वल गिरः पुरुषः पुराण, त्वां तुष्टु वुर्मधुरि यो मधुरै वचोभिः ।
वाचो विडम्बनमिदं मम नीच वाच, क्षान्तिश्रुते स विषया मम दुर्वचो भिः ॥२१॥
त्वा मामनन्ति कवयः करुणामृताब्धे, ज्ञान क्रिया भजन लभ्य मलभ्यमन्यै ।
एतेषु केन वरदोतर कोशलस्थाः, पूर्वं सदूर्व ममजन्तहि जन्त वस्त्वाम् ॥२२॥

———

श्री।

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्रीमदनन्त श्री स्वामीजी महाराज का

साष्टांग करने का श्लोक अर्थात् तनयन्

वाणाद्रि योगि पदपङ्कज सक्त राधाकृष्णाख्य देशिक-गुरोश्चरणाब्ज भृङ्गम्।
श्री वेंकटेश पद मानस हंस-सीतारामार्य देशिकमहं शरणं प्रपद्ये ॥

सरय्वाः दक्षिणे तीरे अयोध्या नाम्नि, धामनि ।
सुकुमारासनस्थ श्री सीतारामाय मंगलम् ॥

श्रीराधाकृष्ण सूरेः श्रितपद कमलं वेङ्कटेशैक भक्तम् ।
श्रीराधाकृष्ण सूरेः पद विशमधुपं तत्कृपा लब्ध बोधम् ॥

भक्तानां मोदयन्त सुविमलयशसा श्री हरेरार्द्र चित्तम् ।
श्रीसीताराममार्य श्रित दुरितहरं श्रेयसे संश्रयेऽहम् ॥

गर्गकुलाम्बुधि चन्द्रान् श्रीराधाकृष्ण देशिकांघ्र्यब्जे ।
मधुपाय मानचेतः श्रीसीताराम देशिकान् कलये ॥

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्री मदनन्त श्री स्वामीजी महाराज का

॥ श्री मंगल स्तोत्र ॥

मंगलं गुरुवर्याय, भक्ताभीष्ट प्रदायिने ।
श्रीवेंकटेश प्राणाय सीतारामाय मंगलम् [१]

मंत्र त्रय प्रदात्रे च नमः कल्याण कारिणे ।
गुरुदेवाय शान्ताय सीतारामाय मङ्गलम् [२]

श्रीसाकेत निवासाय मङ्गलं गुण सिन्धवे।
वात्सल्यगुणवासाय सीतारामाय मंगलम् [३]
श्रीवेंकटेशसंध्याने मग्नाय मुदिताय च।
गुरूमानसहंसाय सीतारामाय मंगलम् [४]
भक्तानांहृदयेशाय नमस्ते ऽप्राकृताय च।
आकारत्रययुक्ताय सीतारामाय मंगलम् [५]
भक्तानां हृदयानंदकारिणे क्लेश हारिणे।
कृपामात्र प्रसन्नाय सीतारामाय मंगलम् [६]
ग्यान वराग्य युक्ताय कटनी क्लेश हारिणे।
जगदीशाङ्घ्रि भक्ताय सीतारामाय मंगलम् [७]
श्रीकृष्णचरणाम्भोज षट् पदाय महात्मने।
शोकमोहप्रहर्त्रे च सीतारामाय मंगलम् [८]
राधाकृष्ण पदाम्भोज मधुपाय गुणाब्धये।
निर्वैराय प्रशान्ताय सीतारामाय मंगलम् [९]
मंगलाशासन स्तोत्रं ये पठिष्यन्ति भावतः।
तेषान्तु हृदये वासो गुरूवर्यस्य नित्यशः [१०]

* श्रीमते रामानुजाय नमः *

श्री मदनन्त श्री स्वामीजी महाराज का

॥ प्रपत्ति स्तोत्रं ॥

अस्त्येको रघुनाथपुरनगरो यत्रास्ति सरयूनदी।
तत्रत्यान् विमुखान् हरेर्बहु जनानुच्चारकं यत्नतः॥
श्रीरामानुजदास संज्ञकमुखैः श्रीवैष्णवैः सेवितम्।
सीतारामपदारविन्द युगलं नित्यं त्वहं संश्रये [१]

श्रीमद्वेंकटनाथ प्राण जनकं दिव्योर्ध्व पुण्ड्र धृतम् ।
भक्तानाम भयङ्कर गुणनिधिं पीताम्बरालङ्कृतम् ॥
सेव्यंश्रीपतिभक्त वृन्द सहितं कारूण्य पुर्ण गुरूम् ।
सीतारामपदारविन्द युगल नित्य त्वह सश्रये [२]

श्रीमद्वैष्णव सेवने सुनिरतं ज्ञानाब्धिचन्द्र प्रभुम् ।
मात्सर्यस्यविनाशने सुनिरत तत्वार्थ चिन्तामणिम् ॥
शिष्याभिष्ट प्रदायक द्विजवरं वैकुण्ठ दाने रतम् ।
सीताराम पदारविन्द युगल नित्य त्वह सश्रये [३]

आर्तत्राणपरायणं हरि निभं श्री पूर्णमल्ल गृहे ।
पाषण्डद्रुमभेदक रघुपतेर्नामैव संरक्षकम् ॥
इत्येव प्रतिपादयन्तमखिलं ज्ञानार्थ ससिद्धिदम् ।
सीतारामपदारविन्द युगलं नित्य त्वह सश्रये [४]

कटनी पत्तन वासिना सुखकर प्राण प्रिय सुन्दरम् ।
श्रीमद्वैष्णव धर्म शिक्षणपरं श्री वेंकटेशप्रियम् ॥
श्री गोवर्धनदासमध्यहृदये नित्य मुदाराजितम् ।
सीतारामपदारविन्द युगल नित्यं त्वहं सश्रये [५]

श्रीमद्देशिक पादपद्ममधुपं श्रीराघवेन्द्र प्रियम् ।
श्रीमद्वेङ्कटनाथलालनरतं सीताक्षमालायुतम् ॥
वात्सल्यादि गुणोज्वलं सुचतुरं श्रीवैष्णवानन्ददम् ।
सीताराम पदारविन्द युगलं नित्यं त्वहं संश्रये [६]

श्रीभाष्यकारजनकाय दयार्णवाय वैकुण्ठमंडप जनप्रियरक्षकाय
श्रीमत्प्रपन्नजनरक्षणतत्पराय कल्पद्रुमाय गुरुवेतु नमोनमस्ते [७]

सीतारामाभिधगुरोः प्रपत्ति पठतां खलु ।
मंगलाशासनश्चापि भक्तिर्भवति देशिके [८]

नित्य अनुसन्धान करने की गुरु परम्परा

(१) श्री मदनन्त श्री स्वामी श्री सीतारामाचार्यजी महाराज
(२) ,, आचारीजी श्री राधाकृष्णाचार्यजी महाराज
(३) ,, तोताद्रि स्वामीजी
(४) ,, वरवर मुनि स्वामीजी
(५) ,, शैलेश स्वामीजी
(६) ,, लोकाचार्य स्वामीजी
(७) ,, कृष्णपाद स्वामीजी
(८) ,, कलिवैरिदास स्वामीजी
(९) ,, वेदान्ती स्वामीजी
(१०) ,, पराशरभट्ट स्वामीजी
(११) श्री गोविन्दाचार्य स्वामीजी
(१२) ,, जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी
(१३) ,, महापूर्ण स्वामीजी
(१४) ,, यामुनाचार्य स्वामीजी
(१५) ,, राममिश्र स्वामीजी
(१६) ,, पुण्डरीकाक्ष स्वामीजी
(१७) ,, नाथमुनि स्वामीजी
(१८) ,, शठकोप स्वामीजी
(१९) ,, विष्वक्सेनजी
(२०) ,, रंगनायकीअम्माजी
(२१) ,, स्वामी श्री रंगनाथ भगवानजी

भगवान के साक्षात मिलन के अपूर्व छन्द

(१)

जै जै श्रीराधे महारानी, स्वामिनि सुनिये विनती मोर ॥ टेर
उमर बिती मन मुजब मिले बिन, सुनत न नन्दकिशोर। जै०
ललचाकर हरि फिर न मिलत हैं, घबड़ाता मन मोर। जै०
लली आपकी दया दृष्टि बिन, नहिं मिलिहैं चित्तचोर। जै०
करहुँ कृपा वृषभानु नन्दनी, पुरहुँ मनोरथ मोर। जै०

(२)

सुनिये कृष्णप्रिया मम अरजी, मरजी मुजब मिलाइये श्याम ।टेर
गुरु कृपाल सम्बन्ध करायो, साक्षी दे बलराम। सुनिये०

सपन में आते अति ललचाते, प्रगटत नहिं घनश्याम। सुनिये०
प्रगट मिलाइये प्रगट रहें जिमि, बरसाने नन्दग्राम। सुनिये०
निरखा करूँ प्रीतम प्यारे की, झाँकी आठोयाम। सुनिये०

(३)

प्यारा पांय परत हूँ तेरे, मेरे सन्मुख सुरत दिखाय। टेर
अर्चा से किशोर रूप धरि, तन की तपनि बुझाय। प्यारा०
हिलें मिलें हम तुम दोनों मिलि, प्रमुदित वेंकटराय। प्यारा०
सीताराम दास के स्वामी, धाय गले लिपटाय। प्यारा०

(४)

प्यारे इसी देह से मिलने में, परब्रह्मपना है तोर। टेर
गुरु करुणा से हिले मिले पै, तृप्ति भई नहिं मोर। प्यारे०
साहु नीतिसे हिलो मिलो अब, मिलो नहीं जिमि चोर। प्यारे०
सर्व भाँति हो समरथ तुम फिर, क्यों नहिं सुनते शोर। प्यारे०
सीताराम दास के स्वामी, निरखो अपनी ओर। प्यारे०

(५)

ज जै मेरे बेंकट बाबू, सब दिन सुखी रहो सहकार। टेर
अरचक मिले तुम्हें जो स्वामी, करे प्रेम से प्यार। जय०
मोलायम से मज्जन करके, सुन्दर करे शृंगार। जय०
सीताराम दास के स्वामी, सुखी रहे दरबार। जय०

(६)

जै जै कनक भवन के विहारी, कछु तो शरम करो सरकार। टेर
इतना था जब तुम्हें सताना, फिर क्यों बने इयार। जय०
जबसे प्रिय तुम परसि गयो है, दिल नहिं लगत हमार। जय०
या तो आकर दरशन दे दो, नहिं तो दीजो मार। जय०

(७)

प्यारे अब तो रहहुँ न न्यारे, क्योंकि समय बहुत है थोर। टेर
मीठे मीठे वचन सुनाकर ; छिपि जाते चित्तचोर ॥ प्यारे०
अस न होय मन मुजब मिलेबिन ; प्राण चलाजाय मोर ॥ प्यारे०
मैं तो हुँ प्रभु तुम्हरे चरणका ; चाकर नन्दकिशोर ॥ प्यारे०
सीताराम दास के स्वामी ; दर्शन दीजो भोर ॥ प्यारे०

(८)

प्यारे प्रगट परस कर जावो ; मेरा जन्म सफल हो जाय। टेर
जब मैं जाय पलंग पर पौढ़ूँ ; संगमें तुम भी पौढ़ियो आय। प्यारे०
अब तो तुमसे हिले मिले बिन ; हम से रहा न जाय। प्यारे०
फिर नहिं मिलना था जब तुमको ; फिर क्यों गये ललचाय प्यारे०
एकबार हम तुम दोनों मिलि ; मिलें अंक लिपटाय। प्यारे०
प्रगट मिलन बिन समय जात जो ; हमसे सहा न जाय। प्यारे०
अजहुँ सफल करो इस तनको ; धाय गले लपटाय। प्यारे०

(९)

प्यारे प्रगट मिलन बिन तुमसे ; मेरे उठत कलेजे पीर। टेर
प्रगट मिलन बिन हृदय दहत है; जलत हाड़का हीर। प्यारे०
कहा कहूँ मन मुजब मिले बिन; धरत नहीं मन धीर। प्यारे०
अजहूँ मिलो मिले जिमि पहिले; हँसते सरयू तीर। प्यारे०

(१०)

प्यारे तुम्हरे सुख के कारण ; मेरा तन मन धन लगजाय। टेर
तव सुख रहित चहूँ जो निज सुख; हृदय खंड हो जाय। प्यारे०
सदा प्रसन्न बदन निरखूं मैं ; तुमको वेंकटराय। प्यारे०
सदा निहारूँ सदा दुलारूँ ; बाल बच्छ जिमि गाय। प्यारे०
तुम्हरे दरश बिन कल न परत है ; दुखसे निकलत हाय। प्यारे०

॥ श्रीमते रामानुजाय नम ॥

नम्र-निवेदन

सम्पूर्ण विश्व में भारत का ही आध्यात्मिक अन्वेषण सर्वोपरि एवं सर्वोत्कृष्ट रहा है। विश्व की आदि भाषा संस्कृत में ही स्वयं भगवान के द्वारा कथित वेदो मे, एवं उनसे सुनकर ऋषि मुनियों ने श्रुतियों में आध्यात्मवाद का बहुत ही सुन्दर ढंग से पूर्ण सफल प्रतिपादन किया है। आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध, एवं आत्मा के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का विद्वत्तापूर्ण अकाट्य युक्तियों के साथ विशद विवेचन किया है भारतीयों ने आदि भाषा संस्कृति में। यद्यपि रामायण और महाभारत ने हिन्दी भाषा मे भी आध्यात्मवाद को प्रमुख स्थान दिया है, लेकिन भगवत्प्राप्ति के अतिशय सुगम उपाय अनन्य शरणागति पर आज तक हिन्दी भाषा में कोई भी सफल स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था जिसकी वजह से जन साधारण आज के विश्व में उचित मार्ग का अवलम्बन न कर गुमराह हो रहा है। नित्य आनन्द और स्थायी शान्ति की खोज मे निकला हुआ गुमराह मानव आज ज्ञान विज्ञान के द्वारा महानाश और सर्वनाश की ओर ही जा रहा है। भौतिकवाद से ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का दम्भ भरने वाला दया का पात्र, बेचारा अनित्य, अज्ञ मानव नहीं जानता है सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, नित्य, सर्वगुण सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त सृजन पालन संहार करने वाले एक मात्र श्री हरि को। उनका किञ्चिन्मात्र एक संकल्प ही हमारी करोड़ों अरबों वर्षों की चेष्टाओं को एक पल में ही बना और बिगाड़ डालता है। ऐसे परमपिता को प्राप्त करने के सुगमातिसुगम उपायों का परम पूज्यवर भगवदावतार श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज ने भलीभांति सांगोपांग प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया है। यह हिन्दी का एक बेजोड़ ग्रन्थ है। ऐसा ग्रन्थ न भूतो न भविष्यति। यह वो स्वतन्त्र ग्रन्थ है जो चेतन को भगवान से मिला देता है। चेतन इसका बदला नहीं चुका सकेगा क्योंकि भगवान एक हैं—सर्वोपरि हैं, सब देवों के देव हैं, इनसे परे कुछ है ही नहीं। अत ऐसे भगवान को प्राप्त कराने वाले इस अद्भुत और अपूर्व ग्रन्थ का बदला हम कभी भी नहीं चुका सकते। ऐसे इस ग्रन्थ की उपमा देना भी एक हास्य ही होगा। ऐसे ग्रन्थ के लिये तो स्वत ही मुँह से निकल पड़ता है कि —

असित गिरि समं स्यात्कज्जलं सिन्धु पात्रे, सुर तरुवर शाखा लेखनी पत्र मुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्व कालं, तदपि तव गुणानां ग्रन्थ पारं न याति॥

इस ग्रन्थ का जहाँ कहीं भी प्रसार होगा वहीं सुख और शान्ति का साम्राज्य होगा। अत नित्यानन्द, परमानन्द, व परम शान्ति को प्राप्त करने के लिये इस ग्रन्थ को अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये। ऐसे अमूल्य ग्रन्थ का परम पूज्यवर श्री मदनन्त-श्री रामजीलालजी काबरा ने परम पूज्यवर श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी वैकुण्ठाचार्यजी महाराज की आज्ञा से परम पूज्यवर गुरु निष्ठ महात्मा श्री ज्वालाप्रसादजी बागड़ोदिया की देखरेख में प्रकाशन कराकर विश्व का महान् कल्याण किया है।

दासानुदास —

हरिराम बागड़ोदिया

विषय सूची

विषय

चित्रसूची

परम भागवत गुरु निष्ठ महात्मा

श्री राधावल्लभ जी काबरा

इस विशाल ग्रन्थ-रत्न के लेखक भगवद्भावतार श्री स्वामीजी सीतारामाचार्य जी महाराज का रजत जयन्ती समारोह सन् १९४० तारीख ११ सितम्बर को आपके तत्वावधान मे मनाया गया। आपकी पवित्र गुरुनिष्ठा निष्काम भक्ति एवं चेतन मात्र के प्रति कल्याण की भावना अद्वितीय थी, आपका सकल्प था इस महान ग्रन्थ के अधिकाधिक प्रचार करने का। और उसी संकल्प के फल स्वरूप यह ग्रन्थ आज आपके हाथों मे है।

॥ श्री मते रामानुजाय नमः ॥

भगवदावतार श्री श्री १००८ पूज्यपाद श्री सीतारामाचार्यजी महाराज के पिपरिया शुभागमन की रजत जयन्ती के उपलक्ष में परम भागवत गुरुनिष्ठ महात्मा श्रीमान् राधावल्लभजी कावरा द्वारा समर्पित अभिनन्दन पत्र ।

श्रद्धालु सज्जनो एवं महानुभावो,

आज दास का हृदय सागर श्री स्वामीजी जैसे ईश्वरतत्वा त्रयी वैष्णवधर्मोपदेशक महानुभाव के बीस वर्ष से पधारने के उपलक्ष में रजत जयन्ती समारोह मनाते हुए अवर्णनीय आनन्द की उर्मियों से परिपूर्ण हो रहा है। यह हमारा सौभाग्य है तथा उस परमपिता परमात्मा की असीम दया का प्रतिफल है जिसके फलस्वरूप श्री श्रद्धेय स्वामीजी ने दास के गृह को पुनीत कर अनुगृहीत किया है ।

श्रद्धेयवर, विश्वकी माया मोह रूपी नैराश्यनिशा से पूर्ण हम लोगों के हृदयों में भगवद्भक्ति रूपी सूर्य उदय करने का श्रेय आप ही को है, क्योंकि आपके उपदेशों में परमात्मा के अहर्निश ध्यान गान की प्रचुरता है। विश्व की माया मे खिन्न होकर आपकी कोमल आत्मा किस प्रकार परमात्मा की ओर उन्मुख हुई है ? इसका स्पष्टीकरण आपकी रचन का निम्नांकित रचना द्वारा प्रदर्शित होता है —

घबड़ा गया हूँ, थक गया हूँ, बहुत बालमुकन्द हो ।
अति लट गया हू, प्रार्थना करते करत गोविन्द हो ॥
जाऊँ कहाँ किस ठौर अब, उर में उचाटन बढ़ गई ।
आति कुढ़न से कमजोर हो, कची कलेजा पड़ गई ॥

भगवान के करुणामय स्वरूप का चिन्तन, उनके आनन्द मय प्रत्यक्ष स्वरूप का रसपान यही आपका दृष्टिकोण है —

बुधवार फाल्गुन अमा कुक्कुट कुँजते ये हर घडी ।
आसनाहि पर ये पडे तह एक बाल मूर्ती दिख पड़ी ॥
मृदु हसन दाडिम दशन दश दिग्वसन भल अलकावली ।
विधु वदन पर विलसाति हँसाति कित को गई चितरन चली ॥

मान्यवर, आपने अपने कर्ममय जीवन से सुप्त समाज को जगा दिया है, स्फूर्ति हीन शिराओं में जीवन सचार किया है। श्रद्धेयवर, आप सदृश भक्ति की चरम सीमा को लांघने वाले आदर्श भक्त किसी के लोलुप मुख से अपनी स्तुति सुनने के लिये पृथ्वी पर अवतरित नहीं हुये हैं, आप अवतरित हुये हैं लोगों के सम्मुख शरणागति का ज्वलन्त उदाहरण उपस्थित करने के लिये। इसीलिये आप लोक यात्रा के पथ में कठिनाइयों के अपार समुद्र को भी भेद कर अपनी लक्ष्य सिद्धि में प्रस्तुत हैं ।

श्रद्धेयवर आप का व्यक्तित्व ही ऐसा है, एक ओर ससार के लिये आपके अधरों पर प्रेम हँसता रहता है, दूसरी ओर सन्तप्त विश्व के भूले हुए पथिकों के लिये आपकी आखों से करुणा के हिम जल ढलकते रहते हैं ।

जैसे —

रचना ही में रगा रचयिता को नहीं देखा।
निन्दित उसका जन्म नहीं नरतन मँह लेखा॥
नर शरीर है सफल सिर्फ हरि मिलने ही से।
नाहिं तो कौन प्रयोजन निकला नर देही से॥
भजनहु कीर्तन से तदपि, सफलित मनुज शरीर।
तदपि न सफलित तस जिमि आ प्रगट मिले रघुवीर॥
जितना कराति सयम नियम, प्रिय मिलन हित परलोक में।
उतना न क्यों होकर विरहणी, झुरति प्रीतम शोक मे॥
तोहि भले सयम मरे पर पति लोक में पहुँचाय दे।
पर विरह सरि बिनु कोऊ नहिं जो जियत पति मिलाय दे॥

ऐसा क्यों? इसलिये कि आप सहृदय है, करुणार्द्र हैं। आपने अपनी देवोपम वाणी को उद्‌गीर्ण कर लोगों को सदपथ पर प्रेषित कर उन्हें नवजीवन प्रदान किया है। आपके आदर्श उपदेशों में भक्ति भाव की तल्लीनता, अनन्यता तथा निरावलम्वता का प्रमुख स्थान है।

श्रद्धेयवर, हम भूले हुए पथिकों के आप पथ प्रदर्शक हैं। हम लोगों के माया मोह की घोर नि स्तब्ध निशा के लिये आप प्रचण्ड मार्तंड हैं। अतएव हम दासानुदास आपके अनुपम उपकारों से वहुत कृतज्ञ हैं और श्री लालजी से सानुनय अनुरोध करते हैं कि आप जैसे महापुरुष अपनी ऐसी ही दया मया सतत बनाये हुए भगवद्भक्ति के आदर्श उपदेशों द्वारा हम दासों को अनुगृहीत करते रह जिसके लिये हम दास आप सदृश श्रद्धालु महानुभाव को कोटिश धन्यवाद दे कर अपने मस्तक पर श्रीचरणों की पावन रज को धारण कर अपने को कृत्य-कृत्य समझें।

मैं महाभागवत श्री पूरनमलजी गट्टानी कटनी निवासी को हृदय से धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता। आज के कार्यक्रम का श्रेय वस्तुत पूर्ण रूपेण आपको ही है जिनकी सतत प्रेरणा एव हृदयाकांक्षा से ही यह सव कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है। इसके पश्चात मैं स्वागत-समिति के सदस्यों तथा अन्य सस्थाओं का अत्यन्त उपकार मानता हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय व्यय कर दास की उत्कट इच्छा को कार्यरूप में परिणित किया।

इसके अतिरिक्त मैं आप सव महानुभावों को स्वागत समिति की ओर से हृदय से धन्यवाद देता हू जिन्होंने आज के काय-क्रम में सहयोग देकर कार्य क्रम को सफल बनाया तथा अपने अमूल्य समय को सार्थक किया। आप लोगोंने श्रद्धास्पद स्वामीजी के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा का परिचय दिया है उसके लिये मैं आपका हृदय से आभारी हू, और आशा करता हूँ कि आपलोग श्री स्वामीजी महाराज के शुक्रवार ता० १३ से प्रारम्भ होने वाले प्रवचन मे लाभ उठावेंगे।

सेवक

से० स्वागत समिति — स्वागता यक्ष

रामाविलास गट्टानी वैद्य — राधावल्लभ कावरा

पिपरिया तारीख ११-६-४०

कार्तिके कृष्ण पक्षे वै, अश्विन्या प्रतिपत्तिथौ
आविर्भूतस्तु श्रीमान, सीतारामार्य देशिक ।
आपका अवतार वि० स० १६४७ कार्तिक वदी १ मगलवार अश्विनी नक्षत्र मे हुआ।

भगवदवतार श्री स्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज, अयोध्या

आश्विने शुक्लपक्षे वै सप्तम्या जानकीपतिम ।
संत्यज्य प्रकृति प्राप्त सीतारामार्य देशिक ॥
आप वि० सं० २००६ आश्विन शुक्ला ७ को परमपद पधार गये।

बैठत उठत घूमत फिरत बस यही नाद लगाय दे,
नर देह जिसने दिया सो प्रिय दरश आय दिखाय दे ।
यों ही करत कछु दिवस में बेचयनता बढ जायगी,
फिर आप ही वह मधुर मूरति अंक भरि लिपटायगी ॥

॥ श्री मतेरामानुजाय नमः ॥

शरणागति मीमांसा

(प्रथम खण्ड)

शरणागति की कितनी महिमा है ; इसका कौन अधिकारी है, इससे क्या क्या फल मिलता है। शरणागत को क्या-क्या करना चाहिए। कैसे रहना चाहिए। क्या-क्या छोड़ना चाहिए। क्या क्या ग्रहण करना चाहिए। कोन-कौन व्रत करना चाहिए। कौन-कौन तीर्थ जाना चाहिए। ता जिन्दगी किस तरह समय बिताना चाहिए। किस देव का आराधन करना चाहिए। किस देश में, किस महीने में, किस विधि से भगवान की शरणागति करनी चाहिए। किसकी शरणागति सफल होती है। शरणागति का स्वरूप क्या है ? शरणागति का बाधक क्या है ? शरणागति में प्रमाण क्या है ? प्राचीन काल मे कौन-कौन शरणागति किये ? ये सभी बातें संक्षेप में समझाता हूँ।

यह शरणागति विषय स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। एकाग्र होकर सुनोगे तो बहुत आनन्द पावोगे। जरा भी इधर-उधर चित्त रहेगा तो विषय समझ में न आवेगा। इससे दिल लगाकर सुनो।

शरणागति की बड़ी भारी महिमा है। सारे वेद, वेदान्त, इतिहास, भारत, श्रीरामायण, श्री गीता, श्रीमद्भागवत, उपनिषद, आदिक दिव्य शास्त्रों में तथा लोक में भी इसकी महिमा प्रसिद्ध है। जिसको भगवान कृपामय दृष्टि देते हैं उसके लिए सारे शास्त्रों में इसके सिवाय दूसरा सीधा और सच्चा उपाय इसी जन्मान्त में फल देने वाला नजर नहीं आता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इन तीनों की कठिनता को कहते-कहते शास्त्र जब थकते हैं तब भगवान की शरण मे आकर विश्राम पाते हैं।

बड़े-बड़े भक्त लोग प्रथम कर्म, भक्ति और ज्ञान-मार्ग का अपने-अपने ग्रन्थों में खूब वर्णन किये। जब इन तीनों उपायों की कठिनाइयाँ मालूम हुई तो झट शरणागति नामक सरल उपाय को अपनाये। जिसे आगे कहूँगा। शरणागति का अधिकारी कौन है ? सो सुनो :-

शरणागति का अधिकारी सारा जगत है। जो चाहे सो कर सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र, स्त्री हो या पञ्चम, पशु हो, मूक हो या वधिर हो, वाल हो या वृद्ध हो, परमात्मा [illegible] नरुपाधिक पिता हैं। इससे उनके श्रीचरणों की शरणागति करने का सबको अधिकार है। चाहे जिस फल के लिए भी शरणागति की जा सकती है। किसी देश एवं किसी काल तथा अवस्था में किसी प्रकार से कोई भी अधिकारी भगवान के श्रीचरण-कमल में शरणागति कर सकता है। कर्म करने के लिए पुण्य-क्षेत्र, वसन्तादि काल, अनेक नियम और तीन वर्णों के लिए ही उसके अधिकार आदि की व्यवस्था कही है। परन्तु शरणागति करने के लिए स्पष्ट कहा है कि—

"स एष देशः कालश्च"

यह श्री वाल्मीकीय रामायण युद्ध काण्ड विभीषणजी के प्रकरण में श्री हनुमान जी का वचन है। जब श्री सुग्रीव जी आदिक बोले कि विभीषणजी को क्या समुद्र ही तीर पर शरणागति करनी थी ? क्या यही समय था ? आकाश में खड़ा अस्त्र-शस्त्र लिया है यह कौन शरणागति का विधान है ? इस लिए इसकी शरणागति हमलोगों को ठीक नहीं जँचती।

यह सुनकर भगवान ने श्री हनुमानजी की राय पूछी। तब हाथ जोड़कर श्री हनुमानजी बोले-कि-'हे कृपानाथ ! शरणागतवत्सल ! जो फल प्रपत्ति है याने जो फल स्वरूप शरणागति है; उसके लिए किसी भी देश, काल तथा विधान का नियम नहीं है। जिस वक्त मौका लगजाय, वही शुभ घड़ी सुदिन और सुन्दर विधान है कि जिस समय श्रीचरणों की शरणागति मिल जाय। कृपानाथ ! अपने पिता की गोद में वालक को जाने के लिए कौन सी घडी मूहूर्त्त तथा विधान की जरूरत है। इसको सुनकर—

'अथ रामः प्रसन्नात्मा श्रुत्वा वायु सुतस्य ह'

याने श्री हनुमानजी का यह वचन सुनकर श्री रघुनाथजी बडे-प्रसन्न हुए और बोले कि श्री हनुमानजी की राय हमको अत्यन्त पसन्द है। इसी फैसले पर श्री विभीषणजी की शरणागति अङ्गीकार हुई। इससे श्री भगवान के श्रीचरणों मे शरण होने के लिए न देश का नियम है, न काल का, न प्रकार का, न अधिकारी का और न फल का ही।

जिस समय दुष्ट दुःशासन द्रौपदी का चीर हरण करने लगा उस समय द्रौपदी रजस्वला थीं परन्तु भगवान की शरणागति की और बोली कि—

शंख चक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्षमां शरणागतांम् ॥

कृपालु भगवान ने झट उसकी शरणागति को स्वीकार किया। यह नहीं विचारा कि इसने बिना विधान की शरणागति की। अतः कैसे स्वीकार करूँ। वस्त्र बढाकर द्रौपदी की रक्षा करली। दुष्ट दुःशासन दुर्योधन आदि पापियों का मान भङ्ग कर दिया। इससे शरणागति का विधान याने प्रकार का नियम नहीं है। जो जिस तरह है उसी अवस्था में अपने परमपिता भगवान के शरण हो सकता है।

शरणागति के अधिकारी का भी नियम नहीं है सो आगे बताता हूँ। पाण्डव, द्रौपदी, जयन्त (काक) काली नाग (सर्प) श्री गजेन्द्रजी (हाथी) श्री विभीषणजी, श्री लक्ष्मणजी आदि सभी शरण हुए। जैमिनी भारत में लिखा है कि एक पश्चम भक्त भी शरण हुआ था जिसके प्रसाद पाने से राजसूय यज्ञ में (श्री युधिष्ठिरजी का) घण्टा बजा था। इसका यह भाव हुआ कि ऊँचा से ऊँचा और नीचा से नीचा अधिकारी भी अपने परम पिता भगवान के शरणागत हो सकता है और किसी की भी करी हुई शरणागति को भगवान अवश्य स्वीकार करते हैं।

शरणागति के फल का भी नियम नहीं है। याने जो जिस फल के लिए शरण लेता है वही फल प्रभू की तरफ से उसको मिलता है। जैसे पाण्डव लोग राज्य के लिए शरण हुए उन्हें राज्य मिला। द्रौपदी वस्त्र बढने के लिए शरण हुई उनका वस्त्र बढाया गया। काक (जयन्ता) और काली नाग अपने प्राण बचाने के लिए शरण हुए थे। प्रभु ने उनके

प्राण बचा लिए। श्री लक्ष्मणजी युगल सेवा के लिए शरणागति किए, उनको सेवा दी गयी। श्री विभीषणजी जिस लिये शरण हुए उनको वही मिला। श्री गजेन्द्रजी अनित्य देह त्यागकर, प्रभु के पार्षद होकर सदा सेवा में रहूँ इसके लिए शरण हुए। उनको नित्य कैंकर्य मिला। सारांश यह हुआ कि शरणागति के सब अधिकारी हैं और शरणागति से जो चाहे सो फल मिल सकता है।

शरणागति के लिए देश, काल, प्रकार और अधिकारी तथा फल का नियम नहीं है सो तुमको समझा ही चुका हूँ परन्तु एक बात का सख्त नियम है सो कहता हूँ ध्यान दे कर सुनो! परमात्मा श्रीपति के सिवाय दूसरों की याने इतर किसी की की हुई शरणागति नहीं करे।

अब शरण्य तथा शरणागत का लक्षण संक्षेप से कहता हूँ।

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणविंदे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

यह परमाचार्य जी का वचन है। इसमें शरणागत का लक्षण कहा है। अर्थात् श्री परमाचार्य जी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि (हे भगवान) मैं कर्म, ज्ञान, भक्ति से हीन हूँ। आपकी श्री चरण सन्निधि मिलने के लिए मेरे में धर्म निष्ठा नहीं है। ज्ञान तथा भक्ति भी नहीं है। मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगति हूँ। इससे सब प्रकार से निरवलम्ब होकर आपके श्रीचरण कमल की शरण स्वीकार करता हूँ। इसका भाव यह हुआ कि इतर अवलम्बों से शून्य होकर ही भगवान की शरणागति की जाती है।

शरणागति अत्यन्त सरल सीधा उपाय है। परन्तु इतरावलम्ब को वह सह नही सकती यही इसका स्वरूप है। शरणागति स्वीकार करनेवाला अधिकारी मन से भी यदि दूसरे उपाय की तरफ जाता है तो उसी वक्त वह टूट जाती है। यह शरणागति शरणागत से कुछ भी नहीं चाहती है। शरणागत के रक्षण में अत्यन्त समर्थ है—परन्तु इसका स्वभाव यह है कि अन्य उपाय का गंध भी याने लेश भी नहीं सहती है।

श्लोक—प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्व काम फल प्रदा॥

प्रपत्ति मीमांसा में यह वचन है। इसका यह भाव है कि प्रपत्ति याने शरणागति को साधन स्वरूप कर्म ज्ञान भक्ति बिलकुल अपेक्षित नहीं है एक सिर्फ शरणागति ही सर्वत्र सभी को सब फल देने वाली है।

श्लोक—न जाति भेदं न कुलं न लिङ्गम् न गुणक्रियाः।
न देश कालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥

भरद्वाज संहिता के दूसरे अध्याय का चौदहवाँ श्लोक यह है। इसका भाव यह हुआ कि यह शरणागति योग, जाति, कुल, लिङ्ग, गुण, क्रिया, देश, काल, अवस्था की अपेक्षा नहीं करती है।

श्लोक—ब्रह्म क्षत्र विशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा।
सर्व येव प्रपद्येरन सर्व धातारमच्युतम्॥

ये भारद्वाज सहिता का १५वाँ श्लोक दूसरे अध्याय का है। इसका यह भाव है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र स्त्रियाँ तथा पचम या कोई भी हो सब के धारक अच्युत परमपिता भगवान के शरण हो सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि शरणागति करने वाले अधिकारी के लिए और तो किसी विधि विधान की जरूरत नहीं है, परन्तु दो बातों का नियम तो अवश्य ही ध्यान में रखना पड़ेगा। वह यह है कि इतरावलम्ब के त्यागे बिना शरणागत में उसकी गिनती नहीं हो सकती। शरणागत अधिकारी को अकिञ्चन और अनन्य गति अवश्य होना चाहिए। अकिञ्चन और अनन्यगति किसको कहते हैं सो संक्षेप में तुमको समझाता हूँ ध्यान देकर सुनो।

कर्म, ज्ञान, भक्ति इन तीनों को शास्त्रों में मोक्ष का उपाय बताया है। श्रीगीताजी में भी ६ अध्यायों में कर्म का स्वरूप कहा है। सात से बारह तक भक्ति योग का स्वरूप बताया है। तेरहवां से अठारहवां अध्याय 'इतिते ज्ञान माख्यातं गुह्याद्गुह्यतर मया' यहाँ तक ज्ञान योग को समझाया है। इन अठारह अध्यायों में साधन स्वरूप कर्म ज्ञान भक्ति योग को अच्छी प्रकार विस्तार से वर्णन किया गया है। सुनने में पढने में तो सीधा मालूम पडता है परन्तु

परिस्थिति करते समय बड़ा मुश्किल हो जाता है। क्यों कि जो बात अपने से बन सके वही तो कर सकते हैं। जो नहीं बन सके उसके भरोसे रहना कितनी भूल है। अठारह अध्यायों में जो तीनों का स्वरूप कहा है सो थोडे में तुमको समझा देता हूं। बहुत एकाग्रता से सुनो। क्यों कि यह विषय अति गभीर है, सुक्ष्म है। लापरवाही से सुनोगे तो समझ नही पावोगे। कर्म ज्ञान तथा भक्ति योग के स्वरुप तथा कठिनाइयाँ भली भाँति समझे विना शरणागति में निसंदेह परिस्थिति हो न सकेगी। इससे पहले इसको समझलो, बाद शरणागत अधिकारी के लिए जो दो बातें अत्यन्त जरूरी हैं वे दोनों बातें याने आकिञ्चन्य और अनन्य गतित्व ये दो आकार फिर दृढ़ता पूर्वक आपही आजावेंगे। जब ये दो आकार अधिकारी में प्राप्त हो जावेंगे। तब ही पक्का शरणागत हो सकेगा। सुनो! साधन स्वरूप जो भक्ति है उसी को भलिभाँति करने से इस चेतन की मुक्ति होती है जिसको भगवान कहते हैं कि :—

श्लोक—अनन्य चेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः। (गीता अ० ८)
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्य मुक्तस्य योगिनः॥ (श्लोक १४)

इसका भाव यह हुआ हुआ कि हे अर्जुन! जो सर्व काल अनन्य चित्त होता हुआ नित्य मुझको स्मरण करता है और सभी कामनाओं का विल्कुल जड-मूल से त्यागकर हमारा ही नित्य योग चाहता है, एक मिनट भी हमारे स्मरण के विना जिसका आत्मा धारण करना मुश्किल हो जाता है; ऐसा जो अधिकारी है; याने यहाँ तक जो साधन भक्ति में पहुँचा हुआ है उसको मैं सुलभ हूँ। अर्थात् ऐसा भक्ति योग वाला हमको सुख से पाता है।

यह पढने में सुनने में तो सरल है परन्तु विचार करो भगवान कहते हैं कि सतत याने हरवक्त अनन्य चित्त होकर निन्य जो मेरा स्मरण करता है उस अधिकारी के लिए अत्यन्त सुलभ हूँ।

नित्य स्मरण किसको कहते हैं, सोचो! अनन्यचित्त, सो भी सदा याने जिसके चित्तमें कभी भी किसी भी जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में हमारे स्मरण के विना भूल कर भी दूसरा विषय नही स्पर्श करें। हमारे स्मरण के विना एक क्षण भी जिसका नहीं बीते ऐसे भक्ति

निष्ठा वाले के लिए भगवान अपने को अत्यन्त सुलभ बताते हैं। फिर भगवान अगले श्लोक में कहते हैं कि :—

श्लोक—मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालय मशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमांगताः॥

अर्थ ये हुआ कि पूर्वोक्त प्रकार से हमको पाकर दुख का घर जो पुनर्जन्म है उसको उच्च प्रकार से भक्ति योग को प्राप्त महात्मा लोग नहीं पाते हैं। याने हरेक अवस्था मे हमारा नित्य स्मरण करने वाले भक्ति निष्ठ महात्मा फिर दुःख रूप जन्म नही पाते है हमारे दिव्य धाम में जाकर सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

सब अवस्था में जिसका अविछिन्न त्रुटि रहित प्रभु का स्मरण बनता है किसी भी अवस्था में उनके स्मरण के बिना चित्त में क्षण भर भी जिसको दूसरा विषय नही आवे उस साधन भक्ति योग वाले अधिकारी के लिए अपने को प्रभु सुलभ बताते हैं। इसकी सीमा यहाँ तक है कि प्राण निकल रहे हैं पीडा से व्यग्र है उस वक्त भी उनको छोडकर दूसरा विषय चित्त में नहीं आना चाहिए तब उसकी मुक्ति होती है। यदि उस वक्त स्त्री, पुत्र, पशु, धन, कुटुम्ब, मठ आदि में कहीं जरा भी मन चला जावे तो वहाँ ही उसको जन्म लेना पडेगा। जैसे— इतने बडे भक्त जडभरतजी को भी मरते वक्त हरिण के बच्चे में मन जाने से हरिण होना पडा। उसी साधन स्वरूप भक्ति योग के अधिकारी के लिए भगवान श्री गीता अध्याय ८ श्लोक ५-६ में कहते हैं कि :—

श्लोक—अन्तकाले तु मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥

इसका भाव-उपर लिख आये हैं फिर भी कहते हैं सुनो! भगवान कहते हैं हे कुन्ती पुत्र! मरते वक्त् मेरे ही को स्मरण करते हुए जो भक्त शरीर छोडेगा वही परमगति को जावेगा।

यदि किसी कारण से हमारा स्मरण नहीं कर सका और दूसरे जगह मन चला गया तो जिसमें मन जावेगा वही उसको होना पड़ेगा। यही इन दो श्लोकों का संक्षेप में भाव भया।

साधन भक्ति का स्वरूप कहा अब यह विचारो कि ऐसी भक्ति तुम से बन सकेगी या नहीं। क्या सभी अवस्था में तन्मय रह सकते हो ? मरते वक्त भी भगवान का नाम लेते हुए ही शरीर छोडने का प्रण कर सकते हो ? हमको तो भरोसा नहीं होता है कि इस देह से तुम ऐसा कर सकते हो। कारण कि इतनी उमर बीत गई। परन्तु इस प्रकार भक्ति का अणु मात्र भी अब तक तुम में नही आया है। कभी भी २४ घंटे एक रस भगवान का ध्यान स्मरण तुम से नहीं बना है। यदि बना हो तो ईमान धर्म से कहो। अपने शरीर में, तथा स्त्री, पुत्र रोजगार में जितना स्नेह है उसके सोलहवें अंश में एक अंश भी भगवान में स्नेह है क्या ? जितने प्रेम से तुमने मायिक रूपको देखा उस तरह कभी भी प्रभुको देखा क्या ? जितने प्रेम से स्त्री पुत्र के लिए सुन्दर वस्त्र बनाया उतने प्रेम से कभी श्रीपति के लिए बनाया क्या ? मरे हुए अनित्य कुटुम्बी के लिए जितने आँसू ढारा उतना कभी परमपिता भगवान के मिलने के लिए रोया क्या ? जितना द्रव्य ससारिक सम्बन्ध में खर्च किया उसके आधा चौथाया भी अनादि पिता भगवान के लिए खर्च किया क्या ? जितने प्रेम से सासारिक सम्बन्धी का आदर किया, जामाता याने दामाद अर्थात् जवाँई के आने पर जितने प्रेम से पदार्थ बनाया उस प्रेम से कभी पारलौकिक बन्धु भागवतों के लिए अमनिया याने भोजन दिया क्या ? जैसा भूषण वस्त्र स्त्री पुत्रादि के लिए बनाया उसके आधा चौथाया भी भगवान के लिए बनाया क्या ? सम्पूर्ण एक दिन भी प्रभु के ध्यान में बिताया क्या ? एक रात की भी सारी स्वप्नावस्था प्रभु के अनुभव में बीती क्या ? सासारिक आमदनी मारे जाने पर जैसा उदास अशक्त मृतक समान हो जाता है उस तरह भगवान के प्रगट मिलन के लिये कभी भी तुम्हारी दशा हुई क्या ? बिछुड़े हुए स्त्री पुत्रादि के मिलने के दिन जैसा हर्ष हुआ वैसा भागवतों को देखकर कभी हुआ क्या ?

स्त्री पुत्र तथा भाई के बीमार हो जाने पर जैसा घबडाया वैसा कभी भगवान के मिलने के लिए घबड़ाया क्या ? खुद बिमार पडने पर जितना कुटुम्ब का मोह किया उतना अपने सेवा मूर्ति के लिए मोह किया क्या ? ससुराल जाते समय जैसा हर्ष हुआ वैसा

मग्न होते प्रसन्न मन से कभी श्री वृन्दावन श्री अयोध्या गया क्या ? कुटुम्बों में जितना प्रेम लगाया उसके चतुर्थांश भी पारलौकिक बन्धु भागवतों में या श्री गुरुदेव मे लगाया क्या ! कदापि नहीं। जब कि आज तक बीती हुई उमर मे एक दिन भी ऐसी दशा कभी नहीं हुई तो आगे कैसे विश्वास करें कि तुम साधन भक्ति का पूर्ण अधिकारी अपने को बना सकोगे। जिस भक्ति का वर्णन उपर मैं कर आया हूँ। ऐसी भक्ति के विना मुक्ति नहीं होती है। जब कि जड़भरत के समान साधन वाले सर्वस्व त्याग कर अन्तिम अवस्था मे मुक्ति क्षेत्र पहाड़ों में रहते हुए भी अन्तिम स्मरण के विना धोखा खा गये। एक मृग बच्चे के याद मात्र से हरिण के पेट में जाना पडा। जन्म लेकर जंगलों की घास खानी पडी तो तुम मे ऐसी कहाँ से निष्ठा आ जावेगी कि तुम जडभरत से भी बढकर बन सकोगे।

कैसी किस नमूने की दशा आने पर ससार छूटता है सो तुमको आगे बताता हूँ। श्री रामजी को मनाकर लाने वास्ते श्री भरतजी चित्रकुट चले और जब तक वहाँ जाकर श्री रामजी का दर्शन नहीं कर पाये थे इसके मध्य में जैसी दशा उनकी थी वैसी ही दशा जिन्दगी भर जिस साधन भक्ति निष्ठ बड़भागी की रहेगी, प्राण छूटते समय तक वही दशा बनी रहेगी तब तो जरूर उसका संसार छूट जावेगा और मुक्ति अवश्य हो जावेगी।

और सुनो ! कैसी दशा वाले साधक की मुक्ति होती है सो तुमको बताता हूँ। एक रोज श्री रामजी के आने में बाकी था, श्री भरतजी को प्रतिज्ञा थी कि चौदहवाँ वर्ष पूरने के दिन जो श्री रामजी बन से श्री अयोध्या पुरी नहीं आवेंगे तो मैं जरूर अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा। ऐसा प्रण करके श्री अयोध्याजी को छोडकर बाहर जंगल में नन्दीग्राम में तपस्वी वेश से फल मूल खाकर चौदह वर्ष बिताये। बस चोदहवाँ वर्ष बितने में एक दिन बाकी रह गया—स्मरण आया कि हाय आज ही का दिन तो बाकी है। आज जो प्रभु न आये या कुछ आने की खबर न मिली तो सुबह जरूर अग्नि में प्रवेश करूँगा ही। फिर मन में आया कि जब चौदह वर्षों में कुछ खबर नहीं मिली तो आज अब क्या ठिकाना है कि सरकार आजावेंगे। यदि आज आना होता तो कुछ न कुछ खबर जरूर मिली होती। कैसे विश्वास करूँ कि आज सरकार जरूर आवेंगे। यदि नहीं आये तो शरीर तो नही रखूँगा परन्तु ये पापी प्राण श्री जानकी मैया के श्री चरण देखे ही विना चला जावेगा क्या ? हाय ! बड़भागी श्री लक्ष्मणजी

को देखे विनाही यह शरीर छूट जाएगा ? उस कमल नयन श्री रामजी के श्रीमुख के देखे ही विना यह अभागा शरीर छोडना होगा ? ऐसा बोलते जाते थे श्रीनयनों से गरम गरम आँसू की धारा निकल निकल कर कपोल छाती आसन और जमीन को भींगो रही थीं। अधमरे के समान हो रहे थे। संसार में क्या हो रहा है यह कुछ खबर नहीं थी। मंत्री गण तथा मुनि गण और पुरवासी जन बहुत होश दिलाते थे परन्तु कुछ भी होश नहीं होता था। सारे ब्रह्माण्ड में आग लगे सरीखा मालूम होता था। जैसे जल से मछली को निकाल कर जेठ की तपती हुई मध्याह्न की रेती में कोई डाल देवे और उस मछली की जैसी दशा होती है उससे भी बढकर दुर्दशा में श्री भरतलालजी पड़े हुए थे।

सुना ! चौदहवाँ वर्ष पूरा होने को एक दिन बाकी था उस दिन के सुबहतक श्री हनुमान-जी के श्रीमुख से प्रभु का आना जब तक नहीं सुना इसके मध्य में जैसी दशा श्री भरतजी की थी बस ऐसी ही दशा वैसी ही व्याकुलता वैसी ही घबडाहट वैसी ही बेहोशी जिन्दगी भर जिस साधन भक्ती - निष्ठ को रहे उसकी मुक्ति अवश्य होगी। ऐसा अधिकारी भले ही प्रण करके कह सकता है कि प्राण छूटते वक्त भी जरूर मैं प्रभु के ध्यान में मग्न रहकर प्रभु का नाम लेकर ही शरीर छोडूगा।

और तीसरी नजीर तुमको देता हूँ सुनो !—अशोकवाटिका में श्री जानकीजी जिस तरह जिस दशा में श्री रघुनाथजी का ध्यान करतीं हुई समय बितातीं थीं, जब तक श्री हनुमानजी मुद्रिका नहीं दिये थे और जिस दिन से प्रभुका दर्शन छूटा था इस बीच समय में श्रीरामजी के दर्शन के लिए जितना व्याकुल रहती थी उसी तरह जिस भक्त की परीस्थिति जिन्दगी भर रह सकती हो वही 'अनन्यचेताः सततं' इस श्लोक का अधिकारी गिना जा सकता है।

और सुनो ! ये तो बहुत दिन की वियोग वाले भक्तों की दशा तुम से कही अब सुनो श्री गोपी गण की दशा—

श्लोक—"क्षणं युगशतमिव यासांयेन विनाऽभवत्" ।

श्री गोपी जन एक क्षण यदि श्री लालजी को नहीं देखती थीं तो एक क्षण के दर्शन विना उनको सौ युग के समान लगता था। श्री नन्दनन्दन प्रभु के दर्शन करते समय यदि

पलक गिर जाता तो झट श्री गोपी सब ब्रह्माजी को कह देती थी, अय ब्रह्मा ! जब श्री लालजी का दर्शन हमें होना था तो आखों पर पलक क्यों दे दिया। तू बहुत जड है।

सुना ! संक्षेप में साधन स्वरूप भक्ति के प्रकरण श्री गीताजी के केवल एक श्लोक का भाव तुम्हारे सामने नमूने के वास्ते रखा। 'अनन्यचेताः सतत' उसको सीमा 'अन्तकाले तु मामेव' इससे जनाया। अन्त में चुकने से 'य य वापि स्मरन् भाव' ये दशा होगी यह बताया। सो तुम अच्छी तरह समझ ही गये कि 'अनन्यचेताः सतत' इस श्लोक के अनुकूल इतनी उमर भर में एक रोज भी स्मरण नहीं बना है। अन्त में प्रभु का नाम लेकर ही मरने वाले साधक का मोक्ष हो सकता है। भगवान खास अपने श्री मुख वाणी से कह चुके यह भी तुम समझ ही गये। सारे राज्य को मिट्टी के समान छोड़कर स्त्री, पुत्र तथा इतने बड़े चक्रवर्तित्व को जड़ी मूल से छोड़कर अन्तिम अवस्था मे सब इन्द्रियों को वस मे करके सारे स्वाद को लात मार के एकान्त भयकर जगलमें जाकर अविछिन्न स्मरण करता हुआ जड़ भरत जी को एक पशु बच्चे में दया के कारण स्नेह मात्र से ही मरते वक्त उसकी याद से हरिण के पेट मे जाना पडा, घास खाना पडा, क्लेश से शरीर छोडना पडा ये भी तुम भली-भाति सुन ही लिये 'अनन्यचेताः सततं' उस श्लोक के अनुसार कौन-कौन स्मरण करने वाले साधन निष्ट भक्त हुए। उनकी भी जीवनी, दशा, प्रेम निष्ठा श्री भरत जी की, श्री स्वामीनी जी की, श्री गोपीगण की नजीर से तुम जान ही चुके। अब तुमको यह विचारना चाहिये कि तुम श्री गीता जी के कहे हुए भक्ति योग के मुताबिक अपनी दशा लाकर मुक्ति ले सकते हो या नहीं। जिन्दगी भर स्वप्न जागरण सुषुप्ति आदि सभी दशा में एक रस स्मरण तुम से बन सकता है या नहीं। मरते वक्त भी सबका मोह छोड़कर, कफ, वात, पित आदि त्रिदोष के भयंकर दुःखों की कुछ भी परवाह न करके भगवान का ध्यान करते भगवान का नाम मुख से बोलते शरीर छोडने का प्रण कर सकते हो या नहीं ? भक्ति योग को पूर्ण निवाहने की स्वातन्त्र्य तुममें है या नही ? श्री भरत जी के समान श्री गोपी गण के समान निष्ठा अपने में ला सकते हो या नहीं ?

सुनो ! श्री भरत जी की बरोबरी जगत भर में कर ही कौन सकता है। श्री स्वामिनी जी तो साक्षात् श्री जी हैं। उनकी उपमा तो उन्हीं की हो सकती है। अब रही निष्ठा

श्री गोपी गण की सो भी सुनो ! ब्रह्माजी भी नहीं हिम्मत कर सके कि गोपी गण के समान निष्ठा वाला मैं बनूं । किन्तु श्री गोपियों की भाग्य महिमा की ही प्रशंसा करके चले गये । और सुनो ! ज्ञानियों में शिरोमणि श्री उद्धव जी थे परन्तु श्री गोपियों की निष्ठा भाग्य देखकर दग हो गये श्री गोपियों के समान होऊ या हो सकूगा ऐसा कहने का उनकी भी हिम्मत नहीं हो सकी तो कहे क्याः—

श्लोक—बन्देनन्द ब्रजस्त्रीणां पाद रेणुम भीक्ष्णशः ।
यासां हरि कथोद्गीतं पुनाति भुवन त्रयम् ॥

इसका अर्थ स्पष्ट ही है परन्तु थोडे में कहता हूँ सुनो ! जब ज्ञान वैराग्य के अनेक प्रसंग कई महीनों तक भी कहने से कुछ भी श्री गोपी गण पर असर नहीं हुआ और सब सुनकर भी प्यारे श्री नन्द दुलारे के प्रगट मिलन, प्रगट दर्शन के लिये जो सदा उनका उभाड़ चलता था उसमें जरा भी परिवर्तन नहीं हुआ और प्यारे के विना हरवक्त श्री नयनों से उष्ण आँसू का वहना नहीं रुका तब उद्धव जी दंग हो गये और मन में अपने को वहुत ग्लानि किये कि हाय ! दुनियाँ में आकर हमने कुछ नहीं किया । श्री गोपियों के प्रेम समुद्र में से एक बून्द भी हमने नहीं पाया । वहीं प्यारे हैं, वही हम रहते हैं परन्तु कभी दर्शनों के लिए ऐसी घब-ड़ाहट, व्याकुली वेचैनी प्यारे के मिलने देखने के लिए नहीं हुई और इन वड़भागिनियों का कैसा हृदय है । जब प्यारे यहां थे, सदा ये सब देखती थीं । उस समय भी एक क्षण दर्शन नहीं पाती थीं तो सौ युग के समान इनका एक प्यारे के बिना बीतता था । अब प्यारे मथुरा में हैं तो भी इनकी ये दशा है कि एक भी ज्ञान वैराग्य इनके सामने काम नहीं देता । हाय प्यारे ! हाय प्यारे !! तुम्हारी सूरत कब देखू ! कब देखू !! रात दिन इसके सिवाय इन बड़भागिनियों का दूसरा कोई संयम-नियम पाठ-पूजन जप-तप ज्ञान चर्चा नहीं है । हाय प्यारे ! तुम्हारी सूरत कब देखू । हाय प्यारे ! तुम्हारी सूरत कब देखू !! यही कह-कह के तप्त उसाँसों के साथ गरम-गरम आँसू डालने के सिवाय इनके सामने कोई दूसरी कथा ही नहीं है । उद्धव जी कहते हैं कि एक हम भी हैं कि इतने दिन मथुरा छोड़े हुआ परन्तु प्यारे का स्वप्न भी नहीं देखा, एक रोज भी नहीं घबराया कि जल्दी चलूं और प्यारे को

देखू। हाय! ऐसी दशा तो हमारे भाग्य में है ही कहां। क्या कहूँ सन्ध्या, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, शास्त्र मनन, संयम-नियम, आदि सभी अनुष्ठान से ये हीन हैं जगली हैं। परन्तु भगवान के प्रेम में तो इन्होंने त्रिलोकी को विजय कर लिया। इन नन्द ब्रज की वडभागिनी श्री गोपियों के श्री चरण रज को वारंवार सदा मैं प्रणाम करता हूँ कि जिनका प्रेम तीनों लोक को पवित्र कर रहा है। ये वड़भागिनी जिस रास्ते से चलती फिरती हैं उस मार्ग में किसी तृण लता का भी जन्म मिल जाता तो निरन्तर इन वडभागिनियों के श्री चरण रेणु सेवन का सौभाग्य मिलता। अह! श्रुतियां भी जिनके पद पकज रज को ढूढती हैं, ब्रह्मा तथा शिव भी अपनी इच्छानुसार जिस प्यारे का दर्शन ध्यान पूरा नही पाते उस परब्रह्म परमात्मा मे इनकी इतनी अनुरक्ति। इनको कोटि-कोटि धन्यवाद। इस तरह श्री गोपियों की प्रेम दशा वर्णन करते, बार-बार प्रणाम साष्टाँग करके मथुरा आ गये।

यह निष्ठा तथा दशा श्री गोपियों की है कि उद्धव जी के समान ज्ञानी को भी इनकी दशा की प्रशसा मात्र करने का सौभाग्य हुआ किन्तु वैसी दशा मिलने के सौभाग्य नही हुआ। साधन क्रम से जो सर्वोत्कृष्ट भक्ति का लक्षण कहा गया जिसकी नजीर श्री गोपियों की दी गई ऐसी तैल धारावत अविछिन्न स्मृति सन्तान रूपा भक्ति का अधिकारी तुम हो या नहीं। आज तक तो तुममें इस अधिकार का लेश भी नहीं आया, अब रहा बाकी समय सो तुम सोचलो परन्तु हमको तो विश्वास नही पड रहा है कि तुम ऐसे अधिकारी कभी बन सको क्यों कि अनादि से आज तक तो नहीं बने। इससे इस साधन भक्ति के भरोसे भी रहना तुम्हारी निराली भूल ही समझी जायेगी।

श्री मद्भागवत ग्यारहवाँ स्कन्ध में भगवान साधन क्रम से प्राप्त भक्ति निष्ठ का लक्षण श्री मुख से ही कहते हैं—हे उद्धव! मेरा नाम तथा गुण चरित्र इत्यादि कहते समय जिसको जीभ प्रेम से तल-मल हो जाती है याने गद्गद् हो जाती है और मेरे मिलने के लिये मेरे वियोग जन्य दुःख से जो सदा रोया करता है, मेरा स्मरण करते जिसका चित्त हर वक्त द्रवता रहता है, निर्लज्ज होकर जो मेरे लिये जोर-जोर से चिल्लाया पुकारा करता है, जरा सी भी मेरी झाकी की झलक सामने देख कर कभी पाव मिनट प्रसन्न होता हुआ नाच भी पडता है, ऐसा जो साधन भक्ति निष्ठ है जगत को भी पवित्र करने में समर्थ होता है।

यह सुनने में तथा कहने में तो सरल मालूम पड़ता है। परन्तु श्री मुख से कहते हैं कि जो सदा मेरे लिये रोया करता है। कहो! ऐसे अधिकारी तुम हो सकोगे क्या? कदापि नहीं। एकादश स्कन्ध वाला श्लोक यह है:—

श्लोक—"वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्य भीक्ष्णं"

इसमें 'अभीक्ष्ण' पद आया है। 'रुदत्यभीक्ष्ण' याने जो मेरे लिए सदा रोया करता है। 'अभीक्ष्ण' पद का अर्थ हर वक्त होता है तो कहो! भक्त जी, भक्ति निष्ठ जी इस उपाधि के लिये कितनी योग्यता की जरूरत है? ऐसी योग्यता सम्पादन करके तुम मुक्ति लेने मे समर्थ हो सकोगे? कदापि नहीं। सुनो! जब तक साधन भक्ति का स्वरूप और वैसे अधिकारी का नजीर नहीं मालूम रहता है तब तक तो यह जीव बहुत उछल कूद मचाता है। जब पूर्ण स्वरूप समझ जाता है याने कर्म, ज्ञान भक्ति की अत्यन्त कठिनाइयां समझ जाता है तो फिर ऐसा घबड़ाता है कि उसका नाम लेने मात्र से ही शिथिल पड़ जाता है। सुनो! महात्मा श्री तुलसीदास जी जब इन तीनो को खूब समझ पाये और इसकी कठिनाइया हद से ज्यादा नजर आई तो अपने विनय पत्रिका मे कह बैठे कि:—

"ज्ञान, भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
'तुलसीदास' हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥

इसका भाव यह हुआ कि कर्म ज्ञान भक्ति इत्यादि जो अनेक साधन हैं सब सत्य हैं झूठ एक भी नहीं है परन्तु ये साधन साँगोपाग बन सकेंगे या इनको बनाकर भ्रम से छूटकर मैं मुक्ति पाऊँगा। यह भरोसा तो हमको स्वप्न में भी नहीं है। भ्रम छूटने के लिए, भव सागर से पार होने के लिए याने मुक्ति मिलने के लिए तो श्री हरि जू की निर्हेतुक कृपा का ही भरोसा हमारे मन में है।

ऐसे-ऐसे बडे महात्मा लोग भी भक्ति का पूर्ण स्वरूप और उसकी अत्यन्त कठिनाइयाँ समझने के बाद झट उस पथ से हट जाते हैं। करें क्या? लाखों बरस की उमर नहीं है, जीव में हद से ज्यादा परतन्त्रता भरी है। काल के वश है, रोग के वश है, भूख, प्यास, निद्रा, आलस्य

प्रमाद, अवस्था कर्म, प्रारब्ध आदि के वश में घिरा हुआ है और यह साधन स्वरूप जो कर्मज्ञान भक्ति है इस में हद से ज्यादा शर्तें लगाई गई हैं। श्रीमुख से जब भगवान कहते हैं कि :— (रुदत्य भीक्ष्णं) याने मेरे लिए जो सदा रोया करता है, वही साधन भक्ति निष्ठ कहा जा सकता है। साधन भक्ति वालों को मरते समय भी हमारा ध्यान करके, हमारा नाम लेते ही हुए मरना होगा तो मुक्ति होगी। नहीं तो इधर उधर मन जाने से फिर जन्मना मरना बना ही रहेगा। ऐसी-ऐसी शर्तें जब परब्रह्म उसमें लगाये हैं और जड भरत की हरिण होने की नजीर बैठी है समझदार को क्यों न इस साधन भक्ति से कलेजा कँपकर सुगम उपाय ढूंढने की और सुगम उपाय समझने के बाद उसपर स्थिति करने की इच्छा हो सकेगी ?

और सुनो ! श्री तुलसीदासजी कहते हैं :—

—"माधव असि तुम्हारि है माया।"

"करि विचार पचि मरिय तरिय नहिं जब तक करहु न दाया।"

"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावे कोई' इसका भी वही भाव हुआ। महात्मा श्री तुलसीदासजी बहुत ज्ञान वैराग्य भक्ति का प्रसंग कहे सुने परन्तु जब उसकी कठिनाइयों की तरफ ध्यान गया तो झट प्रभु से विनती करने लगे कि हे माधव ऐसी आपकी माया है कि विचार करते करते भले ही पच-पच के हजारों जन्म मर जाय परन्तु जब तक अपनी तरफ से निर्हेतुक करुणा नहीं करते हो तब तक कभी भी तरना नहीं हो सकता। वाक्य ज्ञान में याने पढने गुनने में, पदों के अर्थ समझने में, वेद वेदान्त शास्त्र कहने सुनने में चाहे कितना भी कोई निपुण क्यों न हो परन्तु वाक्य ज्ञान मात्र से ही कोई कभी भी संसार सागर से पार नहीं हो सकता। जैसे रात के अंधेरे में कोई मनुष्य दिया बाती और सूर्य की कथा सुनता है और कोई कहता है परन्तु दोनों में किसी के नजदीक उजियाला नहीं होता है। क्यों कि सिर्फ वाक्य याने सूर्य दिया बाती का नाम तथा चरचा कहने वाला कहता है, सुनने वाला सुनता है परन्तु हजारों वर्ष तक भी भले कहा सुना करे, जब तक प्रगट दिया बाती नहीं लगाएगा तब तक प्रकाश नहीं हो सकेगा।

सूर्य की व्युत्पत्ति, सूर्य शब्द का अर्थ चाहे कितना भी कहा सुना करे; परन्तु प्रगट सूर्य

मिले बिना अन्धकार कभी भी नहीं जा सकता है। यों ही लड्डू की कथा एक कह रहा हो दूसरा सुन रहा हो परन्तु प्रगट लड्डू मुँह में आये बिना भूख दोनों में से किसी की भी नही जा सकती। इसी प्रकार हे माधव! भले ही कर्म ज्ञान भक्ति की कथा सुना करे और कहा करे परन्तु जब तक उसकी योग्यता उसमें नही होगी तब तक सिर्फ कहने सुनने मात्र से क्या लाभ होगा। और उसका कहना सुनना तो सरल है परन्तु उस पर परिस्थिति होनी अत्यन्त मुश्किल है। क्योंकि परवश अत्यन्त परतन्त्र काम क्रोधादि के वशीभूत प्रारब्ध चक्र में पडा हुआ इस जीव की क्या शक्ति है, क्या हिम्मत है कि कहदे कि जरूर मरते समय भगवान का ध्यान ही करता हुआ भगवान का श्री नामही लेता हुआ मरूँगा। और यहा तक हिम्मत हुए बिना साधन भक्ति की सिद्धि हो ही नहीं सकती।

इसीसे हे माधव! आपकी दया का ही जो अवलम्ब लेगा वह जरूर संसार सिन्धु से पार उतर जावेगा।

इससे मैंने भी बहुत देखा सुना परन्तु "कहै सुने समझावे हृदय दशा नहिं आवै" (कहिय सुनिय समुझिय समुझाइय दशा हृदय नहिं आवे) इससे मैंने पक्का विचार लिया कि जब तक आप दया नहीं करते हैं तब तक कभी संसार से पार नही हो सकता है। भले ही पचा मरा करे।

श्री तुलसीदास जो कैसे अडोल सिद्धान्त का निर्णय कर रहे हैं। और सुनो! फिरसे तुलसीदासजी कहते हैं कि :—

"अस कछु समुझि परै रघुराया।
बिनु तव कृपा दयाल! दास हित मोह न छूटै माया॥"

याने हे दयाल! हे रघुराया! ऐसा कुछ हमको समझ पड़ता है कि आपकी कृपा बिना मोह माया कभी भी नहीं छूट सकती है। और सुनो! महात्मा तुलसीदास जी कहते हैं :—

'जब कब निज करुणा स्वभाव ते द्रवहुत निस्तरिये।
तलसीदास विश्वास आन नहिं कत पचि-पचि मरिये॥"

याने हे श्री रघुनाथ जी। चाहे जब अपनी स्वाभाविक दया से द्रवहु तभी निस्तार हो सकता है याने यह जीव तर सकता है। इस तुलसीदासको तो आपकी निर्हेतुक दया के सिवा और किसी की भी आश नहीं है। इतर साधन पर विश्वास भी नहीं जमता जब कि श्री रघुनाथ जी के निर्हेतुक कृपा कटाक्ष के बिना कभी जीव का संसार बन्धन कट ही नही सकता है तो फिर इतर साधन में क्यों पच-पच कर मरें।

और सुनो! 'जब कब राम कृपा दुख जाई। तुलसीदास नहिं आन उपाई ॥' याने जब कब भी श्री राम कृपा ही से संसार दुःख जा सकता है इस तुलसीदास को अब दूसरा उपाय कुछ नहीं नजर आता है।

और सुनो। महात्मा श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि ("कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिनराति") याने हे श्रीरामजी। यह दीन आपकी कृपा का ही मार्ग रात दिन ढूंढ रहा है याने देख रहा है। निर्हेतुक कृपा होय तो ही हमारा भला है।

और सुनो! श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि :—

('मेरे न बने बनाये राम, कोटि कलप लों।
राम रावरे बनाये बने पल पाव में॥)

याने हे श्रीरामजी। हम जो चाहें कि कर्म-ज्ञान भक्ति आदि साधन के बल से संसार पार हो जावें तो हे नाथ! हम से तो कोटि कलप में भी यह नहीं बन सकेगा। और हे श्री रघुवर आप चाहें तो पाव पल में भव सागर से पार हो सकता हूँ। इससे अब आपके निर्हेतुक अनुग्रह ही का पूर्ण भरोसा है।

सुना मन। ये सब कहने का तात्पर्य यह हुआ कि शास्त्रों में जो भक्ति का स्वरूप कहा है और उसकी सीमा मरण समय में स्मरण करके मरना यहां तक बताई है और जड़ भरत के समान महान विरक्त महात्मा भी इसमें सफलता नहीं प्राप्त कर सके। यह नजीर बताई है। और यह भी समझा दिया कि साधन भक्ति कहने सुनने में तो सरल मालूम पड़ती है। परन्तु अन्तिम स्मरण की शर्त और जड भरत का धोखा खाना तथा अपनी अयोग्यता, हद से ज्यादा काल,

कर्म रोग मोह अवस्था की परतन्त्रता इत्यादि जिन महात्माओं को स्मरण आता है। वे साधन भक्ति से करोड़ों कोस दूर भागते हैं और सीधे उपाय की शरण लेते हैं। जैसे महात्मा श्री तुलसीदास जी की नजीर बताई कि:—('ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु, नाहीं। 'तुलसिदास' हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं)' यदि तुम कहो कि एक जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में तो होगा। तो इसका भी भ्रम महात्मा श्री तुलसीदास जी ने मिटा दिया है कि :—('मेरे न बने बनाये राम कोटि कल्प लौं। राम रावरे बनाये बने पल पाव में ॥') याने हे श्रीरामजी। हमारे बनाये तो कोटि कल्प में भी नहीं बन सकता।

१८ पहुंचे महात्मा तिज्ञा करते हैं कि कोटि कल्प तक भी मैं साधन किया करू पर मैं अपने साधन से कभी भी ससार पार नहीं हो सकता याने मुक्ति नहीं पा सकता हूँ, इससे आपकी कृपा का ही भरोसा है। जब ऐसे महात्मा जन साधन स्वरूप से पग ढीला कर रहे हैं तब तू स्वकृत साधन से कोटि कल्प तक में भी भवसागर से पार नहीं हो सकता। जब उद्धव जी भी इतनी दशा लाने में समर्थ न हो सके, तो तू क्या साधन भक्ति की सीमा को पहुँच सकता है? कदापि नहीं। इससे अब तुम समझ गये होगे कि कभी भी अनादि काल से ऐसी साधन भक्ति निष्ठा आज तक तुम में कभी भी नहीं हुई न आगे होने की संभावना है। शास्त्रोक्त साधन भक्ति और उसके नज़ीर वाले महात्माओं के समान लक्षण न कभी अनादि काल से तुम में हुए न अब होने की कभी आशा है। इससे फिर भूल करके स्वप्न में भी इसकी प्रत्याशा नहीं करना।

देखो! इसी पूर्वोक्त भक्ति का नाम साधनान्तर है। इसी का नाम उपायान्तर है। इसी का नाम साधन उपासना है, इस साधन भक्ति के स्वरूप को और इसके अधिकारी को इसी लिए तुम से कहा। बार-बार समझाया कि शरणागत को दो बातों का नियम अवश्य पालन करना पड़ता है। एक तो अनन्य गति होकर और दूसरा अकिंचन होकर रहना पड़ता है। तभी शरणागति निष्ठ वह हो सकता है। यह प्रसंग पहिले कह आया हूँ। इसी प्रसंग में कहा था कि अकिंचन किसको कहते हैं सो समझाता हूँ। संसार से पार होने के लिए जिसके पास केवल भगवच्छरणागति के और दूसरा उपाय नहीं है उसी को अकिंचन कहते हैं। इसी

प्रसंग में तुमसे कहा था कि दूसरा उपाय एक साधन भक्ति है जिसको साधन प्रसंग में श्री गीता जी में निर्णय किया है। यदि उसका स्वरूप नहीं समझाते तो तुम्हारे मन में यह बात रह जाती कि क्या साधन भक्ति हम नहीं कर सकते ? जब यह खुटपुट संशय बना रह जाता तो शरणागति हो नहीं सकती थी क्यों कि उपायान्तर त्यागे बिना शरणागत में गिनती हो नहीं सकती है। इसलिए तुमसे साधन भक्ति जो उपायान्तर हैं इसका स्वरूप पूरी तरह से समझाया कि जब इसकी कठिनाई सुनोगे तो कभी भूल से भी उधर चेष्टा नहीं जा सकेगी। साधनान्तर याने साधन भक्ति याने शास्त्रीय उपासना का स्वरूप पूर्ण नहीं जानने से कभी न कभी भ्रम हो ही जाता कि क्या हम भक्ति नही कर सकते कि शरणागति स्वीकार करें।

अब उसका पूर्ण स्वरूप जानने के बाद यह खूब तुमको जँच गया है कि शरणागति के सिवा दूसरा उपाय करोड़ों जन्म में भी हमें नहीं सुधार सकता। जब ऐसा तुमको जँच जायेगा कि शरणागति के सिवा कभी भी कल्याण होना सम्भव नहीं है और शरणागति के समान सीधा उपाय इसी जन्म के अन्त में जरूर ! जरूर !! जरूर !!! भगवान के लोक में जाने के लिए दूसरा कोई भी नहीं है। जब ऐसा जँच जावेगा तो जानो कि शरणागत के लिए जो दो बातों की जरूरत है कि (अकिंचन और अनन्यगति) जरूर होना चाहिए, तभी शरणागति सफल हो सकेगी। ये दो आकार शरणागत में आये बिना कुछ भी काम नहीं हो सकेगा तो जब उपायान्तर याने साधन भक्ति की कठिनाइयों को जान लेगा तो आप ही मन उधर से हट जावेगा। कितना भी समझावे तो भी उधर नहीं जा सकेगा। इसलिए मैंने नमूने के वास्ते (साधन भक्ति का स्वरूप, उसके अधिकारी, उसकी कठिनता, और अपनी परतन्त्रता सब तुमको भली भाँति समझा दिया। अब तुम कभी भी साधन भक्ति द्वारा अपनी मुक्ति नहीं निश्चय करोगे। क्योंकि जब उसका प्रकरण चलेगा तभी तुम हट जाओगे और कह बैठोगे कि इतनी स्वतन्त्रता किसमें है कि साधन भक्ति के तरफ जाय। जब श्री तुलसीदास कहते हैं कि कोटि कलप लौं भी अपने बल से नहीं तर सकते हो तो हम क्या उसकी आशा करें। जब जड़भरत सदृश उसमें फेल हो गये तो हम आशा करें, यह कितनी भूल की बात है।

अच्छा मन ! साधन भक्ति का स्वरूप तो तुम समझ ही गये जो परतन्त्र स्वरूप के विरुद्ध है और हद्द से ज्यादा कठिन है और उसमें बहुत शर्ते हैं तथा किस वक्त उससे मोक्ष होगा इसका नियम भी नहीं है। जब प्रभु कहते हैं कि साधनवाले (अनेक जन्म संसिद्ध स्ततो याति परांगतिम्) याने साधन बल से तरनेवाला अनेक जन्मों में कभी सिद्ध होकर फिर परमगति को पाता है। जब यह नियम नहीं है कि एक या दो या सात या दस कितने जन्म में सिद्ध होगा जब कि इसका पता ही नहीं तब अनेक जन्मों का क्या ठिकाना कि अनेक की किस दिन पारी आवेगी।

इन सब बातों से साधन भक्ति, परतन्त्रता रूप अपने स्वरूप के अत्यन्त विरुद्ध है। और भी अनेक कारणों से तुम से साधन भक्ति नहीं बन सकेगी यह तो तुम भली भाँति जान ही गये। शायद तुम्हारे मन में यह आवे कि क्या कर्म योग के बल से नहीं तर सकेंगे तो उसका भी स्वरूप तुमको आगे कुछ समझा देता हूँ उसको भी भली-भाँति समझ जाओ।

पहले तो यह जान लो कि कर्म किसे कहते हैं? कर्म किस अधिकारी को पूर्ण स्वरूप होकर फल दे सकता है? कर्मयोग सुलभ है या कठिन है? ये सभी बातें खुलासा कहता हूँ ध्यान देकर सुनो! कर्म-स्वरूप संक्षेप में आगे बताता हूँ। भगवान अपने श्री मुख से श्री गीता जी अध्याय चौथे के १६ वें श्लोक में कहते हैं कि :—

हे अर्जुन !

श्लोक—"किं कर्मकिम कर्मेति कवयोप्यत्र मोहिता।"

याने कर्म का स्वरूप बड़ा कठिन है। कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस अंश में कवि लोग भी मोहित हो जाते हैं। कर्म अकर्म क्या है? इसको विद्वान लोग भी यथार्थ से नहीं जान पाते। फिर आगे के श्लोक में भगवान स्वयं कहते हैं कि :— (गहना कर्मणोगतिः)। पहिले कहते हैं कि :—कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यंच विकर्मणः।' 'अकर्मणश्च बोद्धव्यं' याने हे अर्जुन जी! कर्म को भी जानना चाहिए विकर्म भी जानना चाहिए। अकर्म भी जानना चाहिए। यह कहके फिर स्वयं कहते हैं कि (गहना कर्मणोगतिः) याने कर्म की गति बड़ी गहन है याने बहुत दुर्ज्ञेय है। फिर कहते हैं कि वही कर्म तुम से कहूँगा

जिसको भली भांति जानकर सविधि सांगोपांग अनुष्ठान कर पावोगे तो संसार बन्धन से छूट जाओगे। ऐसा कहकर सकाम कर्म को नाशवान फल देनेवाला बताकर निष्काम कर्म की प्रशंसा कर कुछ कर्म स्वरूप वर्णन किये हैं उसी को अर्थ पंचक नामक ग्रन्थ में कहा है सो आगे बताता हूँ।

याने कर्म का स्वरूप क्या है ? उसकी कुछ गिनती करते हैं (यज्ञ, दान, तप, ध्यान, सन्ध्यावन्दन, पञ्चमहायज्ञादि, अग्निहोत्र, तीर्थयात्रा, पुण्यक्षेत्रवास, कृच्छ्रचान्द्रायण, पुण्यनदी स्नान, व्रत, चातुर्मास्य, फल-मूलासन, शास्त्राभ्यास, भगवत्समाराधन, जप, तर्पणादि, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदिक अष्टांगयोग) इत्यादि अनेक प्रकार के कर्म के स्वरूप हैं। इसी को संक्षेप रूप से श्री गीता जी के चौथे अध्याय २८ वें श्लोक में भगवान स्वयं कहते हैं कि :—

श्लोक—"द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथा परे।"
स्वाध्याय ज्ञान यज्ञाश्च यतयः संशित व्रताः॥

फिर ३२ वें श्लोक में प्रभु आज्ञा करते हैं कि :—

श्लोक—एवं बहु विधा यज्ञावितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्म जान्विद्धितान्सर्वान् एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

अर्थात् हे अर्जुन ! इस तरह बहुत प्रकार के यज्ञ वेदों में विस्तार रूप से वर्णन किये हैं। इन सबों को कर्मकाण्ड का स्वरूप समझो और इन सब का यदि सविधि अनुष्ठान कर पावोगे तो अवश्य संसार बन्धन से छूट जाओगे। परन्तु यह अच्छी तरह पहिले समझ लो कि जिसकी बुद्धि स्थिर होगी वही पुरुष कर्मयोग का अधिकारी हो सकेगा। फिर अर्जुन जी पूछे कि प्रभु ! स्थिर बुद्धिवाले का क्या लक्षण है। भगवान उत्तर देते हैं कि :—

श्लोकः—वशेहि यस्य इन्द्रयाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठता।

हे अर्जुन ! जिस पुरुष की इन्द्रियां वश हैं याने अपने काबू में हैं उसी की बुद्धि स्थिर समझो अतः कर्मयोग के अधिकारी को स्थिर बुद्धि होना पड़ेगा और काबू में इन्द्रियाँ करनी

होगी। फिर दूसरी शर्त ये हैं [तत्रै काग्र मनः कृत्वा] याने कर्म योग के अधिकारी को मन वश करके रहना होगा। यदि इन्द्रियां और मन वश में नहीं होंगे तो कर्म योग की सिद्धि नही होगी। इसमें और कुछ शर्त है सो भी सुन लो। संशय को जडीमूल से छोड देना पडेगा, जरा भी संशय होगा तो इसकी सिद्धि मुश्किल है और सकाम भाव भी बिलकुल छोड देना पड़ेगा। यदि सकाम भावना बनी रहेगी तो भी कर्म योग सिद्ध होगा या बीच ही में नाश कर देगा। यह भी नहीं कह सकते क्यों कि सकाम भावना से कर्म करनेवाले अधिकारी को जरा भी विधि विधान में फर्क पड़ जाने से वही कर्म योग नष्ट होकर नाश कर देता है। जैसे-त्वष्टा ने इन्द्र को मारने के वास्ते सकाम यज्ञ किया। उसमें मंत्र बोलने में थोडा गडबड हो गया। प्लुत उच्चारण के स्थान में दीर्घ उच्चारण हो गया उसका फल यह हुआ कि इन्द्र तो नही मरा किन्तु वृत्रासुर का ही मरण हुआ। इसी प्रकार शास्त्रों में कहा है कि (विधिहीन-स्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति) विधि-विधान से हीन जो सकाम यज्ञ है उसके करने वाले का ही नाश हो जाता है। इससे कर्मों में जो सकाम भावना है वह बहुत खतरनाक है। दूसरी एक और यह शर्त है कि निष्काम कर्म मे मन वश, इन्द्रीयवश होने की सख्त जरूरत है।

क्यों कि मन, इन्द्रिय वश किये विना निष्काम कर्म भी पूर्ण रूप से फल देनेवाला नही हो सकता है। इससे सकाम भावना छोडकर मन, इन्द्रियों को वश करके सविधि साङ्गो-पाङ्ग जैसा कर्म का स्वरूप है उसको यदि पूर्ण रूप से कर पावोगे तो जरूर संसार बन्धन से छूट जावोगे। इतना सुनकर अर्जुन जी पूछे कि भगवान! किस प्रकार मन इन्द्रिया वश में करनी पड़ेंगी। भगवान ने कहा :—

श्लोक—"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता।"

याने एकान्त में जहाँ जरा भी हवा जाने की जगह न हो ऐसी जगह दीवा (दीप) रखने से जैसे बिलकुल दीप की शिखा हिलती काँपती नहीं है उसी प्रकार जिसका मन वश है कि जो कभी भी किसी विषय पर नहीं जाता है ऐसे निष्काम अधिकारी का कर्म योग पूर्ण-

रूप से सिद्ध हो सकेगा। इससे पहिले इन्द्रियों को वश कर लो, मन को वश कर लो फिर इसके अधिकारी बन सकते हो।

श्लोक—'तस्मात्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।'

इसका भाव ऊपर कह चुका हूँ, फिर अर्जुन जी पूछे कि कैसे मन इद्रियों को वश करना चाहिए ? इतना सुनकर भगवान बोले कि शास्त्रों में जो-जो उपाय बताये गये हैं उन्हीं उपायों का अभ्यास करते-करते वश हो जावेगी। परन्तु अर्जुन ! इसमें भी बड़े-बड़े विचार हैं वे ये हैं कि :—

श्लोक—"सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृते ज्ञानवानपि"।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥

याने बड़े-बड़े संयम नियम करनेवाले मन इन्द्रिय के वश करने के उद्योग में लगे हुए महात्मा ज्ञानी लोग भी इस अंश में चकरा जाते हैं क्योंकि क्या करें कभी न कभी स्वभाव बाधक हो ही जाता है क्योंकि प्रकृति उनके साथ लगी है। इससे शास्त्र का बताया हुआ निग्रह भी ऐसे मौके पर क्या करेगा। इसी से तो तुमको पहले भी कह चुका हूँ कि "गहना कर्मणोगतिः" याने कर्म की गति दुर्ज्ञेय है। फिर सुनकर अर्जुन जी पूछे कि महाराज ! यह मन तो बड़ा चञ्चल है, बड़ा प्रबल है, बड़ा बलवान है, बहुत जबरदस्त, पुष्ट मजबूत है। इसका वश होना तो ऐसा है कि जैसे वायु को कोई वश करले याने जैसे वायु का वश होना कठिन है उसी प्रकार मन का वश होना मुश्किल है। जब कि मनही का वश होना असम्भव दीख रहा है तो फिर इन्द्रिया तो इसी के हाथ में हैं फिर अधिकारी कैसा करे ? यह सुनकर भगवान कहते हैं कि :—

इसमें संशय जरा भी नहीं है, यह मन जरूर चचल है। हद से ज्यादा चलायमान है एक क्षण भी एक जगह नहीं रहता है। यह मन बहुत दुर्निग्रह है याने इसका वश करना यथार्थतः बड़ा मुश्किल है। परन्तु जिसको कर्मयोग के बलसे ससार छूटने का भरोसा करना होगा उस अधिकारी को तो चाहे जिस तरह से हो अभ्यास से वैराग्य से वश करना ही होगा।

इतना सुनकर अर्जुनजी कहे कि भगवान ! शायद बहुत दिन तक निष्काम कर्म योग करता हुआ अधिकारी और कभी मन इन्द्रियों के चक्कर मे पड जाय तो फिर उसकी क्या गति होगी। ऐसा तो नही होगा कि न इधर का रहा न उधर का रहा।

इतना सुनकर प्रभु ने कहा कि ऐसी तो सकाम कर्म वालों की दुर्दशा होती है। निष्काम कर्म वालों की दुर्दशा तो नही होगी बीच मे इन्द्रियों के कदाचित चक्कर में आ निष्काम कर्म योग की सिद्धि तो नही होगी और यह भी जरूर होगा कि संसार बन्धन से नहीं छूट पावेगा। हाँ नरकादि में नहीं जाकर मरने पर कुछ काल देव लोकों में निवास करके फिर ससार में जिस कुल में योगाभ्यास का संयोग लग सके ऐसे किसी पवित्र कुल में जन्म लेगा। पूर्व का अभ्यास जो किया है वही वासना फिर उसको कर्म योग में प्रवृत कर देगी।

अर्जुन ने पूछा कि सरकार फिर उस जन्म में उसकी गति हो जावेगी या नहीं। इतना सुनकर प्रभु ने कहा कि हम निश्चय निर्णय करके नही कह सकते कि होगी या नहीं। क्यों कि सिद्ध करना उसके हाथ है। यदि फिर सँभल गया तो भले हो जाय, नहीं तो फिर भी मरकर जन्म लेना ही पड़ेगा।

यह सुनकर फिर पूछा कि प्रभु ! उस अधिकारी की गति के बाबत कुछ तो कहिए। इतना सुनकर प्रभु ने कहा कि क्या कहूँ 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परांगतिम्'।

अनेक जन्मों में जब सम्यक् प्रकार से कर्म योग को पूर्ण सांगोपांग सिद्ध कर पावेगा। तब ही गति हो जावेगी। इसके सिवा उसके बाबत हम कुछ भी अधिक नही कह सकते।

फिर अर्जुनजी ने पूछा कि बिना मन वश हुए कर्म योग की सिद्धि होगी या नहीं। भगवान बोले कि :—

श्लोक—"असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।

याने हे अर्जुन ! यह अटल अडोल सिद्धान्त है कि जिसका मन वश में नही है उसके कर्म योग की सिद्धि नही हो सकेगी। याने मन वश किये बिना कितना भी कर्म योग में परिश्रम करे परन्तु उस कर्म योग में इतनी शक्ति नही हो सकेगी कि उस अधिकारी को संसार बन्धन

से छुडा सकै। फिर अर्जुनजी ने पूछा कि यह किसका सिद्धान्त है। यह सुनकर सरकार कहे कि :—(इति में मतिः) यह खास हमारा निश्चय किया हुआ अडोल सिद्धान्त है। इतना सुनकर अर्जुनजी इस कर्म योग पर अपनी परिस्थिति मुश्किल जानकर चुप हो गये।

यह कर्म योग का संक्षेप में स्वरूप तुमको बताया। यदि तुम कर्म योग से सिद्ध होना चाहते हो तो इसी को करो। अब तुम इसका स्वरूप तो समझ ही गये। परन्तु यह भी भूलना नहीं कि कर्म योग रूपी चक्रव्यूह को सुनकर अर्जुनजी सरीखे समर्थ का भी कलेजा कांप गया। देखो जब भगवान ने कहा कि :—

श्लोक :—'असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः'।

याने जिसका मन वश नहीं है उस पुरुष से यह कर्म योग सिद्ध नही हो सकता। इतना सुनकर झट अर्जुन जी कह बैठे कि महाराज मन तो बडा चंचल है। हमको तो विश्वास नही होता है कि यह मन वश में हो सके। इतना सुनकर भगवान ने भी उनकी ही बात की पुष्टि की और कहा कि :—

श्लोक :—असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।

याने हे अर्जुन जैसा कहते हो वैसा ही है इसमें जरा भी संशय नहीं है। यह मन अत्यन्त दुर्निग्रह है और बहुत चंचल है।

अर्जुन जी नर के अवतार हैं और इन्द्रियजित भी हैं। परन्तु जब मन वश करने का सक्त नियम कर्मयोग अधिकारी के लिये प्रभु के श्री मुख से सुना तब उन्होंने भी घबड़ा कर कह ही तो दिया कि प्रभो! मन वश होना तो बड़ा कठिन है।

अर्जुनजी के समान महान इन्द्रियजित् तो मन का वश होना महान कठिन बता रहे हैं। और भगवान भी कहते हैं कि बहुत यथार्थ तुम कहते हो। मन का वश होना कठिन से कठिन है। फिर अर्जुनजी ने पूछा कि शायद बहुत प्रयत्न से मन वश करके कर्मयोग की सिद्धि में कोई लगे और कभी किसी विषय में मन चला जाय तो फिर कैसा होगा। यह सुनकर झट भगवान कह बठे कि मन चंचल होने पर फिर जन्म मरण तो उस अधिकारी का बना ही

रहेगा। हमको भरोसा नहीं है कि मन वश किये विना कर्म योग सिद्ध होकर संसार बन्धन छुड़ा सके। वह यही पद है :—(असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इतिमे मतिः)।

जिसके सामने भगवान विराजे हैं उस अर्जुन ने भी कह दिया कि मन वश करना तो बडा ही कठिन है। यह सुनकर भगवान ने भी कहा कि यह तो संशय रहित बात है। मन वश करना कठिन ही है।

सोचो! जब अर्जुन जी का भी पैर ढीला पड़ गया तो तुम कर्म योग के भरोसे यदि अपनी मुक्ति की आशा करो, यह कितनी हँसी की बात है। फिर जब अर्जुन जी ने पूछा कि सरकार कर्मयोग से सिद्ध हुआ कोई महात्मा होय तो उनका नाम बताने की कृपा की जाय।

यह सुनकर प्रभुने कहा कि :—

श्लोक :—कर्मणैवहि संसिद्धि मास्थिता जनकादयः।

याने श्री जनक जीने कर्मयोग से सिद्धि पाई। अर्जुन जी तो इसकी कठिनता से घवड़ाये श्री मुख से नजीर मे श्री जनकजी बताये गये। देखो श्री जनक जी के समान तीनों लोक में श्री जनक जी ही हुए। जिनके पास वडे मुनि लोग शुकदेवजी के समान परमहंस ज्ञान सीखने को गये। शुकोपनिपद् में यह बात स्पष्ट लिखी है जिसके सम्बन्ध से वेद भी परब्रह्म को निश्चय कर पाया। साक्षात् श्री लक्ष्मीजी जिसके घर पर पुत्री बनकर रहीं, परब्रह्म श्रीरामजी कहाकर जिस जनकजी को अपना श्वसुर बनाया।

उनकी बराबरी जगत में कौन कर सकेगा। उनकी उमर इतनी ज्यादा थी कि न जाने कब से थे। त्रेता में थे ही, द्वापर में श्री बलराम जी भी उनसे मिलने श्री मिथिला पुरी में गये।

उनकी बराबरी जब कि मुनि जन नहीं कर सके तो तुम कब कर सकते हो। जब कि मन वश किये विना कर्मयोग की सिद्धि ही नहीं हो सकती है और अर्जुन भी संदेह में पड़ते हैं तो तुमको तो यह मालूम नहीं है कि भीतर गया स्वांस बाहर आवेगा या

नहीं। या बाहर गया हुआ स्वाँस भीतर आवेगा या नहीं। तुम मन वश करके कर्म योग को सिद्ध कर सको यह तो ऐसी बात है कि जैसे आग में कमल खिले। न जीभ वश है, न कान वश है, न तो तुम्हारी घ्राण इन्द्रिय वश है, न त्वचा इन्द्रिय वश है न उपस्थेन्द्रिय वश है फिर मन वश हो सकेगा यह कब सम्भव है।

कर्मयोग का स्वरूप उसकी कठिनता उसके अधिकारी की नजीर सभी प्रसग तुमको खुलासा समझा दिया और तुम जैसे हो यह भी स्मरण करा दिया। यदि अर्जुन जी से भी तुम बडे हो और मन को काबू में करके कर्मयोग को सिद्ध करके संसार बन्धन से छूटने की शक्ति तुममें दीखती हो तो खुशी से कर्मयोग को करो और उसके बल से मुक्ति ले लो यदि तुम श्री जनक जी के समान मन इन्द्रिय वश करने में समर्थ हो सकते हो, शुकदेव मुनि के गुरु होने की लियाकत यदि तुम अपने में ला सकते हो तो अवश्य कर्मयोग मे प्रवृत्त होवो। और यदि तुम समझ गये कि यह तो कहने सुनने के लिए ही सुगम है परन्तु इसका करना तो बड़ा मुश्किल है। कर्मयोग के बल से संसार बन्धन छुड़ाना ऐसा है कि मानो लोहे के चने चबाना।

सिर्फ मन ही वश करने से काम नहीं चलेगा किन्तु सारी इन्द्रियाँ वश करने की जरूरत है तब कर्म योगाधिकारी हो सकता है। इन्द्रिय वश किस को कहते हैं इसको भी थोडा समझ लो। निचोते हुए निम्बू को देखकर अथवा निम्बू आम से बनी हुई धनिया आदि की चटनी देख कर अथवा नीम्बू इमली का आचार देखकर या इसका नाम सुनकर यदि स्वप्न में भी जीभ में पानी न आवे तो जीभ इन्द्री वश समझी जावेगी जन्म भर स्वप्न में भी किसी की निन्दा बुराई यदि जीभ से नहीं निकले तो जीभ वश समझी जावेगी। कडवी नीम की चटनी बनाकर कोई देवे और उसको खाते समय बुरा नहीं मालूम पडे तो जीभ वश मानी जावेगी। बूँदी के लड्डू और मिट्टी यदि एक समान मालूम पड़े तो जीभ इन्द्रिय वश कही जावेगी। कडवी नीम का शर्वत और इलायची मिश्री डाला हुआ मलाईदार दूध एक समान जिसको माळुम पडे वही जीभ को वश में रखनेवाला कहा सकता है। कोई अपनी प्रशसा करे तो अच्छा नहीं मालूम पडे और गाली देवे तो बुरा नहीं माळुम पडे उसका कान

श्रवण इन्द्रिय वश समझी जावेगी। शीत में कुछ ओढे नहीं, अग्नि का सहारा लेवे नहीं, उष्ण में छतरी (छाता) जूता खडाउ को पहिने नहीं, उसकी त्वचा इन्द्रिय वश जानी जा सकती है। शरीर पर गरम याने आग रखने से, उसकी गर्मी से जिसका जी घबड़ावे नहीं, चन्दन लगाने से कुछ आराम मालुम पडे नही, उसकी त्वचा इन्द्रिय वश कही जा सकेगी। छड़ी मारने से चोट मालूम पडे नहीं, स्त्री आलिङ्गन से बिल्कुल आराम मालूम पड़ नहीं, उसकी त्वचा इन्द्रिय वश समझी जावेगी। अधमड़े मुर्दे की दुर्गन्धि से जी जिसका घबड़ाये नहीं, सुन्दर इत्र पुष्प के सुगन्ध से चित्त प्रसन्न होवे नहीं उसकी नाशिका इन्द्रियवश समझी जावेगी। तुरन्त की जन्मी हुई बची; १०० वर्ष की बुड्ढी, १६ वर्ष की जवान औरत इन तीनों में एक समान बुद्धि होय तो आँख इन्द्रिय वश समझो। सुन्दर अनेक पुष्पों से सुशोभित हरे-भरे बगीचे तथा सैकडों मुर्दे जलते श्मसान भूमि इन दोनों मे एक समान भाव जिसका रहे उसकी नेत्र इन्द्रिय वश समझी जावेगी। कुरूप देखकर बुरा न लगे, सुरूप देखकर मन नहीं प्रफुल्लित हो उसकी नेत्र इन्द्रिय वश कही जा सकती है। कैसी भी सुन्दर स्त्री की कथा सुनकर या सुन्दर रूप देखकर जिसको स्पन्दन चाञ्चल्य स्वप्न में भी न हो उसकी उपस्थ इन्द्रिय वश जानी जावेगी।

कोई सोने का महल देवे या घर को जलाकर खाककर देवे दोनों में जिसका मन एक समान शान्त रहे उसका मन वश समझो। सब इन्द्रियों के विषय सुनकर या देखकर जरा भी चाहना न हो उसका मन वश समझो।

सब घर कुटुम्ब के मर जाने पर जिसको उदासी न आवे और अनेक सन्तान होने में जिसको हर्ष न हो उसका मन वश समझो। एक ही रोज में चाहे तीन लोक का राज्य मिल जाय अथवा जन्म की कमाई सम्पत्ति एक ही रोज में नष्ट हो जाय। दोनों में जिसका एक समान भाव रहे उसका चित्त वश जानना होगा।

सुना! इन्द्रिय वश उसका नाम है। मन वश उसको कहते हैं। जो ऐसा तुम अपने को बना सकते हो तो कर्म योग के द्वारा अपना भव बन्धन काट सकते हो। यह कर्म योग का

स्वरुप अधिकार नजीर कठिनता इसलिए दिखाई कि तुम्हारे मन में यह नहीं रह जाय कि हम क्या कर्म योग से नहीं तर सकते ? यह वासना तुम्हारी चली जाय।

अच्छा! अब तुमने कर्म योग को सुन लिया और समझ भी लिया। यह भी कहने में ही सुलभ है परन्तु करना तो वडा ही मुश्किल है क्योकि जिसका मन इन्द्रिय वश नहीं है उसका कर्मयोग सिद्ध ही नहीं हो सकता। तुम्हारा मन जैसा वश में है वैसा तुम से छिपा ही नहीं है। इससे अब मैं यह भरोसा करता हूं कि तुम साधन भक्तियोग से और साधन स्वरुप कर्म योग से कभी भी अपने उद्धार की आशा नही कर सकोगे क्योंकि तुमसे बन ही नहीं सकता।

मन में यह कभी आवे कि क्या ज्ञान योग से नही तर सकूँगा ? अतः यह भी तुम्हारा भ्रम मिटा देने वास्ते कुछ नमूने के लिए साधन स्वरुप ज्ञानयोग को समझाये देता हूं, खूब ध्यान देकर सुनो। लापरवाही से सुनोगे तो सुना सुनाया सब व्यर्थ चला जायगा। चौथे अध्याय श्री गीता ३६ श्लोकमें प्रभु साधन स्वरुप ज्ञानयोग की महिमा स्वयं श्री मुख से वर्णन करते हैं :—

श्लोक—अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञान प्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

याने हे अर्जुन! भले ही तुम सब पापियों से बढकर क्यों न पापी होओ परन्तु ज्ञान योग रुप नौका पर चढ़कर सब पापों के समुद्र को आसानी से तर सकोगे।

३७ श्लोक में फिर कहते हैं कि :—

श्लोक—यथैधांसि समिद्धोऽग्नि र्भस्मसात्कुरुते ऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

अर्जुन! बढती हुई ज्वाला वाला अग्नि जैसे बहुत दिनों की सूखी लकड़ियों को तुरन्त भस्म कर देता है उसी तरह साधन स्वरुप ज्ञानयोग सभी पापों को भस्म कर देता है। ३६ वें श्लोक में कहते हैं कि :—

श्लोक—ज्ञानं लब्ध्वा पराम् शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।

हे अर्जुन ! ज्ञानयोग यदि सध जाय तो परम शान्ति निर्वान याने कैवल्य को जरूर पा सकता है परन्तु :—

श्लोक—अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्माविनश्यति ।
श्रद्धावान् लभते ज्ञानं—

याने श्रद्धा वाले पुरुष को ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अज्ञानी श्रद्धा हीन संशय वाले को नहीं किन्तु उसका तो विनाश ही होता है इसके बाद ज्ञान का स्वरुप संक्षेप में कहते हैं :—

श्लोक :—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स चमेनप्रणश्यति ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष हृदय मण्डल से लेकर आदित्य मण्डल पर्यन्त सर्वत्र मेरे को देखता है उसके नजदीक सदा मैं रहता हूं और वह पुरुष सदा मेरे नजदीक रहता है। यह संक्षेप में साधन स्वरुप ज्ञानयोग को प्रभु ने समझाया। बाद अर्जुन ने पूछा कि भगवान ज्ञान की महिमा सरकार ने कही, ज्ञान का स्वरुप बताने की कृपा की परन्तु यह ज्ञानयोग कैसे और किस अधिकारी को प्राप्त हो सकता है ?

यह सुन कर भगवान ने कहा कि :—अर्जुन !

श्लोक :—नहिज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

अर्जुन ! ज्ञान के समान पावन करने वाला और नहीं है—परन्तु 'तत्स्वय योग संसिद्धः कालेनात्मनिविन्दति ।' याने कर्म योग जिस अधिकारी का सांगोपाग सिद्ध हो गया है वही अधिकारी इस ज्ञान को भी पा सकता है। कर्मयोग सिद्ध हुए विना साधन स्वरुप ज्ञानयोग कभी किसी को प्राप्त ही नहीं हो सकता है। ऐसा ज्ञान प्राप्त होने के लिए सबसे पहिले पूर्वोक्त कर्मयोग की अत्यन्त आवश्यकता है। इससे यदि साधन स्वरूप ज्ञानयोग से निर्वाण पद लेना हो तो पहिले पूर्व में कहे मुजब मन आदि-इन्द्रिय वश होने की बातों से साध्य जो कर्मयोग

है उसको सिद्ध करो। कर्मयोग यदि निर्विघ्न समाप्त हो जायगा तो बिना परिश्रम यह साधन स्वरूप ज्ञान योग तुम्हें आजावेगा। इतना सुनकर अर्जुन जी सोचने लगे कि ज्ञान योग की महिमा सुनने में तो बड़ी प्रिय लगी और इससे निर्वाण भी मिल जावेगा परन्तु यह जो अडंगा है कि कर्म योग सिद्धि वालों को ही यह प्राप्त होगा यह मुश्किल है क्योंकि भगवान ने कहा है कि मन वश हुए बिना कर्म योग की सिद्धि हो ही नहीं सकती और मनको जब कहा कि सरकार इसका वश होना तो कठिन है—तो स्वयं भगवान कहे यह तो यथार्थ है।

यह हुई ज्ञान योग की कथा। यदि पूर्वोक्त प्रकार से तुम मन इन्द्रिय वश कर सकते हो। इसके बल से कर्म योग को सिद्ध कर लोगे, तो ज्ञानयोग पा सकोगे और उससे कैवल्य मोक्ष ले सकोगे।

जरा सोचो तो फिर वे ही सब बातें माथे आकर पड़ीं। न तुम मन इन्द्रिय वश कर सकते हो न कर्म योग सिद्ध हो सकता है। न ज्ञान योग मिलेगा न निर्वाण पद पावोगे।

फिर भी ये तीनों योग यद्यपि हद से ज्यादा सुनने तथा कहने में सरल मालूम पड़ते हैं परन्तु करने का विचार करे तो कठिन है यदि किसी प्रकार कोई अति कठिनता से एक को सिद्ध भी किसी काल में कर पावे तो सिर्फ एक ही से काम नहीं चल सकता। क्योंकि साधन-भक्ति-योग, ज्ञानयोग की अपेक्षा रखता है अकेले भक्तियोग कार्य करने में समर्थ नहीं है। किन्तु ज्ञानयोग का सहारा चाहता है; पूर्ण ज्ञान योग के सहारे बिना सिर्फ भक्ति योग होता ही नहीं। इसका क्रम ही ऐसा है कि साधन-भक्ति-योग बिना ज्ञान योग के पूर्ण स्वरूप में प्राप्त ही नहीं होता यह तो हुआ साधन-भक्ति योग का प्रसंग।

अब सुनो! ज्ञानयोग का प्रसंग, याने ज्ञान-योग भी कर्म योग की पूर्ण आशा करता है। कर्म-योग के बिना साधन स्वरूप ज्ञान-योग कभी किसी को प्राप्त ही नहीं हो सकता। इसका क्रम ऐसा है कि पूर्ण मन इन्द्रिया वश में होवें तब तो कर्म योग सिद्ध होता है। पूर्ण कर्म योग सिद्ध होवे उसी अधिकारी को ज्ञान योग प्राप्त होता है। पूर्ण ज्ञान योग को जो सिद्ध कर लेता है उसी पुरुष को साधन स्वरूप भक्ति योग मिलता है।

सिद्ध हुआ कि पूर्ण रूप से जो कर्म योग है वह ऐश्वर्य देने में प्रबल समर्थ होता है याने जिसका कर्म योग सिद्ध हो गया वह चाहे तो देवादिकों का ऐश्वर्य ले सकता है इससे सिद्ध हुआ कर्मयोग ऐश्वर्य का तो प्रधान साधन है और ज्ञान योग का सहायक है याने पूर्वोक्त प्रकार से जिसका कर्मयोग सिद्ध हो जावे वह चाहे तो ब्रह्मादिकों तक का ऐश्वर्य पा सकता है। यदि ऐश्वर्य न लेवे और आगे बढ़ना चाहे तो उस अधिकारी के लिए उपरोक्त ज्ञान योग आसानी से मिल सकता है। पूर्वोक्त सिद्ध कर्म-योग से प्राप्त जो साधन स्वरूप ज्ञान-योग है सो कैवल्य नामक जो एक मोक्ष है उसका तो प्रधान साधन है याने वह चाहे तो कैवल्य नामक मोक्ष उसको प्राप्त हो सकता है। यदि कैवल्य न चाहकर वह ज्ञान योगाधिकारी आगे और बढ़ना चाहे तो उसको साधन स्वरूप भक्ति योग जिसका पूर्व में वर्णन कर चुके हैं उसको आसानी से मिल सकता है याने साधन-भक्ति-योग ज्ञान की अपेक्षा करता है। ज्ञान कर्म-योग की अपेक्षा करता है, कर्म योग मन इन्द्रिय वश होने की अपेक्षा करता है याने ये तीनो साधन स्वरूप कर्म-ज्ञान-भक्ति-योग एक-एक की चाहना करते हैं। एक की शक्ति नहीं है कि साधक को फल दे सके। एक को दूसरे का सहारा न मिले तो उसका स्वरूप ही सुधरना मुश्किल पड़ जाता है। जिसको कहीं आवे कि कर्म से मोक्ष पाया वहाँ ज्ञान-भक्ति मिश्रित कर्म समझना होगा। जिसको आया कि ज्ञान से मोक्ष हुआ उसको कर्म भक्ति मिश्रित ज्ञान समझना होगा। जिसको आवे कि साधन भक्ति से मुक्ति पाई वहाँ कर्म ज्ञान मिश्रित साधन भक्ति जानना होगा। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि पहिले तो इन तीनों योगों को करने मे इतनी कठिनाइयाँ हैं कि जिसका पारावार नहीं है। इन तीनो योगों के स्वरूप जान लेने पर अधिकारी की आँखें खुल जाती हैं। बडे जोरों से जिन-जिन महात्माओं ने आज्ञा दी, उपदेश किया कि कर्म करो, ज्ञान सम्पादन करो, खूब भक्ति करो, उन्हीं महात्माओं को जब इन तीनों के स्वरूप समझ आये तो घबडाकर कह बैठे कि बाबा! भगवान की कृपा का भरोसा छोड़कर इन साधनों का भरोसा करना अपने पग में कुल्हाडी मारना है। जैसे तुलसीदास जी का नजीर पहले दे आया हूं। उन्होंने भी पहिले खूब कर्म ज्ञान भक्ति का वर्णन किया, उपदेश किया। जब इन तीनों की कठिनाइयों पर ध्यान गया तब यही कहा कि—

ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं ।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माही ॥

याने कर्म-ज्ञान-भक्ति जो साधन हैं सो सब सत्य हैं परन्तु हमको तो भव सागर से पार होने के लिए प्रभु की कृपा ही का भरोसा है। ऐसा महात्मा तुलसीदास जी ने क्यों कहा ? इसका यह भाव है कि इन साधनों की कठिनाइया, इनमें अनेक विघ्न, कालान्तर में फल सो भी कब ? इसका निर्णय नहीं है और भगवान दया के भरोसे में न तो कठिनता न तो कोई विघ्न न तो फल में सन्देह।

फिर महात्मा श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि :—

"जाने बिनु राम रीति पचि पचि जग मरत ।
परिहरि छल शरण गये तुलसि हूं ते तरत ॥

याने शरणागत वत्सल श्रीरामजी की शरणागत-रक्षण-व्रत की रीति न जानकर साधनस्वरूप कर्म-योग, ज्ञान-योग, साधन भक्ति-योग इसमें व्यर्थ पच-पचकर यह जगत मरता हैं। छल नाम इतर उपायान्तर याने साधन स्वरूप कर्म-ज्ञान-भक्ति योग का अवलम्ब छोड़कर यदि सिर्फ प्रभु के शरण का ही अवलम्ब पकड़ ले तो चाहे जो आराम से संसार सागर तर सकता है।

कहने का भाव यह हुआ कि इन तीनों योगों का स्वरूप बड़ा कड़ा है। इनका सधना बडा कठिन है। लाखों जन्म पचते-पचते बीत जाँय कहीं फल का ठिकाना ही नहीं। तुलसीदासजी जोरों से अपनी कवितावली में कहते हैं :—

जप योग विराग महा मख साधन दान दया दम कोटि करे ।
मुनि, सिद्ध, सुरेश, महेश, गनेश, सुसेवत जन्म अनेक मरे ॥
निगमागम वेद पुराण पढ़ै, तपसानल में युग पुंज जरै ।
मन ते प्रण रोपि कहे 'तुलसी' रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥

[कवितावली उ० कां० नं० ५५]

तुम कहते होवोगे कि ऐसी कथा कहां है ? सो तुम्हारे संदेह मिटाने के वास्ते आगे कहता हूँ ध्यान देकर अच्छी तरह से सुनो ! भगवान ने तो कृपा करके इन्द्र की इज्जत बढाने के वास्ते अपने भोले स्वभाव में पड़कर इन्द्र को यहां तक आदर दिया कि :—(देवानामस्मि वासवः) याने देवों में इन्द्र मैं हूँ। हद्द हो गई, सौ अश्व मेध करके एक जीवने प्रभु के द्वारा इन्द्र पदवी पाई। ब्रह्मा के एक दिन मे १४ चौदह इन्द्र होते हैं। ऐसे को भी उन दया सागर ने इतनी मान बड़ाई दी कि :—(देवों में इन्द्र मैं हूँ) अब उस इन्द्र की इमानदारी सुनो !

बलि महाराज ने असुर सेना लेकर इन्द्रलोक के ऊपर चढ़ाई की। सब देवगणों को जीत लिया। इन्द्र भी हार गये बाद बलिमहाराज खुशियाली का यज्ञ करने लगे। इसी समय इन्द्र प्रभु के श्री चरणों में जाकर बहुत रोये। उन कृपा सिन्धु से नहीं सहा गया और विचार किए कि क्या करना चाहिए ? बलि महाराज एक महान् धर्मात्मा सत्यवादी श्री प्रह्लादजी के पौत्र हैं। अपने बलसे देवों को पराजय करके यज्ञ कर रहे हैं और यह इन्द्रदेव अपने राज्य के लिए हमसे बार-बार बिनती कर रहे हैं, अच्छा ! अब इनके लिए भिक्षुक बनकर इनका काम कर दू। फिर इन्द्र की माता अदिति ने भी पयोव्रत नाम का एक व्रत किया। भगवान ने दर्शन देकर पूछा आपको क्या चाहिए ? वह बोली हमारा बेटा इन्द्र अनाथ हो गया है, उसको असुरों से राज्य दिला दीजिए। भगवान कृपा सागर ने कहा कि अच्छा ! ऐसा ही करूँगा। ऐसा कहके श्री वावन रूप होकर बलिमहाराज के पास जाकर, भिक्षा माँगकर पीछे अनेक आपत्तियाँ झेलकर, श्री बलि से राज लेकर इन्द्र को दिये, इन्द्र को सुखी कर दिये। और सुनो ! एक भौमासुर प्रबल राक्षस हुआ जो सब को जीतकर इन्द्र के पास गया और बोला—लड़ाई करो नहीं तो कर दो। इन्द्र उसको प्रबल जानकर कुछ कह न सके। उसने झट उनकी माता का कुण्डल ले लिया और भी दबरदस्ती बहुत सी चीजें ले ली और यह कह कर चला कि थोडे रोज में आऊँगा। तुमको मारकर इन्द्र लोक काबू में कर लूंगा। उसकी प्रबलता देखकर इन्द्र च्यूँ तक भी नहीं कर सके। जब वह अपने घर चला गया तो कुछ उपाय इन्द्र को नहीं सूझा झट श्री द्वारका में आये। श्री गोविन्द को साष्टाग दण्डवत करके बहुत प्रार्थना किये कि हे द्वारका नाथ ! भौमासुर से हमारी इज्जत बचाइये। आप नही बचावेंगे तो वह ऐसा प्रबल है कि हमारा

इन्द्रासन अवश्य ही छीन लेगा। इतनी आर्तध्वनि सुनते ही कृपामूर्ति श्री गोविन्द ने अभय दान देकर कहा—कि मत डरो। जाओ! उसको मारकर आपका माल जो भौमासुर ले गया है सो खुद मैं आपको पहुँचा देऊँगा। इतना कहकर वे दया मूर्ति श्री गरुड पर सवार होकर भौमासुर के गांव जो प्राग्ज्योतिषपुर था वहां भगवान तुरन्त गये। उसको मारकर छत्र कुण्डल लेकर खुद इन्द्रलोक में पहुंचे और इन्द्र को दे दिये। जब वहां से लौटे तो श्री सत्यभामाजी ने कहा कि पारिजात की सुगन्ध हमको बहुत अच्छी मालूम पड़ती है। एक पेड इस देवलोक से लेते चलिये अपनी फुलवारी में लगावेंगे। श्री सत्यभामाजी का वचन सुनकर भगवान इन्द्र की फुलवारी में से पारिजात लेने को गये। ज्योंही हाथ लगाया त्योंही वहां के पहरुये देवों ने रोक-टोक की। प्रभु ने कहा कि तुम लोग तो नौकर हो, इन्द्र का बगीचा है उनसे जाकर कह दो कि श्यामसुन्दर एक पारिजात द्वारिका ले जा रहे हैं।

इतना सुनकर फुलवारी के रक्षक देवलोगों ने इन्द्र के पास जाकर प्रभु की श्री मुख वाणी कही। 'अपनी फुलवारी से पारिजात उखाड़ कर द्वारका ले जा रहे हैं।' ये शब्द सुनते ही इन्द्र तो क्रोध में भर गये। देवों से बोले कि तुम लोग जल्दी जाकर मना कर दो और कह दो कि देवलोक का वृक्ष मृत्युलोक में नहीं जा सकता है। क्या थोडा सा काम कर दिये इससे फुलवारी उजाड़ डालेंगे। इतना कहकर ऐरावत हाथी पर चढकर उन्हीं श्री गोविन्द से लडने आ गये। प्रभु भी उन देवों के साथ उस इन्द्र को जीतकर पारिजात का पेड श्री द्वारका में लाये और श्री सत्यभामाजी के महल के सामने जो पुष्प वाटिका थी उसी में उस वृक्ष को लगा दिया।

इस तरह की कृतघ्नता तथा निर्लज्जता उस इन्द्र में तथा उन देवों में देखकर श्री शुकदेव मुनि धिक्कार देते हुए उस इन्द्र को और उन देवों को कहते हैं कि :—

श्लोक—ययाच आनम्य किरीट कोटिभिः पादौस्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्।
सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणाञ्च तमोधिगाढ्यताम्॥

इसका अर्थ यह हुआ कि श्री शुकदेव मुनिजी कहते हैं कि हे परीक्षित जी! देखिये कि भौमासुर कुण्डल छत्र जबरदस्ती इन्द्र से लाया। जब इन्द्र ने देखा कि इसका कुछ भी मैं नहीं

आ गई। शरणागत को अकिंचन और अनन्यगति होना चाहिए, जिसमें अकिंचन का भाव कुछ कहा। अब 'अनन्य गति' किसको कहते हैं, शरणागत अनन्यगति कब कहा सकता है सो तुमको आगे समझाता हूँ खूब ध्यान देकर सुनो।

जो ऐसा निश्चय कर लिया है कि भगवान् श्रीपतिके सिवा हमारा कोई स्वप्न में भी दूसरा रक्षक नहीं है उसी को अनन्य गति कह सकते हैं। याने जिसको पक्कावट से भ्रम रहित यह जँच जाय कि सारे ब्रह्माण्ड के कर्त्ता संरक्षक एक श्री भगवान ही हैं। बाकी जो देवगण हैं वे सब जीव हैं। पुण्य, यज्ञ, ब्रह्मचर्य इत्यादि कर्मों के द्वारा देवताओं की योनि उन सबों को प्राप्त हुई है। उन पुण्य कर्मों के नाश हो जाने पर फिर जन्म-मरण-चक्र उन सभों का बना ही रहता है। एक श्री लक्ष्मीपति के सिवा सच्चे पिता, सरक्षक कोई भी नहीं है। उन देव गणों को रक्षक, उद्धारक, दुःखनाशक समझ-समझ कर जिन लोगों ने उनका भजन किया उन-उन भक्तों के साथ किसी देवने निष्कपट व्यवहार नहीं किया। सामान्य ग्रन्थों के द्वारा, तमोगुणी तामस पुराणों के द्वारा जो लोग कहीं यह सुन पाये कि सब देव एक समान हैं सभी एक ही हैं, या वेद में जो प्रशंसा वाद है उसमें कभी सुन पाया कि किसी का भी भजन पूजन करने से मुक्ति हो जाती है; या यह कभी सुन पाया कि आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र में मिल जाता है याने समुद्र को पहुँच जाता है इसी प्रकार किसी भी देवको नमस्कार करे तो भगवान को ही पहुँचता है, कहीं यह सुन पाया कि तीनों देव में जो भेद मानता है वह शान्ति को नहीं पाता है इत्यादिक अनेक वाक्य, अनेक श्लोक, अनेक मन्त्र, अनेक ग्रन्थ ऐसे पड़े हैं कि जिनको सुन [illegible] कर यह जीव उल्टा ज्ञान पकड़कर भ्रम में ही पड़कर, अपनी सारी उमर खोदेता है। कर, [illegible] का कहीं भला नहीं दिखता है तो पछता कर फिर उसी सच्चे पिता आखिरी में सब इस ज[illegible] कि शरण्य का लक्षण सिवा श्रीपति के और किसी परब्रह्म वासुदेव को ही पकड़ता है। का[illegible] कि सामान्य राजस तामस ग्रन्थों के देवगण में मिल ही नहीं सकता है। पहिले समझा चुका हूँ। द्वारा सब देवों को या तीनों देवों को बराबर मानकर या भगवान से भी दूसरे देवों को बड़ा मान कर उन-उन देवों का भयङ्कर भजन, अनुष्ठान, तपश्चर्या जिन लोगों ने की वे पीछे बहुत पछताये कि हाय! मैंने तो सामान्य वाक्यों में पड़ कर बहुत धोखा खाया।

सैकड़ों ऐसे वाक्य मिलेंगे कि तीनों देवता बराबर हैं। ऐसे भी बहुत वाक्य मिलेंगे कि सूर्य ही ब्रह्म हैं, ऐसे भी प्रमाण मिलेंगे कि जीव ही ब्रह्म है, ऐसे भी वाक्य मिलेंगे कि इन्द्र ही ब्रह्म हैं। ऐसा भी वचन मिलेगा कि आनन्द ही ब्रह्म है। ऐसा भी वाक्य मिलेगा कि आकाश ही ब्रह्म है। ऐसा भी बहुत जगह लिखा है कि शिवजी ही ब्रह्म हैं। ऐसे भी सैकडो पद मिलेंगे कि ब्रह्माजी ही ब्रह्म हैं इन वाक्यों के प्रमाण बहुत भरे हैं परन्तु असली समय आने पर यह देखा जाता है कि ये जितने वाक्य हैं ये सब निकम्मे हो जाते हैं। एक भी काम नहीं देता है याने सिवा श्रीनाथजी के मौके पर कोई भी ब्रह्म का काम नहीं करता है, एक श्री राधारमण ही रह जाते हैं—उस श्री गोवर्धनधारी के बिना किसी में भी परब्रह्म का लक्षण नहीं मिलता है। लक्षण तो क्या मिलेगा वे सब ब्रह्म कहाने वाले, विपत्ति आने पर उसी श्रीपति के श्री चरण का सहारा ले-लेकर अपना प्राण बचाते हैं। जिन-जिन पुराणों में जिन इतिहासो में जिन श्रुतियों में पूर्वोक्त देवगणों को परब्रह्म बताया है फिर उन्हीं-उन्हीं ग्रन्थों मे यह भी समझाया है कि जब-जब देवों के ऊपर भयकर विपत्तियाँ आई तब-तब श्री गोविन्द के ही श्रीचरण की शरण ले-लेकर लाखों बार भयकर विपत्तियों से छुटकारा पाये। ऐसे-ऐसे प्रसग, ऐसे-ऐसे इतिहास असख्य पड़े हुए हैं कि जिसके श्रवण मनन करने से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि परब्रह्म तो श्री सरयू तट विहारी ही हैं। बाकी जितने देवगण हैं वे सब पुण्य करके यज्ञ, दान, करके देव हुए हैं। उन पुण्यों के नाश हो जाने पर फिर ससार में ही आते जाते रहते हैं। ये सभी बातें थोडी-थोड़ी नमूने के वास्ते मैं तुमको समझा दूंगा। जिसमें बिलकुल भ्रम मिट जावेगा और यह अच्छी तरह समझ में आजावेगा कि यथार्थ में कोई भी देव कभी भी इस जीव का रक्षक नहीं होते हैं और खुद विपत्ति छुडाने के वास्ते उसी श्री प्रमोद बन बिहारी के शरण में जाते हैं, कहीं-कहीं तो मुनियों ने उन देवों को इतना फटकारा है। उन देवगणों को उनके बडप्पन को, उनकी तामस वृति को, हद से ज्यादा निन्दा की है और कहा है कि ये देव लोग बड़े मतलबी हैं। जब इन देवताओं पर आपत्तियाँ आती हैं याने जब दुःख में पडते हैं, तो उसी मोर मुकुट वाले के पास दौडे जाते हैं और रोते हैं, पुकारते हैं श्रीचरणों में बार-बार माथा टेकते हैं, स्तुतियाँ करते हैं और जब विपत्ति से छूट जाते हैं तो उसी कृपामूर्ति से फिर झगड़ने जाते हैं। निर्लज्ज होकर उस श्यामसुन्दर से फिर लड़ाई करने को तैयार होते हैं।

आ गई। शरणागत को अकिंचन और अनन्यगति होना चाहिए, जिसमें अकिंचन का भाव कुछ कहा। अब 'अनन्य गति' किसको कहते हैं, शरणागत अनन्यगति कब कहा सकता है सो तुमको आगे समझाता हूँ खूब ध्यान देकर सुनो।

जो ऐसा निश्चय कर लिया है कि भगवान् श्रीपतिके सिवा हमारा कोई स्वप्न में भी दूसरा रक्षक नहीं है उसी को अनन्य गति कह सकते हैं। याने जिसको पक्कापन से भ्रम रहित यह जँच जाय कि सारे ब्रह्माण्ड के कर्त्ता संरक्षक एक श्री भगवान ही हैं। बाकी जो देवगण हैं वे सब जीव हैं। पुण्य, यज्ञ, ब्रह्मचर्य इत्यादि कर्मों के द्वारा देवताओं की योनि उन सबों को प्राप्त हुई है। उन पुण्य कर्मों के नाश हो जाने पर फिर जन्म-मरण-चक्र उन सभों का बना ही रहता है। एक श्री लक्ष्मीपति के सिवा सच्चे पिता, संरक्षक कोई भी नहीं हैं। उन देव गणों को, रक्षक, उद्धारक, दुःखनाशक समझ-समझ कर जिन लोगों ने उनका भजन किया उन-उन भक्तों के साथ किसी देवने निष्कपट व्यवहार नहीं किया। सामान्य ग्रन्थों के द्वारा, तमोगुणी तामस पुराणों के द्वारा जो लोग कहीं यह सुन पाये कि सब देव एक समान हैं सभी एक ही हैं, या वेद में जो प्रशंसा वाद है उसमें कभी सुन पाया कि किसी का भी भजन पूजन करने से मुक्ति हो जाती है; या यह कभी सुन पाया कि आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र में मिल जाता है याने समुद्र को पहुँच जाता है इसी प्रकार किसी भी देवको नमस्कार करे तो भगवान को ही पहुँचता है, कहीं यह सुन पाया कि तीनों देव में जो भेद मानता है वह शान्ति को नहीं पाता है इत्यादिक अनेक वाक्य, अनेक श्लोक, अनेक मन्त्र, अनेक ग्रन्थ ऐसे पडे हैं कि जिनको सुन

सैकड़ों ऐसे वाक्य मिलेंगे कि तीनो देवता वरावर हैं। ऐसे भी बहुत वाक्य मिलेंगे कि सूर्य ही ब्रह्म हैं, ऐसे भी प्रमाण मिलेंगे कि जीव ही ब्रह्म है, ऐसे भी वाक्य मिलेंगे कि इन्द्र ही ब्रह्म हैं। ऐसा भी वचन मिलेगा कि आनन्द ही ब्रह्म है। ऐसा भी वाक्य मिलेगा कि आकाश ही ब्रह्म है। ऐसा भी बहुत जगह लिखा है कि शिवजी ही ब्रह्म है। ऐसे भी सैकड़ो पद मिलेंगे कि ब्रह्माजी ही ब्रह्म हैं इन वाक्यों के प्रमाण बहुत भरे हैं परन्तु असली समय आने पर यह देखा जाता है कि ये जितने वाक्य हैं ये सब निकम्मे हो जाते हैं। एक भी काम नहीं देता है याने सिवा श्रीनाथजी के मौके पर कोई भी ब्रह्म का काम नहीं करता है, एक भी साधारण ही रह जाते हैं—उस श्री गोवर्धनधारी के बिना किसी मे भी परब्रह्म का लक्षण नहीं मिलता है। लक्षण तो क्या मिलेगा वे सब ब्रह्म कहाने वाले, विपत्ति आने पर उसी श्रीपति के श्री चरण का सहारा ले-लेकर अपना प्राण बचाते हैं। जिन-जिन पुराणो में जिन इतिहासों में जिन श्रुतियों में पूर्वोक्त देवगणो को परब्रह्म बताया है फिर उन्हीं-उन्ही ग्रन्थो में यह भी समझाया है कि जब-जब देवों के ऊपर भयकर विपत्तियाँ आई तब-तब श्री गोविन्द के ही श्रीचरण की शरण ले-लेकर लाखों वार भयंकर विपत्तियों से छुटकारा पाये। ऐसे-ऐसे प्रसंग, ऐसे ऐसे इतिहास असख्य पड़े हुए हैं कि जिसके श्रवण मनन करने से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि परब्रह्म तो श्री सरयू तट विहारी ही हैं। बाकी जितने देवगण है वे सब पुण्य करके यज्ञ, दान, करके देव हुए हैं। उन पुण्यों के नाश हो जाने पर फिर ससार मे ही आते जाते रहते हैं। ये सभी बातें थोडी-थोड़ी नमूने के वास्ते मैं तुमको समझा दूंगा। जिसमें बिलकुल भ्रम मिट जावेगा और यह अच्छी तरह समझ में आजावेगा कि यथार्थ में कोई भी देव कभी भी इस जीव का रक्षक नहीं होते हैं और खुद विपत्ति छुड़ाने के वास्ते उसी-श्री प्रमोद वन विहारी के शरण में जाते हैं, कहीं-कहीं तो मुनियो ने उन देवों को इतना फटकारा है। उन देवगणों को उनके बडप्पन को, उनकी तामस वृति को, हद से ज्यादा निन्दा की है और कहा है कि ये देव लोग बड़े मतलबी हैं। जब इन देवताओ पर आपत्तियाँ आती हैं याने जब दुःख में पड़ते हैं, तो उसी मोर मुकुट वाले के पास दौड़े जाते हैं और रोते हैं, पुकारते हैं श्रीचरणों में वार-वार माथा टेकते हैं, स्तुतियाँ करते हैं और जब विपत्ति से छूट जाते हैं तो उसी ॰ से फिर झगड़ने जाते हैं। निर्लज्ज होकर उस श्यामसुन्दर से फिर लड़ाई करने को तैयार ॰

इसका भाव खुलास ही है कि जप, योग, विराग, यज्ञ, दान, इन्द्रिय दमन चाहे कोटि करो; मुनि सिद्ध इन्द्र शंकर गणेश इन देवों को सेवते-सेवते चाहे अनेक जन्म मरो, चाहे सब शास्त्र वेद सारा पुराण पाठ करो ; मैं तो प्रण करके कहता हूँ कि श्री रघुनाथजी के बिना कौन हैं जो भव सागर से पार उतार सकता है।

पहिले महात्मा श्री तुलसीदासजी ने बहुत ज्ञान विराग जप, तप का उपदेश किया और फिर कहीं ऐसा भी कहा, बिना देवों के भक्ति नहीं मिलती बाद जन कठिनाइयाँ और परतन्त्र स्वरूप से विरुद्ध सब ध्यान में आया तब सब का खण्डन करके शरणागति के अवलम्ब पर स्वयं आये और दूसरों को भी यही सिखाया। इसी प्रकार श्री वल्लभाचार्यजी महाराज ने जब इन सब की कठिनाइयाँ देखी तो झट अपने ग्रन्थ में कहते हैं कि :—

श्लोक—"कलौ भक्त्यादि कोपाया दुःसाध्या इति मे मतिः" ।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन शरणं भावयेद्धरिम् ॥

कलि में साधन स्वरूप कर्म ज्ञान भक्ति योग जो हैं, ये उपाय अति दुःसाध्य हैं। कहने सुनने में बड़े सरल हैं परन्तु करने में बडे मुश्किल हैं याने कलि में किसी प्रकार से सिद्ध हो ही नहीं सकते। इसके वास्ते भगवान श्री हरि के शरणागत होना ही अवश्य ससार से पार करने वाला है। इससे श्री हरि के शरणागत होना यह मार्ग अत्यन्त उत्तम है यह हमारी मति है।

इसी प्रकार श्री निम्बार्काचार्यजी ने भी सब कह सुनकर यही कहा कि :—

श्लोक—नान्या गतिः कृष्णपादार विन्दात् संदृश्यते ब्रह्म शिवादि वंदितात् ।

याने ब्रह्मा शिव आदि देवों से वन्दित जो कृष्णजी के श्री चरण-कमल हैं, उनके सिवा संसार तरने के लिए स्वप्न में भी दूसरा भरोसा याने उपाय हमको नही है।

यह सब कहने का सारांश यह हुआ कि शरणागति के सिवा ससार से पार होने के लिये कोई भी दूसरा सुगम उपाय नहीं है। इतर उपायों में बहुत दिनों की, बहुत वर्षों की, अनेक जन्म जन्मान्तरों की जरूरत है। कठिनाइयाँ बहुत हैं, फल कब मिलेगा इसका नियम नहीं है। वे कर्मादिक उपाय पहिले तो सिद्ध ही होने में मुश्किल हैं। किसी को किसी प्रकार

किसी काल में सिद्ध ही हो जायँ तो फल देने में वे उपाय स्वतन्त्र नहीं है। भगवान की शरणागति सीधी से सीधी है। अत्यन्त सुगम है। सब इसके अधिकारी हैं। इसी जन्म के अन्त में फल मिलता है, परतन्त्र जो हम जीवों का स्वरूप है उसके अनुरूप भी है। इससे हे मन ! सब साधनों से रुचि हटा कर श्री हरि की शरणागति का ही अवलम्ब पकड़ो। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि शरणागत को अकिञ्चन और अनन्यगति होकर ही रहने से शरणागति काम देती है। अकिंचन किसको कहते हैं सो समझ लो याने साधन स्वरूप कर्म-योग, ज्ञान-योग भक्ति-योग का अवलम्ब ससार से तरने के लिये जिसको स्वप्न में भी नहीं है उसीको अकिंचन कहते हैं। तुम्हारे मनमें कभी यह भी आ जाता कि कुछ किये विना सिर्फ शरणागति मात्र से ही कैसे गति होगी ऐसा मन में आने से तुम्हारी शरणागति टूट जाती। इससे यह भ्रम तुम में कभी न उठने पावे इसी के लिये कर्म-योग, ज्ञान-योग, साधन भक्ति योग का स्वरूप उसके अधिकारी, इन तीनों की कठिनाइयाँ तुम्हारे सामने मैंने बताई कि जब तुम तीनों के स्वरूप समझ जावोगे तो खुद जँच जावेगा कि बाबा ! ये तो बड़े कठिन उपाय है। जब अर्जुन जी, उद्धवजी सरीखे इस पर नहीं टिक सके तो हम जो इन उपायों में पड़ें या इनकी आशा करें इनके लिये पछतावा करके शरणागति तोडें ये कितनी भूल है।

दुर्गम मार्ग का स्वरूप जानने के बाद बुद्धिमान उधर जाने की चेष्टा नहीं कर सकता क्योंकि यह समझ जावेगा कि उस मार्ग से जाने में कब ठिकाने पहुंचेंगे ? जब यह कुछ ठीक ही नही है फिर उस मार्ग से जाना या उसकी आशा रखना निराली भूल के सिवाय और कुछ नही हो सकता है।

इसीलिए तुम से तीनों योगों का नमूना समझाया है आशा करता हूँ कि अब भूल करके भी उन कठिन मार्गों के तरफ तुम्हारी इच्छा नहीं जावेगी। समझो कि जब उपायान्तर से बिलकुल रुचि हट जावेगी तब तुम अकिंचन कहे जाओगे। इसका भाव यह हुआ कि भगवच्छरणागति के विना हमको संसार से तरने के लिए स्वप्न में भी दूसरे उपाय जो कर्मादिक हैं उनके अवलम्ब की आशा नहीं है। ऐसा जिसने जान लिया है और जडी मूल से इतर उपायों की आशा त्याग दी है। उसमें जानो कि शरणागत के लिए जो दो बातों की जरूरत है उसमें से एक बात

कर सकता हूँ, श्री गोविन्द से मदद लूं ऐसा विचार कर जब तक मतलब था तबतक तो कितनी नम्रता पूर्वक आकर श्री गोविन्द के श्री चरणों में अपने मुकुट के साथ मस्तक गिराकर साष्टांग प्रणाम किया। जब मतलब निकल गया तो विग्रह किया। याने श्रीपति के साथ झगडा करने आया, प्रभु को भी लडाई करके उसको भगाना पडा। वडा आश्चर्य है कि इन देवों में और इस इन्द्र में कितनी कृतघ्नता है और कितना तमोगुण है। आश्चर्य है! हम तो कहते हैं कि इन देवों के तमोगुण को और इनके वडप्पन को धिक्कार है कि एक रोज भी नहीं चिता और श्री गोविन्द के किये उपकारों को तुरन्त ही भूल गया। एक पेड़ के लिए लड़ाई कर बैठा।

इस प्रकार ये देवगण हैं। यह कथा प्रसिद्ध ही है। यह श्लोक श्रीमद्भागवतजी के दशवें स्कन्ध के उत्तरार्ध के उनसठ अध्याय का इकतालीसवां है। जिस में शुकदेव मुनि धिक्कारा है।

सुन लिया! समझ गया! और सुनो! यही इन्द्र हैं। जिसको रावण का वेटा मेघनाद ने जीतकर, वांधकर और लका मे लाकर वन्द किया था। यह कथा उत्तर काण्ड श्री वाल्मीकीय में प्रसिद्ध है। फिर ब्रह्माजो ने आकर इन्द्र को उससे छुडाया इन्द्र की जान वचाई।

ग्यारहवं स्कन्ध श्रीमद्भागवत में इक्कीसवें अध्याय के वत्तीसवें श्लोक में भगवान पछतावे के साथ कहते हैं कि हे उद्धवजी। रजोगुणी, तमोगुणी और रजोगुण तमोगुण मिला हुआ सत्वगुणी लोग जैसी इन्द्रादिक देवताओं की उपासना करते हैं वैसी हमारी उपासना नहीं करते हैं। यह श्लोक है—

श्लोक—रजः सत्व तमोनिष्ठारजः सत्व तमो जुपः।
उपास्यते इन्द्र मुख्यान् देवादीन्न तथैवमाम् ॥

यदि यथार्थ में भगवान ही इन्द्र होते तो इस तरह से पछता कर क्यों कहते कि (उपास्यते इन्द्र मुख्यान् देवादीन्न तथैव माम्) याने रजगुणी तमोगुणी लोग इन्द्रादिक देवों की पूजा सेवा करते हैं वैसे ही हमारी उपासना नहीं करते हैं और उन इन्द्रादिकों की उपासना करके स्वर्ग में जाते हैं। तीसवें श्लोक में फिर कहते हैं कि :—

श्लोक—यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूत पतीन् खलाः ।

उद्धवजी ! जो खल लोग हैं वे मुझ को छोड़ कर पितृपति, भूतपति, प्रजापति नाम वाले देवताओं को यज्ञों के द्वारा यजन करते हैं। फिर भगवान कहते हैं कि :—

श्लोक—तावत् प्रमोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते ।
क्षीण पुण्यः पतत्यर्वाक् अनिच्छन् काल चालितः ॥

याने हे उद्धवजी यज्ञों के द्वारा पूर्वोक्त देवताओ का यजन कर के लोग स्वर्ग मे जाते है फिर पुण्य नाश के बाद इच्छा नहीं होते भी वहाँ से गिरा दिये जाते हें। याने पूर्वोक्त देवताओं को बडे प्रेम से यजन करके उन देवों के लोक मे जाकर भी फिर गिरकर जन्म मरण चक्र में बने ही रहते हैं—

श्लोक—मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

हे कुन्ती पुत्र ! यदि हमारा यजन करे और हमको पा जावे तो फिर जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छूट जाता है।

श्री गीताजी में भी आपने ही कहा है कि :—

श्लोक—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनो ऽर्जुन ।
मामुपेत्यतु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

याने हे अर्जुन ! इतर देवों को यजन करके स्वर्ग, ब्रह्म-लोक, कैलाश आदि में यह चेतन जाता है फिर :—

श्लोक—'क्षीणै पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति'

याने हे अर्जुन ! पुण्य नाश हो जाने के बाद मर्त्य-लोक में ही आजाता है क्यों कि ब्रह्म लोक, स्वर्गादि जितने देवताओं के लोक हैं वे पुनरावर्ती हैं। याने इन लोकों में जो जो जाते हैं उनको जरूर संसार में आना ही पड़ता है सिर्फ मेरे ही को जो पा जाते हैं, हमारे ही लोक में जो चले जाते है उसी बड़-भागी का फिर इस संसार चक्र में जन्म नहीं होता है।

खूब गहरे विचार से इसका मनन करो। वेद मंत्र में आया है कि [ब्रह्मा च नारायणः रुद्रश्च नारायणः शक्रश्च नारायणः] याने ब्रह्मा भी नारायण हैं, रुद्र भी नारायण है, इन्द्र भी नारायण हैं और श्री गीताजी में भी भगवान ने कहा है कि 'देवों में इन्द्र मैं हूँ' याने वेद में श्री गीता में और भी अनेक वाक्यों मे यह लिख तो दिया है कि इद्र भी नारायण हैं और खुद भी मान बढ़ाया कि देवों मे इन्द्र मैं हूं। परन्तु जब सब की संगति मिलानी पडी तब तो इन्द्र नारायण नहीं ठहरे क्यो कि इन्द्र नारायण होते तो भौमासुर से डर कर बचने के लिए फिर श्री गोविन्द के निकट जाने की क्या जरूरत थी ? फिर नारायण पारिजात ले जाते थे तो उनसे लडाई की क्या जरूरत थी ? फिर एकादश स्कन्ध मे पछताने की क्या जरूरत थी ? कि तामसी राजसी लोग जैसे इन्द्र आदिक देवताओं की उपासना करते हैं वैसी हमारी नहीं करते। इस तरह भगवान क्यो पछताते। फिर कहा कि खल लोग यज्ञो को करके पितृ पति, भूत पति, सुरपति प्रजापति नाम वाले देवताओं को यजन करते है।

सोचो मन ! प्रभु ने तुममें विचार शक्ति दे रखी है। यदि सुरपति याने इन्द्र और श्रीपति-श्रीगोविन्द ये दोनो एक ही होते तो इन्द्र के उपासको को प्रभु अपने श्रीमुख से तामसी राजसी क्यों कहते ? फिर अन्य देवो की यज्ञो द्वारा उपासना करनेवाले विचारे भक्तों को खुद भगवान अपने श्रीमुख से खल क्यो कहते ? फिर जो इन्द्र और गोविन्द दोनो एक होते तो गोविन्द ऐसे क्यो कहते कि इन्द्र लोक से पुण्य भोगकर फिर संसार में गिर जाता है। और हमारे लोक में जाकर फिर जन्म-मरण-चक्र मे जीव नहीं आता है।

अपने उपासकों को कहते है कि पुनर्जन्म नही होता। इन्द्र के यजन करनेवालो को कहते हैं कि फिर संसार में आ जाता है। जब कि इन देवो के यजन करने वालो को खुद तामसी राजसी बताते हैं उन लोगों का पुनर्जन्म बताते है और भगवान अपने उपासको की बड़ाई करते हैं। अपने को पानेवाले का पुनर्जन्म नही होता ऐसा बताते हैं। इतर देवों के पूजन भजन करनेवालों को खल कहते हैं। और पछताते है कि जितने इन्द्रादिको को प्रेम से यजन करते हैं उतने प्रेम से तामसी लोग हमको नहीं करते। तो यदि 'इन्द्रश्च नारा-

यण:' 'देवानामस्मि वासवः' इन पदों का अर्थ यही होता है कि इन्द्र नारायण है। तो उपासक भेद, फल भेद, ऐसा क्यों वार-बार आता।

और कहते हैं कि देवों में 'इन्द्र मैं हूँ'। तो फिर व्रज में श्री गोप गण इन्द्र को पूजते थे यदि इन्द्र वे ही हैं तो इन्द्र की पूजा से तो उनकी पूजा हो ही जाती ; आकाश से गिरा जल जैसे समुद्र में जाता है वैसे किसी देव का नमस्कार भगवान को है यह बात यदि सत्य होती तो इन्द्र की पूजा परम्परा से चल ही रही थी और मन्त्र भी कहता है कि इन्द्र भी नारायण हैं, गीता कह रही है कि देवों में इन्द्र मैं ही हूं, महाभारत कह ही रहा है कि आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र में जाता है वैसे ही किसी भी देव का पूजन नमस्कार भगवान ही को पहुँचता है। जब ये मन्त्र ये पद सत्य होते तो इन्द्र का अर्थ ऐसा ही रहता तब इन्द्र के पूजन से श्री गोविन्द पूजित हो ही जाते, इन्द्र का नमस्कार भगवान को पहुँच ही जाता फिर हठ करके जबरदस्ती इन्द्र की पूजा क्यों छुड़ाई जाती। इससे मालूम पड़ता है कि इन मन्त्रों के अर्थ ये नहीं हैं। अच्छा! यदि 'इन्द्र नारायण है' यही यथार्थ उस मन्त्र का अर्थ होता तो श्री नारायण की ही तो पूजा गोपों ने की, फिर इन्द्र को भी रीस आने की क्या जरूरत थी। नारायण की पूजा से वे पूजित हो ही जाते परन्तु गोविन्द ने सदा के लिए पूजा छुड़ा दिया औरइन्द्र अपने पूजा छूट जाने से क्रोधित हो गये। अतः इन प्रसंगो के विचारने से यह निश्चय होता है कि वे मन्त्र और गीता वाक्य और भारत वाक्य ये सभी अर्थवाद है याने प्रशसा ही मात्र हैं। वास्तव में नारायण परब्रह्म तो लक्ष्मीपति ही हैं। एक श्रीनाथ जी के सिवा भगवान सर्वेश्वर श्रीपति दूसरा देव स्वप्न में भी नहीं हो सकता है।

और सुनो! जब इन्द्र की पूजा भगवान छुडाने लगे तो खुलासा उन गोपों से तथा श्री नन्द जी से कहा कि—

श्लोक—किमिन्द्रेणेह भूतानाम् अस्ति कश्चित्वीश्वरः।

जीवों को इन्द्र से क्या जरूरत है। एक कोई ईश्वर हैं जो कि कर्मानुसार सुख दुःख देते हैं, इन्द्र क्या कर सकता है? इसके हाथ में क्या है? ईश्वर के संकल्प से चेतन के कर्मानुसार जो सुख दुख नियमित है उनमे ये इन्द्र राई बरोबर भी घटा वढा नहीं सकता है।

'अनीशेनान्यथा कर्तुं' ईश्वर संकल्प को इधर उधर करने में यह अनीश है। याने बिल्कुल असमर्थ है। इससे इसका पूजन मत करो। फिर भगवान दशम स्कन्ध चौबीसवाँ अध्याय उन्नीसवें श्लोक में कहते हैं कि :—

श्लोक—आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्य मुपजीवति।
न तस्मा द्विन्दते क्षेमं जारं नार्यसतीयथा॥

याने हे गोपों! हे श्रीनन्द बाबा जी! सुनिये, दूसरा कोई जिलाता हो और (वह) दूसरे की सेवा करता हो उसका भला नहीं हो सकता है। याने जिससे जीविका प्राप्त होती हो उसको छोडकर जो दूसरे को सेवता है उसका क्षेम नहीं होता है जैसे हरेक प्रकार से पोषण करनेवाले पति को छोड कर व्यभिचारिणी औरत जार पति को सेवती है। परन्तु उस जार पति से उस औरत का बुरा के सिवा भला नहीं होता उसका लोक परलोक दोनों बिगड जाता है। क्योंकि उसने कृतघ्नपना किया कि असली पोषने वाले को छोड दिया इससे वह कभी सुख नहीं पाती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर से आप लोग जीते हैं और इन्द्र जो कि इसके हाथ में कुछ भी नहीं है इसको सेवते हैं। तो हमारा कहना मानिए यह मिथ्या विश्वास हटाकर भगवत्स्वरूप श्री गिरिराज को पूजिये। इतना सुनकर गोपों ने वैसा ही किया और इन्द्र ने भी श्रीगोविन्द के चरणों में आकर स्तुति विनती दण्डवत् साष्टांग करके माँफी माँगी।

सुना मन! यह इसलिए समझाया गया कि जो लोग सामान्य शास्त्रों के या राजस तामस पुराणों के या अर्थवाद मन्त्रों के भ्रम में पडकर श्री गोविन्द के बराबर दूसरे देवों में विश्वास किया या गोविन्द से बढ़कर दूसरों को माना और उसकी संगति नहीं जान पाया तो वे बिचारे पीछे बहुत धोखा खा जाते हैं और समय बितने पर पश्चाताप करते हैं इससे तुम शरणागत होना चाहते हो तो 'अनन्य गति' पहले बनो। इसका यह मतलब हुआ कि श्री पति के सिवाय हमारा स्वप्न में भी दूसरा रक्षक नहीं है इसके बाबत तुमको समझाया कि शायद तुम प्रशंसावाद में पड़कर संगति लगाये बिना श्री पति के बराबर दूसरे देवों को मानकर या हरि से बढकर दूसरों को मानकर या सबको एक समान मानकर पीछे धोखा न खा जाओ। इसीसे तुमको कहा कि बहुत मन्त्र, बहुत पुराण, बहुत श्लोक, बहुत पद ऐसे

तुमको मिल जावेंगे जिनमें लिखा है कि तीनों देव एक हैं या भगवान से भी बढकर दूसरे देव हे, या दूसरे ही देव ब्रह्म हैं या यह जीव ही ब्रह्म है ऐसे अनेक प्रमाण देखने को, सुनने को मिलेंगे। परन्तु जब असली मौका आता है तो ये सभी प्रमाण फेल हो जाते हैं, निकम्मे हो जाते हैं, ये सब प्रमाण हँसी से मालूम पडते हैं। इस प्रसंग में एक सिर्फ इन्द्र मात्र का प्रमाण तुमको बताया। याने इन्द्र को भी वेद मन्त्र में नारायण बताया है। गीता मे भगवान का रूप बताया है :—'आकाशात्पतित तोयं' इस श्लोक से देवो का नमस्कार भगवान को पहुँचना बताया है। परन्तु मौके पर भगवान श्रीकृष्णजी ने सब प्रमाणों को दबाकर इन्द्र का पूजन छुडा ही दिया इससे आश्रितों को यह चेताया कि, गोपो को निमित्त करके अपने आश्रितों को चेताता हूँ कि तुमलोग मिथ्या भ्रम को छोड दो परम्परा को छोड दो, किसी देवों के हाथ में कुछ भी नहीं है। शास्त्रीय प्रशंमावाद प्रमाणों में नहीं आकर सब देवों को छोडकर एक हमारा अवलम्ब पकडो।

देखो मन! इन बातों को जबतक अच्छी तरह बारम्बार नहीं सुनोगे, बारम्बार नहीं मनन करोगे तब तक शंका है कि शायद कभी न कभी तुम इतिहास पुराणों के तामसी प्रशसावाद में फँसकर सुगम उपाय जो शरणागति है इससे हाथ धो बैठोगे। इससे इस प्रसग को अच्छी तरह तुमको समझाऊँगा। जिसमें शास्त्रों के वाक्यों में जो परस्पर भेद है तथा उसमें झूठा क्या है और सच्चा क्या है? याने यथार्थवाद कौन है? और प्रशसा वाद कौन है? इन वाक्यों में इन मन्त्रों में कौन छोड़ने के लायक है कौन ग्रहण करने के लायक है? जिसमें कि फिर तुमको भ्रम न हो जाय। क्योंकि तुम में इतनी अक्किल नहीं है कि तुम खुद इसका निर्णय कर सको। तुमको कोई भी प्रमाण कह देता है कि देखो! यह वेदों में लिखा है कि सब बराबर हैं। देखो! यह व्यासजी का वचन है कि किसी की भी उपासना करे तो भगवान को ही मिलता है।

देखो! भगवान ने भी तो देवों को पूजा था इत्यादि अनेक भ्रमकारक शरणागति को तोड़ने वाले तामस व्यर्थ प्रशंसावाद वाले थोथे प्रमाणों को सुनकर झट तुम थोड़े देर मौन हो

जाते हो और विचारने लगते हो कि हाँ जी प्रमाण जब वेदों में है, इतिहास पुराणों में है तब तो जरूर ही ठीक है।

तुम को यह समझना था कि सारी सृष्टि तो परमात्मा की बनाई हुई है तो क्या एक ही अधिकारी के लिए सब रचना है? नही जैसे अनेक वस्तुओं को प्रभुने रचा है वैसे उसके अधिकारी भी फरक-फरक रचे गये है। जैसे अमृत को रचा है वैसे उसके अधिकारी देवताओं को भी रचा है। अन्न रचा है उसका अधिकारी मनुष्य रचा गया है। घास बनाया है तो उसके अधिकारी घोडे, बैल, गदहे, बकरे भी बनाये गये है। मुर्दा बनाया गया है तो उसका भोगी गिद्ध भी बनाया गया। मल को रचा तो उसके अधिकारी शूकर को रचा। बाजार लगता है उसमे परमात्मा की बनाई हुई अनेक चीजे बिकने को आती है उसके अनेक अधिकारी भी खरीदने वाले जाते है शूद्र पञ्चम वर्ण वगैरह मदिरा खरीदते है। दाँतो को नुकसान करती है, जो यह नही समझते है वे खाने की तम्बाकू खरीदते है। मनुष्य देह की, पैसे की, धन की, धातु की धर्म की कदर जो मनुष्य नही जानते है, नहीं समझ पाते है वे गांजा, चरस, भाग आदिक वस्तुएँ खरीदते है। पापो की क्रूरता, धातु की अमूल्यता, स्वास्थ्य की कदर, धर्म की मर्यादा, पापो का फल आज या लाखों वर्ष मे जरूर जरूर जरूर होता ही है। उद्दण्डपने से किये हुए अन्याय कर्मो के फल अवश्य भोगना ही पडता है भोगे बिना छुटकारा हो ही नही सकता। इन बातों को जो सत्सग द्वारा नही जान पाये हैं, वे बेचारे लोग वेश्या के साथ पाप ही खरीदते है। जो व्यभिचारिणी है वह आगे होनेवाली भयकर लोक निन्दा, धर्म पर आघात, भयकर नरक इत्यादि नही समझ कर कुमार्गी पुरुषो से अधर्म ही खरीदती है। उसी बाजार मे धर्मात्मा, पतिव्रता, सुलक्षिणी स्त्री जाती है तो कभी भी किसी के तरफ न देखती हुई अपने पूज्य पतिदेव में ही ध्यान रखती हुई कुछ साग-भाजी खरीद कर अपने घर चली जाती है। आलू वाले आलू खरीदते हैं,लहसुन प्याज (काँदा) वाले वही खरीदते हैं। सोने के ग्राहकसोना, चाँदी के ग्राहक चाँदी, घास का ग्राहक घास, अन्न का ग्राहक अन्न, वस्त्र का ग्राहक वस्त्र इस प्रकार अपने-अपने अधिकार के अनुगुण अनेक प्रकारकी चीजें खरीदते हैं।

अब कोई पतिव्रता कहे कि भोगने के लिए ही तो प्रभु ने पुरुष बनाये हैं तो हम भी वही कर्म करें तो झट यह वाक्य आजावेगा कि यह पर पुरुष का भोग बेसमझ, नारकीय औरत के लिए है किन्तु अपने आत्मा का कल्याण और सद्गति चाहनेवाली पतिव्रता के लिये नहीं है। ब्राह्मण कहे कि मैं मांस खरीदूं क्योंकि ईश्वर ने माँसको खाने के लिये हीतो बनाया है। उसके लिए झट यह प्रमाण आ जावेगा कि :—

प्रमाण—अहिताग्निश्च यो विप्रो मत्स्य मांसानि भक्षति।
स कृष्णसर्पो भवति नूनं निर्जन कानने॥

याने अग्निहोत्र का अधिकारी ब्राह्मण यदि मछली माँस खाता है तो जरूर ही वह भयकर बन में काला नाग होता है याने माँस परमात्मा ने रचा है परन्तु उसका अधिकारी ब्राह्मण नही है कोई सदाचार वाला लहसुन प्याज खरीदना चाहे तो उसके लिए शास्त्र ने मना कर दिया है।

सब रचना रघुबर की रची है, परन्तु उसके भिन्न-भिन्न अधिकारी भी रचे गये हैं। सब कोई सब चीज के अधिकारी नहीं हैं। इसी प्रकार वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण सब बाजार के समान हैं। सभी प्रकार के अधिकारियों का साधन फल पृथक्-पृथक् बताया है। जो अल्प-ज्ञानी लोग हैं भगवान तक पहुंचने की अक्ल जिसमें नही है उन सामान्य अधिकारियों के लिए ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करना बताया है। उन्हीं बेसमझ अधिकारियों के लिए इन्द्रादि देवों की उपासना यज्ञों द्वारा बताई है। इन्द्र मे श्रद्धा बढ़ने के लिए, उन्हीं अधिकारियों के लिए कहा है कि [इन्द्र भी भगवान हैं] क्योंकि ऐसा शास्त्र नहीं कहे तो उन कम समझ वाले अधिकारियों की प्रवृत्ति नहीं होगी। वे सब भगवान के तरफ भी न जा सकेंगे और इन्द्र आदि देवों को भी छोटा कह दें तो उनको भी छोड देंगे। इस हेतु उनकी कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिए शास्त्रो मे झूठ ही इन्द्र को नारायण कह दिया। स्वर्ग के फल को अक्षय नाश रहित कह दिया। जिससे ये राजसी लोग वैदिक कर्म में लगे रहें।

उन मन्द बुद्धि वालों को तो कह दिया कि :—

प्रमाण—"अक्षयं हि फलं भवति चातुर्मास्य याजिनः।"

याने चातुर्मास यज्ञ करने वालो का फल जो स्वर्ग आदिक है सो अक्षय होता है याने स्वर्ग से कभी नहीं आ सकता।

दुनियाँ में प्रायः राजसी प्रकृति वाले, प्राकृत भोग की इच्छा करने वाले, उसी को चाहने वाले बहुत ज्यादा है उनको कर्मो मे लगाये रखने के लिए शास्त्रो को प्रशंसावाद करना पडा। वही जब आगे बढना चाहते है, सत्वगुण सम्पन्न हो जाते हैं तो फिर अगली बात शास्त्र उनको कहता है।

[जैसे प्रमाण :—"क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोक विशन्ति"] कि भाई! स्वर्ग का फल थोडे रोज भोग कर फिर संसार चक्र में आना ही पडता है। सामान्य शास्त्रों में राजस तामस अधिकारियों के लिये उन्ही देवों को परब्रह्म बताया जाता है। फिर विशेष मुमुक्ष अधिकारियोंके लिए विशेष शास्त्रो के द्वारा उन सभी बातो का अक्षरशः खण्डन करके वास्तविक जो सच्चे परब्रह्म परमात्मा श्रीपति हैं उनको समझाया जाता है और सचा नाशरहित फल जो परमपद में प्रभु की सेवा है सो बता दिया जाता है।

ऐसी शास्त्र की शैली है। घास चाहने वाले के सामने अमृत देने से फायदा ही क्या हो सकेगा इसी तरह पहिले राजस तामस अधिकारियोंकी रचना ज्यादा जानकर विशेष रूप से पहिले सामान्य ही प्रकरण को जोरों से वर्णन शास्त्रों ने किया है फिर उन सभी का काटकर दिया है।

सामान्य शास्त्र तो इस जीव को संसार में लगाने के लिये यहाँ तक गजब करता है कि भगवान की निन्दा कर इतर देवों की इतनी प्रशंसा करने लगता है कि भगवान छोटे दिखने लगते हैं। यहाँ तक गपोड़ा मारना शुरू कर देता है कि भगवान को भी उसके भीतर ले बैठता है।

मनुजी गृहस्थी में प्रवृत कराने के लिए कैसा निर्भय कह रहे हैं।

श्लोक—ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

इसका अर्थ सुनो ! मनुजी कहते हैं कि तीन ऋणों को चुकाकर ही मोक्ष के तरफ लगना चाहिए। याने देवों के लिए यज्ञ करोगे तो देव ऋण से छूटोगे। ब्रह्मचर्य से शास्त्र अध्ययन करोगे तो ऋषि ऋण से छुटकारा पाओगे। विवाह करो और हरेक उपायों से यज्ञ से, दान से, तप से, देव पूजन से किसी तरह भी अवश्य पुत्र पैदा करोगे तो ही पित्रों के ऋण से छूटोगे। इन तीन बातों को किये बिना जो मोक्ष के तरफ मन लगावेगा याने बेटा पैदा किये बिना, देवों के लिए यज्ञ किये बिना, शास्त्राध्ययन किये बिना जो भगवान का भजन करेगा याने मोक्ष के लिए उपाय करेगा तो उसका जरूर अधःपतन होगा याने बेटा पैदा किये बिना जो मोक्ष चाहेगा, भगवान का भजन मोक्ष के लिए करेगा तो वह जीव नरक जावेगा।

सामान्य शास्त्र के ढिठाई की हद हो गई। सामान्य विषय में लगाने के लिए मोक्ष की भी निन्दा कर बैठा। फिर यहाँ तक बढ चला कि—"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" याने जिनको पुत्र नहीं होगा उनकी गति नहीं हो सकेगी। याने बेटा के बिना परलोक नहीं मिल सकता।

विवाह में दिल बढ़ाने के लिए, विषय में प्रवृत्त कराने के लिए बिलकुल कह बैठा कि बिना बेटा के गति ही नहीं हो सकती। अब भगवान से मतलब नहीं रह गया। पापी को भी बेटा हो जाय तो मुक्ति पावेगा। नहीं तो भजनानन्दी महात्मा भी हवा खावें क्यो कि अब तो बेटा ही को गति के लिए प्रधान कह दिया। इस श्लोक के सामने ब्रह्मचारी लोग जो भजनानन्दी हैं वे तो बिचारे मरे ? क्योंकि वे कहाँ से बेटा लावें। फिर यह सोचो कि कह तो दिया कि हर एक उपायों से बेटा जरूर पैदा करो। जब देखा कि शायद इनसे भी प्रवृति न हो सके तो पुत्रेष्ठि यज्ञ का विधान किया। पुत्रेष्ठि यज्ञ करो जरूर बेटा उत्पन्न होगा। जब इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ तो कहा कि बेटा के लिए सब उपायों से थकने पर देवताओं को अनुष्ठान द्वारा राजी करके बेटा माँगो। फिर यहाँ तक बढा कि पितरों का पूजन करो जरूर बेटा होगा। स्त्री नहीं मिले तो ये भी उपाय बताता हूँ कि उर्वसी की पूजा करो जरूर कहीं से न कही से स्त्री आ जावेगी याने विवाह हो जायगा। फिर

कहते कहते यहाँ तक सामान्य शास्त्रों में गप्पा मार बैठा कि भगवान ने भी बेटे के लिए जप तप किया, तुम क्या चीज हो ! इतना कहकर विशेष शास्त्रों की मिट्टी पलीत करके एक कथा शुरू की। वह यह है कि :—

हरेक उपायों से जब द्वारकानाथ को पुत्र नहीं हो सका तो बारह वर्ष कैलाश में जाकर तप किया फिर शिवजी ने प्रसन्न होकर वर दिया। तब द्वारकानाथ भी पुत्र पाये यह कहने का सारांश यह हुआ कि किसी न किसी तरह यह जीव संसार में, स्त्री-पुत्र में लगा रहे। यही सामान्य शास्त्रों, राजस तामस शास्त्रों का मुख्य उद्देश्य है कि भगवान को भी छोटा कह दें, मोक्ष को भी छोटा कह दें, ताकि यह चेतन सामान्य प्रवृत्ति में लगा रहे।

उसी शास्त्रों ने कम अक्ल वालों को भगवान से, मोक्ष से हटाकर, उनको सामान्य में प्रवृति कराकर, फिर उपरोक्त प्रकरण को जड मूल से खण्डन कर दिया। अब उसको कहता हूँ ध्यान देकर सुनो :—

मनुजी ही आगे बढकर कहते हैं कि बिना पुत्र के भी याने बिना बेटा जन्माये भी भजन करके हजारों ब्रह्मचारी महात्मा लोगोंने सद्गति पाई। इससे बेटे के ही भरोसे उमर नहीं खो देना।

कैसी मजे की बात है। यदि पहिले ही प्रसंग को सुनकर कोई रह जाय तब तो उसका मनुष्य जन्म बरबाद ही हो जावेगा। क्योंकि बेटा जन्माना हाथ में तो है ही नहीं। जिस बिचारे को पुत्र नहीं हो पाया सो तो चिन्ता से ही मर जावेगा कि हाय ! बेटा बिना तो हमारी गति ही बिगड़ी, और जो भोले भाले बेचारे जीव, बेटा पा गये बस वे तो बड़े खुशी हुए और भजनभाव को छोड़ा। क्योंकि सामान्य शास्त्रों में सुन पाया है कि बेटा से गति हो जावेगी। इस भरोसे मर गये और गति भी नहीं हुई क्योंकि यह तो अटल शास्त्रों का सिद्धान्त है कि :—

श्लोक—तमेव विदित्वा ह्यति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते।

याने उस परब्रह्म श्रीपतिको ही भलीभांति जानकर उनके शरण होकर उनका भजन करके ही यह चेतन संसार सागर से पार हो सकता है। इसको भवसागर से तरने के वास्ते कोई भी

दूसरा मार्ग, दूसरा उपाय, दूसरा रास्ता नहीं है। यह सिद्धान्त है सो अकाट्य है। तो सामान्य वाक्य में ही पड कर यदि जीव रह गया आगे नही बढ पाया तब तो उसका जन्म ही उस झूठे प्रशंसावाद में पडकर बरबाद गया। क्यों कि सामान्य शास्त्र, राजस, तामस वाक्य तो प्रशंसा मात्र ही है। यथार्थता का लेश भी उसमें नही है। क्यों कि यह कब हो सकेगा कि बेटा जन्माये बिना मोक्ष का काम करे तो उसकी अधोगति हो और सामान्य शास्त्र ने तो कह ही दिया कि बेटा वाले की ही गति होगी।

सामान्य शास्त्र कितना गजब भ्रम फैला रहा है। क्या चाण्डाल को बेटा होने से गति हो जायगी? क्या पापी को बेटेके होने से गति सुधर जावेगी? और बेटे बिना मोक्ष चाहे, तो नरक चला जावेगा। जब कि मोक्ष चाहने वाला भी बेटे के बिना अधोगति जावे तो सारे भगवत् शास्त्र पर, भगवत् महिमा पर पानी फिर गया।

शास्त्रों का अन्तिम निश्चय, अन्तिम सिद्धान्त सुने बिना, सबकी सगति मिलाये बिना जो सिर्फ प्रमाण ही सुनकर तुरन्त निश्चय कर लेता है वह बहुत धोखा खाता है कहो, बेटा बिना मोक्ष चाहने वाला नरक जाता है यह भी तो एक प्रमाण ही है। परन्तु यथार्थ नही है। बेटा में प्रवृत्ति लगाने के वास्ते ऐसा कहा है। और सुनो! सोचो, विचारो जल्दबाजी मत करो। बड़ा गहन विषय है! देखो! सूअर, गधे बहुत लड़के बाल-बच्चे वाले हैं वे तो गति पावें। और बेटा बिना मोक्ष चाहने वाला अधोगति जावे—क्या मजाक है। कैसी हँसी है। इस सामान्य प्रशसावाद के भ्रम में पड़कर जो रह जाय उसका तो मनुष्य जन्म मिट्टी में गया और सत्सग जिन बेचारो को नहीं है वे लोग ऐसे-ऐसे भ्रमकारी सामान्य बचनों ही में तो पडकर अपना मनुष्य जन्म निरर्थक बिता रहे हैं।

एकादश स्कन्ध में इन सामान्य शास्त्रों को अच्छी तरह से काट डाला है। श्री जनकजी से नव योगेश्वरों में करभाजन योगेश्वर कहते हैं कि :—

श्लोक—देवर्षि भूतात्तनृणां पितृणां न किं करोनायमृणीच राजन्।
सर्वात्मनायः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्॥

इसका अर्थ यह है कि जो सज्जन अपना कर्तृत्वाभिमान् छोड़कर साधन-स्वरूप कर्म-ज्ञान-भक्ति की आशा छोड़कर मन-वचन-कर्म से जो शरण्य लक्षण सम्पन्न श्री मुकुन्द हैं, उनके श्री चरणों के शरण हो जाता है सो देव, ऋषि पितृ आदिक किसी का भी ऋणी नहीं रह सकता है। याने जो जीव भगवान वासुदेव के ही शरण हो जाता है सो शरणागति मात्र से ही सब ऋणों से छूट जाता है। न किसी देवका, न किसी पितरो का, न किसी ऋषि का, न और किसी आप्त का यह ऋणी रह जाता है। न तो किसी देवता वगैरह का किंकर रह जाता है।

यही शास्त्रों की शैली है। पहिले प्रशंसावाद न जाने क्या-क्या कह बैठता है। फिर उसको बुरी तरह से खण्डन करता है और असली तत्त्व पीछे भली-भाँति बतलाता है।

तुम्ही सोचो, सब जगह यह कथा प्रसिद्ध है, सारा जगत जानता है कि पृथ्वी पर असुरों का भार जब बहुत बढ गया तो पृथ्वी ब्रह्मा के पास गई कि भार उतारो—ब्रह्मा ने स्पष्ट कहा कि :—

'मेरो कछु न बसाई जाकर तैं दासी सो अविनाशी मोरिउ तोर सहाई।

याने यह कठिन काम है हमारा किया कुछ न होगा। जो अविनाशी परमात्मा हैं वही हमारा और तुम्हारा दोनों के सहायक हैं। फिर सब देव इकट्ठे हुए और ब्रह्मा जी से कहा कि कंसादिक से सब बेचयन हैं, धर्म का मटिया मेट हो रहा है, आप कुछ उपाय कीजिए। ब्रह्माजी बोले कि सर्वेश्वर ही इस विपत्ति से पार कर सकते हैं। चलो शिवजी के पास चलें। सब मिल कर कैलाश गये। यह सारी कथा कह सुनाई। सुनकर शिवजी ने कहा—हमारे किये भी यह न हो सकेगा। तो सबने कहा कैसे विपत्ति छूटे। सब लोगो ने सलाह की, कि क्षीर सागर में वे परब्रह्म सोते हैं वहां चलो विनती करें। फिर तट पर जाकर स्तुति करने का विचार हुआ। शिवजीने कहा वे श्री हरि सर्वत्र व्यापक हैं। सारे ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ही भरपूर हैं। प्रेम से जहा ही पुकारो वहां ही कृपा करते हैं। इतना कहकर ये सब देवतागण भगवान की स्तुति करने लगे और पुकारे कि :—

"मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी शरणागत सुरयूथा।"

याने हे श्रीकान्त ! हमलोग पृथ्वी का भार नाश होने के लिए सारे अपने उपायों से थक कर आपके शरणागत हैं कृपा करिये। त्राहि ! त्राहि !! इस प्रकार उन देवों की आर्त ध्वनि सुनकर शरणागतवत्सल भगवान अभय दान देते हुए कहे कि हे देवों ! तुम लोग मत डरो। तुम्हारे दुःख छुड़ाने के लिए मैं श्री वसुदेवजी के घर में श्रीकृष्ण रूप से प्रगट होऊँगा। तुम सब को सुखी करूंगा। इतना सुनकर साष्टांग कर गद्गद होकर अपने-अपने स्थान पर देवगण गये। वे ही भगवान श्रीकृष्ण रूप से प्रगट हुए।

ब्रह्मा जब बछड़ों को तथा ग्वाल बालों को चुरा ले गये थे तब एक वर्ष तक सब ग्वाल-बाल और बछड़ों का रूप धरकर भगवान श्रीकृष्णजी ज्यों के त्यों हीं पूर्ववत् खेलते ही रहे। इसीसे तो ब्रह्मा ने डरकर बड़ी स्तुति की और अपराध माफ कराकर अपने लोक को गये। फिर वही भगवान ने अपनी शक्ति से पाव मिनट में बीच समुद्र में द्वारका बसाये। अपनी शक्ति से पाव मिनट में सब मथुरा वालों को द्वारका पहुंचाये। यह कथा भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी की हुई।

उसी भगवान को सामान्य शास्त्रों के, राजस, तामस वाक्यों ने यह कह दिया कि द्वारका नाथ ने हर एक उपायों से थककर, बारह वर्ष तप करके शिवजीको प्रसन्न किया तो बेटा पाया। कहो मन ! कितनी मज़ाक की बात है ? कैसी हॅसी है। सामान्य लोगों को भ्रममें पड़ जानेके वास्ते कैसे विचित्र प्रसग की गढन्ती कर ली।

जो सारे ब्रह्माण्ड का भार उतार सकता है, क्षण में लाखों ग्वाल, बछडों का रूप धर सकता है, दुःख छुडाने को सब देवो को अभय दे सकता है, पाव मिनट में समुद्र में अपनी शक्ति से द्वारका बना सकता है, सोलह हजार रूप धर कर सोलह हजार रानियों के महल में फरक-फरक रह सकता है वही परमात्मा बेटे के वास्ते बारह वर्ष किसी देवका तप क्यों करेगा ? कैसे करेगा ? क्या वह सारे ब्रह्माण्ड को रचने में समर्थ है ! और अपने लिए बेटा प्रकट करने में समर्थ नहीं है ? उसपर ब्रह्म को भी लिख मारा कि बेटे के वास्ते उन्हों ने तप किया।

कहो जिसको पूर्वोक्त कथायें स्मरण होगीं सो इस कथा को कैसे मान सकेगा। परन्तु सामान्य शास्त्रों का तो नाम ही अर्थवाद है याने प्रशसा मात्र है, बिलकुल झूठा है। जैसे इन्द्र को नारायण कहा, भगवान का रूप कहा। स्वर्ग के नाशवान फल को अक्षय फल बताया परन्तु

भगवान श्रीकृष्णजी ने इन सभी प्रसंगों को जडी मूल से खण्डन कर दिया। पूजा छुड़वाकर, इन्द्र परब्रह्म नहीं है यह जना दिया। क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोक विशन्ति) यह कहकर स्वर्ग के फल को नाशवान बता दिया याने उन सभी वाक्यों को, प्रशंसा मात्र ही है यथार्थ तो मैं हूँ यह बता दिया।

इसी तरह जो कहा कि बेटा विना मोक्ष मे लगना अधःपतन का हेतु है। भगवानने भी बेटा के लिए तप किया यह सभी प्रशंसा मात्र है याने यथार्थ नहीं है आगे मनुजीने पूर्व सिद्धान्त को काट दिया। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध के श्लोक से श्री व्यासजी ने भी काट दिया। अब भगवान के तप करने का प्रसग कहा उसको भी घण्टाकर्ण का प्रसग वहां ही कहकर काट दिया। वह कैसा प्रसंग है सो आगे कहता हूँ। ध्यान देकर सुनो!

एक घंटाकर्ण नामका राक्षस था। वह शिवजी का अनन्य भक्त था। शिवका नाम छोड़कर यदि विष्णु नाम, गोविन्द नाम कोई कहता था तो उसको वह सुनना नहीं चाहता था। इसीलिये अपने कान में घण्टा बाँध रखा था कि शिव नाम छोड़कर यदि माधव, मुकुन्द, गोविन्द आदि नाम कोई कहेगा तो घंटा बजा दूंगा। जिसमें वह नाम सुनना न पडे। याने भगवद् का नाम कान में न पड़े। उस राक्षस की ऐसी अनन्य भक्ति देखकर शिवजी ने प्रसन्न होकर कहा कि तुम्हारी भक्ति निष्ठा से मैं बहुत प्रसन्न हूँ जो चाहो सो वर मांगो।

ऐसा वचन सुनकर उसने खुशी होकर मुक्ति मांगी। थोड़ी देर चुप रह कर शिवजी बोले कि मुक्तिनाथ तो भगवान श्रीपति हैं, वे द्वारका में प्रकट हुए हैं। इस समय श्री बद्रिकाश्रम में पधारे हैं। यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो उन्हीं के पास जावो उनके सिवा मुक्ति कोई नहीं दे सकता है। यह सुनकर आश्चर्य में दंग होकर वह राक्षस अपने भाई के साथ श्री बद्रिकाश्रम को गया। वहां दण्डवत साष्टाग करके प्रेमसे प्रभु श्री वासुदेवनन्दन की स्तुति किया और बोला कि हे नाथ! मैं महा दुष्ट हूँ कि उलटा ज्ञान पकडा था। जिससे कल्याण होता है उस लक्ष्मीपति से द्रोह किया। आपका नाम कानमे नही जाने देता था। सामान्य वाक्यों के भ्रम में पड़कर मैंने यह जाना था कि मुक्ति दाता भगवान गिरजापति हैं। परन्तु यह सब ज्ञान विचार रद्द हो गया और खुद अपने ही मुखसे कैलाश पति ने हमको कहा है कि सिवा श्रीमन्ना-

रायण, द्वारकानाथ मुकुन्द के बिना मुक्ति देना और किसी देवके हाथ में नहीं है। इसीसे मैं आज श्री चरणों में आकर गिरा हूँ। मैंने जो द्रोह किया सो क्षमा कीजिए। हे नाथ ! मेरे को मुक्ति दीजिये। महाभारत गत हरिवंश में अस्सी अध्याय में २३ से ३२ श्लोक तक है। ये श्लोक है :—

घण्टाकर्णोऽस्मिनाम्ना हं पिशाचो घोर दर्शनः।
आगतोहं महाशैलात्कैलासाद्भुत सेवितात् ॥
सततं दूषयन् विष्णुं घण्टामाबध्य कर्ण योः।
ममन प्रविशेन्नाम विष्णोरिति विचिन्तयन् ॥
अहं कैलास निलयमासाद्य वृषभध्वजम्।
आराध्यतं महादेवमस्तु वंसततं शिवम् ॥
ततः प्रसन्नो मामाह वृणीष्वेति वरं हरः।
ततो मुक्तिर्मया तत्र प्रार्थिता देव सन्निधौ ॥
मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः।
मुक्ति प्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः ॥
तस्माद्गत्वा बदरीं तत्राराध्य जनार्दनम्।
मुक्तिं प्राप्नुहि गोविन्दान्नर नारायणाश्रमे ॥
इत्युक्तो देवदेवेन शूलिनाज्ञातवानहम्।
तमेवं परमंमत्वा गोविन्दम गरुणध्वजम् ॥
तस्मात्प्रार्थयमानः सन् मुक्ति देशममुंगतः।

इन श्लोकों के अर्थ स्पष्ट ही हैं और ऊपर इन श्लोकों का भाव कुछ कह भी आया हूँ। इन सभी बातों को घण्टाकर्ण ने भगवान से कहा है। आगे फिर यह कथा है कि समाधि

लगाकर खूब स्तुति की। प्रभु ने कहा कि घंटाकर्ण तुम इन्द्रलोक में जाकर रहो। इन्द्र के नाश हो जाने पर तुमको परमपद दूंगा या मुक्ति दूंगा। उसके सम्बन्ध से उसके भाई को भी मुक्ति दी।

यह कैसी भ्रम छुडाने वाली कथा है। इसके कहने का साराश यह हुआ कि तुमको मैंने पहिले से यह विषय कहना शुरू किया है कि सब उपाय बडे कठिन है। शरणागति नामक जो एक उपाय है वही सब से सुलभ है जो कि इसी जन्मान्त मे परमपद दे देता है। इसी प्रसग में तुमसे मैंने कहा था कि शरणागति उपाय वाले अधिकारी को क्या-क्या करना चाहिये। क्या छोडना चाहिए, क्या ग्रहण करना चाहिए सो सुनो! इसी प्रसंग में कहा था कि शरणागत अधिकारी में दो बात याने दो आकार जरूर ही होना चाहिये। एक तो अकिंचन किसको कहते हैं यह इसी प्रकरण में तुमको समझाया कि भगवान श्री गोविन्द के चरण आश्रय के बिना, भगवान श्री हरि की एक दया छोडकर संसार से पार होने के लिये जिसके पास साधन स्वरूप कर्म, ज्ञान और भक्ति का अवलम्ब नही है उसीको अकिंचन कहते हैं।

इसी प्रसंग में इन तीनों योगों का स्वरूप और इनके करने में और सिद्ध होने में जो कठिनाइया शास्त्रों में कही हैं उसको भी समझाया था जिससे उधर बिलकुल ध्यान न जावे। फिर अनन्यगति शरणागत को होकर रहना चाहिए। अनन्यगति किस अधिकारी को कह सकते है इसी प्रसंग में कहा था कि जिसका श्रीपति के सिवा स्वप्न में भी कोई दूसरा रक्षक नहीं है वही अनन्यगति कहा सकता है। इसी प्रसग मे यह भी स्पष्ट करना पड़ा कि शास्त्रों में जो देवों की हद से ज्यादा बड़ाई लिखी है और रक्षकपना उसका भेद जाने बिना ये दूसरा जो शरणागत का आकार अनन्यगति है यह पक्का हृदय में जॅच नही सकता। इसी कारण शास्त्रों मे जो इस प्रसग का वाक्य भेद है उसको जानकर, उन वाक्यों की सगति लगाकर समझा देने से यह पक्का जच जावेगा कि सिवा श्रीपति के वास्तव में कोई रक्षक नही है। जब यह जच जावेगा तो दूसरा जो आकार है सो स्वयं जंच जावेगा। इन बातों को नहीं समझाने से कभी न कभी भ्रम में पडकर शरणागति से टूट जाने का खौफ बना रहेगा। इसीसे ये सब प्रसग शुरू किया था जिसमें चार छः देव जो प्रधान प्रधान हैं शास्त्रों में इनका वर्णन किया गया है उन सबका एक

एक अलग-अलग विवरण करके समझाना, ठीक हृदय मे जॅचा। इसी प्रसग में कहा था कि तुम ध्यान देकर अच्छी तरह से समझ लो। जिसमें प्रशंसावाद में पडकर तुम कही अपनी निष्ठा न खो बैठो और यह भी न कहने का मौका लगे कि सब बराबर हैं।

शास्त्रों में दो प्रकार का प्रमाण रहा करता है। एक का नाम प्रशंसावाद है दूसरे का नाम यथार्थवाद। प्रशंसावाद का दूसरा नाम है वेदवाद। प्रशंसावाद-वेद वाद का मतलब है झूठी बातों को सच्ची करके बताना। उसीको अर्थवाद भी कहा है जो मिथ्या है। उसको पुष्पित वाक्य भी कहा करते हैं। याने कोई ऐसा भी वृक्ष होता है कि देखने मे बहुत बडा होता है। उसका फूल भी अच्छा और बडा होता है। परन्तु फल उसमें बिलकुल नहीं लगता। या होता भी है तो बिलकुल साधारण होता है। जो कि जल्दी खराब हो जाने वाला होता है। और कोई ऐसा भी वृक्ष होता है कि उसमें फूल होता ही नहीं या होता भी है तो बहुत छोटा। परन्तु उसका फल अत्यन्त मजबूत बडा कीमती और स्वादिष्ट रहता है। जैसे सेमर और नारियल सेमर के वृक्ष में बड़ापना ज्यादा है और उसका फूल भी बडा है परन्तु फल भाग में धोखा है। याने उसका फल कुछ भी नहीं है। उसकी रूई भी सब काम में नहीं आती। और नारियल का वृक्ष पतला है, उसमें विशेष छाया नहीं है, उसमें फूल नाम मात्र का है परन्तु फल उमका मजबूत है स्वादिष्ट है अच्छे कार्यों में लिया जाता है।

इसी प्रकार शास्त्रों में जो दो प्रकार के प्रमाण कहे हैं उन दोनों की यही दशा है। शास्त्रों में जो प्रशंसावाद है याने वेद वाद है उसमें बहुत धोखा पना भरा है और जो यथार्थ वाद है वह सत्य है उसमें धोखा बिलकुल नही है। विशेष एक बात उसमें है कि वेदों में शास्त्रों में, इतिहास पुराणों में जो प्रशसावाद याने वेदवाद है सो प्रारम्भ में ही रहता है। और कहीं कहीं मध्य में भी रहता है पर अन्त में वह नहीं रहता याने आखिरी में तो यथार्थ-वाद ही रहता है। सिद्धान्त ही का निर्णय रहता है और एक बात यह भी शास्त्रों में विशेष रहती है कि चाहे किमी चीज को, किसी विषय को याने साधारण सामान्य वस्तु को कितना भी किमी कारण से पहिले प्रशंमा कर देवे परन्तु आखिरी में उसका खण्डन, निषेध जरूर ही कर देता है। परन्तु प्रशसा के वाक्य ज्यादा रहते हैं। यथार्थवाद याने सिद्धान्त का

प्रसंग थोड़ा रहता है। सब ग्रन्थों की यही चाल है। जैसे नेत्र में बाकी चीज ज्यादा है असली देखने की जो वस्तु है वह बस राई बराबर है। बाकी नेत्र की चीजें बिना परिश्रम सबको दिखती हैं और असली जो राई बराबर तत्त्व है सो बहुत ध्यान देने से दिखता है। लोक में भी यही शैली है। मुन्सफी, फौजदारी, जजी, दीवानी, हाईकोर्ट इन सभी जगहों से डिग्री हुई हो और यदि पार्लियामेंट उसको खारिज कर दे तो पहिले की डिग्रियाँ कुछ भी काम नहीं देती हैं याने निकम्मी हो जाती हैं। सभी इजलाश उसी के हैं, आफीसर उसके हैं। परन्तु पूर्ण सिद्धान्त स्थल वह नहीं है। पूर्ण सिद्धान्त स्थल आखिरी ही फैसला है। उसी तरह शास्त्रों की भी शैली समझो। ये सभी एक-एक बातें धीरता से समझाता हूँ ध्यान देकर सुनो :—

शास्त्रों ने एक वाक्य की इस तरह प्रशंसा की कि :—

श्लोक—[अक्षयं हि फलं भवति चातुर्मास्य याजिनः ।]

याने चतुर्मास यज्ञ का फल जो स्वर्ग है सो अक्षय है। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वर्ग नाश रहित है याने स्वर्ग जानेवाला सदा के लिए सुखी हो जाता है।

बस इसी वाक्य को प्रशंसा वाक्य समझो और इसी को वेद वाद तथा अर्थवाद समझो। क्योंकि अनित्य सुख को, अनित्य लोक को यह वाक्य नित्य करके बतला रहा है। स्वर्ग सुख को नाश रहित बतला रहा है झूठी बात को सच्ची करके कहना इसी का नाम प्रशंसा वाक्य है, इसीका नाम वेद वाद है। प्रशंसा वाक्यों में कहीं–कहीं ऐसा भी कह दिया है कि :—

[नान्य दस्तीति वादिनः] याने स्वर्ग सुख से बढ़कर और कहीं का सुख हो ही नहीं सकता इसी का नाम वेद-वाद याने प्रशंसा-वाद है। याने इसी को पुष्पित वाक्य कहते हैं। जो कि मिथ्या को सच करके बता रहा है।

अब शास्त्रों में यथार्थवाद अकाट्य सिद्धान्त याने सच्चा प्रसंग कौन है सो कहता हूं सुनो। उपर जो प्रशंसावाद है उसको काटकर निश्चय सच्चा सरल रास्ता जो वाक्य बताता है उसीका

शास्त्रों में यथार्थवाद कहते हैं। जैसे भगवान श्री कृष्णजी श्री मुख से श्री गीताजी दूसरा अध्याय बयालीसवें श्लोक में कहते हैं कि हे अर्जुन :—

श्लोक—यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः।
वेदवाद रताः पार्थ नान्य दस्तीति वादिनः॥

याने हे अर्जुन! शास्त्रों के असली सिद्धान्त को न समझने वाले, सिर्फ पूर्व भाग में ही ठहर जाने वाले याने उच्च वाक्यों तक ऊँचे फलों तक दिमाग न पहुँचाने वाले (अविपश्चित) अज्ञानी लोग हैं वे तो यही कहते हैं कि—(नान्यदस्ति इति वादिनः) स्वर्ग से बढ़कर कोई अच्छा सुख ही नहीं है। हे पृथा पुत्र अर्जुन! उन लोगों को शास्त्रों के तरीके, शास्त्रों की शैली बिलकुल भी नही मालूम होने से वेदों में जो [वेदवाद याने अर्थवाद प्रशंसावाद है बस! उसी में रत हो जाते हैं। यह नही समझते हैं कि इससे बढ़ कर और भी सिद्धान्त बैठा हुआ है। यह नहीं समझते हैं कि आगे बढ़ कर शास्त्र उस मोक्षधाम याने परमपद के सुखके सामने स्वर्ग ब्रह्मलोक आदि लोकों के सुखको नरक के समान बताया है। जसे भारत में कहा है कि :—

श्लोक—एतेवैनिरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः।

याने परमात्मा का प्रधान स्थान जो परमपद याने दिव्य मुक्ति स्थान है उसमें जो असीम सुख है उसके सामने इन चौदह लोकों का जो सुख है सो निरय याने नरक के समान है। इन वाक्यों तक नही पहुँचने के कारण वे अज्ञानी लोग पुष्पित वाक् याने प्रशंसावाद-वेदवाद ही तक रह जाने के कारण असली सिद्धान्त तक नहीं पहुँच पाते हैं। कारण कि अज्ञानी है। फिर इसके आगे बयालीसवें के बाद तेंतालीस और चौवालीस श्लोकों में प्रभु कहते हैं कि :—

श्लोक—कामात्मानः स्वर्गपरां जन्म कर्म फल प्रदाम्।
क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति॥

याने हे अर्जुन! वे अज्ञानी कामात्मा हैं। और स्वर्ग ही को अच्छा नित्य सुख समझे हुए है यह नही जानते है कि यह पुष्पित वाक् है। स्वर्ग सुख कभी अक्षय नहीं हो सकता।

वहां से गिरना पड़ता है फिर स्वर्ग से गिर कर जन्म लेना पड़ता है। इस स्वर्ग के मिलाने में कितनी क्रियाएँ करनी पडती है। स्वर्ग के साधन में भी बड़ा परिश्रम है। स्वर्ग सुख नाशवान भी है। फिर जिस साधन में मिहनत बहुत है और फल नाशवान है उसके लिए क्यों कोशिश करना यह भी अज्ञानी नहीं समझते है। फिर आगे कहते है कि :-

श्लोक—भोगैश्वर्य प्रसक्तानाम् तयापहृत चेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

याने हे अर्जुन ! स्वर्ग सुख को नित्य कहने वाला जो पुष्पित वाक्य है याने प्रशंसावाद है उसी में मुग्ध हो जाते हैं। इतने अक्लमन्द अपने को मानने लगते है कि स्वर्ग के लिये खूब मन दौडाते है और उसके साधन में याने यज्ञ द्वारा देवों को पूजने मे इतनी प्रवृत्ति, इतना व्यवसाय उनका बढ जाता है कि उनकी बुद्धि फिर असली सिद्धान्त की तरफ किसी तरह झुक ही नही पाती है। वे अज्ञानी लोग पुष्पित वाक्यों के, वेदवाद के, प्रशंसा वाद के चक्कर में पडकर इस सिद्धान्त को नहीं जान पाते हैं कि गीता अ० ९ श्लोक २१

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति" ॥
एवं त्रयी धर्म मनु प्रपन्ना गता गतं काम कामा लभन्ते ॥"

वे स्वर्गीय लोग यज्ञों द्वारा देवों का आराधन करके जो सुकृत (पुण्य) सपादन करके स्वर्ग जाते हैं वे पुण्यनाश होने पर फिर मृत्यु लोक में ही आ जाते है। फिर ये भी वे नहीं समझ पाते हैं कि त्रयी याने वेद में जो प्रशंसा वाक्यों के द्वारा जो धर्म कहा गया है उसी में रह जाने वाले, जन्म-मरण रूप जो चक्रव्यूह है उसी में पड रहते हैं उससे कभी नही छूट सकते हैं क्योंकि गीता अ० ८ श्लोक १६।

"आब्रह्म भूवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

याने ब्रह्म लोक से लेकर के नीचे पाताल लोक तक ये जितने लोक हैं ये पुनरावर्ती हैं। याने ब्रह्म लोक, स्वर्ग लोक, कैलास या अन्य लोको मे जो लोग पुण्य द्वारा जावेंगे वे जरूर गतागत फल में ही रह जावेंगे याने उनका जन्म-मरण चक्र कभी नही छूट सकता है क्यों कि ये सब लोक, कर्म से निर्मित हैं। ये लोक सामान्य हैं। इनका साधन भी सामान्य है, इनके अधिकारी भी सामान्य हैं। अर्जुन! बस जन्म-मरण चक्र से छूटने की जिसकी प्रवल इच्छा हो उनको तो चाहिए कि इन सभी लोकों से, इनके साधनों से हटकर याने बिलकुल मन हटाकर हमारी उपासना, हमारी शरणागति ग्रहण करे। क्यों कि मेरे मिलने के बाद, हमारे लोक में जाने के बाद फिर कभी भी जन्म-मरण चक्र को देने वाला जो यह संसार है इसमें वह बड़ भागी नहीं आ सकता है।

सुना अर्जुन!

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

सब वेदों करके असली जानने की चीज तो मैं ही हूं। वही पुरुष, वही चेतन, वही जीव, सारे वेदों का सिद्धान्त जानने वाला है कि जो हमको ही जानकर, हम ही को दृढ पकड़ लेवे और बाकी प्रसंग को प्रशंसावाद जान कर, धोखैला जान कर बिलकुल छोड देवे। यदि तुम कहो कि फिर ऐसा सिद्धान्त है तो बहुतेरे वेद ज्ञाता भी क्यों चक्कर में पडे हैं क्या वे वेद नहीं जानते हैं?

सुनो अर्जुन! "वेद विदेवचाहम्" याने "वेदवित् अपि अहमेवास्मि न्यायः इति भावः" वेदों का ज्ञाता भी मैं ही हूँ। हमारे समान वेद के सिद्धान्तों को जानने वाला दूसरा कोई भी नहीं है।

यह जो प्रभु के श्रीमुख से निर्णय किया हुआ सब शास्त्रों का निचोड है इसी को यथार्थ वाद, असली सिद्धान्त, अकाट्य मार्ग, अपेल, अडोल रास्ता अचल फल समझो।

अब तो तुम समझ गये कि वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराणों में दो प्रकार के विषय कहे गये हैं एक साधारण दूसरा विशेष, एक नाशवान फल दूसरा नाश रहित फल, एक साधारण साधन दूसरा असाधारण साधन, एक सामान्य अधिकारी दूसरा विशेष अधिकारी, एक प्रशंसावाद

याने बिलकुल झूठे को सच्चा कहने वाला वाक्य और दूसरा यथार्थ कहने वाला वाक्य इस तरह वेद वेदान्तादि शास्त्रों मे वर्णन किया गया है। अब तो तुम यह नही कह सकोगे कि जितने वेद आदि के प्रमाण है सो सभी मानने योग्य है और सभी सच्चे है और सभी सबको ग्रहण करने के लायक है। अब किसी भी प्रमाण को सुनकर तुम झट से तो न मान लोगे कि लिखा है इसमे ये जरूर हमको मानना ही चाहिए, किन्तु प्रमाणो को देख कर, सुनकर अब इतना तो तुम जरूर विचार करोगे कि यह प्रमाण प्रशंसा वाद, खोखला है या यथार्थ है। फिर किसी भी ग्रन्थ के प्रमाणो को, किसी पुराने इतिहास के श्लोको को, किसी भी वेद मंत्रो को देख-सुनकर ये तो अब तुमको विचार करना ही पड़ेगा कि ये तामस-राजस प्रमाण है या सात्विक।

जो प्रशंसावाद है याने वेदों मे जो अर्थवाद है उसी को राजस-तामस प्रमाण कहते है। क्यों कि जो राजस-तामस होता है सो यथार्थ नही होता है। उसमे बहुत अंश झूठा रहता है। कुछ अंश सच्चा रहता है। अतः तुम यह जान ही गये कि शास्त्रो के एक प्रमाण ने स्वर्ग को अक्षय बताया और दूसरे प्रमाण ने उसको बिलकुल काट दिया याने झूठा बता दिया तो इसी प्रकार सारे ग्रन्थो की पद्धति है। इसी से कहा है कि सब कोई शास्त्रो द्वारा सारांश निर्णय नही कर सकते। शास्त्रो का हजारो वर्ष अध्ययन करके भी भगवत्कृपा बिना भगवत्कृपा पात्र के श्री चरण-रज के अनुग्रह के बिना इसका विषय निर्णय नही कर सकते है। लंका मे "षडङ्ग वेद विदुषा क्रतु प्रवर याजिनाम्" याने लंका के घर-घर मे छः शास्त्रो के साथ चारो वेदों के ज्ञाता थे। "अग्नि होत्र च वेदाश्च राक्षसानाम् गृहे-गृहे" बडे-बडे यज्ञ करने वाले अग्नि होत्री, बडे-बडे वेद ज्ञाता और अनुष्ठानी थे। परन्तु इतने योग्य होते हुए भी राक्षस माने गये। भगवान ब्राह्मणो को अपना देव मानते हैं और शास्त्रो मे भी बताते हैं परन्तु वे ही भगवान उन लोगो को मारने में, उन लोगो के नाश करने में जरा भी दया नही दिखाये।

इसका कारण यही है कि वेद शास्त्रो की रचना, प्रादुर्भाव इसी लिए हुआ है कि उनसे भगवान जाने जावें। उन उन शास्त्रों में सामान्य की भी प्रशंसा करके फिर कह दिया है

कि इन प्रशंसावादों को छोडकर, बिलकुल छोडकर एक प्रभु की शरणागति ग्रहण करो और ऐसे अधिकारी की चरण रज का भरोसा करो। परन्तु उन राक्षसों ने परिश्रम किया, मन्त्र पढ़ा, सब अनुष्ठान किया, सब यज्ञ किया परन्तु प्रशंसावाद ही मे रह गये। वेदों का साराश जो है कि—"वेदैश्च सर्वै रह मेव वेद्यः" सब वेदों से मैं ही जानने के योग्य हूँ इस विषय से वंचित रह गये। इसका कारण यह था कि वे लोग भगवद्दासो के विरोधी थे। मुनियों से वैर करना उनका प्रधान उद्देश्य था। वेदों मे जो प्रशसावाद है कि ब्रह्मा ही परमब्रह्म है, शिव ही परब्रह्म है याने राजस तामस प्रमाण है उन्ही प्रमाणो मे धोखा खा गये। हरिदासों के विरोधी होने के कारण जो अकाट्य सिद्धान्त है। कि-"श्रीलक्ष्मी श्चते पत्न्यौ" याने ब्रह्म निर्णय करता-करता जब वेद घबडाया और थका तो यही दिव्य मन्त्र उसके आगे आया कि श्री लक्ष्मी जी जिसकी पत्नी हों वही खरा याने सच्चा परब्रह्म है। इतना कहकर विश्राम पाया क्योंकि अब भ्रम नहीं हो सकेगा। कारण परब्रह्म का पतित्व एक असाधारण चिन्ह हो गया।

इस दिव्य सिद्धान्त को तो उन पापी राक्षसों ने प्रशसावाद माना और जो प्रशसावाद है कि ब्रह्मा ही भगवान हैं, शिव ही भगवान है, इसको यथार्थवाद माना। माना ही नही अनुष्ठान भी उन लोगो ने वैसा ही किया। तप भी उन्ही सबों का किया। आराधन, पूजन उपासना, भक्ति भी उन्ही की की। प्रशसावाद के प्रमाणों में फँसकर असली सिद्धान्त को छोड दिया। और असली सिद्धान्त पर रहने वालो से, असली शास्त्र के विषय जो श्रीपति है उनसे कट्टर विरोध फैलाया। यहाँ तक किया कि विष्णु भक्त और विष्णु जगत मे रह ही न जाँय। बेचारे सीधे फल-मूल खाकर, अकेले जगल मे रहकर, प्रपञ्च छोडकर, जो मुनि लोग ईर्षा-द्वेष स्वप्न में भी नहीं चाहते, वैर विरोध से कोसो दूर रहते थे, उन्ही बेचारे महात्माओं को ये राक्षस मारने लगे। जब वे लोग जगंलो में छिपे तो उनको ढूढ-ढूढ कर सताने लगे। इतना ही नहीं उनको मार कर खाने लगे। यहाँ ही तक नही, किन्तु यही अपना कर्तव्य समझ लिया फिर यहाँ तक किया कि मुनियों का प्रधान स्थल जो था वहाँ उपद्रव करने को राक्षसो की चौदह हजार की सेना रख दी।

इसका कारण यह था कि वेदों में जो प्रशंसावाद है कि चाहे जिसको ब्रह्म कह बैठा है चाहे जिसको परब्रह्म बता बैठा है। यह जो वेदवाद है इसी को यथार्थवाद समझकर और तप के द्वारा उन देवों को अपना जानकर, उन सब से वर पाकर वे समझते थे कि अब हमारा कोई कर ही क्या सकता है ? असली सिद्धान्त तक नहीं पहुंचने से यह फल हुआ कि विद्वान, अनुष्ठानी, तपस्वी मुनि वंश होते हुए भी राक्षस, अपूज्य गिने गये। ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मण्य देव श्री भगवान के हाथ से बुरी हालत से मारे गये और प्रशंसा वाक्यों में निश्चित जो ब्रह्म कहाने वाले उनके इष्टदेव ब्रह्मादिक, वे कोई भी अपने आश्रितों की रक्षा न कर सके। किन्तु उनके मरने के बाद खुशीयाली मनाकर फूल वर्षा-वर्षाकर, श्री भगवान से मॉफी माग मांग कर स्तुति करके अपने अपने लोक को गये।

इससे तुम हर-एक प्रमाणों को विचार करके, प्रशंसावाद को छोडकर यथार्थवाद जो भगवान के श्री चरण हैं उन्हीं के आश्रित होकर रहो। प्रशंसावाद में ही रहनेवाले वेदवेत्ता भी हैं और असली सिद्धान्त से वंचित हैं तो उनमें भी कुछ महत्व मत मानो। आगे तुमको और समझाता हूं कि यह सब प्रसंग क्यों उठाया, इसका मूल विषय क्या है। किन-किन देवों के बाबत प्रशंसावाद कहां-कहां है और उसको काटकर अकाट्य सिद्धान्त कहां कहां कैसे-कैसे वर्णन किया है। इन्द्र के बाबत जो प्रशंसावाद है और उसको काटकर जो अडोल सिद्धान्त है वह तुमको कह ही चुका हूं। अब जो यह कहा है कि सूर्य ही ब्रह्म है, यह जीव ही ब्रह्म है, सभी ब्रह्म हैं, इन प्रशंसावाद के वाक्यों को पहिले समझा कर इनको फिर असली अकाट्य ब्रह्म जो श्री पति हैं उनको बताता हूं और उनकी शरणागति का क्या क्या बाधक है सो शास्त्र प्रमाण के द्वारा तुमको समझाता हूं। ध्यान देकर सुनो ! कहीं पर ऐसा भी सामान्य शास्त्र कहता है कि :—[असावादित्यो ब्रह्म] याने यह सूर्य ब्रह्म है। आदित्य हृदय में भी सूर्य के ही उपासना के बल से याने सूर्य के ही मदद से भगवानने रावण को जीत पाया।

शास्त्र में जो प्रशंसावाद है वह इतना जोरों से दौड़ा करता है कि साक्षात् परब्रह्म की महिमा को भी दबाना चाहता है और भ्रम रहित श्रीकान्त की उपासना नहीं करने देता है। जो कम दिमाग के मनुष्य हैं उनको तो झट भगवान से विमुख होने का प्रमाण बन जाता है।

वे तो कह देते हैं कि जब भगवान का भी दुःख सूर्य के पूजन से गया तो हमको तो जरूर उनकी मदद लेनी ही चाहिए। इससे भ्रम में पड़कर श्री रघुवर के श्री चरण कमलों से विमुख होकर दुःख छुड़ाने के वास्ते आदित्य हृदय का ही पाठ शुरू कर देते हैं। उसी प्रशंसावाद का यह कर्त्तव्य है कि दुनियां में मूल रामायण का पाठ करने वाले कम मिलेंगे परन्तु आदित्य हृदय का पाठ करनेवाले ज्यादा मिलेंगे।

श्री गीतामें कहा है कि "ज्योतिषां रविरंशुमान्" याने भगवान ने कहा है कि तेजवालों मे सूर्य मैं ही हूं। अब सुनो वाल्मीकीय रामायण में रावण का प्रताप वर्णन करते समय देवता लोग ब्रह्माजी से कहते हैं कि महाराज ऐसा रावण का प्रताप हो गया है कि—वा० रा० बा० का० स० १५ श्लोक १०)

'नैनं सूर्यः प्रतपति, तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च।'

याने जिस रावण के सामने डर से सूर्य तपते नहीं हैं उसके सामने अपनी किरणों में से गरमपना हटाकर उसमें शीतलता कर देते हैं।

रावण दिग्विजय करने जब सूर्य लोक में गया है तब उनके पहरेदार से अपने आनेकी खबर जनाई कि रावण कहता है कि यातो युद्ध करो नही तो अपनी हार मान लो। "मैं क्या जवाब दूं" इतना सुनकर सूर्य महाराज ने अपने द्वारपाल से कहा कि इस प्रपञ्च में हम नहीं पड़ेंगे। हमारे पास उतना समय नहीं है कि व्यर्थ प्रपञ्च में बितावें। रावण को जंचे सो मान ले। याने चाहे अपनी हार मान ले चाहे हमारी। द्वारपाल ने वैसा ही रावण से जाकर कहा। सूर्य को मैंने जीत लिया ऐसा डंका घोष करके सूर्यलोक से दूसरे लोक में दिग्विजय करने को रावण भी चला गया।

और सुनो! भगवान श्रीगीताजी में कहते हैं कि :—

श्लोक—नतद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

याने हे अर्जुन! हमारे धाम की महिमा सुनो! जहाँ सूर्य, चन्द्र, अग्नि का प्रकाश कुछ

भी नहीं काम देता है और जहाँ जाकर फिर संसार चक्र में नहीं लौटता है वह मेरा धाम है।

विराट रूप के दर्शन समय में अर्जुन भी भगवान को ऐसा देखते थे कि हजारों-लाखों सूर्य एक ही बार आकाश में उगने से जितना भयङ्कर तेज हो सके उतना तेज अर्जुन को विराट रूप के अंग-अंग में दीख रहा है।

श्रीमद्भागवत में कहते हैं कि जब राहु ग्रहण करने आता है तो सूर्य के फिर रक्षण के वास्ते भगवान सुदर्शन चक्र को छोड़ते हैं। जिससे राहु डरकर भागता है और सूर्य चन्द्र निर्भयता को प्राप्त होते हैं।

वेद मन्त्र कहता है कि [यस्य भिषो देति सूर्यः] जिस परब्रह्म के डर से सूर्य उगने का काम करते हैं

वेदमन्त्र—"सूर्याचन्द्र मसौधाता यथा पूर्वम् कल्पयत्" याने जैसे पहिली सृष्टि में ब्रह्मा ने सूर्य चन्द्र का निर्माण किया था वैसे ही इस सृष्टि में भी किया और उपनिषद् में देखो :—

एतस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ तिष्ठतः"

याने हे गार्गि! परमात्मा के हुकुम से, प्रताप से सूर्य-चन्द्र निराधार आकाश में विचरते याने बराबर समय-समय पर उदय अस्त को प्राप्त होते हैं।

और सुनो वेद मन्त्र :—

"चक्षोह सूर्योध्य जायत"। परमात्मा के चक्षुसे सूर्य पैदा हुए।

इन यथार्थ वाद के वाक्यों से पहिले का प्रशंसावाद बिलकुल निकम्मा पड़ गया? जब कि रावण से डर के सूर्य शीतल हो जाते थे और रावण के सामने युद्ध करने नही आये और भगवान के हुकुम से उदय-अस्त टाईम पर होते हैं तो वह सूर्य ब्रह्म कैसे हो सकते हैं और रावण को मारने के वास्ते भगवान उनकी पूजा से कब मदद ले सकते हैं। जब खुद रावण से सूर्य डरते थे तो उनके स्तोत्र-पाठ से रावण कब मर सकता है? यह तो ऐसी बात है है कि सर्प का मन्त्र बोलकर कोई गरुड को जीते, मेढक का मन्त्र बोलकर जैसे काले नाग को वश करे!

जो असली सिद्धान्त है उसको न जानकर कम दिमाग वाले लोग शास्त्रों के प्रशसा वाक्यों में पढकर बस सूर्य ही को ब्रह्म मानकर असली सिद्धान्त से वचित रह जाते हैं। उस प्रशसा वाद में पढकर सूर्य को जो ब्रह्म मान बैठते हैं और यह जचा लेते हैं कि श्री रामजी ने भी तो सूर्य का स्तोत्र याने आदित्य-हृदय के ही पाठ के बल से रावण को जीता था। उन विचारों को यह क्यों नहीं जँचता कि सूर्य के ही स्तोत्र बल से रावण का मरण हो सकता था तो सब देवते इकट्ठे होकर अपने बडे दादा को अवतार लेने के लिए प्रार्थना करने क्यों गये ? याने अगस्त्य ने ही तो जाकर श्रीरामजी को चेताया और कहा कि आदित्य हृदय का पाठ करिये तो रावण मर जावेगा। वे अगस्त्य मुनि तो थे ही। दुनिया मे किसी एक मनुष्य को आदित्य-हृदय का पाठ सिखा देते या खुद ही सूर्य स्तोत्र आदित्य-हृदय पाठ करके उसी के बल से रावण को मार देते। सारे देवतों का इकट्ठे होकर ब्रह्मा के पास जाना और सबके साथ ब्रह्मा का कैलास जाना फिर शिवजी वगैरह का परब्रह्म को ढूढते फिरना इन सब बातों की क्या जरूरत थी। जब कि प्रशसावाद में ब्रह्मा को भी परब्रह्म बताया है। रुद्र को भी परब्रह्म कहा है। इतर देवों को भी ब्रह्म बताया है। तो फिर सब देवता तो शास्त्रों के प्रशंसावाद के द्वारा ब्रह्म कहे ही गये थे। फिर वह कौन परब्रह्म है जिसके बिना काम नही चला था तो :—

"मन वच क्रम बानी छाड़ि सयानी शरणागत सुर यूथा"।

ऐसा कहकर स्तुति करने गये। जब प्रशंसावाद सबको ब्रह्म कहता है और सब ब्रह्म भी इकट्ठे थे फिर ब्रह्मा क्यों बोले कि :—

मेरो कछु न बसाई।
जा करि तें दासी, सो अविनाशी, मोरिउ तोर सहाई॥

सब जीवों के दुःख हरण करने की इन देवों में शक्ति है ही फिर इनमें से कोई खडा हो जाता और चौदह हजार खर दूषण की ही पल्टन को नाश कर देता परन्तु किसी ने रावण का कुछ भी नहीं कर सका। जब जाना कि हम झूठे ब्रह्म कहाने वालों से कुछ भी नही अब हो सकता है अतः गुमान छोडकर असली ब्रह्म के पास ही जाने से इज्जत बचेगी। यह अच्छी

तरह से समझ सब इकट्ठे होकर श्रीपति जो यथार्थवाद से निर्णीत परब्रह्म हैं उनको ढूढने चले। जब ढूँढ़ने से पान का भरोसा नहीं रहा तब लम्बी साष्टांग दण्डवत करके सबों ने :—

'जय-जय सुरनायक, जन सुखदायक प्रणत पाल भगवन्ता।' इत्यादि लम्बी-लम्बी स्तुतियाँ की तब उनको असली ब्रह्म ने आकाश वाणी द्वारा अभय प्रदान किया कि :—

"जनि डरपहु मुनिसिद्ध सुरेशा।"
तुमहिं लागि धरिहों नर वेशा॥
हरि हों सकल भूमि गरुआई।
निर्भय होहु देव समुदाई॥"

श्लोक—"ततो देवर्षि गन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः।
स्तुतिभि र्दिव्य रुपाभि स्तुष्टुवु र्मधुसूदनम्॥"

[वाल्मी० रा० बा० का०]

याने आकाश वाणी सुनकर जब शांति मिली तब वे सब रुद्रादि देवगणों ने मधुसूदन जो लक्ष्मी पति हैं उनकी स्तुति की।

यह जीव बडा कर्म हीन है। उन्हीं शास्त्रों में प्रशंसावाद और उन्हीं में यथार्थवाद भी है। परन्तु मिथ्यावाद इस अभागेको ठस जाता है। और जिन देवों को रावण ने नाकों चने चबवा दिया था और उसका कुछ भी कोई नहीं कर सका। फिर घबड़ा कर सबने जिस परब्रह्म के पास रावण के नाशार्थ प्रार्थना की और उस परब्रह्म से अभय प्रदान पाया वही परब्रह्म अवतार लेकर इन विचारे असमर्थ देवों की मदद से या इनके जन्माये लड़कों से, या इन देवों की पूजा स्तुति के बल से शत्रुको क्यों और कैसे मार सकते हैं? यह तो एक प्रकार की मजाक हुई जैसे किसी को भयङ्कर कालेनाग ने काट लिया और एक मन्त्र वाला आया और उसने मेढक का मंत्र बोला और उसी मेढ़क के मन्त्र के प्रताप से भयङ्कर सर्प का जहर उतर गया इस बात को तो मूर्ख से मूर्ख पाँच वर्ष का बच्चा भी नही मान सकता है कि मेढ़क के मन्त्र से सर्प का विष शान्त हो जावे या मेढ़क के मन्त्र बल से साँप को कोई मार डाले। क्योंकि मेढक को तो सर्प

खा जाया करता है। मेढ़क तो सर्प की बोली मात्र से अधमरा पड जाता है। जब कि सर्प के डरसे सर्प के आकार से, सर्प की बोली से मेढक को प्राण जाने की नौबत आ जाती है। तो मेढ़क के मन्त्र बलसे सर्प मर गया या उसका जहर उतर गया यह कहना तो निराली नेसमझ के सिवा और कुछ तो हो ही नहीं सकता। बस यही नजीर है इस प्रसंग में। जब कि खुद ही सब देव लोग रावण से थर-थर कापते थे, शिवजी का कैलाश गेंदा के समान हिला डाला। ब्रह्मा जी को कहता था कि :—

श्लोक—विधे तव मृषा वाक्यं रावणे नमयाकृतं।

(आनन्द रामायण)

याने रावण कहता था कि ब्रह्मा! तुम्हारे वाक्य को मैंने मिथ्या कर डाला। इन्द्र को उसके बेटे मेघनाद ने कैद कर डाला, रावणने गणेशजी का एक दाँत उखाड डाला, सूर्य उसके सामने डरते थे, वायु भय भीत होकर उसके सामने बहते थे। जब कि इस तरह दुर्दशा मे पडकर ये सारे देवगण कोई भी उसका कुछ नहीं कर सके और सभी ब्रह्म कहाते थे। फिर सब परब्रह्म के शरण हुए तब वही परब्रह्म श्री राम रूप तथा श्री कृष्ण रूप से प्रगट हुए। अब उन्हीं देवों का स्तोत्र करके, पूजन करके, जप करके श्रीरामकृष्ण परब्रह्म शत्रु से विजय पाये इस थोथी कथा को समझदार मनुष्य कैसे मान सकता है।

यह सब प्रसग इसलिए तुमको जना रहा हूँ कि शास्त्रों के प्रशसावाद में पडकर तुम भी कहीं असली सिद्धान्त को याने यथार्थवाद को मत भूल जाना। प्रशसावाद में पडकर जैसे हिरण्य-कश्यपु ने धोखा खाया वैसे तुम भी कहीं मत धोखे में आ जाना। इन्द्र के तथा सूर्य के बाबत जो प्रशसावाद है उसको तो तुमसे कह ही दिया। अब ब्रह्माजी के सम्बन्ध में जो प्रशसावाद है उसको समझाता हूँ। फिर उनके बाबत जो यथार्थवाद है उसको भी बतलाता हूँ ध्यान देकर सुनो। यद्यपि पृथ्वीका भार उतारने के लिए, रावणके बध के वास्ते सारे देवों का परब्रह्म के पास जाना, उनका अवतार लेना, इतनेमें सूत्र के समान सारे प्रशंसावाद की समीक्षा हो चुकी। समझदार इतने में ही समझ जावेंगे और कभी भी भ्रम में नहीं पड़ेंगे। परन्तु तुम में इतनी

नहीं है कि पूरी व्याख्या फरक-फरक समझाये बिना तुम्हारे दिमाग में अनन्यता ठग सके इससे एकाग्रचित्त होकर सुनो। घबड़ाओ मत सुनो और विचारो !

देखो ! कहीं-कहीं शास्त्रों में ब्रह्माजी को ही ब्रह्म कहा है। याने ब्रह्माजी ही भगवान हैं। कितने जगह ऐसा भी कहा है कि ब्रह्माजी में और भगवान में बिलकुल भेद नहीं है। कहीं-कहीं ऐसा भी कह दिया है कि ब्रह्माजी भगवान से भी बड़े हैं। कहीं-कहीं यहां तक कह दिया है कि ब्रह्मा में और भगवान में भेद मानने वाला शान्ति को नहीं पाता है। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा है कि :—अज्ञानी लोग ब्रह्मा में और भगवान में भेद मानते हैं इत्यादि—ब्रह्माजी के लिए प्रशंसावाद में अनेक वाक्य पाये जाते हैं।

अब ब्रह्माजी के बाबत जो यथार्थ है सो तुमको सुनाता हूं सो विचार करो। इन्हीं प्रशंसावादों के द्वारा हिरण्य कश्यपु ने ब्रह्माजी को ही परब्रह्म निश्चय करके मान लिया और अपनी अभीष्ट पूर्ति के लिए सर्व भोगों को त्यागकर दिव्य वर्षों से एक सौ वर्ष तक तपश्चर्या की। जिसमें एक बून्द जल तक नहीं लिया। वैसा तप कोई कभी कर भी नहीं सकता है। उसके अंग में हड्डी मात्र रह गयी थी। अन्तमें ब्रह्माजी आये, कमण्डल के जल से उसके देह पर छींटा मारा। उसको होश आया। सामने ब्रह्माजी को देखकर प्रसन्न होकर प्रणाम करके, जैसा प्रशंसावाद वाक्यों के द्वारा उनको परब्रह्म निश्चय किया था उसी प्रकार परब्रह्म करके अच्छी प्रकार स्तुति की अन्त में ब्रह्माजी ने कहा कि "तुम्हारे तप से मैं बहुत प्रसन्न हूँ, जो तुम्हारी इच्छा हो सो वर मांगो, क्योंकि गजब तप तुमने किया, बिना जल के सौ वर्ष तक कौन समर्थ है कि प्राण रख सके।" उनको प्रसन्नता देखकर, गद्गद होकर वह भक्त बोला कि आज मैं धन्य हूँ कि भगवन् आप इतने प्रसन्न मुझपर हुए हैं :—

श्लोक—यदि दास्यस्याभिमतान् वरान्मेवरदर्षभ ।
भूतेभ्यस्त्व द्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्माभून्मम प्रभो ॥

[श्रीमद्भागवतजी सातवा स्कन्ध, तीसरा अध्याय, छतीसवा श्लोक]

यदि आप प्रसन्न हैं, हमारी इच्छा के अनुसार वर देना चाहते हैं तो आपसे बनाये हुए जितने

चेतन हैं उन किसी से भी हमारी मृत्यु न हो। बस दो ही प्रकार की आपकी सृष्टि है जड और चेतन, इन दोनों के अन्दर सारा ब्रह्माण्ड आ गया। इससे इन किसी से भी कभी भी मैं नहीं मरूं।

इतना सुनकर ब्रह्माजी बोले कि यह बड़ी दुर्लभ बात तुमने मागी। परन्तु अच्छा ऐसा ही होगा। इतना कहकर ब्रह्माजी चले गये। इसके बाद आकर सब लोक पालोंको जीत कर इन्द्रासन में रहकर राज्य करने लगा। उसके भयङ्कर उपद्रवों से पीडित देवगण दूसरी जगह आधार न पाकर भगवान श्री हरिके शरण गये।

आकशवाणी हुई कि प्रह्लाद से बैर करेगा तो चाहे कैसा भी वर पाया है परन्तु जरूर उसको मार डालूँगा। ऐसी कृपामय वाणी सुन करके देवगण प्रसन्न होकर चले गये। बाद प्रह्लादजी प्रकट हुए। जब वे पाच वर्ष के हुए तभी से उनका भगवान में स्वाभाविक प्रेम था। श्री हरि में प्रेम देखकर, श्री गोविन्द का नाम लेते देखकर हिरण्यकश्यपु बहुत क्रोध में आया और कहा कि श्री हरि नामको छोड दे। जब प्रह्लादजी नहीं माने तो अपने गुरु के पुत्र के पास भेजा और कहवाया कि इस बालक को अच्छी तरह सम्हाल करना चाहिए कि :—

श्लोक—"विष्णु पक्षैः प्रतिच्छन्नैर्नभिद्येतास्यधीर्यथा।"

जिसमें विष्णु के पक्ष में रहने वाले याने वैष्णव लोग इसकी बुद्धिको विपरीत न कर डालें। याने यह नहीं सिखावें कि बाकी देवों का महत्व उनको परब्रह्म बताने वाले वाक्य प्रशंसावाद हैं और श्रीपति परब्रह्म हैं यह यथार्थवाद है। इस तरह से कहवा भेजा। बाद श्री प्रह्लादजी जब पढकर आये तो गोद में लेकर पूछा कि बेटा :—

श्लोक—प्रह्लादानूच्यतां तात स्वधीतं किञ्चिदुत्तमम्।

प्रह्लाद क्या पढे सो कहो ? सबसे उत्तम क्या अध्ययन तुमने किया सो बेटा हमको सुनाओ ? इतना सुनकर प्रह्लादजी बोले कि श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन सब पढ़ाई से बढ़कर ये ही नवधा [नव प्रकार की] भक्ति है सो मैंने पढा है। फिर पूछा ? कि किमकी भक्ति याने ये नव प्रकार की भक्ति जो तुमने पढ़ी

हैं सो किसकी करनी चाहिए, यह सुनकर प्रह्लादजी बोले कि—"विष्णोः" विष्णु की, दूसरे में ये करे तो उसका नाम भक्ति नहीं हो सकता। फिर बोला कि यदि दूसरे मे करे या दूसरोंकी भक्ति करते उनकी करे तो कैसा ? यह सुनकर प्रह्लादजी बोले :—

श्लोक—इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये ऽधीतमुत्तमम् ॥

[सातवां स्कन्ध पांचवा अध्याय चावीसवां श्लोक श्रीमद्भागवत]

पिताजी ! ये नवधा भक्ति "अद्धा नाम साक्षात्" यदि विष्णु में ही किया जाय तो उत्तम अध्ययन, उत्तम पढना कहा जा सकता है। साक्षात् विष्णु में यदि नहीं की जाय याने दूसरे देवों की कीजाय तो वह उत्तम अध्ययन नहीं है।

विष्णु के अतिरिक्त यदि दूसरे की कीजाय तो वह अधम अध्ययन है। इतना सुनकर हिरण्यकश्यप बोला कि—'अह मन्ये' मैं तो ऐसा ही मानता हूँ दूसरे को क्या कहूँ ?

इस प्रकार शास्त्रों द्वारा निर्णीत यथार्थवाद का सिद्धान्त सुनते ही क्रोध के मारे आपे में नहीं रहा, क्योंकि शास्त्रोंके प्रशसावाद द्वारा उसको ब्रह्माजी परब्रह्म जचे हुए थ और प्रह्लादजी का सिद्धान्त उसके खिलाफ ठहरा। फिर क्रोधमें भरकर गुरुपुत्र को गाली देकर बोला—क्यों रे ? ब्राह्मणों मे नीच :—

श्लोक—"असारं ग्राहितो बालो मामनादृत्य दुर्मते।"

क्यों रे दुर्बुद्धि ! हमारा तू ने कितना अपमान किया। शास्त्रो में जो विष्णुभक्ति है, वैष्णव धम है वह तो बिलकुल असार है याने उसमें कुछ भी नही है। सो तूने हमारे लडके को असली तत्व न बताकर असार को सिखाया है। याने विष्णु भगवान को परब्रह्म कहना, उनकी भक्ति करना, उन्ही के अनन्य होकर भजन करना, ब्रह्मादिक से प्रेम हटाना उसके सिद्धान्त से असार ठहरा।

उसका वचन सुनकर गुरुपुत्र बोले—महाराज ! इस बालक को न तो मैंने सिखाया न और

किसी ने। आप से आप ही इसकी ऐसी विचित्र दशा हो रही है। इतना सुनकर राजा ने प्रह्लादजी से पूछा कि :—

"न चेद्गुरुमुखीयं ते कुतोऽभद्राऽसती मतिः।"

क्यों प्रह्लाद ! यदि किसी गुरुने नहीं सिखाया तो ये अमगलमय, असती याने खराब मति तुमको कहाँ से आ गई ?

जब भगवत् भक्ति को, भगवत्परतत्त्व को असार कहा अभद्र कहा, अमंगलमय कहा, खराब कहा तो प्रह्लादजी जोशमें आकर कहने लगे कि महाराज ! वेद के प्रशसावाद में भूले हुए जो जन हैं, देवलोकों के भोगों को ही उत्तम माने हुए वे बेचारे ज्ञान-दरिद्र, भगवान विष्णु को क्या जान सकते हैं ? उनमें आप तो कृष्ण भक्ति उत्पन्न हो नहीं सकती है, दूसरा कोई समझावे तो प्रशंसावाद के कारण अपनी अक्लमन्दी में पड़कर कृष्ण भक्ति सीख नहीं सकते क्योंकि सामान्य विषयों में ही उनका ध्यान है। उत्कृष्ट विषय उनके अशुद्ध-हृदय मे स्थान ही नहीं कर पाता है। जो प्रशंसावाद है, वह स्वयं मिथ्या भाषी होने के कारण अन्धा प्रमाण है और उस पर विश्वास करके रहने वाले भी अन्धे हैं वे बेचारे स्वयं तो कृष्ण भक्ति पा नहीं सकते क्योंकि कृष्ण भक्ति स्वयं उन सज्जनों में होती है या आती है कि जो महात्माओं की, भागवतों की याने वैष्णवों की चरण-रज लेकर अभिषेक करते हैं। याने अनन्य हरिभक्तों के पद-पंकज-रज को जो अपने माथे में, नयनों में लगाते हैं सो तो उन लोगों से बन नहीं सकता और प्रशसावाद में ही रहने के कारण उनमें यथार्थवाद काम नहीं कर सकता। तो दोनों बातों से जो हीन हैं ऐसे खराब हृदय वाले, उल्टी भावना वाले लोग दूसरों को क्या कृष्ण भक्ति में लगा सकते हैं याने क्या बता सकते हैं और इस जीव की सच्ची स्वार्थ गति जो विष्णु हैं उनको वे लोग कैसे जान सकते हैं।

इतना सुनकर क्रोध में आकर राजाने प्रह्लाद को गोद से नीचे उतार दिया और राक्षसों से कहा किसी तरह इसको मार डालो। वे दुष्ट मर्मस्थल पर प्रहार करने लगे। परन्तु महात्मा प्रह्लाद को भगवत्कृपा से कुछ भी असर नहीं हुआ।

हर एक उपायों से जब उनका कुछ नहीं बिगड़ा तो फिर भी पाठशाला में उनको राजाने

भिजवा दिया। भगवान से अतिरिक्त पठन में उनका दिल लगता ही नहीं देखकर पढ़ाने वाले जो गुरु थे अपने घर कुछ काम के वास्ते चले गये।

वाद जो साथ में पढ़ने वाले बालक थे सबों ने उनको बुलाया और कहा कि कुछ हम को भी तो कहिए।

कृपाकर प्रह्लादजी बोले कि क्या कहें कहना तो यही है कि बाल्यावस्था से ही भागवत धर्म याने वैष्णव धर्म का आचरण करना चाहिए यही अक्लमन्दी का काम है। क्योंकि मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है और परमपद इसी जन्म से ही ले सकते हैं। विष्णु भगवान के ही शरण हुए जीवनकी सफलता है। क्योंकि विष्णु भगवान ही जीव मात्र के आत्मा के मालिक हैं और सच्चे सुहृद हैं तथा प्रियों से भी प्रिय हैं। स्त्री पुत्रादिका जो सुख है ये तो प्राणी मात्रको कर्माधीन अनायास होता ही जाता है। इससे इसके लिए प्रयत्न करना अपनी उमर खोना है। भगवच्चरणारविन्द के मिले विना सच्चा सुख हो ही नहीं सकता है। याने भगवत् चरण-कमल में ही सच्चा सुख है। इससे चतुर का यही कर्त्तव्य है कि इस अमूल्य शरीर की शक्ति जबतक नष्ट नहीं हुई है तब ही तक सारा सार समझ कर भगवान से इतर विषयों को असार जानकर भगवान मे जल्दी आत्मा को लगा दे।

लगभग सौ वर्ष की आयु होती है सो आधी तो सोने में चली जाती है, वीस वर्ष बाल्यावस्था की अज्ञानता में चले जाते हैं बाद के वीस वर्षों में अशक्ति के कारण कुछ बन ही नहीं सकता है। बाकी दश वर्ष बचा। अब बेसमझ होगा वही तो बची उमर को इतर विषयों में लगावेगा?

क्या कहें! अज्ञानी लोग अनित्य वस्तु में ही उमर बिता कर चतुर कहाने में शर्म नहीं करते हैं। ऐसा अचल सुख मिलने के मौके में बेसमझ लोग अनित्य जो सदा आत्मा का साथ नहीं देनेवाली चीज है उसी के प्रेम में सारा समय खोकर पीछे पछताते हैं। क्या आत्मा को भूलकर द्रव्य, स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु, माँ बाप के प्रेम मे, कुलाचार के स्नेह में ही समय बिताने में उनको संकोच नहीं लगता है? सदा स्वार्थ में भरे हुए सांसारिक भगवद्विमुखों में जितना समय बिताते उतना भगवान में लगाते तो कैसा उत्तम होता। इससे

हे दैत्य बालकों ! प्रशंसावाद में पड़कर ब्रह्मा, रुद्रादि को ही परब्रह्म मानकर रहने वाले, विषय से ही अपने को कृतकृत्य समझनेवाले जो दैत्य लोग हैं जडी-मूल से इनका संग छोड कर यथार्थवाद में शास्त्रों से निश्चित आदि देव याने सब देवो के देव जो नारायण हैं उन्हीं की शरण तुम लोग भी पकड़ो। भगवान के प्रसन्न करने मे बहुत परिश्रम नहीं है। क्यों कि वे सर्वत्र हैं।- परम कृपालु हैं, सब वस्तुओं से परिपूर्ण हैं। वे प्रसन्न हो जाँय तो जानो कि सारा काम बन जायगा। यदि श्री नारायण के चरणा मे शरणागत हो गया तो जानो सब वेदों का सिद्धान्त जान लिया यह ज्ञान खुद नारायण जी ने ही नारद जी को बताया था।

अनन्य याने अकिञ्चन वैष्णव का चरण-रज जो अपने मस्तक में लगाया करते है उनको यह ज्ञान जल्दी आ जाता है। यह ज्ञान मैंने भी श्री नारद जी से सुना था। शरीर से आत्मा अलग है यह जानते रहना चाहिये। जागरण स्वप्न सुषुप्ति का जो साक्षी है उसी को जीव कहते हैं। गुरु की सेवा से, अनन्य भागवत के आराधना से, भगवान के स्मरण से समय बिताना ठीक है। जब भगवान के बिना रहा न जाय, उनके स्मरण से जब शरीर के सब रोम-रोम खड़े होने लगे, उनके मिले बिना बार-बार रोना आवे तब जानो कि सारे पापों का अन्त हो गया। भगवान से मिलना, उनसे भेंटना, उनके अंग में स्पर्श होना मानों ससार चक्र का अन्त हो जाना है। जैसे ये ससार अनित्य है, परवश छूट जाता है। इसी तरह यज्ञों द्वारा देवों के आराधन से मिला हुआ जो स्वर्गादिक लोक हैं वह भी अनित्य हैं और नाशवान हैं। शिर्फ दोष रहित और सदा आराम देने वाली कोई चीज है तो श्री हरि ही हैं। इससे चलते-फिरते, बैठते-उठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर वक्त उन्हीं के मिलने की चेष्टा किया करो। गर्भ से लेकर मरण तक, पाताल से ब्रह्मलोक तक कहीं सुखका लेश नहीं है। बिना सच्चे बन्धु प्रभु के और कहां सुख धरा हुआ है। इससे सामान्य शास्त्र का शिक्षक, प्रशसावाद का शिक्षक गुरुजी के उपदेशोंको छोड़कर निरुपाधि पिता भगवान में लगो। बस यही वेदादि शास्त्रों का निचोड़ सिद्धान्त है।

इतना शुद्ध, सच्चा, सुन्दर, निष्कपट उपदेश को सुनकर सब बालक भगवान मे लग गये। उल्टा ज्ञान सिखानेवाले गुरुका पढ़ाया पाठ सब छोड दिये।

प्रह्लादजी की शिक्षा से सारे बालकों की भगवच्चरणों मे प्रवृति देखकर क्रोध में आकर राजा श्री प्रह्लादजी को मनमाने कटु वचन कहने लगा कि मेरे क्रोध से सब देवों के साथ तीन लोक कॉप जाते हैं, तू किसके बल से मेरी आज्ञा उलंघन कर रहा है ? प्रह्लादजी बोले कि जिसके बल से सारा ब्रह्माण्ड बलवान हो रहा है, ब्रह्मादिक देव जिसके वश में होकर अपनी ड्यूटि बजा रहे हैं, उस प्रभु के सिवा और किसका बल है। तुम राक्षसी भाव हटा दो। तुमने तीनों लोकों को वश किया परन्तु असली शत्रु जो अभिमान है उसे वश नहीं कर पाये। जिनको भजना चाहिये उनसे वैर किया। जिसको छोडना चाहिए उसको मित्र और उपास्य माना।

इतना सुनकर राजा बहुत क्रुद्ध हुआ। प्रह्लादजी को मारने चला। प्रभु से भक्त का अपराध नहीं सहा गया। खम्भे से प्रगट होकर उस दुष्ट उल्टे ज्ञानवाले हिरण्यकश्यप को मार कर, भक्तराजको राज्य देकर, सब देवों से पूजित होकर प्रभु अन्तर्ध्यान हो गये।

सोचो यह कैसा प्रसंग है ? ब्रह्माजीके लिये जो परब्रह्म कहा है उसको अब भली-भांति तुम विचार कर लो। हिरण्यकश्यपु को प्रशंसावाद के अनुसार ब्रह्माजी ही भगवान जँचे हुए थे और इसी विश्वास के भरोसे पर उसने सौ वर्ष भयंकर उनका तप करके वर लिया। जब परब्रह्म ने राजी होकर ऐसा वर दे दिया कि "मेरी सृष्टि मात्र से नहीं मरोगे" फिर अब क्या ? मैं तो सदा के लिये अमर हो गया ऐसा उस बेचारे को जॅच गया। यह जो जानता कि ब्रह्माजी परब्रह्म नहीं हैं और श्री विष्णु भगवान उनकी सृष्टि से बाहर हैं तो कभी भी श्रीविष्णु भक्ति को असार अमंगल नहीं कह सकता था और भगवद्-भक्त प्रह्लादजी से वैर नहीं करता। परन्तु उसको तो ब्रह्मा के उपर भी कोई है यह मालूम ही नहीं था क्योंकि शास्त्रों के प्रशंसावाद के धोखे को वह समझ ही नहीं पाया। इसका फल यह हुआ कि १०० वर्ष भयंकर तप अमर होने के लिये किया, वर भी पाया परन्तु यथार्थवाद के विपरीत होने से वह प्रशंसावाद का वाक्य समूह रक्षा नही कर सका। उस बेचारे की समझ और विश्वास, अमर होने के लिये जो तप किया था वे सभी एकदम मिट्टी में मिल गया याने उसको किसीने मरने से नहीं बचाया मरना ही पडा और एक दिन भी जो जीनेके लिये प्रयत्न नही किया, जिनपर हजारों मार पड़ी उस श्री प्रह्लाद भक्त का बाल भी बांका नहीं हो सका। सौ वर्ष का विश्वास, तप यथार्थवाद के विपरीत होने

के कारण निष्फल हो गया। यह भी जाहिर हो गया कि एक श्री विष्णु भगवान ही ब्रह्मा की सृष्टि से बाहर हैं।

जब वर हो चुका कि हमारी सृष्टि मात्र से नहीं मरोगे और श्री गोविन्द के द्वारा मार दिया गया तो इस कथा को जानते हुए कौन चतुर मान सकेगा कि ब्रह्माजी परब्रह्म है।

परब्रह्म तो वही हैं जिसने ऐसा अघटन काम करके भी अपने आश्रित की रक्षा कर ली और ब्रह्माजी अपने इतने बड़े भक्त की भी रक्षा नहीं कर सके फिर वह परब्रह्म कैसे हो सकते हैं? परब्रह्म तो श्री विष्णु भगवान ही हुए और अपने आश्रित के पक्षपाती श्रीपति ही हुए क्योंकि हिरण्यकश्यप जब बोला कि तेरे को आज दुनियाँ से विदा कर देता हूँ। तो यह प्रह्लादजी के लिये डांट फटकार जो किया सो श्री गोविन्द को असह्य हुआ और आपे में नहीं रहे उसी वक्त उस दुष्ट को बुरी तरह से मार डाले।

और इधर ब्रह्माजीका भी हृदय देखो! इतनी बुरी हालत से ऐसा भक्त मारा जा रहा है और ऊपर खड़े तमाशा देख रहे हैं। उसकी यह दुर्दशा देखकर उनको आंसू भी नहीं आ रहा है। हाय! आह! शब्द भी नहीं कर रहे हैं। उसकी बुरी हालत से मौत देखकर अन्दर ही अन्दर प्रसन्न भी हो रहे हैं और आकर स्तुति भी कर रहे हैं पछतावा तो क्या करेंगे। ब्रह्माजी श्री नृसिंहजी की स्तुति करके कहते हैं कि :—

[श्रीमद्भागवत स्कध ७ वाँ अध्याय १० वाँ श्लोक २६ वां]

हे नाथ! हे देवों के देव! हे अनन्त ब्रह्माण्ड के मालिक! हे जीवों के रक्षक! हे परब्रह्म! बड़ा अच्छा हुआ कि इस असुर को आपने मार डाला।

श्लोक—दिष्ट्याते निहतः पापो लोक सन्तापनोऽसुरः।
दिष्ट्यास्य तनयः साधुर्महाभागवतोऽर्भकः॥
त्वया विमोचितो मृत्योर्दिष्ट्या त्वां समितोऽधुना।

(श्लोक २८)

याने हे प्रभो महान् भागवत, महान वैष्णव जो यह श्री प्रह्लाद है इनका आपने रक्षण किया यह बहुत अच्छा हुआ ?

कहो परब्रह्म कौन ठहरे ? दयासागर कौन हुआ ? अपने आश्रित का पक्ष पाती कौन ठहरा ? निर्दयी कौन हुआ ? सो तुम समझ गये। सौ वर्ष जिसने हड्डी गला दिया, पानी तक नहीं पिया, विश्वास की भी सीमा कर दी और उसकी बुरी हालत से मृत्यु देखते जिसको दया उत्पन्न न हो और उसी वक्त अपने मुख से कहे कि बहुत अच्छा हुआ कि यह दुष्ट मारा गया। हद हो गई। प्रशंसावाद मे पड़ कर बेचारा हिरण्यकशिपु ने कितना धोखा खाया। न ब्रह्मा उसको जन्म मरण के चक्कर से ही छुडा सके, न अमर ही कर सके, न ऐसी दुर्दशा में पड़े हुए उस दीन पर दया दिखा सके और उसकी आँतें गिरी हुई खून भरी लाश अभी पड़ी है और कहते हैं कि इस दुष्ट को मारा सो बहुत अच्छा हुआ।

इतने दिन भक्ति करने वाले पर जब इतनी निष्ठुरता की। तो तुम तो उसके भक्ति के सामने राई के बराबर भी कुछ नही कर सकते हो। हिरण्यकशिपु तो इस लिए प्रशसावाद वाक्यों से धोखा खा गया कि उसको नजीर नही मिली थी और तुम्हारे सामने तो नजीर मिल गई। इससे अब तुम उस कृपासागर श्री गोविन्द को छोडकर इन प्रशसा वाद के चक्कर में पड़कर अपनी जिन्दगी नही बरबाद कर देना।

अब थोड़ा उस श्री गोविन्द का स्वभाव भी और सुन लो। जब श्री प्रहला जी हाथ जोड़, श्री नृसिंहजी के चरणों में गिरने को चले तो जैसे दिन भर बछड़े से बिछुडी गैया हुंकार करती, उसको देख कर हॅकरती-डॅकरती दौडती है उसी तरह श्री प्रहलाद जी को अपने तरफ आते देखकर आसन छोड बेहोश होकर अपने को नही सम्हालते हुए वे करुणा मूर्ति प्रहलाद जी की तरफ दौड़ और गद्गद हो कर कहने लगे कि :—

श्लोक—"क्षन्तव्यमंगयदि चागमने विलम्बः।"

[नृसिंह चम्पू०]

बेटा प्रहलाद ! तेरी निष्ठा छुड़ाने के लिए इसने कितना प्रयत्न किया ? और तुम अपनी

अनन्यता से जरा भी नहीं डिगे। लाला ! हमको बहुत जल्दी तेरी रक्षा के लिए आना चाहिए था। सो जल्दी न आकर देरी से प्रगट हुए इसमें मेरी बडी लापरवाही हुई। याने हमारा बड़ा अपराध हुआ सो बेटा ! क्षमा करो ! क्षमा करो !! क्षमा करो !!!

श्लोक—इत्युक्त्वा हरिः पुलकितः शिशुमालिङ्ग।

[नृसिंह चम्पू०]

ऐसा कहकर गद्गद होकर श्रीहरि ने उस बालक को हृदय से लगा लिया।

यह गोविन्द हैं और वह ब्रह्मा हैं। अब तो प्रशंसावाद के भ्रम में मत पडो। उस भोले असुर भक्तको सिर्फ वाक्य ही मिला था कि ब्रह्मा परब्रह्म हैं। तुमको तो हजारों नजीरें मिल रही हैं कि प्रसंसावाद झूठा होता है ! प्रशंसावाद में जो जो पड़े सबों ने धोखा खाया। जैसे हिरण्यकश्यप की नजीर तुमको बताई। और भी सुनो ! यदि ब्रह्मा और वासुदेव दोनों एक ही होते तो इस हिसाब से तो भगवान ही का भक्त वह राजा कहा जाता। फिर वह मारा क्यों गया ? अथवा प्रह्लादजी ऐसा क्यों कहते कि साक्षात् विष्णु में ही यदि यह नवधा भक्ति की जाय तभी उत्तम पढ़ना कहा जा सकता है यह कहने का मौका ही क्यों आता ? क्योंकि "अद्धा" पद की कौन जरूरत थी ? और बालकों के उपदेश में तुम सब सिर्फ नारायण की ही शरणागति करो ऐसा क्यों कहते ?

अथवा ब्रह्मा और विष्णु वास्तव में एक ही होते तो प्रहलादजी विष्णु निष्ठा को छोडकर ब्रह्मा का भजन शुरू कर देते इससे उनका भी काम बन ही जाता और राजासे झगडा वैमनस्य का मौका न आता परन्तु :—

"काचः काचो काणिर्मणिः" यह दशा हुई। अपना हठ छोड़कर उसने विष्णुका नाम नही लिया और अपना हठ छोड प्रहलादजीने ब्रह्मा को नहीं भजा। इसीमें भयंकर झगड़ा बढ़ गया। आखिर में प्रहलादजी के पक्ष की विजय हुई। उसके पक्षका समूल नाश हुआ। सोचो ! प्रहलादजी के समान ज्ञानी कौन हो सकता है ? जब कि उन्होंने प्रशंसावादको ग्रहण नहीं किया और ऐक्यवाद को स्वीकार नहीं किया। किन्तु एक श्री मुकुन्दका ही आश्रय

लिया और विजय उनकी ही हुई। इससे तुम भी यह निश्चय कर लो कि शास्त्रों में जो श्रीपति के सिवा ब्रह्मा वगरह को ब्रह्म बताया है या ब्रह्मा वगरह को भगवान के बराबर बताया है ये दोनों प्रकार के वाक्य प्रशंसा मात्र ही है। परन्तु यथार्थ तो यही है कि ब्रह्मा आदिक श्रीपति की आज्ञानुसार ड्यूटी बजाते हैं और साक्षात् ब्रह्म श्रीलक्ष्मी पति ही हैं और कोई यथार्थ में परब्रह्म हो ही नहीं सकता।

और भी बहुत से प्रशंसावाद मे पड़कर धोखा खाये। जिनमें से दो-चार की नजीर तुम्हारे सामने रखता हूँ। विचारो ! हिरण्याक्ष ने ब्रह्मा जी का ही भजन तप किया, वर भी पाया और उसने भी उपद्रव मचाना शुरु किया। परिणाम यह हुआ कि भगवान श्री वरांह अवतार धारण करके उसको मारने लगे। जब जल्दी नही मरा तब ब्रह्मा जी आये और हाथ जोडकर कहते हैं कि :—हे अच्युत ! "शीघ्र जह्यं नमच्युत" !

[श्रीमद्भागवत तीसरा स्कन्ध अध्याय १८ श्लोक २५]

याने हे प्रभो ! इसे जल्दी मारदो, शाम होने पर यह जल्दी नही मरेगा। यह सुनकर हिरण्याक्ष दंग हो गया। भगवान ने भी इशारा किया कि यह तो अब मारा ही जा रहा है। तुम क्यों घबड़ा रहे हो।

यह दूसरी नजीर तुमको दी। पछतावा तो दूर रहा उसके नाशके लिए कोशिश कर रहे थे। और सुनो ! रावण, कुम्भकरण, विभीषण इन तीनों ने दश-दश हजार वर्ष ब्रह्माजीका तप किया। रावण ने नौ माथे काट-काट कर उनके नाम पर होम कर डाला। बाद ब्रह्माजी आये और रावण से कहे कि तुमने गजब तप किया। जो जो इच्छा हो सो वर माँगो मै बहुत प्रसन्न हूँ। रावण बोला कि :—

"अमरत्व महं वृणे।"

भगवान् ! प्राणीमात्रको मृत्यु से प्रबल भय है। इससे मैं अमर होना चाहता हूँ। हमको अमर कर दीजिए। इतना सुनकर ब्रह्माजी बोले कि—

"नास्ति सर्वामरत्वम्।"

सब प्रकार से कोई अमर हो ही नहीं सकता। इससे :—

'वरमन्यद्‌ वृणीष्वमे।'

कोई दूसरा बर माँगो। रावण बोला—अच्छा, नर, वानर तो कोई चीज ही नहीं है। ये हमारा कर ही क्या सकते हैं। इन दोनों को छोडकर बाकी किसी से मैं न मरूं। ब्रह्मा जी बोले 'एवमस्तु' ऐसा ही होगा।

यदि ऐसा ही था तो ब्रह्मा जी को पहिले ही कह देना था कि अमरत्व छोडकर दूसरा वर माँगो। ऐसा तो नहीं कहा बल्कि पहले कहा कि जो चाहो सो मांगो। फिर जब उसने अमरत्व माँगा तो झट बदल गये। फिर उस बेचारे ने नर वानर छोड़कर माँगा तब 'एवमस्तु' कहा।

अब कुम्भकरण की पारी आई। जब उसको बर देने का विचार करने लगे तो देवताओं ने उनसे कहा कि इसको विचार कर बर देना नही तो मुश्किल हो जायगा। फिर ब्रह्मा जी ने उन्हीं लोगों का पक्ष लिया। सरस्वती को बुलाकर कहा कि इस कुम्भकरण के जीभ पर तुम बैठ जाओ और ये देवता जैसा चाहते हैं वैसा बर माँग दो। इसकी जीभ पलटा कर बर मँगवा दो।

इतना ब्रह्मा जी का बचन सुनकर सरस्वती कुम्भकरण की जीभ पर जा बैठी। जब इस प्रकार उस कुम्भकरण को मोहित कर दिया गया फिर ब्रह्मा जी बोले कि बेटा तुम्हारी अद्भुत कठिन तपश्चर्या से तुम पर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। जो चाहो सो बर माँगो। बस वह बेचारा अपने वश तो था ही नहीं, जो माँगना चाहता था सो तो कहाँ का कहाँ ही रह गया। सर-स्वती ने झट जीभ घुमा दी और उसके मुँह से यह निकला कि :—

"स्वप्तुं वर्षाण्य नेकानि भवतस्तु बृणे वरम्"।

याने अनेक वर्षों तक बेहोश निद्रा में पड़ा रहूं यही वर माँगता हूँ। यह सुनकर छिपे हुए देवता लोग तो मुस्करा पडे और ब्रह्मा जी झट बोल उठे कि—'एवमस्तु' ऐसा ही होगा। फिर उसका दश हजार वर्ष तक तप द्वारा किया मनोरथ भग करके सरस्वती जी वहाँ से कूच कर गई याने उसकी जीभ से अलग हो गई।

यह सुनकर रावण दंग हो गया कि यह तो बड़ा गजब हुआ। इतना बेवकूफ तो मेरा भाई कुम्भकरण नहीं है। उसने ऐसा वर क्या माँगा। इसमें कुछ न कुछ दगाबाजी जरूर हुई है और ब्रह्मा से बोला कि आपने अपने पनाती (प्रपौत्र) के साथ यह क्या व्यवहार किया तब उसके कहने सुनने से छः माह सोवेगा और एक दिन जागेगा। याने एक वर्ष में दो दिन जागेगा, ऐसा किया गया।

दस हजार वर्ष जिस भक्त ने ऐसा भयङ्कर तप किया, हद से ज्यादा विश्वास किया। अशगाबाद में इतना विश्वास कौन कर सकता है परन्तु उसके तप के तरफ, मेहनत के तरफ तो कुछ ध्यान ही नहीं दिया गया और क्या की क्या जालसाजी उस भोले भक्त कुम्भकरण के साथ रची गई। क्या चाहनेवाला था और क्या का क्या वर माँग दिया गया। यदि ऐसा ही उसके साथ कपट व्यवहार करना था तो पहले ही प्रकट कर देना था कि तप मत करो वर नहीं मिल सकेगा। उसको जँचता तो माथा पची करता या दूसरा घर देखता। यदि यह खौफ हुआ कि भारी शरीर वाला है और लोगों के समान जगेगा तो क्या खावेगा। नित्य जागने पर नित्य खाने की जरूरत पडेगी सो कहाँ से आवेगा ! इसके लिए ब्रह्मा होते हुए भी चिन्ता की क्या जरूरत थी ? क्योंकि जब सृष्टिकर्त्ता आप ही हैं, जब इतना बड़ा शरीर इसका आप ही ने बनाया है, तो क्या उसके खाने के लिए इतनी सृष्टि नहीं कर दी जा सकती थी ? सारा ब्रह्माण्ड रचने में मिहनत नहीं होती और एक दस हजार वर्ष तक तप करने वाले आश्रित के लिए जो कि अपना रचा है, अपना अनन्य है, अपनी ही चौथी पीढ़ी में है उसके लिए खाने की आफत मच जाती ! यदि यह शंका देवों को हुई कि प्राणियों को खा जायगा शायद इसी शंका से यह कपट रचना की गई हो तो अण्डा खानेवालों के लिए एक ही दिन में लाखों अंडे रचे जाते हैं, उनके भी तो रचनेवाले आप ही हैं। फिर दस हजार वर्ष हड्डी गला देने वाले के लिए कुछ नवीन रचना नहीं कर दी जा सकती थी ? यदि ऐसे उसके खाने से, उसके बल से भय था तो उसका शरीर ही छोटा कर देना था क्योंकि आप ही के हाथ में तो सब था। यदि देवों को भय हुआ था तो उनको डाँट देना था कि तुम लोग स्वार्थी निर्दयी हो ऐसे तपस्वी के साथ दगा करने आये हो और उस कुम्भ-

करण के लिए नवीन इन्तजाम कर देना था। या उसके लिए सब इन्तजामों के साथ दूसरा लोक ही कल्पना कर देना था। जैसे श्री विष्णु भगवान ने पाँच ही मास तप करने वाले एक ध्रुव नामक राजा के लड़के के लिए छत्तीस हजार वर्ष का राज्य दिया और एक नवीन ध्रुव-लोक निर्माण करके उसको वहाँ भेज दिया इतने उच्च स्थान पर कि हर एक वहाँ जा ही नही सकता। इसी प्रकार उसके साथ सच्चा व्यवहार करके उसको हर-एक तरह से सुख पहुँचाना था। परन्तु यह न करके झट देवों के कहने से सरस्वती जी को जीभ पर बैठा कर उस बेचारे भोले की मति घुमा कर क्या का क्या वरदान दे दिया गया।

यह ब्रह्मा जी का अपने अनन्य भक्तों से व्यवहार है। कुम्भकरण के समान भक्त से जब दगा किया जाता है तो जो उनकी सामान्य भक्ति करेगा या उनके भरोसे अपना भला चाहेगा या उनके भरोसे अपनी आत्मा का कल्याण चाहेगा उसको वहाँ कौन पूछता है। ऐसे भी निष्ठकों के साथ इतनी दगाबाजी का व्यवहार जिस देव के द्वारा किया जा रहा है। और यह कथा सुनकर फिर भी जो इनके भरोसे अपना भला चाहेगा या उद्धार चाहेगा या प्रशसा-वाद के भ्रम में पड़कर इनको श्री विष्णु भगवान के बराबर मानेगा वह तो कुम्भकरण के समान धोखे में पडकर पीछे पछतावेगा।

इन बातों को भूल मत जाना। मजाक मत समझ लेना यह श्री वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड में श्रीमुनि राज का निर्णय है जो तुमको समझा रहा हूँ। श्रुतियों में लिखा है कि :—

"योवै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं योवैवेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तंहि देवं आत्म बुद्धि प्रसादं मुमुक्षुर्वैशरणमहंप्रपद्ये॥

इसका अर्थ यह हुआ कि जिस परमात्मा श्रीपति ने ब्रह्मा को उत्पन्न करके वेद पढाया। जो अपनी निर्हेतुक कृपा ही से प्रसन्न होते हैं मोक्ष के लिए उन्हीं के शरण होता हूँ।

इसी का नाम यथार्थवाद है। बस यदि तुमको मोक्ष लेना है, संसार से पार होना है तो सब भ्रम, खट-पट बिलकुल हटाकर श्री प्रमोद वन विहारी का एक अवलम्ब पकड लो

इससे शरणागत के लिए जो अनन्य गति होना चाहिए। यह आकार तुम में आ जावेगा। बस इसी शरीर के अन्त में तुम्हारी विजय है फिर संसार चक्र में नहीं पड़ोगे।

ब्रह्मा जी के बाबत जो प्रशंसावाद है और यथार्थवाद है सो तुमको समझाया है। अब श्री शिवजी के बाबत शास्त्रों में जो प्रशंसावाद है उसे तुमको बताता हूं। फिर यथार्थ क्या है उसका निर्णय शास्त्रों के जरिये समझाता हूं। सो ध्यान देकर एकाग्र चित्त से ईर्ष्या-द्वेष हटाकर अपने कल्याण के लिए श्रवण करो।

शास्त्रों में दो प्रकार के विषय रहते हैं। जिनमें एक का नाम प्रशंसावाद है उसी को वेदवाद भी कहते हैं। दूसरे का नाम यथार्थवाद है। प्रशंसावाद किसको कहते हैं और यथार्थवाद किसको कहते हैं इसको अच्छी तरह से कह चुका हूं। फिर भी थोड़े में और समझा देता हूं सो ध्यान देकर सुनो!

छोटी चीज को, थोड़ी वस्तु को बहुत बढ़ा करके कहना, हद से ज्यादा प्रशंसा करना इसी का नाम प्रशंसावाद अथवा वेदवाद है। जो जैसा है उसको वैसा ही कहने का नाम यथार्थवाद है। जैसे श्रीमद्भागवत के छठें स्कन्ध में लिखा है कि चित्रकेतु राजा की एक करोड़ स्त्रियाँ थीं। बस इसी को प्रशंसावाद समझो। क्योंकि एक मनुष्य के एक करोड़ स्त्रियाँ कभी हो ही नहीं सकती हैं। भगवान ने भी मनुष्य लीला करके विवाह किया। उनकी भी सोलह हजार एक सौ आठ पटरानियाँ लिखी हैं। फिर एक मनुष्य के एक करोड़ स्त्रियाँ कैसी हो सकती हैं। परन्तु वेद व्यास जी चित्रकेतु राजा को एक करोड़ स्त्रियाँ थीं ऐसा लिखा है :—

"तस्य भार्या सहस्राणां सहस्राणि दशा भवन्'।

यदि कहें कि मुनि होकर वेद व्यास जी ने झूठा क्यों लिखा तो इतने बड़े सर्वज्ञ ऋषि को झूठा कह भी नहीं सकते और एक मनुष्य को एक करोड़ स्त्रियाँ थीं यह कभी नहीं हो सकता इससे यही कह सकते हैं कि थोड़ी चीजको बहुत कहने का भी शास्त्र का एक तरीका है। अथवा चित्रकेतु के पास कुछ विशेष स्त्रियाँ होंगी। ऋषि ने और प्रशंसा कर दी

अर्थात् बढाकर कह दिया। इसी का नाम प्रशंसावाद है इसी से व्यास जी ने लिखा। और भी सुनो :—

राजा नृग की कथा में यह बात आई है कि :—

यावत्यः सिकताभूमौ, यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्ष धाराश्च तावतीरददंस्म गाः॥

इस श्लोक का यह अर्थ हुआ कि पृथ्वी में जितने बालू के कण हैं, आकाश में जितने तारे हैं, वर्षा के जितने बून्द हैं उतनी ही गैया राजा नृग ने दान किया था। अब इस कथा को निराली झूठ के अतिरिक्त कोई क्या कह सकता है? क्योंकि इतनी गायों की तो जगत में सृष्टि ही नहीं है फिर कोई दान कहाँ से कर सकता है? और नृग प्रसग में लिखा ऐसा ही है। फिर यदि सच्चा कहें तो नहीं बनता और झूठ कहें तो भी नहीं बनता। अतः इस प्रसंग को यही कह सकते हैं कि प्रशसावाद है। और सुनो :—

"रहा न नगर वसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।"

इस चौपाई में श्री तुलसीदास जी कहते हैं—जब श्री हनुमान जी ने अपनी पूँछ बढ़ाई तो उसमें इतना तेल घी, और वस्त्र लगाया गया कि लकापुरी मात्र में वस्त्र, घी और तेल कुछ भी नही रह गया। सोचने की बात है कि ऐसा कब हो सकता है कि सारी लंकापुरी के वस्त्र घी, तेल समाप्त हो गया होगा। परन्तु प्रसिद्ध महात्मा श्री गोस्वामी जी ने लिखा तो है। इससे कह सकते हैं कि थोडे को बहुत कहने की भी शास्त्रों में पद्धति है।

तुम अब समझ गये होगे कि शास्त्रों में सामान्य चीजों को भी बहुत बढाकर कहने की प्रथा है जिसके लिए दो तीन नजीर ऊपर दे चुके हैं। ऐसी और भी अनेक कथाएँ हैं जिनको विस्तार भय के कारण नहीं बता रहा हूँ।

यह सब कहने का सारांश यह हुआ कि जैसे राजा चित्रकेतु और राजा नृग की कथाओं में थोडी चीज की हद से ज्यादा प्रशंसा की गई। बस उसी प्रकार वेद, इतिहास, पुराणों में श्रीपति को छोडकर याने लक्ष्मी पति को छोडकर जहाँ-जहाँ दूसरे देवताओं को भगवान

इससे शरणागत के लिए जो अनन्य गति होना चाहिए। यह आकार तुम में आ जावेगा। बस इसी शरीर के अन्त मे तुम्हारी विजय है फिर ससार चक्र में नहीं पड़ोगे।

ब्रह्मा जी के बाबत जो प्रशंसावाद है और यथार्थवाद है सो तुमको समझाया है। अब श्री शिवजी के बाबत शास्त्रों में जो प्रशंसावाद है उसे तुमको बताता हूं। फिर यथार्थ क्या है उसका निर्णय शास्त्रों के जरिये समझाता हूं। सो ध्यान देकर एकाग्र चित्त से ईर्ष्या-द्वेष हटाकर अपने कल्याण के लिए श्रवण करो।

शास्त्रों में दो प्रकार के विषय रहते हैं। जिनमें एक का नाम प्रशंसावाद है उसी को वेदवाद भी कहते हैं। दूसरे का नाम यथार्थवाद है। प्रशंसावाद किसको कहते हैं और यथार्थवाद किसको कहते हैं इसको अच्छी तरह से कह चुका हूं। फिर भी थोडे में और समझा देता हूं सो ध्यान देकर सुनो।

छोटी चीज को, थोडी वस्तु को बहुत बढा करके कहना, हद से ज्यादा प्रशंसा करना इसी का नाम प्रशंसावाद अथवा वेदवाद है। जो जैसा है उसको वैसा ही कहने का नाम यथार्थवाद है। जैसे श्रीमद्भागवत के छठें स्कन्ध में लिखा है कि चित्रकेतु राजा की एक करोड स्त्रियाँ थी। बस इसी को प्रशंसावाद समझो। क्योंकि एक मनुष्य के एक करोड स्त्रियाँ कभी हो ही नही सकती हैं। भगवान ने भी मनुष्य लीला करके विवाह किया। उनकी भी सोलह हजार एक सौ आठ पटरानियाँ लिखी हैं। फिर एक मनुष्य के एक करोड स्त्रियाँ कैसी हो सकती हैं। परन्तु वेद व्यास जी चित्रकेतु राजा को एक करोड स्त्रियाँ थीं ऐसा लिखा है :—

"तस्य भार्या सहस्राणां सहस्राणि दशा भवन्'।

यदि कहें कि मुनि होकर वेद व्यास जी ने झूठा क्यों लिखा तो इतने बड़े सर्वज्ञ ऋषि को झूठा कह भी नहीं सकते और एक मनुष्य को एक करोड़ स्त्रियाँ थी यह कभी नही हो सकता इससे यही कह सकते हैं कि थोड़ी चीजको बहुत कहने का भी शास्त्र का एक तरीका है। अथवा चित्रकेतु के पास कुछ विशेष स्त्रियाँ होंगी। ऋषि ने और प्रशंसा कर दी है।

अर्थात् बढाकर कह दिया। इसी का नाम प्रशंसावाद है इसी से व्याम जी ने लिखा। और भी सुनो :—

राजा नृग की कथा में यह बात आई है कि :—

यावत्यः सिकताभूमौ, यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्ष धाराश्च तावतीरददंस्म गाः॥

इस श्लोक का यह अर्थ हुआ कि पृथ्वी में जितने बालू के कण हैं, आकाश में जितने तारे हैं, वर्षा के जितने बून्द हैं उतनी ही गैया राजा नृग ने दान किया था। अब इस कथा को निराली झूठ के अतिरिक्त कोई क्या कह सकता है? क्योंकि इतनी गायों की तो जगत में सृष्टि ही नहीं है फिर कोई दान कहाँ से कर सकता है? और नृग प्रसग में लिखा ऐसा ही है। फिर यदि सच्चा कहें तो नहीं बनता और झूठ कहें तो भी नहीं बनता। अतः इस प्रसंग को यही कह सकते हैं कि प्रशसावाद है। और सुनो :—

"रहा न नगर वसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला।"

इस चौपाई में श्री तुलसीदास जी कहते हैं—जब श्री हनुमान जी ने अपनी पूँछ बढ़ाई तो उसमें इतना तेल घी, और वस्त्र लगाया गया कि लकापुरी मात्र में वस्त्र, घी और तेल कुछ भी नहीं रह गया। सोचने की बात है कि ऐसा कब हो सकता है कि सारी लंकापुरी के वस्त्र घी, तेल समाप्त हो गया होगा। परन्तु प्रसिद्ध महात्मा श्री गोस्वामी जी ने लिखा तो है। इससे कह सकते हैं कि थोडे को बहुत कहने की भी शास्त्रों में पद्धति है।

तुम अब समझ गये होगे कि शास्त्रों में सामान्य चीजों को भी बहुत बढ़ाकर कहने की प्रथा है जिसके लिए दो तीन नजीर ऊपर दे चुके हैं। ऐसी और भी अनेक कथाएँ हैं जिनको विस्तार भय के कारण नहीं बता रहा हूँ।

यह सब कहने का सारांश यह हुआ कि जैसे राजा चित्रकेतु और राजा नृग की कथाओं में थोडी चीज की हद से ज्यादा प्रशंसा की गई। बस उसी प्रकार वेद, इतिहास, पुराणों में श्रीपति को छोडकर याने लक्ष्मी पति को छोडकर जहाँ-जहाँ दूसरे देवताओं को

बताया गया है दूसरे देवों से मुक्ति बताई है वह बिलकुल प्रशंसावाद है ऐसा समझो। विना श्री रघुनाथ जी के कोई भी देव किसी काल में भी ब्रह्म नहीं ठहर सकता। और विना श्री सीतारामजी के श्री चरण शरण के कभी भी किसी को आज तक न मुक्ति हुई है और न कभी हो सकती है।

इसी प्रसंग मे इन्द्र, सूर्य ब्रह्मा इन देवों के लिए जो शास्त्रो मे प्रशंसावाद है सो तुमको कहकर समझा चुका हूं। अब श्रीमान शंकर जी के बावत शास्त्रों मे जो प्रशंसावाद हैं उसको पहिले संक्षेप मे जनाकर यथार्थवाद क्या है उसको शास्त्रों द्वारा निर्णय करके अच्छी तरह समझाता हूँ सो ध्यान देकर सुनो :-

एक जगह ऐसा लिखा है कि शिवजी की महिमा श्री वैकुण्ठनाथ जी भी नही जान सकते। एक मन्त्र में लिखा है कि:—"रुद्रश्चनारायणः" याने शिवजी भी नारायण ही हैं। एक जगह आया है–भगवान कहते हैं कि–"रुद्राणां शंकरश्चास्मि"। याने रुद्रो में शंकर मैं ही हूं। बहुत जगह लिखा है कि ब्रह्मा विष्णु, महेश ये तीनों एक ही हैं। इनमे जो भेद नहीं देखता है उसको शान्ति प्राप्त होती है। एक जगह लिखा है कि भगवान ने शिवजी की पूजा करके इनाम मे सुदर्शन चक्र को पाया था। एक जगह लिखा है कि "शंकर भजन विना नर, भक्ति न पावे मोर"। एक जगह लिखा है कि भगवान उमापति के भजन से, उनकी प्रसादी भस्म रुद्राक्ष के धारण से जरूर मुक्ति हो जाती है। फिर लिखा है कि :-

जे रामेश्वर दर्शन करिहहि। कुल समेत भव सागर तरिहहिं॥

याने जो रामेश्वर का दर्शन करेगा सो कुल के साथ संसार सागर से तर जायगा। बहुत जगह लिखा है कि शिवजी ही परब्रह्म हैं भगवान उनसे छोटे हैं इत्यादि अनेक वाक्य शिवजी महाराज के बाबत हद से ज्यादा शास्त्रों में प्रशंसा करने वाले हैं। अब इन सभी वाक्यो का आगे अच्छी तरह विचार करता हूं। पूर्वोक्त वाक्यों के अनुसार यदि शिवजी महाराज भग-वान होते तो पृथ्वी का भार उतारने के लिये सब देवो के साथ परमात्मा को ढूढ़ने नहीं जाते और :—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

यह नहीं कहते। भगवान के बराबर भी होते तो पृथ्वी का भार उतारने का काम आप खुद कर लेते। भगवान से बड़े भी होते तो पृथ्वी का भार उतार देते परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इससे यह मालूम होता है कि जहाँ-जहाँ लिखा है कि तीनों देव बराबर हैं अथवा शिवजी ही बड़े हैं। ये सब नृग की गायों की कथा के समान प्रशंसा मात्र है किन्तु यथार्थ नही है। श्री रामायण श्रीमद्भागवत वगैरह दिव्य ग्रन्थों में देखने सुनने में आता है कि जब-जब पृथ्वी पर भार पड़ा तब-तब ब्रह्माजी, शिवजी वगैरह देवगण मिलकर परमात्मा की शरण हुए आकाश वाणी हुई कि 'हे देवताओं! मत डरो' तुम लोगों के लिये मैं मनुष्य वेश धारण करके नर चरित्र करते हुए तुम्हारा सब दुख दूर करूंगा।" इन बातों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि तीनों देव कभी भी एक नहीं हो सकते हैं न श्रीपति से ब्रह्मा शिव कभी बड़े हो सकते हैं।

और सुनो! एक वृकासुर राक्षस था जिसे भस्मासुर भी कहते हैं। उसको शिवजी महाराज वरदान देकर खुद भी सकट में पड़े थे। जब हर-एक उपायों से थक गये तो भगवान को पुकारा, पुकार सुनते ही परम दयालु भगवान ने उस दुष्ट का नाश करवाया और शिवजी महाराज को संकट से बचाया। अब सोचने की बात है कि यदि शिवजी महाराज भगवान से बड़े होते या भगवान के बराबर भी होते तो बैकुण्ठनाथ की शरण जाने की कौन सी आवश्यकता थी और ये जो लिखा है कि शिवजी भी नारायण हैं यह भी प्रशंसा मात्र है क्योंकि श्री रामायण में एक कथा आई है कि श्रीरामजी को श्री जानकी जी के विरह में जहाँ-तहाँ जंगलों में घूमते देखकर सतीजी को भ्रम हुआ। शिवजी ने समझाया कि प्रभु का चरित्र विलक्षण है तुम भ्रम मत करो। वे परब्रह्म हैं नर नाट्य कर रहे हैं अथवा आश्रित विरह से व्याकुल हो रहे हैं। बहुत समझाने पर भी जब सतीजी का सन्देह नहीं गया तो वह श्रीराम जी की परीक्षा लेने के लिए श्री जानकीजी का रूप धरकर जगल में बैठ गईं श्रीरामजी ने देखते ही पूछा कि आप अकेली क्यों बैठी शिवजी महाराज कहां हैं। इतना वचन सुनकर लज्जित होकर सतीजी श्री जानकीजी का रूप छोडकर अपना पहिला रूप धारण करके शिवजी के पास आई। शिवजी ध्यान करके सब बात जान गये। फिर :—

"शिव संकल्प कीन्ह मन माहीं। यह तनु सती भेंट अब नाहीं॥"

याने शिवजी ने सकल्प किया कि हे सतीजी ! ये जो तुम्हारा शरीर है इससे पति पत्नी का भाव नहीं रहेगा। क्योंकि आपने श्रीजानकी माता का रूप धारण कर लिया है। ऐसा कहकर सतीजी को त्याग दिया। अब यहां सोचने की बात है कि यदि शिवजी महाराज नारायण होते तो इस तरह का संकल्प कैसे करते। क्योंकि नारायण मे और शिवजी में तो अभेद होना चाहिए था। थोरी देर के लिये यदि सतीजी ने श्रीसीताजी का रूप ही धारण कर लिया तो इससे क्या ? जब कि श्रुति वाक्य शिवजी को नारायण कहता है इसके अनुसार तो एकता ही ठहरती थी। परन्तु श्री शिवजी महाराज ने तो माता भाव ही माना। यही कहा कि तुमने श्रीसीताजी का रूप धारण कर लिया इससे हमारी माता ठहर गई। तो अब हमारा तुम्हारी स्त्री पति का व्यवहार कैसे हो सकता है। इस कथा से यह खुलासा मालूम पडता है कि शिवजी को शास्त्रों में जो नारायण कहा है यह सिर्फ प्रशंसा मात्र है। यथार्थ मे शिवजी परब्रह्म नहीं।

और यह जो लिखा है कि "रुद्राणा शकर श्चाऽस्मि।" रुद्रो मे शकर मैं हूं यह भी वसा ही है कि जैसा भगवान कहते हैं कि देवों मे इन्द्र म ही हूं। कहा तो कि देवो मे इन्द्र मैं हूं परन्तु जब गोप लोग इन्द्र की पूजा करने को उद्यत हुए थ तो भगवान ने खुद इन्द्र की पूजा छुड़ा कर अपनी पूजा कराई थी। यहा भी उसी तरह की बात है। जब कि रुद्रो मे शंकर जी खुद भगवान ही है, यह बात यदि बिलकुल सही है तो फिर शोणितपुर में बाणासुर के प्रसंग में भगवान से और शंकरजी से भयंकर लडाई क्यों हुई ? कहीं भगवान भगवान में भी लड़ाई हो सकती है ? फिर वहां भगवान की विजय हुई और शिवजी का पराजय हुआ। शिवजी महाराज ने भगवान की स्तुति की और कहा कि :—

"अहं ब्रह्मा थ विबुधा मुनयश्चा मलाशयाः।
सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वा मात्मानं गुरुमीश्वरम् ॥

याने शिवजी कहते हैं कि हे भगवान ! मै, ब्रह्मा और देवगण सब आपके आश्रित होकर रहते हैं क्यो कि आप प्रिय के भी प्रिय हैं। इस कथा से विदित होता है कि पूर्वोक्त वाक्य विभूपित मात्र है वास्तव में नही है। यथार्थ होता तो लड़ाई नही होती।

ब्रह्मा जी जब बछड़ों और ग्वालों को चुरा ले गये थे तो स्वयं कृष्ण जी ने ग्वालों और बछड़ों का रूप धारण कर लिया था एक वर्ष तक ग्वालो का रूप धारण करके आप रहे। जिन ग्वालों का रूप स्वय भगवान ने धारण किया था उनके साथ एक वर्ष मे एक दिन भी खेल में लडाई नहीं हुई। होय तो कैसे होय, जब हजारो आप हीं बन गये थ तो आप ही आप में लडाई कैसे हो सकती है और बाणासुर के प्रसग में शिव जी से लड़ाई तो हुई है। इससे यह विदित होता है कि ऐकतावाद सिर्फ प्रशसा मात्र ही है यथार्थ नहीं है।

पुराणों में ब्रह्मा जी और शिव जी को भगवान बताया है उसका भाव ये है कि ब्रह्मा में परमात्मा ने विशेष शक्ति दी है जिससे वे सृष्टि करते हैं इसीसे उनको आदर करके शास्त्रों मे भगवान कहा है। इसी प्रकार शिवजी महाराज में भी परमात्मा ने विशेष शक्ति दी है यथार्थ में न ये भगवान के बराबर हैं और न भगवान ही हैं। क्यों कि सारा ब्रह्माण्ड माया का रचा हुआ है। उसमाया के परवश ब्रह्मा से लेकर चीटी तक जीव मात्र है। वह माया एक भगवान श्रीपति से सदा डरती है। बाकी सब के सब उस माया में मोहे हुए हैं। जैसे श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि :—

शिव विरंचि कहँ मोहई, को है बपुरा आन।
अस विचार के भजहिं मुनि, माया पति भगवान॥

गीता में अर्जुन को जब भगवान ने दिव्य नेत्र दिये तो अर्जुन ने भी भगवान की स्तुति करते हुए कहा :—

"पितासि लोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समो ऽस्त्य भ्यधिकः कुतोऽन्यो, लोक त्रयेऽप्य प्रतिम प्रभाव॥

कि हे भगवान! चराचर लोक के पिता आप हैं आपके बराबर कोई नहीं है फिर आप से अधिक कैसे हो सकता है। तीनों लोक में भी आपके प्रभाव के बराबर किसी को उपमा नहीं दी जा सकती है। आपकी देह के एक कोने में सारा ब्रह्माण्ड दिख रहा है। एक तरफ ब्रह्मा, एक तरफ रुद्र, एक तरफ बाकी देव गण नजर आ रहे हैं।

जब कि दिव्य दृष्टि पाकर अर्जुन जी कहते हैं कि आपके बराबर तीनों लोकों में कोई नहीं है फिर अधिक कैसे हो सकता है तो दूसरों के कहने से शिवजी, ब्रह्माजी भगवान के बराबर कैसे हो सकते हैं ? इन प्रसंगो से यही समझ में आता है कि जहाँ-जहाँ ब्रह्मा शिव को भगवान के बराबर बताया है यह सिर्फ प्रशंसावाद है। देवों मे इन्द्र मैं हूं, रुद्रों में शकर मैं हूं, पाण्डवों में अर्जुन मै हूं, देवर्षियों में नारद मैं हूं, घोडों मे उच्चैःश्रवा मैं हूं, जल-जन्तुओं में मगर मैं हूं, जंगली जन्तुओं मे शेर मैं हूँ, यादवों मे श्री कृष्ण मै हूं, इन सभी जगह मैं हूं—मैं हूं भगवान बोले है। मैं हूं कहने से उच्चैःश्रवा घोडा या मगर या शेर श्री कृष्ण जी के बराबर नही माना जाता। "अर्जुन मैं हूं" यह भगवान के कहने से अर्जुन परब्रह्म नहीं माने जाते। "मगर मैं हूं" यह कहने से मगर की उपासना कोई नहीं करता। इस विभूति योग मे भगवान ने बहुत जगह "मै हूं-मैं हूं" कहा है परन्तु जो यह कहा है कि यादवों में "श्री कृष्ण जी मैं हू" बस असली भगवान यह हैं। इनका जन्म विलक्षण है। बाकी सब में थोड़ी-थोडी शक्ति दिये-हुए हैं। काम हो जाने पर शक्ति ले लेते हैं। शक्ति ले लेने के बाद उनसे कुछ भी नहीं हो सकता है। जैसे अर्जुन की शक्ति ले लिए बाद, फिर दो-चार गोपों ने अर्जुन को पराजित कर दिया। काम करने को परशुरामजी में शक्ति दिये थे। काम हो जाने के बाद अपनी शक्ति खींचली। परशुराम जी ज्यों के त्यों रह गये। भगवान के दो प्रकार के अवतार होते हैं एक मुख्य, और दूसरा आवेश। श्री रामजी, श्रीकृष्ण जी, श्री नरसिंहजी, श्री वामन जी, श्री हयग्रीव जी, श्री वाराह जी, श्री मत्स्य जी, श्री कच्छप जी, ये भगवान के मुख्य अवतार हैं और बाकी जितने हैं जिनकी अवतारों में गिनती है वे सब जीव हैं। उनमें काम करने की भगवान के तरफ से शक्ति दी जाती है और काम हो जाने पर शक्ति लेली जाती है। बस इसी तरह से ब्रह्माजी और शिवजी को भी आवेश अवतार समझो जैसे "ऐरावत हाथी मैं हूं।" यह कहने से ऐरावत हाथी और श्रीकृष्ण जी एक नहीं हो सकते। इसी प्रकार "इन्द्र" "रुद्र" मैं हूं यह कहने मात्र से भगवान श्री कृष्णजी के बराबर रुद्रादिक देव कभी भी नहीं हो सकते। अतः भगवान के बराबर ब्रह्मा शिवजी हैं ; इस भ्रम में कभी भी नहीं पड़ना चाहिये, और कहीं कहीं जो लिखा है कि इन तीनों देवों में जो भेदभाव नहीं देखता है सो शान्ति पाता है ; यह भी सिर्फ कहने ही मात्र का है।

एक प्राचीन कथा है कि मुनियों में शंका हुई कि तीनों देवों में बड़ा कौन है और किस के भजन से शान्ति प्राप्त हो सकेगी तथा अनन्त अपराध सहने की शक्ति किस मे है ? इस बात का निर्णय करने के लिए भृगु मुनि को भेजा। ब्रह्माजी शिवजी और भगवान की परीक्षा उन्होंने की। निर्णय करने के समय मुनियों से आकर भृगुजी ने कहा—"ब्रह्मा और शिव तमोगुण से भरे हुए हैं। सामान्य अपराध से भी वे लोग क्रोध मे आ जाते हैं। इस जीव में अनन्त अपराध भरे हुए हैं फिर कैसे इतने अपराधों को सहकर इसका भला कर सकेंगे ? भगवान श्री वासुदेव वैकुण्ठपति श्री साकेत विहारी ही अनन्त अपराधों को क्षमा करके आश्रितों का सदा के लिये कल्याण कर सकते हैं।

हे मुनियो ! हमारे निर्णय करने से यही मालूम हुआ कि तीनों में सर्वगुण सम्पन्न, परमात्मा के लक्षण वाले, क्षमा सागर, शान्त मूर्ति, मुमुक्षुओं के उपासना करने के योग्य सिर्फ श्री विष्णु भगवान ही हैं। इस प्रकार भृगु मुनि को बातें सुनकर "अधिक मेनिरे विष्णुम्" श्री विष्णु भगवान को ही मुनियों ने अधिक माना याने अधिक (बड़ा) निश्चय किया।

जब कि यह कथा प्रसिद्ध है। विस्तार से वर्णन की गई है तो कैसे कह सकते हैं कि तीनों में भेद भाव नहीं है ? फिर बालमीकीय रामायण के बालकाण्ड में श्री रामजी-परशुरामजी के सवाद में एक और इतिहास है कि देवों ने ब्रह्माजी से पूछा कि शिवजी और भगवान इन दोनों में बड़े कौन हैं ? ब्रह्माजी ने कहा कि ये दोनों युद्ध करें जिसकी जीत होय सो बड़ा और जिसकी हार होय सो छोटा ! इतना कहकर ब्रह्माजी ने दोनों का आवाहन किया। विश्वकर्मा से कह कर दो धनुष दिलाये। किसी तरह दोनों में विरोध उत्पन्न किया गया। भयकर युद्ध भी शुरू हुआ। बाद विष्णु भगवान के पराक्रम से शिवजी का धनुष काम करने में असमर्थ हो गया। अपने धनुष की यह दुर्दशा देखकर शिवजी कुछ दूसरी शक्ति का प्रयोग करने लगे फिर विष्णु भगवान ने "हुँकार" शब्द से शिवजी को डाँटा। बाद शिवजी भी बिलकुल असमर्थ हो गये। जब शिवजी की शक्ति बिलकुल निकम्मी हो गई तो उन्होंने अपनी तीसरी आँख खोली वह भी भगवान के उपर कुछ काम न सर सकी।

देवताओं ने प्रार्थना कर युद्ध को बन्द करा दिया। उस वक्त भी देवता और ऋषि लोगों ने श्री विष्णु भगवान को ही अधिक माना। यह श्लोक है कि :—

"जृम्भितं तु धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णु पराक्रमैः।
हुंकारेण महादेव स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः॥"

श्लोक का भाव उपर कह चुके हैं। यह कथा श्री परशुराम जी ने श्रीरामजी से कहा है कि हे श्रीरामजी! जो धनुष आप तोड आये हैं वह वही धनुष था जिससे शिवजी ने युद्ध किया था। विना परमात्मा के उस धनुष को कोई नहीं तोड सकता था। मेरे हाथ में जो धनुष है इससे श्री विष्णु भगवान ने युद्ध किया था

कहने का सारांश यह हुआ कि जब ऐसी-ऐसी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। तो दो-चार टुकरे प्रशंसावाद के लेकर कैसे कह सकते हैं कि भगवान श्री पति के बराबर ब्रह्मा और शिवजी भी हैं। इससे तीनों देव कभी एक नही हो सकते हैं। वडे तो लक्ष्मीपति ही हैं। उन्हीं को वेदों में परब्रह्म निर्णय किया है। उन्हीं की आज्ञानुसार, उन्हीं की दी हुई शक्ति से ब्रह्मा जी सृष्टि करते हैं। और शिवजी संहार करते हैं। वे भगवान खुद अनेक अवतार धारण करके आश्रितों की रक्षा करते हैं। वेदों में नाम तो बहुत से देवों का है। परन्तु नाम आने मात्र ही से कोई भगवान के बराबर नहीं हो सकते। वेदों में तो ऐसी चीज कौन है जिसका नाम नहीं है? इससे वे परब्रह्म थोडे ही हो सकते हैं, जब कि स्पष्ट शब्दों में वेद कहता है कि :—

"ह्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ"।

लक्ष्मी जीके जो पति हैं वे ही परब्रह्म हैं। इस वाक्य के अनुसार लक्ष्मी पतित्व तो श्रीनाथ जी के सिवा और किसी पर घट ही नहीं सकता। फिर दूसरा परब्रह्म कैसे हो सकता है? यज्ञों में देवताओं का पूजन करके अल्पज्ञ सामान्य अधिकारी स्वर्ग की चाहना करते हैं। ऊँचा फल क्या है? ऊँची भक्ति किसकी है? इन बातों को जो नहीं समझ पाये हैं उन्हीं सामान्य अधिकारियों के लिए जहाँ-तहाँ देवताओं की आराधना का विधान किया है। जो

ऊँचे फल को; ऊँचे विषय को समझ कर भगवान के शरण हुए मुमुक्षु लोग हैं उनको इन प्राकृत विषयो से क्या जरूरत ! यद्यपि प्रशसावाद में कहा है कि कहीं भी जल बरसे तो समुद्र में पहुँचता है। उसी तरह किसी देव को नमस्कार करे तो भगवान को पहुंचता है। परन्तु इस प्रशसावाद को भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता जी के यथार्थवाद में खण्डन कर दिया है। भगवान ने स्पष्ट कह दिया कि :—

'यान्ति देवव्रता देवान् यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्" ।

याने देवताओं को पूजने वाले देव लोक में जाते हैं और हमको पूजने वाले हमारे लोक को जाते हैं।

"कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥"

हे अर्जुन ! कामनाओ से जिन लोगो का ज्ञान हरण हो जाता है वे लोग हमको छोड-कर दूसरे देवताओ का भजन करते हैं। उन देवताओ से जो फल वे लोग पाते हैं वह फल नाशवान होता है। इससे साराश यह आया कि भगवान के बराबर ब्रह्मा, रुद्रादिक कोई भी देवता नहीं हो सकते हैं। इससे मुमुक्षुओं को सदा श्री सरयू तट बिहारी का ही भजन, स्मरण आदि करना चाहिये।

कहीं-कहीं प्रशसावाद में ऐसा जो लिखा है कि शिवजी की महिमा भगवान भी नहीं जानते हैं या शिवजी का अन्त भगवान ने भी नहीं पाया यह निराला तामस प्रसंग है। शिवजी की बडाई बढाने के लिए लिख दिया है। जैसे देवताओं को—शिवजी को हलाहल जहर पिलाना था। इससे उन्हीं लोगों ने हद्द से ज्यादा प्रशंसा अपना काम लेने के लिए की और उन्हीं लोगों ने कहा कि आप की महिमा भगवान भी नहीं जान सकते। अपना मतलब लेने के लिए उन लोगों की ऐसी बातें सुनकर जहर पीने के पहिले शिवजी महाराज ने पार्वतीजी से कहा—

हे देवी ! जीवों पर दया करने से सर्वात्मा हरि प्रसन्न होते हैं। जब हरि प्रसन्न होते

हैं तो चराचर प्रसन्न होता है और मैं भी प्रसन्न होता हूँ। इसका आशय यह हुआ कि तुरन्त ही इन देवों से की हुई जो अपनी वडाई है और भगवान की छोटाई है यह नहीं सहकर उसका खण्डन करके उसी वक्त कह दिया कि भगवान हीं के प्रसन्न होने में हम सब प्रसन्न होते हैं। जब भगवान के ही प्रसन्न होने में सब की प्रसन्नता है तब तो भगवान ही सबसे बड़े ठहरे और जहाँ कहीं ऐसी-ऐसी थोथी बातें आवें जिनमें भगवान को छोटा बताया हो और दूसरे देवों को बडा बताया हो वे सभी प्रसग बिल्कुल प्रशंसावाद मात्र ही समझना चाहिए। हजारों जगह कथा है कि कई बार ब्रह्मा, रुद्रादिकों ने संकट में पड़-पड़ कर लक्ष्मीपति को पुकारा और उस दयालु ने आ-आकर इन सबों की रक्षा की।

पुराणों में कथा है कि ब्रह्मा के पाँच मस्तक थे। किसी कारण से क्रोध में आकर शिवजी ने एक माथा उनका काट लिया। इससे उनको पातक लगा। उससे भी भगवान ने ही रक्षा की। मधुकैटभ राक्षस ने ब्रह्माजी पर आक्रमण किया। फिर ब्रह्माजी ने भगवान को पुकारा। भगवान ने मधुकैटभ को मारकर उनकी रक्षा की तभी से भगवान का नाम मधु-कैटभारि पड़ा। प्रशंसावाद के तामस प्रकरण में ऐसा भी लिखा है कि भगवान ने शिवजी को पूजकर इनाम में सुदर्शन चक्र को पाया था। क्या कहें! जहाँ प्रशंसावाद की शैली शुरू होती है वहाँ गजबकर डालती है। जब कि उपनिषदों में भगवान का रूप वर्णन आता है।

वहाँ सशंख चक्रम् आता है। परमपद में जहाँ भगवान का वर्णन आता है वहाँ शंख चक्र का भी नाम आता है। जब कि अनादि से शख-चक्र है तो शिवजी को पूजकर इनाम में चक्र पाया इसको कौन समझदार मान सकता है?

श्री मद्भागवत सब पुराणों के आखिरी का निर्णय पुराण है। उसमें यह कथा है कि परम भागवत राजा अम्बरीष को नाश करने के लिए दुर्वासा मुनि ने एक भूतिनी (कृत्या) पैदा की। उनका भगवद्भक्त के ऊपर अत्याचार देखकर सुदर्शन चक्र जो क्रोध में आये और उस भूतिनी को जला दिया और दुर्वासा मुनि को मारने के लिए सुदर्शन चक्रजी उनके पीछे दौड़े। सुदर्शन चक्र के तेज से पीडित होकर वे शिवजी की शरण गये और प्रार्थना की कि इस सुदर्शन

चक्र से हमारी रक्षा कीजिए मैं इसके तेज से मरा जाता हूँ। इतना सुनकर शिवजी ने दुर्वासा मुनि से कहा :—

> वयं न तात प्रभवाम भूम्नि,
> यस्मिन् परेऽन्यऽप्यज जीव कोशाः।
> भवन्ति कालेन भवन्ति ही दृशाः,
> सहस्त्रशो यत्र वयं भ्रमामः॥

देखो दुर्वासा मुनि! जिस परमात्मा की विभूति में हमारे सरीखे हजारों भ्रमते हैं उस भगवान का यह सुदर्शन चक्र है। हमारी शक्ति नहीं है कि इस सुदर्शन चक्र से तुम्हारी रक्षा करें इसलिए यहाँ से चले जाओ।

अब विचारने की यह बात है कि यदि उन्हीं के दिये हुए सुदर्शन चक्र होते तो दुर्वासा की रक्षा क्यों न कर लेते? इससे पूजाकर के सुदर्शन चक्र पाया है यह कथा केवल प्रशंसा मात्र है।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज सरक्षित विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमांसा का प्रथम खण्ड समाप्त

श्रीमते रामानुजाय नमः

शरणागति मीमांसा

(द्वितीय खण्ड)

पौण्ड्रक राजा के मरने के बाद उसका बेटा सुदक्षिण शिवजी को प्रसन्न करने वास्ते यज्ञ किया। उस यज्ञ कुण्ड से एक भयकर भूतनी प्रगट हुई। उसको द्वारिका वालों का नाश करने के लिये वह भेजा। उसके जाने से द्वारिका में जहाँ तहाँ कुछ खलबली मची। पीछे भगवान ने सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी सुदर्शन चक्र उस भूतनी को मारने के लिये चले वह भूतनी भागकर काशी आई सुदर्शन चक्र जी उस भूतनी और राजा के लडके को मारकर सारी काशी को जलाकर भस्म करके फिर द्वारिका में आकर भगवान की सेवा में उपस्थित हुए।

श्लो०—दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णोश्चक्रं सुदर्शनं
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्य परमात्मनः

अब सोचने की बात है कि यदि भगवान ने शिवजी को पूजकर इनाम में सुदर्शन चक्रजी को पाया होता तो उसी सुदर्शन चक्र से काशी पुरी को जलाकर कैसे भस्म करते? इससे भगवान ने पूजा की और सुदर्शन चक्र को इनाम में पाया ये सभी कथायें प्रशसावाद ही हैं किन्तु यथार्थ नहीं।

इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भगवान के बराबर ब्रह्मा और शिव हैं यह प्रसग आवे, या भगवान ने इन देवों से कभी कुछ सहारा लिया, यह कथा कभी भी आवे, या भगवान से कोई देव बडे हैं यह वाक्य कहीं भी मिले, उसको प्रशसा मात्र ही समझो यथार्थ नहीं और जहाँ-तहाँ जो

यह लिखा है कि शिवजी के भजन से, शिवजी की भक्ति से उनकी प्रसादी भस्म रुद्राक्ष के धारण से और शिव नाम के जप से मुक्ति हो जाती है यह वचन भी निराला धुखेला है, क्योंकि यदि यह सत्य होता तो घण्टाकर्ण के समान शिवजी का अनन्य भक्त न आजतक कोई हुआ न होनेवाला है। वह सदा शिवजी का भजन करता था। हरवक्त शिवजी की भक्ति में निरत था। शिवजी की ही प्रसादी भस्म रुद्राक्ष सदा धारण करता था। इस तरह शिवजी का भजन करते-करते उसका बहुत काल बीता। यहाँ तक उसका शिवजी में प्रेम बढा कि सिवा शिव नाम के उसको दूसरा नाम जहर के समान मालूम पडता था। शिव नाम की इतनी अनन्यता बढ़ी कि गोविन्द, माधव, मुकुन्द, सीतापते, राधारमण इत्यादिक भगवान के नाम उस भक्त का अप्रिय मालूम पड़ते थे। इसके लिये अपने कानों में घण्टा बाँधकर रखा था। जिसमें विष्णु भगवान का नाम कानों में न पड़ने पावे। जब कहीं भगवान का नाम सुनने का मौका आता वहाँ घण्टा हिला देता। इतना भारी शिवजी का अनन्य भक्त हुआ जिसके बराबर नजीर के लिये दूसरा शिव भक्त मिलना मुश्किल है। ऐसी उसकी लोकोत्तर भक्ति निष्ठा देखकर शिवजी महाराज बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि तुम्हारे उपर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, जो चाहो सो वर माँगो इतना सुन गद्-गद् होकर वह भक्त बोला कृपानिधान मुझे मुक्ति दीजिये। इतना सुनते ही शिवजी महाराज थोड़ी देर चुप रहे, फिर बोले कि मुक्ति देनेवाला सिवा भगवान वासुदेव के कोई दूसरा नहीं है। यदि तुम्हें मुक्ति ही लेनी है तो श्री गोविन्द के पास जाओ उन्हीं का भजन करो वेही तुम्हें मुक्ति देंगे। श्री बद्रिकाश्रम में विराजते हैं। इतना सुनते ही घंटाकर्ण दग रह गया। उसका मुँह उतर गया, कान का घटा खोलकर फेंक दिया, अपने किये हुए अपराधों के लिये बहुत पछतावा करने लगा। शिवजी से विदा मांगकर गया और प्रभु से मुक्ति पाने का अभय दान पाया। अब यहाँ समझने की बात है कि जब उसके समान शिवजी का भक्त यदि शिवजी से मुक्ति नहीं पा सका तो दूसरा कोई शिवजी की भक्ति से कैसे मुक्ति पा सकता है ?

जब शिव भक्ति के उच्च शिखर पर चढ़े हुए घण्टाकर्ण को भी श्री उमापति जी मोक्ष नहीं देसके तो दूसरे को कैसे दे सकेंगे। घण्टाकर्ण के समान शिवभक्त तो कोई स्वप्न

में भी नहीं हो सकता है। जब उसको भी मुक्ति मिलने में शिवभक्ति, शिवनाम, भस्म, रुद्राक्ष सहायक नहीं हो सके तो दूसरे को कैसे होंगे ?

यह कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है, इससे यह दृढ़ निश्चय होता है कि जहां-जहां शिवजी की भक्ति से शिव पूजन से, शिवनाम से, जप से, शिव व्रत से, शिव ध्यान से भस्म-रुद्राक्ष से मुक्ति मिलना लिखा है वह सिर्फ प्रशंसावाद है। भगवान श्री विष्णु के बिना दूसरे कोई भी देव मुक्ति नही दे सकते हैं। जब-जब वर देने का प्रसंग आता है तब-तब यह कह देते हैं कि मुक्ति को छोड कर और वर माँगो। श्रीमद्भागवत में मुचकुन्द राजा के प्रसंग में भी यही बात आई है कि मुचकुन्द पर प्रसन्न होकर देवता लोग बोले कि :—

श्लोक—वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्यनः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥

राजन्! मोक्ष को छोड़कर जो तुम्हारी इच्छा हो वह माँगो! इसी तरह शिवजी महाराज ने भी घण्टाकर्ण के प्रसंग में मुक्ति के लिये भगवान के पास उसको भेजा। अतः परमात्मा के बिना मुक्ति देना किसी के हाथ में नहीं है। जहाँ तक जिसका अधिकार है वहाँ तक ही वह दे सकता है। परमपद से बढकर याने मुक्ति से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। उसका मालिक एक सर्वेश्वर के बिना और दूसरा नहीं हो सकता।

यह अकाट्य सिद्धान्त है, अब विचारना यह है कि जिसके हाथ में मुक्ति देना नहीं है, वह भगवान के बराबर कैसे हो सकता है? श्रुतियों में तो यह स्पष्ट ही लिखा है कि जो मुक्ति स्थान है याने परमपद है वह श्री विष्णु भगवान का ही है। उस दिव्य धाम को उनके शरणागत ही पाते हैं :—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

घण्टाकर्ण के प्रसग से यह बात भी अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये कि :—

जो रामेश्वर दर्शन करिहहिं। कुल समेत भवसागर तरिहहि॥

इस चौपाई में जो लिखा है कि जो रामेश्वर का दर्शन करेगा वह कुल समेत भवसागर से तर जायगा। ये भी विलकुल प्रशंसामात्र है। इस पर विश्वास करके रहने वाले जो सज्जन हैं उनको घण्टाकर्ण की कथा याद कर लेनी चाहिए। जब इतने दिनों तक शिवजी की भक्ति में समय विताकर साक्षात् शिवजी से घण्टाकर्ण भी मोक्ष नहीं पा सका तो रामेश्वर के दर्शन मात्र से कुल के साथ कैसे भवसागर से पार उतर सकता है ? यदि रामेश्वर दर्शन मात्र से भव सागर तर जाता तो श्री तुलसीदासजी ऐसा क्यों कहते कि :—

वारि मथे वरु होइ घृत, सिकता तें वरु तेल।
विनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल ॥

फिर भी अपनी गीतावली रामायण में ऐसा क्यों कहते कि :—

ईश न दिनेश न गणेश न धनेश न।
सुरेश सुर गौरी गिरापति न जपने ॥
तुम्हारेहिं नामको भरोसो भव तारिवे को।
उठे वैठे जागत वागत सोये सपने ॥

(कवितावली ७८)

इसका भाव यह हुआ कि श्री तुलसी दासजी कहते हैं कि हे श्री रामजी भवसागर से तरने के लिए हमको तो आपके नाम का ही भरोसा है। स्वप्न में भी दिनेश, गणेश, महेश का भरोसा हम को नहीं है। इस वाक्य से यह मालूम होता है कि श्री तुलसीदासजी ने भी मोक्ष के लिये श्रीसीताराम जी का अवलम्वन छोडकर किसी भी देवता का अवलम्ब नहीं पकड़ा। यदि ऐसा कहो कि फिर वाकी देवताओं की वन्दना क्यों की ? तो इसके वावत अपनी कवितावली रामायण में स्वय श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि :—

लोकपाल, नाकपाल, व्यालपाल, दिक्‌पाल,
देवन कृपाल ! मैं सवै के जी की थाह ली।

कादर को आदर काहू के नाहिं देखियत,
सबनि सुहात है सेवा सुजानि टाहली ॥
तुलसी सुभाय कहै नाहिं कछु पक्षपात,
कौने ईश किये कीस भालु खास माहली ।
राम ही के द्वारे पै बुलाय सनमानियत,
मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काह ली ॥

अर्थात् हे श्री रघुनाथजी ! मैंने जो पहिले दूसरे-दूसरे देवताओं की पुकार की है, सिर्फ इन लोगों के स्वभाव की परीक्षा की है। सब देवताओं के पास गया, परन्तु दीन और गरीबों का आदर कहीं नहीं देखा। मैं पक्षपात करके नहीं कहता हूं। किस देव ने जगत में दीनों का उद्धार किया है? हमारे सरीखे दीन-दुबले कपूतों का सन्मान तो श्री रघुनाथजी के ही द्वार पर होता है। इस कवितावली के पद से स्पष्ट मालूम होता है कि श्री तुलसीदासजी ने प्रीति प्रेम से किसी देवता को नहीं पुकारा। फिर भी आखिरी ग्रन्थ विनय-पत्रिका में सब भक्तों को उपदेश करते हैं कि :—

हरि तजि और भजिये काहि।
नाहि नै है कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि ॥
कनक कशिपु बिरंचि को जन करम मन अरु बात।
सुतहिं दुखवत विधि न बरज्यो काल के घर जात ॥
शंभु सेवक जानि जग बहुबार दिये दस सीस।
करत राम विरोध सो सपनेहुं न हटक्यो ईश ॥
और देवन्ह की कहा कहौं स्वारथ ही के मीत।
कबहु काहु न राखि लियो कोउ शरण गये सभीत ॥

को न सेवत देत सम्पति लोकहू यह रीत।
दास तुलसी दीन पर इक राम ही की प्रीत॥

अर्थात् श्री हरि को छोड़कर और किसी को भजने में कुछ फायदा नहीं है। श्रीरामजी के समान सच्चे दिल से भक्तों पर ममता करने वाला, हर एक समय में दिल से उसका हित चाहने वाला, अपने भक्त पर हृदय से हमदर्दी दिखाने वाला दूसरा कोई देव नही है। देखो! मन, वचन कर्म से हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा जी की भक्ति की। परन्तु ब्रह्मा जी का उसके ऊपर हृदय से जरा भी भीतरी प्रेम नहीं था। क्योंकि प्रहलाद के विरोध से इसका भला नहीं होगा, यह बात ब्रह्माजी को मालूम थी परन्तु एक दिन भी हिरण्यकशिपु को प्रहलाद से विरोध करने में नहीं रोका। इसका कारण यह है कि भीतर से चाहते थे कि इसका नाश हो जाय। इसलिए श्री हरि को छोड़कर ब्रह्मा जी को भजने में कुछ सार नहीं है। फिर कहते हैं—जगत जानता है कि रावण शिवजी का प्रसिद्ध भक्त हुआ। बहुत बार माथा काट के दे दिया और होम कर दिया। जब उसने श्रीरामजी से वैर किया तो शिवजी को भी मालूम था कि श्रीराम जी से वैर करने में इसका भला नहीं होगा। परन्तु स्वप्न में भी किसी दिन शिवजी ने उसे नही बरजा। इसका कारण यह है कि भीतर से शिवजी भी चाहते थे कि इसका नाश हो जाय सो ही अच्छा।

इसकी नजीर यह है कि जब रावण मरा तो शिवजी ने श्रीरामजी की स्तुति करके कहा, हे श्री रघुनाथ जी आपने बहुत अच्छा किया कि इस दुष्ट को मार डाला। इसी तरह हिरण्य-कशिपु के मरने पर ब्रह्माजी ने श्री नरसिंह जी से कहा था। इतना कह श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जब ऐसे-ऐसे भक्तो पर हृदय से इन देवों ने ममता नहीं दिखाई, तो सामान्य भक्तों पर क्या प्रेम कर सकते हैं। इसलिए श्री रघुनाथ जी को छोडकर दूसरे को भजने में फायदा नही है। और भी जो पहिली दशा मे श्री तुलसीदासजी ने दूसरों को शीश नवाया सो अन्त के ग्रन्थ अपनी विनय-पत्रिका में उसके लिए क्षमा माँगते हैं।

"कहा न कियों, कहां न गयों, शीश काहि न नायों।

राम रावरे बिन भये जन, जनमि जनमि जग दुख दसहूं दिसि पायो ।

मूंड़ मारि हिय हारिके हित हेरि फेरि अब चरण शरण तकि आयो ।
दशरथ के समरथ तुही त्रिभुवन यश गायो । ”

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि हे भगवान श्रीराम जी ! अपने उद्धार के लिए मैं कहाँ नहीं गया ? क्या न किया ? किसको-किसको शीश नहीं नवाया ? परन्तु कुछ हमारा फायदा नहीं निकला। आपको छोडकर जो मैं इधर-उधर भटकता फिरा, इसलिये मुझ पर आप का रोष हो गया है, उसे त्याग दीजिए। मैं अब आपके शरण आया हूँ। जब दूसरे को शीश नवाना अनुचित मालूम पड़ा तभी तो क्षमा माँगने की जरूरत पड़ी। इससे प्रशंसा-वाद में प्रथम भले ही कुछ कह सुन दिया किन्तु परिस्थिति किसी भी देव पर उनकी नहीं थी। पीछे खुद ही खण्डन किये हैं।

और जो यह कहा है कि—

“शंकर भजन बिना नर भगति न पावै मोर ।”

यह भी प्रशसावाद ही है क्योंकि प्रियव्रत, अग्निधर, नाभि, ऋषभदेव, भरत, अम्बरीप, शबरी जटायु, प्रहलाद, ध्रुव, गजेन्द्र यही लोग प्रधान भक्तों में गिने गये हैं। इनमें से किसी की जीवनी में ऐसी बातें नहीं आई हैं कि इनमें से कोई भी भगवान की भक्ति छोड़कर शंकर जी का भजन करके भगवान की भक्ति पाई है। जब कि परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सर्वत्र हैं, सब घट २ के जानने वाले हैं। सारे जीव मात्र से उनका पिता पुत्र का सम्बन्ध है। इस बात का ज्ञान जिसको गुरु द्वारा हो गया हो वह पुरुष भगवान को छोड़ दूसरे देवताओं में अपना समय क्यों बिता सकता है। यदि कहें कि यह तो भगवान के वाक्य हैं ! तो क्या भगवान के वाक्य में प्रशसावाद नहीं होता। भगवान भी तो कहीं कहीं मसखरी किया करते हैं। गीता में बोले कि इन्द्र मैं हूँ और गोपों से इन्द्र की पूजा छुड़वा दी। जब आप हीं इन्द्र हैं तो फिर इन्द्र की पूजा छुड़वाने की कौन सी जरूरत थी ? इसी का नाम तो मसखरी है।

पहिले खुद भगवान ही ने अपने मुख से प्रशंसा कर दी और पीछे आपने ही उसको काट दिया। सूर्पणखा से भगवान ने कहा कि हमारा तो विवाह हो गया है। श्री लक्ष्मणजी का नहीं हुआ है। इनसे कर लो। इसीको तो मसखरी कहते हैं। क्या लक्ष्मणजी का विवाह नहीं हुआ था ?

कृत दारोऽस्मि, श्रीमान् अकृत दारश्च !

(वालमीकीय रामायण)

"अहै कुमार मोर लघु भ्राता।"

इन वातों से मालुम पड़ता है कि—"शंकर भजन विना नर, भगति न पावै मोर।" यह भी प्रशंसा मात्र ही है। भगवान ने तो वानरों से कहा कि—'तुम्हरे वल मैं रावण मारा।'

हे वानरो ! तुम्हारे ही वल से मैंने रावण को मारा है। इस बात को कोई सच्चा कव मान सकता है कि श्री रघुनाथजी ने वानरों के ही वल से रावण को जीता, किन्तु आपका स्वभाव है किसी की भी वडाई करना। इसी स्वभाव के अनुसार वह भी कह दिया। यदि ध्रुव, प्रह्लाद, अम्वरीप इन भक्तों की जीवनो में शिव भक्ति करके श्रीराम भक्ति पाना, यह नहीं पाया जाता है तो किस तरह इसको यथार्थवाद मान सकते हैं ? इससे इसको प्रशंसावाद मात्र समझो। लिंग स्थापना के वावत वालमीकीय रामायण में तो नहीं लिखा है। थोड़ी देर के लिए किसी किसी तामस पुराणों से या किसी अन्य रामायण के जरिये मान भी लिया जाय तो इसमें शरणागत की क्या हानि है ? क्योंकि शरणागत तो मुमुक्षु है। उसके लिए शास्त्रों में आज्ञा है कि :—

मुमुक्षवो घोर रूपान्, हित्वा भूतपतीनथ।
नारायण कलाः शान्ता भजन्ति ह्यन सूयवः ॥

मुमुक्षु लोग तो भयंकर रूप वाले व्रह्मा रुद्रादिकों को छोडकर नारायण के शान्त जो श्री राम कृष्णादिक अवतार हैं उन्हीं को भजते हैं। व्रह्म रुद्रादिकों को छोड़कर भगवान के भजने

पर भी वे लोग अनसूयु याने निन्दक नहीं कहाते हैं। जब कि शास्त्रों में मुमुक्षुओं के लिए खुले शब्दों में इतर देवों का त्यागना बताया है तो उन लोगों के लिए लिंग स्थापना की नजीर क्या काम दे सकती है ?

यह बात थोड़े है कि जो जो बात श्रीरामजी किये वही काम उनके भक्त भी किया करें। जब कि जहां तीनों देवों को एक करके बताया जाता है, उस जगह भी यह चेता दिया जाता है कि मुमुक्षुओं का कल्याण तो श्री विष्णु भगवान से ही होगा, नकि ब्रह्म, रुद्रादिक देवों से।

श्रीमद्भागवत बारहवां स्कन्ध आठवां अध्याय में मार्कण्डेय मुनि श्री नर नारायण भगवान से कहते हैं कि :—

तस्मात्तवेह भगवन्नथ तावकानां,
शुक्लां तनुं स्वदयितां कुशला भजन्ति ।
नान्ये नृणां व्यसन मोह भियश्च याभ्याम्

इसका अर्थ यह हुआ कि हे भगवान ! जो शास्त्र-ज्ञान में कुशल मुमुक्षु लोग हैं। उन मुमुक्षु भागवतों के अति प्रिय जो आपका सत्वगुणमय यह श्री नारायण रूप है इसीका सेवन भजन करते हैं और रजोगुण, तमोगुणमय जो ब्रह्मा शंकर हैं उनको नहीं। क्योंकि उन दोनों के भजने से दुख व्यामोह और भय हुआ करता है।

जब कि यहाँ तक शास्त्र डॅटाता है विष्णु भगवान के सिवा दूसरे जो ब्रह्म रुद्र हैं उनके भजन से व्यसन, मोह, भय होता है। इस बात को जानता हुआ मुमुक्ष भगवान को छोड़-कर किस तरह दूसरे देवों में प्रेम करेगा ?

मुमुक्षु शरणागत के लिए तो शास्त्रों में जो रास्ता बताया है उसी पर चलना पडेगा। उसके लिए तो खुले शब्दो में गीता के अन्त में आज्ञा की है कि—

"मामेकं शरण व्रज"। सब "एक" शब्द भगवान ही बताते हैं। तो शरणागत को

दूसरे देवताओं को भजने की गुंजाइश कहाँ है। भगवान को छोड़कर दूसरे देवताओं को भजने वालों को जब कि खुद अपने मुख से ही भगवान नष्ट ज्ञान वाले कहते हैं याने "हृत-ज्ञान" कहते हैं। इस बात को जानता हुआ शरणागत भगवान श्री नन्दनन्दन के चरण कमल को छोड़कर कैसे दूसरे देवताओं का भजन करेगा ?

भगवान तो जहाँ तहाँ नर लीला भी किया करते हैं परन्तु शरणागत के लिए तो जब दूसरे देवताओं को प्रणाम तक के लिए मना किया है—शरणागत को उपदेश-(भारद्वाज संहिता परिशिष्ट अध्याय २ श्लोक ४५ शांक पृष्ठ १४५)

"यजस्व नित्यमात्मेशं मानंसीरन्यदेवताः"।

कि हे शरणागतो ! तुम अपने इष्टदेव श्रीपति का ही सेवन पूजन करना। दूसरे देवताओं को नमस्कार तक नहीं करना, न दूसरे देव का पूजन करना, न स्मरण करना, न उनके गीत गाना, न दूसरे देव का प्रसाद लेना, न दूसरे देवों के तीर्थ जाना इत्यादि।

(भारद्वाज संहिता परिशिष्ट अध्याय २)

वर्जयेदन्यदेवानामालयाद्युपसर्पणम् ॥ श्लोक ३२ पृ० ७७

गीतवादित्रघण्टादिशब्दानां श्रवणं तथा ॥ श्लोक ३३ "

प्रणामं स्पर्शनं सेवां स्मरणं कीर्त्तनं तथा ॥ श्लोक ३५ पृ० ७७

द्रव्याणां भुक्तभोगानां स्वीकारं स्पर्शनं तथा ॥ श्लोक ३४पृ० ७७

(इन श्लोकों के भाव उपर कह चुके हैं) इत्यादि

जब इस तरह से शरणागतों के लिए शास्त्रों में सक्त उपदेश किया है तो फिर अपनी निष्ठा निवाहने वाले शरणागत श्री लक्ष्मीनारायण भगवान को छोड़कर किस तरह दूसरे देवताओं में प्रेम कर सकते हैं।

इसमें लिंग स्थापना की बातें सुनकर शरणागत को भ्रम में नहीं पडना चाहिए। जो जो काम भगवान करेंगे वे भक्त थोड़े ही कर सकते हैं। उसी लिंग स्थापना की कथा जहा आई है वहां लक्ष्मण जी भी तो थे परन्तु उन्होंने पूजा दण्डवत की ? स्थापना की यह कथा

तो कहीं भी नहीं आई है। बहुत लोग कह देते हैं कि मनुष्यों को तो प्रणाम करते हैं फिर देवताओं को प्रणाम करने में क्या हरकत है ? इसका उत्तर हम क्या दें ? मनुष्यों का प्रणाम तो व्यवहारिक होता है परमार्थिक नहीं। जैसे किसी की तरुणी स्त्री किसी के बालक को हृदय से लगा लेती है तो उसके पतिव्रत भंग होने का डर नहीं रहता, परन्तु वही तरुणी स्त्री उस बालक के पिता को हृदय से नहीं लगा सकती है क्योंकि उससे धर्म नष्ट होने का भय है। इसी प्रकार व्यवहारिक मनुष्यो के प्रणाम मे अनन्यता भग शास्त्रों मे नहीं बताया है और शरणागत के लिए भगवान के सिवा किसी दूसरे देवताओं को नमस्कार करना मना किया है। इससे मनुष्यों को व्यवहारिक दण्ड-प्रणाम करने में हानि नहीं है। परन्तु भगवान के सिवा दूसरे देवताओं को नमस्कार करने से जरूर अनन्यता भग होती है।

जो सच्चे शरणागत हैं और शरणागति का स्वरूप समझे हुए हैं, उनके लिए तो एक ही श्रीहरि के सिवा दूसरे देवताओं का भजन, कीर्तन, प्रणाम वगैरह सक्त मना है। और जो नाम मात्र का अपने को शरणागत प्रपन्न कहा करते हैं, और प्रपत्ति विषय को याने शरणागति के स्वरूप को नहीं समझते हैं, उपर से कहा करते हैं कि हम लोग श्री हरि के शरणागत हैं। हमतो श्रीरामजी सरकार के भरोसे हैं। परन्तु शरणागति विषय को यथार्थ न जानने के कारण उस पर दृढता पूर्वक उनकी स्थिति नहीं है। वे ही लोग कछुआ के मुँह के समान कभी भीतर कभी बाहर याने कभी भगवान के तरफ झुकते हैं कभी देवताओ के तरफ झुकते हैं। पक्के शरणागत का कोई शिर भी काटने पर तैयार हो जावे तो भी श्री सीतारामजी के सिवा दूसरे देवों को सिर नहीं झुका सकता।

जैसे श्री प्रहलादजी की निष्ठा भंग करने के वास्ते उनके दुष्ट पिताने क्या-क्या उत्पात नही मचाया ? परन्तु उन महात्मा ने सब दुर्दशा सही तो भी अपनी अनन्यता नहीं छोडी। इसी का फल है कि उनकी कीर्ति अचल हो गई है। दो प्रकार के कर्म भी शास्त्रों में बताये हैं। एक मिश्र दूसरा शुद्ध। "यात्रा विविक्तैः शब्दैस्तु, प्रोच्यते पुरुषोत्तमः।

देवादीनामशुद्धानां व्यामिश्रं तत्प्रचक्षते"॥

(भारद्वाज सहिता अ० १ श्लोक ७६)

याने रजोगुण, तमोगुण, प्रकृति के कारण अशुद्ध जो देवलोग हैं उनके अन्तर्यामी मान-कर जो भगवान की उपासना जिस कर्म से की जाती है उसको मिश्रित कहते हैं। याने बहुत जगह बहुत लोग विधाता, शक्ति, शिव आदिक नाम बोलकर नमस्कार आदि करते हैं और यह कहते हैं कि हमने इस देवता के अन्तर्यामी भगवान को नमस्कार किया।

यह भी साधारण अधिकारियों के लिए एक प्रकार की शास्त्र की शैली है। परन्तु उच्च कोटि के जो अनन्य निष्ठा वाले अधिकारी हैं याने जो अनन्य भगवत् शरणागत लोग हैं उनको तो (मिश्रित कर्म) सक्त मना कर दिया है। उनको तो कह दिया है कि प्रत्यक्ष जहाँ श्रीमन्नारायण भगवान की ही पूजा है उन्हीं को प्रणाम नमस्कार करना चाहिए। जिस नाम के लेने में तुरन्त श्यामसुन्दर की याद आकर गद्गद चित्त हो जाय वही नाम लेना चाहिए। जैसे गोविन्द, मुकुन्द, श्रीनाथजी, श्रीपति, श्रीनन्दकुमार, श्रीरघुवंश विभूषण, श्री सीतापते, श्री जानकी वल्लभ, श्री रंगनाथ, श्री राधारमण ये भगवान के स्पष्ट नाम हैं। कहने का भाव यह हुआ कि जिस मन्दिर में श्री सीताराम जी की ही स्थापना है। वहाँ दूसरे देव की मूर्ति नहीं है वहीं अनन्यों को दर्शन करना चाहिए। प्रकट श्री प्रमोदवन-विहारी की ही सेवा करना चाहिए। जहाँ सिर्फ भगवान ही का कीर्त्तन होता हो वहाँ ही कीर्त्तन करना चाहिए। यद्यपि अनन्त नाम वाले भगवान हैं। विष्णु सहस्र नाम में उनके नाम आदि देव, महादेव, धाता आदि भी कहे हैं परन्तु ये नाम गौण हैं मुख्य नहीं। इससे अनन्य शरणागतों को चाहिए कि कीर्त्तन भी भ्रम कारक नामों का नहीं करें जैसे धाता तथा महादेव नाम सहस्रनाम में भगवान का ही आया है। परन्तु इन नामों में देवतान्तरों का भी भ्रम भरा है। इससे भगवान का भी भ्रमीले नाम छोड़कर अनन्यों को गोविन्द, नारा-यण, श्रीहरि आदि मुख्य ही नामों का कीर्त्तन करना चाहिए।

बालकों का नाम भी भगवान के मुख्य ही नामों में से रखना चाहिए। कन्याओं का नाम भी श्री जी के मुख्य ही नामों में से रखना चाहिए जैसे सीता, जानकी, मैथिली, राधा रुक्मिणी, लक्ष्मी, रंगनायकी, गोदाम्बा इत्यादि। अनन्य शरणागतों को तो किसी देवता

को देखकर उसमें अन्तर्यामी भगवान हैं इस भावना से भी नमस्कार मना है क्यों कि वह तो मिश्र हो गया शुद्ध नहीं। शरणागतों को शास्त्र ऐसा बताता है।

"सद्ब्रह्म वासुदेवाद्यैर्विविक्तैर्यत्र नामभिः।
प्रोच्यते भगवान्विष्णुस्तद्विशुद्धमुदाहृतम्" ॥

(भार० संहिता परिशिष्ठ अध्याय १ श्लोक ७८ पृष्ठ १२४)

जहाँ भ्रम रहित स्पष्ट शब्दों में भगवान ही कह गये हैं उसी को शुद्ध कर्म कहते हैं।

नित्यमर्चाजपध्यानस्नानदानव्रतादिकम्।
विशुद्धमेव कर्त्तव्यमनन्यैर्न विमिश्रितम् ॥ (भा० सं० परि० अ० श्लो० ७७

अनन्य शरणागतों को शास्त्र आज्ञा करता है कि पूजन जप, ध्यान, स्नान, दान, व्रत वगैरह सदा विशुद्ध ही करना चाहिए मिश्र नहीं। सन्ध्या में भी अनन्यों को अपने श्रीपति का ही ध्यान करना चाहिए। व्रत भी भगवान के सिवा दूसरे देवों का नहीं करना चाहिए। यहाँ तक है कि विघ्न निवारण के लिए जैसे ससारी लोग गणेश जी को पूजते हैं, गणेशजी का नाम लेते हैं, गणेशजी का गीत गाते हैं वहाँ अनन्य भागवतों को गणपति का न करके श्री भगवत्पार्षदों में श्रेष्ठ श्री विष्वक्सेन जी का पूजन करना चाहिए भगवान का मांगलिक गीत गाना चाहिए।

श्लोक—आरम्भे कर्मणा सिद्धैय् विघ्नानां प्रशमाय च।
कुर्यात्सपरिवारस्य विश्वक्सेनस्य पूजनम ॥

(भार० सं० परि० अध्याय १ श्लोक ८४)

देवताओं का भजन पूजन भी शास्त्रों की आज्ञा है परन्तु अल्पज्ञ सामान्य अधिकारियों के लिए। देवताओं के अन्तर्यामी मानकर भगवान की सेवा भी शास्त्र की आज्ञा है परन्तु यह साधारण अधिकारियों के लिए है और सब देवों को छोडकर सिर्फ श्री भगवान का पूजन, नमन, स्मरण, ध्यान आदि जो शास्त्रों की आज्ञा है यह उच्च अधिकारी के लिए है। जिसे

इसी जन्म के अन्त में मुक्ति की जरूरत है उन मुमुक्षुओं को तो एक दृढ़ता पकडनी ही पड़ेगी उनके लिए झाड-फूक भी करना कराना मना है।

श्लोक—न विपज्वरभूतादिहरणं स्तम्भनादि च।
नाद्भुतानि तथान्यानि साधयेत्सत्त्वसंश्रये ॥ शांक पृष्ट ६६

(भारद्वाज संहिता न्यासोपदेश चतुर्थ अध्याय श्लोक १०)

यदि कहो कि देवताओं को छोडने या उनका व्रत छोड़ने से देवताओं का द्रोही तो नहीं गिना जायगा ? कही-कही सुनने और देखने में आता है कि शिवजी का द्रोही हो, भगवान को भजे सो प्रभु का प्रिय नहीं होता अथवा यह कहो कि किसी से सुना है कि शंकरजी का प्रिय हो और भगवान से द्रोह करे तथा भगवान का दास हो और शिवजी से द्रोह करे तो उसकी दुर्गति होती है।

यह तो ठीक ही है क्योंकि द्रोह तो देवों से क्या किसी से भी करे तो उसका फल बुरा ही होता है। परन्तु द्रोह किसको कहते है यह बात यहां बहुत विचारने की है। उपासना प्रसंग में जहां-जहां एक निष्ठा करने का उपदेश शास्त्रों में आया है वहां दूसरों को छोडने का भी आया है। जैसे पहिले कह आये हैं कि मुमुक्षुओं को घोर रूप ब्रह्मा, रुद्रादिक को छोड कर भगवान को भजना चाहिये। ऐसा श्री मद्भागवत प्रथम स्कन्ध अध्याय दो में श्री व्यास जी आज्ञा कर आये हैं कि :—

श्लोक—मुमुक्षवो घोररुपान् हित्वा भूतपतीनथ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

जब कि अनन्यता के प्रतिपादन करने वाले शास्त्रो के आधार ही से उसने देवताओं को छोड़ा है और एक निष्ठा पकडी है। तो वह शिव द्रोही या देव द्रोही कैसे हो सकता है। [illegible] यदि अपनी मनमानी करता तो जरूर द्रोही गिना जाता। इससे अनन्य प्रपन्न शरणा-त को कोई शिव द्रोही कहे तो उसके ना समझपने की बात है। द्रोह तो उसको कहते हैं [illegible] अनायास गाली दे कटूक्ति कहे झूठी निन्दा करे नाम सुनते ही जल मरे जैसे शिवजी से

दक्ष ने किया था। जब कि शरणागत को शास्त्र ही हुक्म देता हैं कि—नान्यन्तुपूजयेद्देवं ननमेन्नस्मरेन्नच ॥

अर्थात् अन्यदेवकी पूजा, नमस्कार तथा स्मरण न करे। जब शास्त्रों में ऐसा कहा और उसके अनुसार ही वह करता है तो इसको द्रोह नहीं कह सकते हैं। दूसरे देवों के मन्दिर में न जावे। ऐसा शरणागत को शास्त्र स्पष्ट मना करता है जैसे—(नान्यदायतनंव्रजेत) ऐसा अधिकारी द्रोही कैसे हो सकता है फिर "हरि पूजे सब देवकी पूजा।" जब कि श्री हरि का पूजन करता है तो सारे देव पूजित हो गये फिर वह द्रोही कैसा ? यदि शिवजी आदि को छोड़ने से द्रोही कहावे तो गोविन्द नाम का द्रोही घण्टाकर्ण भी गिना जाता क्योंकि सदा कान में घण्टा बांधे रहता था कि कोई भगवान का नाम लेवे तो वह कान में नहीं आवे। परन्तु उसके आचरण से शिवजी नाराज नहीं हुए न घण्टा ही खोल कर फिकवाया। पक्का शिव प्रिय और गोविन्द द्रोही वह था। उसकी पहिले दुर्गति होनी चाहिये थी फिर और कुछ होता। परन्तु उसका कुछ नहीं हुआ। जब कि मूल श्रीपतिजी के ही नाम को न सुनने के लिए उसने घण्टा बाधा था। उस पर न तो शिवजी ने विचार किया और न भगवान ने ही कहा कि पहिले नरक भोग लो फिर मुक्ति की चरचा चलेगी।

अनन्त ब्रह्माण्ड के मालिक श्री हरि का भजन पूजन करने वाले यदि दूसरे देवों को शास्त्र की आज्ञानुसार त्याग दे तो उसकी इतर गति कैसे हो सकेगी ? यदि कहो कि घण्टाकर्ण विष्णु द्रोही तो था ही फिर क्यों नहीं गिना गया ? इसका कारण यही था कि श्री विष्णु द्रोह से उसका तात्पर्य नहीं था किन्तु शिवजी की अनन्यता से तात्पर्य था। अतः जिसका जो अनन्य होता है सो दूसरों को छोडे बिना पूरा अनन्य नहीं कहा सकता। इसी कारण वह भगवद्रोहियों में नहीं गिना गया।

इसी प्रकार श्री भगवान की अनन्यता के कारण यदि शास्त्राज्ञानुकूल दूसरों को त्याग दिया तो वह कभी द्रोही नहीं कहा सकता, न तो उसकी दुर्गति ही हो सकती। इसलिए इस भ्रम को मूल से छोड देना चाहिए। सोचो कि शिवजी को शास्त्र ऐसा ही कहता है "वैष्णवानां यथा शम्भुः।" याने शिवजी वैष्णवों में श्रेष्ठ हैं। ऐसे भगवद्भक्त हैं कि

सदा अपने सिर पर भगवान का चरणोदक धारण किये रहते हैं इसीसे उनका नाम गंगाधर पड़ा है।

"यच्छौच निःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत:"

(श्रीमद्भागवत स्क० ३ अ० २८)

ध्यातुर्मनःशमलशैल निसृष्ट वज्रम्।
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्॥

याने जिस भगवान के श्री चरण धोंने से निकला जो चरणामृत, वही हुआ नदी श्रेष्ठ गंगा याने उसीको अपने शीशपर धारण करने से शिवजी शिव हो गये। मंगलमय हो गये। ध्यान करने वाले के पाप पर्वत को तोड़ने में [illegible] के समान जो भगवच्चरणारविन्द उनका सदा ध्यान करना चाहिये। इसका भाव यह हुआ कि जैसे कैसा भी विशाल मजबूत पर्वत हो उसपर यदि वज्र गिर जाय तो वह हंड-भंड हो जाता है। उसी प्रकार कैसा भी पाप क्यों न हो यदि भगवान वासुदेव के श्री चरण कमल का ध्यान करे तो जरूर उसका नाश हो जाता है। फिर वे चरणारविन्द कैसे हैं सो कहते हैं। इतने बड़े शिवजी हैं हजारो श्लोकों में जिसकी महिमा है वह भी अपने कल्याण के वास्ते उन श्री चरणारविन्द का धोया जल महान तीर्थ स्वरूप जानकर सदा अपने मस्तक पर धारण किये रहते हैं। जिन चरणों का धोया जल गंगा हुआ। उसको धारण करने से गंगाधर नाम भी आपका हुआ। याने जिस भगवत् चरणामृत से शिवजी भी अपना कल्याण चाहते हैं उस चरणारविन्द का कौन नहीं ध्यान करेगा।

कपिलदेव मुनिने अपने माता से यह कहा है। अहिल्या स्तुति में भी श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि :—

जेहि पग सुर सरिता परम पुनीता, प्रगट भई शिव शीश धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज, मम शिर धरेउ कृपाल हरी॥

कहने का सारांश यह हुआ कि जबतक गंगाधर नाम रहेगा ; तवतक शिवजी के मस्तक पर गंगाजी रहेंगी तब तक कोई भी नहीं कह सकता कि शिवजी भगवान के दास नहीं हैं। याने भगवान से शिवजी बड़े हैं, भगवान ने लिग स्थापना की है, जहां यह कथा आती है वहा शिवजी के तरफ से उसका काट भी आता है जैसे :—

गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥

उक्त चौपाई लिंग स्थापना के आगे की है। उसका अर्थ यह है कि जब भगवान के तरफ से शिवजी ने अपनी बहुत बड़ाई सुनी तो पार्वती से कहते हैं कि हे गिरिजा! यह तो श्री रघुपति का स्वभाव याने रीति सदा से है कि अपने प्रणत पर याने दास पर प्रीति किया करते हैं :—

श्री रघुवीर प्रताप ते सिन्धु तरे पाषाण।
गिरिजा ते नर मंदमति भजहिं जाइ प्रभु आन॥

याने हे पार्वतीजी! श्री रघुवीर के प्रताप से समुद्र में पाषान याने पत्थर भी तरे फिर जो श्री रामजी को छोड़कर और दूसरों को भजते हैं वे मतिमन्द हैं। याने उनमें कम अक्ल है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के महान भक्त शिवजी होते हुए भी घण्टाकर्ण जब विष्णु नाम, गोविन्द नाम सुनकर घण्टा बजा देता था, भगवन्नाम नही सुनना चाहता था तो शिवजी ने उसपर क्रोध नहीं किया। क्योंकि भगवान तो शिवजी के इष्टदेव हैं। तो अपने इष्ट के नाम का द्रोही तो घण्टाकर्ण था ही फिर उसपर प्रसन्न कैसे हो गये? जब कि श्री हरिनाम का वैरी घण्टाकर्ण था और उस पर जरा भी क्रोध नहीं किया गया तो इसका क्या भाव हुआ कि :—

शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक मँह वास॥

यह भगवान का वचन है तो घण्टाकर्ण पर क्यों नही लागू हुआ। जब इतना सक्त है तो

गोविन्द नाम का द्रोह इससे बढ़कर क्या हो सकता है ? कि घण्टा तक कान में बांधा गया परन्तु उसपर शिवजी भी प्रसन्न ही रहे और मुक्ति मांगने गया तो भगवान ने भी उसकी कुछ चर्चा नहीं की। और आज्ञा की कि तुमको मुक्ति दूगा। फिर भगवान के विषय में यदि कोई अनन्य होकर दूसरे देवों के मंदिर न जाय और शिवजी आदि की पूजा न करे, प्रणाम न करे तो शास्त्रों को जानते हुए स्वयं "मामेकं शरणं व्रज" इस उपदेश को कहे हुए भगवान अपने उस अनन्य मुमुक्षु पर कैसे बुरा भाव मानेंगे। गोविन्द नाम के द्रोही घण्टाकर्ण पर जब शिवजी ने बुरा नहीं माना तो क्या भगवान ऐसे भोले हैं कि अपने अनन्य शरणागत को शिव जी वगैरह को नहीं पूजने के कारण अधोगति दे देवेंगे। यह कैसी हँसी की बात है। जब कि अनिरुद्ध का पक्ष लेकर शोणितपुर में जाकर बाणासुर का मानमर्दन किया। साथ ही साथ नर कहते हुए भी जब शिवजी से लडाई करके उनका पराजय किया तो फिर अपने अनन्य शरणागत के उपर कैसे रिस कर सकेंगे ?

इससे इस भ्रम को छोड़कर शरणागत प्रपन्न को सदा अपने अनन्यपने का निर्वाह करना चाहिए और स्वप्न में भी दूसरे देवों का पूजन नमन आदि नहीं करना चाहिए।

जो सामान्य लोग हैं देवतान्तर पूजने वाले वे चाहें तो अनन्य बन सकते हैं। परन्तु अनन्य भागवत तो दूसरे देवों का यदि नमन भी करें तो उसको महापाप लगता है। जैसे गृहस्थ संन्यासी हो सकता है। परन्तु सन्यासी यदि पीछे पाँव धरके गृहस्थाश्रम का कर्म करे तो उसकी दुर्गति होगी। क्योंकि आश्रम में, उपासना में आगे बढ़ने की तो विधि है किन्तु पीछे लौटने की नहीं। सन्यासी जैसे गृहस्थाश्रम के कर्मों को छोड़ देता है और उससे दोषी नहीं गिना जाता उसी तरह अनन्य शरणागत दूसरे देवों को दूसरे अवलम्बों को छोड़ने से दोषी नहीं कहाता है।

अज्ञानी लोग तो कहते हैं कि दूसरों को त्यागने से दोष होता है। परन्तु शास्त्र तो कहता है कि यदि शरणागत दूसरे को प्रणाम नमन तक भी करे तो उसको प्रायश्चित लगता है।

भजने चान्यदेवानामपचारे च शार्ङ्गिणः ।
वैयूहीं परमां वापि कुर्याच्छांति विशुद्धये ॥
(भारद्वाज स० परि० अ० २ श्लो० ७० शांक पृष्ट १५२)

याने यदि भ्रम से श्री हरि का शरणागत दूसरे देव को नमस्कार करले कीर्त्तन करले या पूजन कर ले तो उसको प्रायश्चित करना चाहिए उसकी शान्ति करनी चाहिए। और यदि शरणागत दूसरे देव का प्रसाद स्पर्श कर ले या भ्रम से खा ले तो प्रायश्चित रूप में पार्षद श्री विष्वकसेन का पूजन करके शान्ति करे। (भार० स० परि० अ० २ श्लोक ७६ शांक पृष्ट १५३)

देवतान्तरशेषन्तु भुक्त्वा स्पृष्ट्वापि वा पुनः ।
वैष्वक्सेनीं क्रियां कृत्वा तच्छेषं प्राश्यशुद्ध्यति ॥

और सुनो ! शरणागत को यदि भगवान की शरणागति छोडकर मन में कर्मादिक का अवलम्ब आवे तो शरणागति निष्ठा भग हो जाती है फिर प्रायश्चित करे तो शरणागति सुधरती है। उसके लिए फिर हाथ जोड़कर शरणागति कर लेना यही प्रायश्चित है ऐसा लक्ष्मी तंत्र में लिखा है। श्लोक यह है—

उपायापाय संयोगे निष्ठया हीयते ऽनया ।
उपाय संप्लवे भूयः प्रायश्चित मथा चरेत ॥
प्रायश्चित्तिरियं तस्य यत्पुनः शरणं व्रजेत ॥

इनका अर्थ हो चुका है इससे शरणागत को दूसरे देवों की भक्ति तथा उपायान्तर का अवलम्ब जड़ी मूल से त्याग देना चाहिए। क्यों कि स्वरूप और परलोक के बाधक हैं। शास्त्र कहता है कि गुरु से शरणागति मत्र लेकर भी जो अन्य देवों में लगा हुआ है; भगवान का अनन्य नहीं होता है उसकी भागवतों में गिनती नहीं हो सकती।

यस्तु प्राप्य गुरोर्विद्यां नार्चयेत्पुरुषोत्तमम् ।
प्रणमेदन्यदेवाय न स भागवतः स्मृतः ॥
(भा० स० परिशि० अध्या० १ श्लोक ४६)

इसका भाव ऊपर कह चुके हैं। यहाँ तक प्रपन्न को याने भगवान के शरणागत को आज्ञा है कि जिसके घर में स्पष्ट भगवान की पूजा न हो और दूसरे देवों की पूजा होती हो। वह चाहे वेदान्त का वक्ता ज्ञाता क्यों न हो परन्तु उसके घर का कुछ भी नहीं खाना चाहिए।

गृहे यस्यान्यदेवार्चा व्यक्तो न च जनार्दनः।
न तस्य किञ्जिदश्नीयादपि वेदान्तवेदिनः॥

(भार० स० न्यासो० अध्याय ४ श्लोक २१)

इस श्लोक का भाव उपर कह चुके हैं।

वर्जयेदन्यदेवानामालयाद्युपसर्पणम्।
तथा गोपुरहर्म्यार्च्चायानास्त्राद्यवलोकनम्॥
गीतवादित्रघंटादिशब्दानां श्रवणं तथा।
कर्माणि च समस्तानि वाह्यान्याभ्यन्तराणि च॥

(भार० सं० न्यासो० चतुर्थ अ १ श्लोक २२, २३ शांक पृष्ट ७७)

इन दोनों श्लोकों का भाव यह हुआ कि मुमुक्षु भगवच्छरणागतों को चाहिए कि भगवान के सिवा दूसरे देवों के मन्दिर में न जावें। तथा अन्य देवों के गोपुर, कोठा, सवारी, प्रतिमा, अस्त्र आदि के दर्शन न करें। श्री पति के सिवा दूसरे देवों का गीत भी नहीं सुनें, दूसरे देवों के उत्सवार्थ जो वाजा वजता हो घंटा नाद होता हो उसको खुद चाहना करके सुनने न जावें। श्री राधारमण के अतिरिक्त दूसरे देवों को प्रणाम न करें। श्री मुरलीधर के अतिरिक्त दूसरे देवों का स्पर्श भी न करें। श्रीरामजी को छोडकर दूसरों का कीर्तन भी न करें। श्री लक्ष्मीकान्त के विना दूसरे देवों का स्मरण भी न करें।

अन्येषां त्रिदशादीनां स्तुतीर्मन्त्रांश्च वर्जयेत्।
निबन्धनं गुणादीनां निबन्धांश्चान्यचेतसाम्॥

(भार० स० न्यासो० अध्याय ४ श्लोक २४ शांक पृष्ठ ७४)

भाव यह है कि भगवान के सिवा अन्य देवों की स्तुति भी न करे। इतर देवों का मन्त्र न जपे। इतरदेवों की जहाँ बड़ाई है उस ग्रन्थ को भी नहीं सुने। अन्य देवों के जो भक्त हैं या अन्य देवों के साथ जो भगवान को मानने वाले हैं उन लोगों से बनाया हुआ, रचा हुआ भगवान का चरित्र भी न देखे न सुने, क्योंकि मदिरा बेचने वाले के घर का दूध भी अशुद्ध गिना जाता है। उसी तरह जो अनन्य लोग नहीं हैं। वे लोग यदि ग्रन्थ भी रचेंगे तो उसमें घोल-मोल किये बिना नहीं रह सकते हैं। उसको पढ़ने सुनने से शरणागत को भ्रम पैदा होगा।

जिस पुराण, स्मृति, उपनिषद् में श्री वासुदेव के सिवा वृथा सामान्य देवों की प्रशंसा है या भगवान श्री जानकी नाथ के सिवा दूसरे देवों का परत्व वर्णन है। या श्रीमन्नारायण के सिवा दूसरे देवों को मिथ्या ही भगवान कहके पुकारा है। उस अंश को राजस तामस समझना चहिए। चाहे वेद हो स्मृति हो, या इतिहास हो, पुराण हो या कोई भाषा ग्रन्थ ही हो जहाँ भी श्रीनाथजी के सिवा, श्री लक्ष्मीपति के सिवा दूसरों को परमात्मा बताया हो उसको राजस, तामस, मिथ्यावाद, अर्थवाद और प्रशसावाद मानकर हृदय से आदर नहीं देना चाहिए। इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि वेद, इतिहास पुराण स्मृति में मिथ्या कैसे हो सकता है। पहिले ही कहचुके हैं कि वेद से लेकर साधारण ग्रन्थ तक में प्रशसावाद यथार्थवाद दोनो जहाँ-तहाँ रहते हैं। सो जहाँ भी श्री रुक्मिणीरमण को छोड़कर दूसरों की बड़ाई परत्व आवे उसको जरूर प्रशंसावाद मानकर हृदय में भूलकर भी स्थान नहीं देना चाहिए-।

नाद्रियेत पुराणादीन् राजसांस्तामसांस्तथा।
अनीशानां परेशत्वं वृथा यत्रोपवर्ण्यते॥

(भार० सं० न्यासो० अध्या० ४ श्लोक २२)

इसीका भाव उपर कह आये हैं। और भी सुनो! जो सच्चे मुमुक्षु हैं; भगवान के शरणगत हैं याने प्रपन्न हैं उनके लिए ऐसा भी उपदेश है कि किसी को सर्प, बिच्छू, बैंया आदि जहरीले जन्तु काट खावें तो स्वय मंत्रों द्वारा उसकी झाड़-फूँक न करे। स्वयं अपने को भी काट खावे तो दूसरो से तत्तत् मन्त्रो के जरिये झाड़-फूँक न करावे। किसी को

बुखार आजावे या अपने को भयानक से भी भयानक ज्वर आजावे तो भी मंत्रो से झाड़-फूँक न करे न करावे या मंत्रों द्वारा भूत-प्रेत पिशाचों का भी छुडाना छुडवाना न करे। मारन, मोहन, उच्चाटन वगैरह क्रियाओं को भी कभी न करे। और भी जादू वगैरह के चमत्कारों को न करे।

न विषज्वरभूतादिहरणं स्तम्भनादि च।
नाद्भुतानि तथान्यानि साधयेत्सत्त्वसंश्रयः॥

(भार० सं० शरणागतोपदेश अध्याय ४ श्लोक १०)

इस श्लोक का अर्थ उपर समझा चुके हैं। औषधि से सर्प आदि का जहर उतारने में हानि नही है। तरकीब से भूत भगा देने में हानि नहीं है परन्तु मंत्रों द्वारा तो मनाई है। क्योंकि उसको निष्ठा भजक बताया है। शरणागति मीमांसा में इस प्रकार शरणागत प्रपन्न की लक्षणा की है—

"अदृष्ट द्वारक फल साधन गोचर प्रवृत्यनर्हत्वं प्रपन्नत्वम्"।

अर्थात् जिस बात के करने से एक अदृष्ट पुण्य उत्पन्न होता है उस पुण्य के जरिये जो रक्षा रूप फल होता है उसको जो न करे उसीको प्रपन्न याने पक्का शरणागत कहते हैं। जैसे किसी को बिच्छू ने काट खाया उसको मन्त्र से झाड़ दिया उस मन्त्र से एक अदृष्ट याने सुकृत उत्पन्न हुआ उसके द्वारा जहर उतरा।

ऐसे साधन की प्रवृत्ति जो नहीं करते हैं वे प्रपन्न कहा सकते हैं। और यदि वहाँ दवा लगा दी तो दवा ने खुद असर करके काम किया। उस दवा से कोई अदृष्ट याने पुण्य उत्पन्न होकर उस दुःख को नही छुडाया।

इससे शरणागत भागवतों को याने प्रपन्नों को झाड़-फूंक करना-कराना भी उसके स्वरूप से याने निष्ठा से भंग कराने का कारण बन सकता है इससे इसको भी जरूर त्याग देना चाहिये। यदि कहो कि मन्त्र कराये बिना मर जावे तो क्या करना चाहिये? सुनो! यदि मर जाना ही उसके कर्म में लिखा होगा तो खुद धन्वन्तरि भगवान भी आकर लाख मन्त्र-तंत्र करें तो भी

मरने से नही बचा सकेंगे। जीने को होगा कुछ उमर होगी तो औषधि से भी आराम हो सकेगा।

भगवान का सकल्प जिसके लिए जितने दिन मरने जीने का हो चुका है उसमें तो राई बराबर कोई भी घटा बढा नही सकेगा। इस मरण-जीवन की कथा तो वडी विचित्र है।

साराश यह हुआ कि शरणागत को अकिंचन और अनन्य गति होकर रहने से ही शरणागति इसी जन्म के अन्त मे मोक्ष रूप परमपद याने जन्म-मरण के चक्र से रहित हो जाना इत्यादि फल को दे सकेगी। यदि अकिंचन और अनन्य गति होकर नहीं रहेगा तो इस जन्म के अन्त में ही मुक्ति रूपी फल उसको नहीं मिल सकेगा। अकिंचन किसको कहते हैं सो पहिले समझा चुके हैं। अब अनन्य गति का प्रसंग चला हुआ है याने भगवान के सिवाय जब किसी देव में रक्षकपना नहीं मानेगा तभी पक्का शरणागत हो सकता है। अन्य देवों में रक्षकपना क्यों नहीं मानना चाहिये? इस बात को अनेक प्रसंगों से दिखा रहे हैं। देवों का अधिकार कितना है, कहां तक है जब यह यथावत मालूम हो जावेगा तो आप ही आप सर्वो से रक्षकपना हटकर खुद श्रीपति भगवान में रक्षकपने का विश्वास हो जावेगा। इसी लिए देवों के बावत शास्त्रों में जो प्रशंसावाद और यथार्थवाद कहा है उसपर विचार करते-करते शिवजी महाराज के बावत भी मीमासा करनी पडी। जब कि ससार सागर से पार करने में, मुक्ति देने में सभी देव असमर्थ हैं तो मुक्ति की खोज में लगा हुआ जो मुमुक्षु है वह मुक्तिनाथ भगवान को छोडकर दूसरे देवों में अपना समय क्यों वितावेगा। जब कि शास्त्र खुले शब्दों में कहता है कि जो श्रीपति को छोडकर ससार सागर तैरने के लिए दूसरे देवों का भजन करता है वह मानो कुत्ते की पूछ पकडकर समुद्र तैरना चाहता है। भगवान के सिवा जो दूसरे से अपना भला चाहता है वह मूर्ख है।

अविस्मितं तं परिपूर्ण कामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोप सर्पत्य परं हि वालिशः श्वलांगुलेनाऽति तितर्ति सिन्धुम्।

इसका अर्थ उपर दे चुके हैं। स्वयं श्री तुलसीदासजी महाराज अपनी रामायण में कहते हैं कि :—

जा संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिये दस माथ।
सोइ सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥

याने दस माथ लेने के वाद रावण को जो सम्पत्ति शिवजी महाराज ने दी थी वही सम्पदा विभीपण भक्त को श्री रघुनाथजी ने सकुच कर दिया।

अस प्रभुछाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पशु विन पूँछ विषाना।

ऐसे श्री रघुनाथजी को छोड़कर जो मनुष्य शिवजी आदि को भजते हैं वे विना सिंग पूंछ के पशु हैं। यह श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि :—

जब तब राम कृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥

याने जब भव वंधन का दुख जावेगा तव राम कृपा से ही जावेगा। भव वन्धन से छूटने के लिये कोई भी दूसरा उपाय नही है आदि :—

को करि कोटिक कामना पूजे बहुदेव।
तुलसिदास तेहि सेइय शंकर जेहि सेव ॥
सुर स्वारथी अनीस अलायक निठुर दया चित्त नाहीं।
जाऊँ कहाँ को विपति निवारक भव तारक जगमाहीं ॥

याने सुर जो हैं सो स्वार्थी हैं हमारे मनोरथ पूर्ण करने में असमर्थ हैं। लायक भी नहीं हैं बड़े निठुर हैं। उनलोगों के चित्त में दया नहीं हैं। श्री रघुनाथजी चरण-कमल को छोड़कर भवतारक कोई भी नहीं दिखता है। इससे विपत्ति निवारण के लिये श्री सीतारामजी को छोड़-कर मैं कहीं नही जाऊँगा। और भी कहते हैं कि :—

भली भांति पहिचाने साहेब जहाँ लौं जग,
जूड़े होत थोरे ही नरम अरु थोरे ही गरम।

प्रीत न नवीन नीति-हीन, रीत के मलीन,
मायाधीन सब किये काल हू करम ॥
दानव दनुज बड़े, महा मूढ़ मूड़ चढ़े,
जीते लोक नाथ, नाथ बलनिभरन ।
रीझि रीझि दिये बर, खीझि खीझि घाले घर,
आपने निवाजे की न काहू को शरम ॥

याने श्री रामजी से तुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो ! हमने सब देवों की भली भाति पहिचान कर ली, थोडे में ये तो प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े मे हीं क्रोधित हो जाते हैं अपने भक्तो को रीझ रीझ कर बर देते हैं और खीझ-खीझ कर नाश करते हैं। हमारे भक्त हैं हमारे भजन में ही इन्होंने अपनी जिन्दगी बिताई है। हमहीं से वर पाकर चढे हैं इनके नाश होने में हम को शोक होना चाहिए। यह बिचार न करके उनके नाश में खुशी मनाते हैं। हमने इनको वर देकर वढाया है। हमको ऐसा नहीं करना चाहिये इस बात की शरम किसी को नही है। हे श्री रामजी आप ही एक ऐसे हैं कि :—

कैसे हु पामर पातकी जो लही नाम की ओट ।
गाँठी बाँधी रामसों, परख्यो न फेर खरखोट ॥

याने हे प्यारे कैसा भी पातकी क्यों न हो जो आपके नाम की ओट पकड़ता है, उसको कुछ न विचार करके स्वीकार करना ही जानते हैं। इससे आप ही की शरण पकडने में हमारा सब भाति से कल्याण है। फिर कहते हैं कि प्रभुकी माया ऐसी है कि :—

शिव विरंचि कँह मोहई, को है बपुरा आन ।
अस विचारिके भजहि मुनि, माया-पति भगवान ॥

याने ब्रह्मा शिव को भी भगवान की माया मोहित कर देती है। फिर दूसरा क्या चीज है। इसीसे समझदार लोग माया-पति जो भगवान है उन्हीं को भजते हैं इत्यादि अनेक प्रसगों

से यही मालूम होता है कि विना श्री रघुनाथजी के शरण में भये इस जीव का स्वप्न में भी कल्याण नहीं है। यदि कहो पहिले सुन चुका हूँ कि शिवजी महाराज वैष्णवों में श्रेष्ठ हैं साधारण वैष्णव की भी सेवा पूजा की जाती है तो फिर शिवजी महाराज से इतना बचाव क्यों किया जाता है ?

सुनो ! सभी बातें शास्त्रों से ही जानी जाती हैं। भक्ति का प्रसग भी शास्त्रों से ही सुनने-जानने में आता है। इसी तरह से शास्त्रों में ही लिखा है कि मुमुक्षुओं को ब्रह्मा रुद्रादिकों को छोड़कर सिर्फ भगवान की ही भक्ति करनी चाहिये। लिखा तो है कि शिवजी वैष्णवों में बड़े हैं परन्तु जब वैष्णवो का लक्षण मिलाते हैं तो उनमें नहीं मिलता है। वैष्णवों का लक्षण पद्मपुराण में ऐसा लिखा है :—

ये कण्ठ लग्न तुलसी नलिनाक्ष माला,
ये बाहुमूल परिचिह्नित शंख चक्राः।
ये वा ललाट पटले लसदूर्ध्वपुण्ड्राः,
ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्र यन्ति ॥

याने जिसके गले में तुलसी और कमलाक्ष की माला हो, बाहुमूल में शंखचक्र के चिन्ह हो, जिसके ललाट में उर्ध्वपुण्ड्र तिलक हो वे वैष्णव कहे जाते हैं। जहां वे विराजते हैं वहां की जमीन पवित्र हो जाती है। यह लक्षण कहीं भी शिवजी के स्वरूप वर्णन में नहीं आता है ऐसे लक्षणों से युक्त यदि कहीं शिवजी की मूर्ति हो उसको प्रणाम करने की मनाई नहीं है। परन्तु सारे जगत में जितने भी शिवजी के मन्दिर हैं कहीं भी ऐसे वैष्णव वेप युक्त शिवजी का विग्रह देखने में नहीं आता। इसी कारण से अनन्य लोग प्रणाम नमस्कार नहीं करते हैं। आज कहीं भी वैष्णव वेप से शिवजी महाराज मिले तो किसी प्रकार भी विचार नहीं किया जा सकता है। यदि कहो कि जब वैष्णवों में श्रेष्ठ शिवजी हैं ऐसा शास्त्र कहता है तो फिर उनका वैष्णव वेप क्यों नहीं है ? इसकी एक कथा है सो सुनो :—

एक समय शिवजी वैष्णवों की महिमा श्री पार्वतीजी से सुनाते थे। पार्वतीजी ने पूछा कि

वष्णवों का लक्षण क्या है ? तो वैष्णवों के जो लक्षण हम ऊपर कह चुके हैं वही लक्षण शिवजी ने पार्वती जीसे बताया फिर शिवजी ने कहा कि मैं भी वैष्णव हूं। पश्चात शिवजी ने फिर कहा कि वैष्णवों को पाखण्ड से दूर रहना चाहिए। इस पर पार्वतीजी ने पूछा कि पाखंड वेष का क्या लक्षण है ?

शिवजी महाराज ने जिस वेष को धारण किया था उसीको पाखड वेप बताया। फिर पार्वतीजी ने पूछा कि महाराज ! यदि ऐसा है तो आपने वैष्णव वेष न रखकर ऐसा पाखंड वेष क्यों रखा ? इतना सुनकर शिवजी बोले कि हे देवी ! इसमें एक गुप्त बात है सो कहता हूँ सुनो :—

एक बार नमुचि आदिक राक्षसों ने मिलकर विचार किया कि बल में तो मुनियों से हम लोग सब प्रकार से बड़े हैं परन्तु श्राप आशिर्वाद की शक्ति हम लोगों में नहीं है। इसका कारण क्या है ?

विचार कर सिद्ध किया कि शायद वैष्णव वेष धारण करने से मुनियों में श्राप और आशिर्वाद की शक्ति हो गई हो। फिर हमलोग भी वैसा ही वैष्णव वेष क्यों न धारण कर लें ? इतना विचार करके उन सब राक्षसों ने मुनि वेष धारण कर लिया। अब यह नहीं पहचान हो सका कि कौन राक्षस और कौन मुनि है ? वैष्णवों का वेष तो राक्षसों ने धर ही लिया। परन्तु वैष्णवों का आचरण उनमें नहीं आया। पर स्त्रियों का हरण करना, माँस भक्षण करना, मदिरा पान करना, दूसरों के मालपर आक्रमण करना, उद्दण्डता करना इत्यादि कुलक्षण उनमें ज्यों के त्यों ही बने रहे। तिलक माला धारण करके भी वे लोग निषिद्ध काम करते थे इससे यह प्रसिद्ध होने लगा कि वैष्णव लोग भी शास्त्र विरुद्ध अनुष्ठान करते हैं। यह नहीं मालूम होता था कि राक्षस कौन हैं और वैष्णव कौन हैं ? अब इसकी जरूरत पड़ी कि या तो वे लोग कुचाल छोड दें अथवा वैष्णव वेष छोड दें। परन्तु वे लोग जबर्दस्त थे उनको कहे कौन, फिर देवता मुनि लोगों ने भगवान से निवेदन किया।

हे पार्वती जी ! भगवान ने हमसे कहा कि हे शिवजी ! इन राक्षसों की कुचाल तो

न छुट सकेगी और तिलक करके, वैष्णव वेप धारण करके ऊटपटांग करने से वैष्णवता की निन्दा होती है। इससे किसी उपाय से आप इनका वैष्णव वेप छुडा दीजिए। आप स्वयं उट पटांग वेप धारण कर लीजिए। आपके ऊपर इन लोगों की वडी श्रद्धा है। जब वे लोग पूछें कि आपने ऐसा वेप धारण क्यों किया ? तो आप वैष्णव वेप की और विष्णु की घोर निन्दा कीजिए और कहिए कि चिता की भस्म लगाना मुण्ड माल पहिनना इससे वढ़कर कोई वेष नहीं है। जब ऐसा आप कहेंगे और वैसे ही वेप धारण कर लेंगे तो उन लोगों को यथार्थ जॅच जायगा कि जो शिवजी करते हैं वही सच है। इस पर वे लोग झट वैष्णव वेप छोड़ देंगे। असुर और सुर मुनियों का विभाग पूर्ववत हो जायगा।

हे पार्वती जी ! इस प्रकार जब भगवान के मुख से मैंने सुना तो घवडाकर कहा कि हे नाथ ! आप की और वैष्णव वेप की निन्दा करने से हमको घोर अपराध लगेगा उसकी शान्ति कैसे होगी ? इतना सुनकर प्रभु ने आज्ञा की कि आप मेरा नाम जपते रहिएगा आपको कुछ भी अपराध नहीं लगेगा।

हे पार्वती जी ! इस प्रकार हमको आज्ञा करके भगवान अन्तर्ध्यान हो गये। भगवान की आज्ञा मानकर मैंने भी वैष्णव वेप छोड़कर पाखण्ड वेप धारण कर लिया। हे देवी जी ! जब मैंने ऐसा वेप धारण किया तो नमुच आदिक राक्षस लोगों ने भी वैष्णव वेप छोड़ दिया और झट पाखंड वेप धारण कर लिया। मैं इस दोप को मिटाने के लिए भगवन्नाम का जप किया करता हूँ।

हे पार्वती जी ! प्रसंग वश मुझे यह कहना पड़ा है। परन्तु यह गुप्त रखने की वात है। सिर्फ मुनि और असुर विभाग करने के लिए ही ऐसा करना पड़ा है। यथार्थ में तो हमारा वैष्णव वेप ही है। हे पार्वती जी ! यह वेप सात्विक मुमुक्षुओं के लिए अपूज्य तथा अनुपास्य है।

इतनी कथा सुनकर पार्वती जी का संदेह दूर हो गया। आगे दूसरा प्रसंग सुनने लगी उक्त कथा प्रसंग के श्लोक नीचे दिये जाते हैं :—

(पद्म पुराण उ० ख० अध्या० २३५ उमा महेश्वर संवाद)

श्री महादेव उवाच—

इत्या कर्ण्य हरि वाक्यं देवानांच भयानकम् ।
तान्स मा श्वास्य दिक्पालान् मामाह पुरुषोत्तमः॥

श्री भगवान उवाच—

त्वं हि रुद्र महाबाहो । मोहनार्थे सुरद्विषाम् ।
पाखण्डाचरणं धर्मं कुरुष्व सुर सत्तम ॥
तामसानि पुराणानि कथयस्वच तान्प्रति ।
मोहनानि च शास्त्राणि कुरुष्व च महामते ॥

इत्यारम्य—

भस्मास्थि धारणिः सर्वे भविष्यन्ति ह्यचेतसः ।
त्वां परत्वेन वक्ष्यन्ति सर्व शास्त्रेषु तामसाः ॥
तेषांमत मधिष्ठाय सर्वेदैत्याः सनातनाः ।
भवेयुस्ते मद्विमुखाः क्षणा देव न संशयः ॥
अहमप्यव तारेषु त्वाञ्चा रुद्र महाबल ।
तामसानां मोहनार्थं पूजयामि युगे-युगे ॥
तच्छुत्वाहं यथोक्तं तु वासुदेवेन भामिनि ।
सुमहद्दीन वदनो बभूवात्र बरानने ॥
नमस्कृत्वाथ तं देवमब्रुवं परमेश्वरम् ।
त्वयो यदि मिदं देव करोमि यदि भूतले ॥
तत्तु नाशाय मे नाथ । भविष्यतिन संशयः ।

एव मुक्तो ततो देवी । समाश्वास्य च मां पुनः ।
आत्मनाशाय ते नात्र भवत्वित्याह मां हरिः ॥
दत्तवान् कृपया मह्य मात्मनाम सहस्त्रकम् ।
षडाक्षरं हमामन्त्रं तारकं ब्रह्मउच्यते ॥ इत्यादि

इसी कारण से सात्विक मुमुक्षु लोग शिवजी की उपासना नहीं करते जैसे रजस्वला अवस्था में माता का भी पूजन दर्शन पुत्र के लिए शास्त्र से मना होने के कारण छोड़ना होता है। उसी प्रकार वैष्णव वेष रहित शिवजी का दर्शन वगैरह सात्विक मुमुक्षुओं के लिए सात्विक शास्त्रों से मना होने के कारण छोड़ना होता है। इससे किसी प्रकार का भी वह दोषी नहीं हो सकता।

कोई-कोई ऐसे ढीठ-स्वभाव, उद्दण्ड-प्रकृति के होते हैं कि जब अपने मन के प्रतिकूल बहुत प्रमाण सुनते हैं तो कह देते हैं कि मिलाया हुआ है। परन्तु जो जगत भर में प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं उनके प्रमाणों को मिलाये हुए कह देना कितनी ढिठाई है। यदि पूछा जाय कि क्यों मिलाया गया, कब मिलाया गया, किसने मिलाया ? तो इसका कुछ जवाब ही नही मिलता। फिर पूछा जाय कि यदि मिलाया है तो परम्परा से ग्रन्थों में चला क्यों आ रहा है ? इसको हटा क्यों न दिया ? सारे जगत भर के ग्रन्थों में क्यो इसको आदर दे रखा है ? तो चुप रह जाते हैं। हमको तो इन प्रपञ्चों से जरूरत नही है। क्यों कि इस बात से तो किसी विषय का निर्णय कोई कर ही नही सकता है। जब जबानी ही कह कर निर्णय कर देगा तो चाहे जिस विषय को मिलावट कहकर हटा सकता है। इसी पर तो हजारों मत मतान्तर चल रहे हैं।

हम तो अपने में आस्तिकता और मुमुक्षता देखना चाहते हैं। वाद-विवाद में समय बिताना ठीक नही। इसी जन्म में भगवान से मिलना हो जाय, इसी जन्म के अन्त मे मुक्ति याने परम धाम भी मिल जाय। जन्म मरण चक्र से बारंबार ग्लानि हो गई है। संसार दुःखों से तथा अनित्य बन्धुओं से बार-बार घबड़ा रहे हैं। अपना सच्चा बन्धु कौन है ?

उसका स्वभाव कैसा है ? वह जल्दी कैसे मिलता है ? इस बात की खोज में हैं। अनेक शास्त्र हैं, थोड़ा टाइम है, अनेक विघ्न हैं उमर बहुत थोडी है। इससे शास्त्रों का सारांश क्या है ; जल्दी कैसे सच्चे पिता—भगवान श्रीपति मिल जावें और जन्म-मरण चक्र से शीघ्र निकलने का शास्त्रों में सबसे सीधा उपाय कौन है ? इसी प्रसंग को हमें लेना है। शरणागति से बढकर जल्दी इसी जन्म के अन्त में भगवान के मिलने का अन्य कोई भी सीधा उपाय शास्त्र में नहीं है।

भगवच्छरणागत को यह बात ध्यान में रखना चाहिए। अकिंचन और अनन्य गति अवश्य होना चाहिए। इसी प्रसंग में पीछे अकिंचन किसको कहते हैं सो कह चुके हैं और अनन्य गति क्या है। उसको कहते हैं—जिसको किसी देवतान्तर आदि में रक्षकपना न रह जाय भगवान के बराबर कृपालु कोई नहीं है। इससे सबका अवलम्ब छोड़कर एक श्रीपति का ही आश्रय शरणागत को पकड़ना चाहिये। इसी प्रसंग में कहा गया है कि इन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा, शिव आदि देवों की प्रशंसा हद से ज्यादा शास्त्रों में आई है। कहीं ऐसा न हो कि उसमें पड़कर शरणागति से नष्ट भ्रष्ट हो जाय। इसी से यह समझाया गया कि देवों की जो प्रशंसा है सो प्रशंसा मात्र ही है। मौके पर ये देव गण कोई भी काम नहीं देते हैं। एक लक्ष्मीपति ही ऐसे हैं कि जिनके पास कैसा ही पामार-पातकी, अनाथ, दीन जावे उसका बेड़ा पार लगा ही देते हैं। इससे सभी देवों को छोड़कर जो एक श्रीहरि को ही पकड़ेगा उसका बेड़ा जल्दी पार लग जावेगा। शिवजी महाराज का अनन्य लोग इन्हीं कारणों से उपासना नहीं करते हैं

यदि ऐसा कहो कि शास्त्रों में देवों को भगवान का तनु याने शरीर बताया है और अमुक देव के पूजने से अमुक फल मिलता है। यह भी शास्त्रों में बताया है। इसके अनुसार देवों की पूजा तो भगवान की ही पूजा हुई। और देवों के जरिये जो कुछ फल मिला सो मानो भगवान का ही दिया हुआ है। फिर देवों के पूजने में और देवों के दिये हुए फल से कौनसी हानि है।

सुनो भाई। भगवान गीता में कहते हैं कि—

कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञानाः प्रपद्यन्ते ऽन्यदेवताः ।
तं तं नियम मास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! कामनाओ से जिसका ज्ञान नष्ट हो जाता है सो हमको छोड़कर दूसरे देवताओं को भजते हैं ।

यो यो यां यां तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेवं विदधाम्यहम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! शास्त्रो में देवताओं को हमारा शरीर बताया है । इससे जो भक्त जिस देव को श्रद्धा से पूजना चाहता है उसकी उसी देव मे अचल श्रद्धा मैं देता हूँ ।

स तया श्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेध साम् ।
देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्तायान्ति मामपि ॥

हे अर्जुन ! वह भक्त उस श्रद्धा से उस देवता का आराधन करता है । उस देव से हमारी अज्ञानुसार फल भी पाता है । हे अर्जुन ! यद्यपि देवता लोग हमारे शरीर कहे गये हैं परन्तु देवों की सेवा से हमारी साक्षात् सेवा नही है । इससे देवताओं की पूजा करनेवाले अल्पबुद्धि याने कम अक्ल वाले हैं । इससे देवों को पूजकर जो लोग उनके द्वारा फल पाते हैं वह फल नाशवान होता है । अर्थात् हमारी साक्षात् सेवा करके जो हमारे भक्त फल पाते हैं वह नाशवान नहीं होता, वह अचल होता है । हे अर्जुन ! देवों को पूजनेवाले देव लोक को जाते हैं और मेरी सेवा करनेवाले मेरे को प्राप्त होते हैं ।

तुम्हारे प्रश्नों के उत्तर भगवान को गीता से हो गये । यद्यपि देवों को भगवान का शरीर बताया है तथापि उनकी सेवा साक्षात् सेवा न होने के कारण देवताओं की सेवा करनेवालों को खुद भगवान अपने श्रीमुख से कम-अक्ल बताते हैं और देवों के दिए हुए फल को नाश-

वान बताते हैं। जैसे हिरण्यकशिपु और रावण का फल नाशवान हुआ। विभीषण और प्रह्लाद का फल अचल हुआ। और भी सुनो! शरणागत प्रपन्न को चाहिए कि ग्रहों का जाप अनुष्ठान वगैरह न स्वय करे न दूसरों से करावे। कारण यह है कि ये साधारण बातें हैं। यथार्थ तो यह है कि प्रारब्धानुसार जिसके कर्म में जो कुछ सुख दुख भोगना लिखा है वह तो भोगना ही पड़ता है। इससे किसी के सुख दुख का दाता कोई भी नही है। वास्तव में सुख दुख का हेतु न तो कोई देवता है न ग्रह। क्योंकि यदि सुख दुख देवों के हाथ में होता ग्रहों के वश में होता तो देवों को तथा ग्रहों को दुख नही होना चाहिए था। ग्रहों में भी परस्पर में द्रोह शास्त्रो से सुनने में आता है। याने ग्रहों के द्वारा ग्रहों को भी पीडा सुनने में आती है। यदि सुख दुख ग्रहों के ही हाथ में होता तो उन लोगों को दुख नहीं होना चाहिए था। परन्तु होता है। इससे प्रपन्न को सावधान रहना चाहिए।

सामान्य अधिकारी के लिए देवों का पूजन स्वर्ग फल वहा से पुनः पतन इत्यादि चक्र-व्यूह जैसा शास्त्रों ने विधान किया है। विशेष अधिकारी जो अनन्य मुमुक्षु लोग हैं उनके लिए उसको मना कर दिया है। बस! इसी प्रकार ग्रहों का पूजन आदि प्रपन्न भागवतों को तो मना है और साधारण लोगों के लिए विधान है और है भी यथार्थ ही। जब कि उन ग्रहों के हाथ में सुख दुख है ही नही फिर अपनी निष्ठा बिगाड़ना व्यर्थ है। श्रीमद् भागवत एकादश स्कन्ध का वचन है कि—

> "नायं जनो मे सुख दुःख हेतुर्न देवतात्मा ग्रहकर्म कालाः।
> मनः परं कारण मामनन्ति संसार चक्रं परिवर्तयेद् यत् ॥"

इसका भाव यही है कि सुख दुख के कारण देवता ग्रह वगैरह कोई भी नहीं है। मन से मान लेना ही सुख दुख है और किसी के हाथ में सुख दुख नहीं है। यद्यपि किसी किसी सकाम प्रकरण मे यह आता है कि अनन्य वैष्णव भगवान के स्तोत्र से भगवान के मन्त्रों से शान्ति करावे परन्तु यह प्रकरण भी निष्ठा भग के लिए कम नहीं है क्योंकि प्रारब्ध के अनु-सार सुख दुख जरूर भोगना ही पडता है। यह शास्त्रों तथा शिष्टों का अटल सिद्धान्त

है। और बड़े-बड़े अवतारी पुरुषों का भी दुःख सुनने में आता है। जैसे श्री वशिष्ठजी का पुत्र मरण, अर्जुनजी का पुत्र मरण, श्री परीक्षितजी का असमय पर अवश्य मृत्यु होना, द्रौपदी के पाँचो पुत्रों का मारा जाना, पाण्डवों पर विपत्ति, वसुदेवजी का जेल, श्री यामुनाचार्यजी को भयंकर फोडा होना श्री अनन्ताल्वारजी को तीन वर्ष तक भयानक वात का रोग होना, प्रारब्धानुसार श्री यामुनाचार्यजी का और श्री रामानुजाचार्यजी का मिलाप न होना इत्यादि प्रकरणों से यही मालूम होता है कि लीला विभूति का जो सुख दुख क्रम है यह अवश्य होकर ही रहता है इसका नजीर भी दे चुके हैं। जबकि ऐसे ऐसे महापुरुषों को दुःख भोगने पड़े जिनको भगवान स्वरु प्रत्यक्ष थे फिर दूसरा प्रपन्न तथा सतसंगी कहाकर दुख छुड़ाने के लिए भगवान के मंत्रों का प्रयोग कराके अनुष्ठान करे या करावे यह सिवाय अल्पज्ञता के और क्या कहा जायेगा।

जो पूरा स्वरूप ज्ञानी होगा वह तो भगवान के मंत्रो से भी अनुष्ठान न करेगा, न करावेगा और जो नाममात्र के भागवत हैं प्रपन्न है, मत्रार्थ ज्ञाता है, तथा शरणागत हें वे चाहें सो करते और कराते हैं। उनको कौन रोके और क्या कहे।

यथार्थ स्वरूप ज्ञानी तो उसी को कहते हैं जो सिवाय भगवान के कैंकर्य्य के भगवान से स्वप्न में भी दूसरी चीजों की चाहना नहीं करता। यदि स्वय भगवान भी अपनी सेवा को छोड़कर दूसरी चीज देने को तैयार हों तो कभी भी लेना कबूल नही कर सकता। जैसे श्री प्रहलादजी को बर देने के लिए भगवान ने बहुत लोभ दिखाया परन्तु ज्ञानियो में श्रेष्ठ प्रहलाद जी ने सेवा से विपरीत कुछ नही मांगा इससे प्रारब्धाधीन सुख दुख को समझकर कभी किसी विपत्ति में भूल कर भी देवताओं की तो बात ही क्या है? खुद भगवान से भी कभी प्रार्थना न करे उस कष्ट से छुटकारा पाने वास्ते।

स्वरूपानुरूप शुद्ध इलाज करे करावे परन्तु रोगी के अच्छे होने के लिए किसी प्रकार का अनुष्ठान करना कराना प्रपन्नता का भजक है या शरणागति का बाधक है। सैंकड़ो जगह ऐसा देखने में आता है कि जब आयु पूर्ण हो जाता है तो अनुष्ठानों के जरिये कोई फायदा नहीं होता इससे शरणागत को चाहिए कि किसी प्रकार की मनौती कभी भी न करे।

भागवतों को तो एक ही बात का ख्याल हर वक्त होना चाहिए कि हे भगवान! कैसी भी विपत्ति पडने पर पर्व त्रय से याने भगवद् भागवताचार्य से कभी भी निष्ठा कम न होने पावे।

हाँ! रोग छुडाने के निमित्त तो नहीं परन्तु भगवत-यश कान में पडे इसके लिये यदि चाहे तो विष्णु सहस्त्र नाम, गद्यत्रय, आल्वन्दार, श्री रामायण श्री गीता वगैरह का पाठ कराने में हरकत नहीं है। इसी तरह अनन्य शरणागतो को चाहिये कि जैसे सामान्य लोग किसी मांगलिक कार्य में, यात्रा वगैरह में श्री गणेश जी का नाम लिया करते हैं। उसी तरह किसी मांगलिक कार्य में भगवत् पार्षदों में श्रेष्ठ श्री विष्वक्सेनजी का पूजन किया करे। उसमें भी यह भावना न करे कि मैं विघ्न निवारण के लिये पूजन करता हूँ किन्तु ऐसी भावना करें कि अनन्य मुमुक्षुओं के लिये विष्वक्सेनजी की पूजा करना सात्विक शास्त्रों की आज्ञा है उसका पालन करता हू यह विचार अत्यन्त शुद्ध है।

जो लोग सिर्फ विघ्न निवृति के लिये ही मांगलिक कार्यों में अपने-अपने अधिकार के अनुसार देवों का पूजन करते हैं उन लोगों में भी हजारों में ऐसा देखा जाता है कि विघ्न हो जाता है यदि विघ्न न होना और होना इसका भार पूजा पर ही होता तो अत्यन्त विधि से भी करने वालों के यहाँ विघ्न क्यों देखने में आता। हजारों जगह गणपतिजी की विवाहारम्भ में पूजा हो करके भी विधवापन देखने में आता है। इससे पहिले ही कह चुका हूँ कि सुख दुख यह किसी दूसरे के ही हाथ में है। इससे श्री हरिजी के आश्रितों को चाहिये कि सुख दुख को प्रारब्धानुसार मानता हुआ अपने अधिकार के अनुगुण भगवदाज्ञा कैंकर्य्य मानकर विष्वक्सेनजी का ही किसी कार्य के प्रारम्भ में पूजन किया करें। विष्वक्सेनजी की पूजा होने पर भी यदि प्रारब्ध के अनुसार कुछ विघ्न दिख पडे तो उनमें भ्रम न करे। यह मन में न सोचे कि मैंने अमुक को छोड दिया इसीसे तो यह विघ्न नही आ गया? याने श्री गणेशजी को छोड़ दिया इसीसे यह विघ्न आया क्या? ऐसा अज्ञानता पूर्ण विचार न करे क्योंकि मैं पहिले ही कह आया हूँ कि सुख दुखों से और उपासना प्रसगों से कुछ भी मेल नही है। सुख दुख देना किसी देवादिक के हाथ मे नहीं है। यदि विघ्न करना न करना उनके हाथ में होता तो खुद

गणेशजी का एक दांत रावण ने उखाड लिया वह दांत फिर नहीं जमा और रावण का आप कुछ नहीं कर सके। वह यह श्लोक है :—

"विदग्ध लीलोचितदन्तपत्रिका विधित्सयानूनम नेनमानिना।
न जातु वैनाय मेक मुद्धृतं विषाण मद्यापि पुनः प्ररोहति॥"

माघ काव्य के प्रथम सर्ग में लिखा हैं यदि गणेशजी के हाथ में विघ्न करना या नाश करना होता तो उसी वक्त रावण का नाश हो जाता। इससे देवतान्तरों को छोडकर विष्वक्सेनजी की पूजा होने पर भी कदाचित कहीं कभी किसी अंश में विघ्न दिख पड़े तो भी अपनी अनन्य निष्ठा नही छोडनी चाहिये न तो भ्रम में पड़ना चाहिये न पछतावा करना चाहिए। देखो श्री सीतारामजी के समान कृपालु कोई नहीं हो सकता है। एक वही कृपा सागर हैं कि जिसको पकड लेते हैं-वह कैसा भी क्यों न हो उसका बेडा पार लगाही देते हैं।

क्यों न लगावें मां-बाप के समान तो जगत मे मा-बाप ही हो सकते हैं। इस जीव के सच्चे मां-बाप तो श्री सीतारामजी ही हैं। इस जीव का उद्धार चाहे करोडों वर्ष मे हो। किन्तु जब होगा तब श्री सीतारामजी के शरणागत होने से ही होगा। उनका स्वभाव है कि जो उनका आश्रय चाहता है उसको सदा के लिये आश्रय देने को सदा तैयार रहते हैं। करोड़ों अपराधों को क्षण मात्र मे क्षमा कर देते हैं। अपने शरणागत का सदा पक्ष करते हैं। उनका स्वभाव ऐसा नहीं है कि अपने आश्रितो का कभी बुरा करें। यह सब दुर्गुण बाकी देवों में है। इसका कारण यह है कि देवो से और इस जीव से किसी प्रकार का पक्का सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण बाकी देव लोग अपने भक्तों का नाश देख कर खुशी होते हैं उनमें दया नहीं आती जैसे हिरण्याक्ष के मरते समय ब्रह्माजी को दया नही आई। रावण मरा तो शिवजी उदास नहीं हुए। भगवान अपने आश्रितों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं आदि अन्त कैसा निर्वाह करते हैं। यह बात सारे जगत में तथा अनेक इतिहास पुराणों में प्रसिद्ध ही हैं फिर भी मैं आगे कुछ कहूंगा।

इस वक्त तो देवताओं के बावत विचार चला हुआ है कि एक श्रीपतिको छोड़कर बाकी

देवों की जो इतिहास पुराणों में बडाई की गई है वह सिर्फ प्रशंसावाद है मौके पर वह काम नहीं आती है। जैसे शिवजी की शास्त्रों में हद से ज्यादा वड़ाई है परन्तु घण्टाकर्ण को मुक्ति देने के समय कुछ काम न आ सकी इसी प्रकार सभी देवों को समझना चाहिए। संक्षेप से सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मा, शिव के बावत मैं विचार कर आया हूँ। अब देवी जी के बावत जो प्रशंसावाद है उसका भी संक्षेप में आगे विचार करता हूँ। इसको ध्यान देकर सुनो :—

बहुत जगह देवी जी की हद से ज्यादा बडाई की गई है परन्तु वह भी इन्द्र सूर्य की बड़ाई के समान ही है। याने मौके पर वह वड़ाई भी काम नही देती। जैसे भगवान अपने आश्रितों का अपने भक्तों का पक्ष करते हैं उस तरह कोई देव देवी नहीं कर सकता है। नमूने के वास्ते बाकी देवों का तो विचार कर आये हैं परन्तु अपने भक्तों से देवी जी कैसा वर्ताव करती हैं उसका भी नमूने के वास्ते एकाध दृष्टान्त देते हैं :—

श्रीमद्भागवत जी में एक कथा है कि देवी जी का एक भक्त था। बहुत समय से उसके घर में देवी जी की सेवा पूजा चली आरही थी वह किसी कामना के सिद्ध होने के लिए देवी जी के सामने पुरानी रीति के अनुसार एक मनुष्य को बलिदान देने के लिए लाया। उसके कुटुम्बवर्ग देवी जी के उत्सव के लिए अनेक प्रकार के बाजे बजवा रहे थे। उनके इष्ट मित्र बहुत सजावट के साथ आये थे स्त्रियाँ गान करती थीं। बलिदान के लिए सारी सामग्रियाँ इकट्ठी की गई थीं। इतने में किसी उपाय से बलिदान के लिए लाया हुआ मनुष्य कहीं भाग गया। उस देवी भक्त ने अपने नौकरों को उस मनुष्य को ढूढ़ने के लिए जहाँ तहाँ भेजा। वह भगा हुआ मनुष्य तो नहीं मिला परन्तु उसी रास्ते में कहीं परमहंस जडभरत जी उनलोगों को अनायास मिल गये।

उनको अच्छे हृष्ट-पुष्ट देख कर बलिदान देने के लिए देवी जी के पास लाये। उनसे पूछा कि देवी जी के सामने हम तुमको बलिदान दे देवें? उनलोगों की बात सुनकर भक्त शिरोमणि जडभरत जी ने अपना बलिदान क़बूल कर लिया। जब देवी जी के सामने उनको बलिदान के लिए वे लोग ले गये तो देवी जी उस मूर्ति में से प्रगट हो गई जिस

तलवार से बलिदान देने के लिए वह भक्त देवी जी का खड़ा था उस तलवार को देवी जी ने अपने हाथ मे ले लिया।

भगवत्-भक्त जो जडभरत जी थे उनके देखते देखते क्रोध मे आकर देवी जी ने पहिले अपने भक्त का माथा काट लिया पीछे उसके बाल बच्चे हित कुटुम्ब सभी का माथा काट लिया। उसके बाद अपने पार्षदो को बुलाकर उन डाकिनी-माकिनियो के साथ अपने भक्तो का खून खूब पिया उसके बाद प्रेम में मग्न होकर कटे हुए अपने भक्तो के शिरों को लेकर देवी जी ने गेंद खेलना शुरू कर दिया पश्चात् डॉकिनी पिशाचिनी के साथ खूब नाच किया और गीत भी खूब गाये। अपने भक्तो का अपने हाथों से ही जडमूल से सत्यानाश करके बड़े सतोष के साथ अपने आसन पर जाकर ज्यों के त्यों स्थित हो गई। यह हुई कथा देवी जी की और देवी जी के भक्तों की।

अब यहाँ सोचने की बात यह है कि अपने भक्तों का सिर अपने ही हाथों से काटने में देवी जी को जरा भी दया नही हुई वे बेचारे देवी जी के भक्त थे। उनका देवी जी पर पूर्ण विश्वास था कि ये हम लोगों के रक्षक हैं। परन्तु उनका विचार व्यर्थ हुआ। देवीजी ही उनका खास भक्षक बन गईं। बिना अपराध देवीजी के ही हाथ से मारे गये। वे तो देवी जी की प्रशंसा करने वाले शास्त्रों के वचनानुसार सदा की तरह बलिदान देने को उद्यत थे। आज तो कोई नई बात थी नहीं। फिर न जाने देवी जी को क्रोध क्यों आ गया। जो कहें कि निरपराधी महात्मा जड भरतजी के ऊपर अत्याचार करने से देवी जी से नही सहा गया इससे सिर काट लिया तो यह भी उचित नहीं जॅचता है। क्यों कि इसमें सिर काटने की कौन सी बात थी। वे लोग तो अज्ञानी थे वे तो समझते नहीं थे कि भगवान के भक्त हैं या सामान्य मनुष्य हैं। यदि ये बातें देवीजी को मालूम हुई तो अपने भक्तों को समझा देना था कि ये महात्मा हैं। इनका बलिदान मत करो। इनका स्वागत करके यहाँ से भेजो। इस तरह कहने पर भी यदि वे लोग नहीं मानते तो चाहे सो दण्ड देना था। अथवा जड भरत जी का तेज यदि देवी जी से नहीं सहा गया तो खुद जड भरत जी को राजी कर देना था और अपने भक्तों का अपराध क्षमा करा देना था। कि हे महात्मा जी! आपका प्रताप

समझे बिना इन लोगों ने जो आप का अपमान किया जो कि जगत्पति के भक्त को बलिदान के लिए लाया सो इन हमारे भक्तों के अपराधों को क्षमा करके इन पर दया दृष्टि कर के आप स्वच्छन्द भजन करने को जहाँ चाहें वहाँ पधारिये। इतना कहने से सब अपराध माफ हो जाते। परन्तु काली जी ने न तो अपने भक्तों को समझाया और न जड भरत जी से माफ ही करवाया। किन्तु उन बेचारे निज भक्तों का नाश ही कर दिया।

जब कि ऐसे ऐसे अपने प्रेमी भक्तों का बिना अपराध नाश कर दिया तो इस कथा को जानते हुए भी जो देवी जी की भक्ति करके, देवी जी के द्वारा मुक्ति चाहता है। उसके समान नासमझ कौन हो सकता ? इस कथा से तो यही जाहिर होता है कि भगवान के भक्त का देवी जी ने पक्ष किया और देवी जी के भक्त देवी जी को अच्छे नही लगे।

इससे समझदार का यह परम कर्तव्य है कि इन सभी देवताओं से चित्त हटाकर पतित पावन दीनबन्धु, गरीबनिवाज भगवान श्रीपति के ही शरणागत होकर रहे। अपना भक्त बेटे के समान होता है। जो देवता अपने भक्त का सिर काट लेता है सो मानो कि अपने बच्चे का माथा काटता है, वही काम देवी जी ने किया। जरा पछतावा भी नही किया अपने भक्तों को काट करके जिस देवता की खुशीयाली का पार नही, उसी के कटे हुए सिर से गेंद खेल रही है उसके भरोसे अपना कल्याण चाहना कितनी भूल की बात है इसके माने यह नही हुआ कि देवी जी की महिमा शास्त्रों में नही है ? है तो बहुत परन्तु प्रशसामात्र है। नृग की गायों के समान है। इससे शरणागतों को चाहिए कि स्वप्न में भी देवी जी की सेवा पूजा न करें।

श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में कश्यप जी ने अदिती जी को भगवान के मिलने के लिए पयोव्रत का उपदेश किया और उसके नियम मे बताया कि हे अदितीजी भगवत्प्राप्ति के व्रत मे देवी जी का प्रसाद और देवी जी का निर्माल्य भी बाधक होता है।

नोच्छिष्टं च चण्डिकान्न श्च।

श्रीमद्भागवतअष्ठम स्कन्ध

जब कि भगवान की प्राप्ति के व्रत में देवी जी का अन्न ग्रहण करना सख्त मना है तो भगवच्छरणागत स्त्री पुरुष देवी जी का सेवन पूजन कैसे कर सकता है। शरणागत कहाकर जो लोग देवी वगैरह का व्रत करते हैं या देवी के नाम पर बासी ठंढा प्रसाद खाते हैं उनकी निराली भूल है। देवी याने काली यह तामस देव हैं। यह सात्विक मुमुक्षुओं को सदा त्याज्य हैं।

यदि कहो कि रुक्मिणी जी ने तो गिरिजा का पूजन किया था। श्री जानकी जी ने पार्वती जी का पूजन किया था फिर दूसरों को करने में क्या हरकत है?

मैं पहिले कह चुका हूँ कि जगत्पति भगवान श्रीरामजी हुए थे और जगज्जननी श्रीलक्ष्मी जी जानकी जी हुई थी। उन लोगों ने जो जो बातें की उनकी देखा देखी हरएक मनुष्य को नहीं करना चाहिए। श्री रुक्मिणी जी जगत का कल्याण करके जब परमधाम को जाने लगीं तो अग्नि में प्रवेश करके गईं। उनकी उपमा कौन स्त्री कर सकती है। उनके आचरण की उपमा कौन कर सकता है? श्री जानकी जी महारानी ने भी अग्नि में प्रवेश किया था और ज्यों की त्यों निकल आई उनका कुछ भी नहीं बिगडा। आज वैसा कोई नही कर सकता है। जब कि ऐसी ऐसी बातों की देखा देखी अनुष्ठान कोई नही कर सकता। फिर देवी पूजन में उनकी नजीर लेकर चलना बेसमझ पने की बात है। यद्यपि शास्त्रों मे तीन प्रकार के अधिकारी कहे गये हैं।

"प्रपन्न पारिजात" नामक ग्रन्थ के दशमी पद्धति के चउथा और पाँचवा श्लोक :—

विष्णूपायो योऽन्यफलः सोऽधमः परिकीर्त्तितः।
अन्योपायो विष्णुफलो मध्यमः परिकीर्त्तितः॥ ४॥
माधवाङ्घ्रिद्वयोपायो माधवाङ्घ्रि प्रयोजनः।
स उत्तमाधिकारी स्यात् कृतकृत्योऽत्र जन्मनि॥ ५॥

इसका अर्थ यह भया कि :—

भगवान को जो उपाय मानता है और स्त्री पुत्र धन विभव सम्पति आदिक को फल

मानता है सो अधम अधिकारी कहा जाता है। याने जैसे किसी ने भगवान का भजन पूजन किया और भगवान से माँगा कि हे प्रभो! हमको स्त्री दीजिए, धन दीजिए, राज्य दीजिए, पुत्र दीजिए, दुनियाँ में इज्जत बढाइए, बिमारी छुड़ाइए इत्यादि। इसी अधिकारी को शास्त्रों में अधम अधिकारी कहा गया है। क्यों कि जो फल-स्वरूप भगवान हैं, प्राणों के प्राण हरि हैं उनसे अनित्य फल-नाशवान फल माँगा। आखिरी में भगवान भी छुट गये। फल भी नष्ट हो गया। इसी कारण से भगवान का भजन पूजन करने पर भी इस अधिकारी को अधम अधिकारी कहा है। क्योंकि स्वरूप ज्ञान याने अर्थ-पञ्चक ज्ञान से यह वंचित रह गया अथवा उस पर परिस्थिति नहीं हुई।

जो अधिकारी उपासना याने साधन भक्ति वगैरह को उपाय मानता है और भगवान को फल मानता है इसको शास्त्रों में मध्यम अधिकारी बताया है। यद्यपि फल तो अच्छा है परन्तु फल के लायक स्वरूप के अनुरूप, फल के सदृश याने योग्य उपाय नही जान पडा। इसी से भगवान के फल होते हुए भी इसको मध्यम अधिकारी कहा है। इसी वाक्य के अनुसार जो कोई भगवान के मिलने के लिए ही यदि किसी देवता का पूजन करे उन लोगों को मध्यम अधिकारी बताया है। याने दूसरी कामना मन में न करके सिर्फ भगवान के मिलने के ही लिए जिन लोगों ने देवताओं का पूजन किया है या करते हैं। उनको किसी अंश में मध्यम पंक्ति का स्थान मिला है। याने उनको निन्दित नहीं बताया है क्योंकि साधन सामान्य होता हुआ भी फल उनको श्रेष्ठ है।

इस क्रम के अनुसार सिर्फ भगवान के मिलने के लिए ही जिसने इतर देवों का पूजन नमन उपासना की है उनको मध्यम अधिकारी कहने का यही आशय है कि वे लोग स्वरूप विरुद्ध साधन को ग्रहण किये है। अनादि का भगवान के साथ पिता-पुत्र सम्बन्ध, भर्त्ता-भार्या सम्बन्ध को पूरी तरह ध्यान में नहीं लिया क्योंकि भगवान सर्वत्र हैं। इस चेतन के सर्व-विधि बन्धु हैं। कृपा के अथाह समुद्र है। इच्छा मात्र से ही किसी चेतन को जल्दी ग्रहण कर लेते है। जैसे अपने बाप से मिलने के लिए, अपने बाप के स्टेट का अधिकारी होने के लिए पुत्र को किसी का भजन पूजन करने की आवश्यकता नहीं पडती है सिर्फ पिता-पुत्र का ही

सम्बन्ध जना देने वाले का उपकार स्मृति के अतिरिक्त और कुछ उपाय करने की पुत्र को जरूरत नही पडती है। उसी प्रकार सदा सर्वज्ञ, सर्वत्र, विराजमान क्षण में अनन्त अपराधों को क्षमा करने वाले आश्रित के दोषों को ख्याल न करने वाले, आश्रित दोषों को भोग्य मानकर रहने वाले स्वरूप के अनुरूप अत्यन्त सरल उपाय जो अपने अनादि पिता भगवान हैं उनके मिलने के लिए जब कि उन्हीं की कृपा से काम चल सकता है फिर स्वरूप विरुद्ध जन्म जन्मान्तर में कभी अनियत समय में जिससे फल मिलने की सम्भावना है, ऐसे सर्वज्ञता गुण से रहित अज्ञानी जो देवगण हैं उन लोगों के पूजन नमन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

जो सच्चा सम्बन्ध ज्ञान वाला होगा वह भगवान के लिए भगवान को ही साधन मानेगा। और जो लोग ऐसा कहते हैं कि पहिले सिपाहियों से, आफिसरों से मिलकर तब पीछे बादशाह से मिला जाता है। एकदम बादशाह से कैसे मिल सकते हैं ? उसी प्रकार दूसरे देवों की सिफारिश से धीरे-धीरे भगवान तक पहुँचते हैं। यह बात तो मनुष्यों के मिलन में लागू हो सकती है क्योंकि मनुष्य अज्ञानी होते हैं। इससे उनसे मिलने के लिए दूसरों की सिफारिश की जरूरत पडती है। परन्तु जो सारे ब्रह्माण्ड में हरेक जगह विराजमान हैं, जिन्होंने गजेन्द्र की एक पुकार पर तुरन्त आकर रक्षा की, द्रौपदी की प्रार्थना सुनकर वस्त्र बढाया, जो सर्वत्र व्यापक हैं, सदा सर्वज्ञ हैं उनके मिलने के लिए दूसरों के सिफारिश की क्या जरूरत है।

हाँ ! जिसको सिफारिश की जरूरत है वह श्री स्वामिनीजी का सहारा ले सकता है क्योंकि वे अनादि की माता हैं। उनका पुरस्कार लेना शास्त्र की आज्ञा भी है। वे सदा नजदीक रहती हैं। श्री लक्ष्मणजी हैं ये भी सदा नजदीक रहने वाले पार्षद हैं। इनसे सहयोग माँगना स्वरूप के विरुद्ध नहीं है। जिस बादशाह से मिलना हो उसी बादशाह के नजदीक वालों की सिफारिश उपयोगी हो सकती है। उसी प्रकार भगवान से मिलने के लिए श्री स्वामिनीजी, श्री लक्ष्मणजी, श्री राधिका जी, श्री बलरामजी, श्री लक्ष्मीजी, श्री शंखजी, श्री चक्रजी आदिक भगवद् पार्षदों का सहारा लेना बहुत शीघ्र कार्यकारी हो सकता है।

पहिले तो यथार्थ में प्रभु से मिलने के लिए सिवाय सम्बन्ध ज्ञान कराने वालों के और श्री जी के अतिरिक्त किसीके सिफारिश की जरूरत ही नहीं है यदि सिफारिश के बिना नहीं रहा जाय तो पूर्वोक्त भगवद् पार्षदों की सिफारिश ही करना योग्य है, स्वरूपानुरूप है।

भगवान को मिला देना किसी देवता के हाथ में नही हैं। क्योंकि भगवद् पार्षदों को छोडकर कोई भी देवता भगवान के नजदीक सदा नही रहते हैं। किसी का कहा हुआ है कि :—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम से प्रगट होहिं मैं जाना" ॥

इसका भाव यह हुआ कि श्री हरि स्वरूप और रूप दोनों से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर रहते हैं। प्रेम से ही प्रगट होते हैं। सब जगह एक ही समान रहते हैं। प्रह्लादजी के लिए बिना किसी देव के सिफारिश खंभा से ही प्रगट होकर दर्शन दिया। द्रौपदीजी के लिए बिना किसी के सिफारिश के वस्त्र रूप धारण कर लिया गजेन्द्र को भी किसी के सिफारिश बिना ही आर्त ध्वनि सुन आकर दर्शन दिया।

इसी प्रकार अनेकों को प्रेम मात्र से अनेक बार देश काल अवस्था का विचार न करके प्रभु कृपा किए हुए हैं। जबकि भगवान सर्वत्र हैं। जहाँ कोई पुकारे वही सुन लेते है तो फिर टेढा मार्ग पकडने की क्या जरूरत है? शास्त्रों में कहा भी है कि जो भगवान ही को उपाय माने और भगवान ही को फल माने वही उत्तम अधिकारी कहा जाता है। इससे भगवान की प्राप्ति के लिए समझदार ज्ञानी को किसी देवता से सिफारिश कराने की आवश्यकता नही है।

कितने ही भक्त अनन्यता के वर्णन समय मे इतर देवताओं के भजन कीर्त्तन को सख्त मना करके भी स्वय दूसरे देवताओं का नमन किया है और पीछे अपनी भूल मानकर अथवा और कुछ कारण बताकर बहुत पछतावा किया है, भगवान से माफी भी माँगी है। जैसे श्री तुलसीदासजी अपने रामायण में कहते हैं कि सुतीक्ष्णजी स्वप्न मे भी दूसरे देवता को नही जानते थे।

मन क्रम वचन राम पद सेवक। सपने हु आन भरोस न देवक ॥

सम्बन्ध जना देने वाले का उपकार स्मृति के अतिरिक्त और कुछ उपाय करने की पुत्र को जरूरत नहीं पड़ती है। उसी प्रकार सदा सर्वज्ञ, सर्वत्र, विराजमान क्षण में अनन्त अपराधों को क्षमा करने वाले आश्रित के दोषों को ख्याल न करने वाले, आश्रित दोषों को भोग्य मानकर रहने वाले स्वरूप के अनुरूप अत्यन्त सरल उपाय जो अपने अनादि पिता भगवान हैं उनके मिलने के लिए जब कि उन्हीं की कृपा से काम चल सकता है फिर स्वरूप विरुद्ध जन्म जन्मान्तर में कभी अनियत समय में जिससे फल मिलने की सम्भावना है, ऐसे सर्वज्ञता गुण से रहित अज्ञानी जो देवगण हैं उन लोगों के पूजन नमन की कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

जो सच्चा सम्बन्ध ज्ञान वाला होगा वह भगवान के लिए भगवान को ही साधन मानेगा। और जो लोग ऐसा कहते हैं कि पहिले सिपाहियों से, आफिसरों से मिलकर तब पीछे बादशाह से मिला जाता है। एकदम बादशाह से कैसे मिल सकते हैं? उसी प्रकार दूसरे देवों की सिफारिश से धीरे-धीरे भगवान तक पहुँचते हैं। यह बात तो मनुष्यों के मिलन में लागू हो सकती है क्योंकि मनुष्य अज्ञानी होते हैं। इससे उनसे मिलने के लिए दूसरों की सिफारिश की जरूरत पडती है। परन्तु जो सारे ब्रह्माण्ड में हरेक जगह विराजमान हैं, जिन्होंने गजेन्द्र की एक पुकार पर तुरन्त आकर रक्षा की, द्रौपदी की प्रार्थना सुनकर वस्त्र बढ़ाया, जो सर्वत्र व्यापक हैं, सदा सर्वज्ञ हैं उनके मिलने के लिए दूसरों के सिफारिश की क्या जरूरत है।

हाँ! जिसको सिफारिश की जरूरत है वह श्री स्वामिनीजी का सहारा ले सकता है क्योंकि वे अनादि की माता हैं। उनका पुरस्कार लेना शास्त्र की आज्ञा भी है। वे सदा नजदीक रहती हैं। श्री लक्ष्मणजी हैं ये भी सदा नजदीक रहने वाले पार्षद हैं। इनसे सहयोग माँगना स्वरूप के विरुद्ध नहीं है। जिस बादशाह से मिलना हो उसी बादशाह के नजदीक वालों की सिफारिश उपयोगी हो सकती है। उसी प्रकार भगवान से मिलने के लिए श्री स्वामिनीजी, श्री लक्ष्मणजी, श्री राधिका जी, श्री बलरामजी, श्री लक्ष्मीजी, श्री शंखजी, श्री चक्रजी आदिक भगवद् पार्षदों का सहारा लेना बहुत शीघ्र कार्यकारी हो सकता है।

पहिले तो यथार्थ में प्रभु से मिलने के लिए सिवाय सम्बन्ध ज्ञान कराने वालो के और श्री जी के अतिरिक्त किसीके सिफारिश की जरूरत ही नहीं है यदि सिफारिश के बिना नहीं रहा जाय तो पूर्वोक्त भगवद् पार्षदों की सिफारिश ही करना योग्य है, स्वरूपानुरूप है।

भगवान को मिला देना किसी देवता के हाथ में नही हैं। क्योंकि भगवद् पार्षदों को छोडकर कोई भी देवता भगवान के नजदीक सदा नही रहते हैं। किसी का कहा हुआ है कि :—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम से प्रगट होहिं मैं जाना" ॥

इसका भाव यह हुआ कि श्री हरि स्वरूप और रूप दोनों से सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर रहते है। प्रेम से ही प्रगट होते हैं। सब जगह एक ही समान रहते हैं। प्रहलादजी के लिए बिना किसी देव के सिफारिश खंभा से ही प्रगट होकर दर्शन दिया। द्रौपदीजी के लिए बिना किसी के सिफारिश के वस्त्र रूप धारण कर लिया गजेन्द्र को भी किसी के सिफारिश बिना ही आर्त ध्वनि सुन आकर दर्शन दिया।

इसी प्रकार अनेकों को प्रेम मात्र से अनेक बार देश काल अवस्था का विचार न करके प्रभु कृपा किए हुए हैं। जबकि भगवान सर्वत्र हैं। जहाँ कोई पुकारे वही सुन लेते हैं तो फिर टेढा मार्ग पकडने की क्या जरूरत है? शास्त्रों में कहा भी है कि जो भगवान ही को उपाय माने और भगवान ही को फल माने वही उत्तम अधिकारी कहा जाता है। इससे भगवान की प्राप्ति के लिए समझदार ज्ञानी को किसी देवता से सिफारिश कराने की आवश्यकता नही है।

कितने ही भक्त अनन्यता के वर्णन समय मे इतर देवताओं के भजन कीर्त्तन को सख्त मना करके भी स्वय दूसरे देवताओं का नमन किया है और पीछे अपनी भूल मानकर अथवा और कुछ कारण बताकर बहुत पछतावा किया है, भगवान से माफी भी माँगी है। जैसे श्री तुलसीदासजी अपने रामायण में कहते हैं कि सुतीक्षणजी स्वप्न मे भी दूसरे देवता को नही जानते थे।

मन क्रम वचन राम पद सेवक। सपने हु आन भरोस न देवक ॥

इसका भाव यह हुआ कि सुतीक्षणजी मन, वचन, कर्म से श्री रघुनाथजी के सेवक थे। सपने में भी दूसरे उपायान्तरों का भरोसा नहीं रखते थे। न कभी किसी देवता का भजन पूजन करते थे। अत्रि मुनि ने भी श्री रघुनाथजी से कहा :—

अब जानी मैं श्री चतुराई। भजिय तुमहि सब देव विहाई॥

इसका अर्थ यह है कि हे रामजी! अब मैं आपकी इच्छा अच्छी तरह समझ गया। आप ओट देकर हमको यह समझा रहे हैं कि सब देवों को छोडकर श्री रघुनाथजी को ही याने आपका ही भजन करना चाहिये और भी :—

जो सम्पति शिव रावणहि दीन्ह दिये दस माथ।
सो सम्पदा विभीषणहि सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥
अस प्रभु छाड़ि भजहि जे आना। ते नर पशु बिन पूँछ विषाना॥

इसका भाव यह हुआ कि जो सम्पति रावण के दश माथ कटवाकर, वलिदान लेकर शिवजी ने रावण को दी, वही लंका का राज्य विभीषणजी को श्री रघुनाथजी ने एक प्रणाम मात्र से दिया। देकर भी मन में बहुत संकोच पाया कि अनन्त ब्रह्माण्ड के नाथ होकर मैंने यदि विभीषण को लंकेश ही बनाया तो क्या किया? ऐसा मन में लेकर प्रभु को संकोच भी बहुत हुआ। इतनी जल्दी सिर्फ सन्मुख आने मात्र से ही आश्रित के ऊपर इतनी कृपा करने वाले श्री रघुनाथ जी को जानता हुआ भी अति कष्ट से प्रसन्न होकर के तुच्छ, अनित्य, नाशवान फल को देने वाले जो ब्रह्मा, रुद्रादिक हैं इनको जो भजता है वह मनुष्य बिना सींग पूँछका पशु है क्योंकि यदि समझ होती तो श्री रघुनाथजी को छोड़कर स्वप्न में भी दूसरे देवों के तरफ नही जाता। और भी :—

हरि तजि और भजिए काहि?
नाहिनै कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि।

विनय पत्रिका के इस पद में भी श्री रघुनाथजी को छोड़कर ब्रह्मा रुद्रादिक के भजन पूजन करने वालों को मना किया है इत्यादि अनेक अपने ग्रन्थों में अन्य देवों के भजन पूजन की

मनाई करके भी खुद जो दूसरे देवों का वन्दन किया है। इसके दो कारण बताये हैं। एक तो कहा है कि हमने हृदय से किसी देवता का वन्दन नहीं किया। किसी की सिफारिश नहीं ली। सिर्फ मैंने देवताओं की परीक्षा की है। परीक्षा करके यह देखा कि दीन का आदर किसी के दरबार में नहीं है। श्री रघुनाथजी का ही ऐसा दरबार है कि जहाँ सबकी पूछ हो जाती है। कवितावली में इसी विषय का एक कवित्त है :—

लोक पाल, नाक पाल, व्याल पाल दिक् पाल,
देवन कृपाल में सबै के जी की थाह ली।
कादर को आदर काहू को नाहिं देखियत,
सबनि सुहात है सेवा सुजान टाहली॥
इत्यादि।

इस पद से यह जाहिर होता है कि परीक्षा करने के लिये दूसरे देवताओं का वन्दन आदि किया। दूसरा कारण अपनी भूल का बताते हैं। विनय पत्रिका में आखिरी में बहुत विनय करने पर भी जब श्री रघुनाथजी की सही नहीं पाई तो प्रार्थना करते हैं कि हे रघुवर!

कहां न गयो कहा न कियो शीश काहि न नायो।
मूँड़ मारि हिय हारि फेरि अब चरण शरण तकि आयो।

. . . .

अब तजि रोष करहु करुणा हरि तुलसिदास शरणागत आयो।

इसका भाव यह हुआ कि हे श्री रामजी! मैं कहां न गया, क्या क्या न किया, किसको किसको शीश नहीं नवाया? किन्तु आपका जन हुए बिना कुछ भी फायदा न हुआ। जब खूब समझ गया, जब सब तरफ से हार गया, तब आपके श्री चरणों की शरण में आया। आपको छोड़कर स्वरूप विरुद्ध जो दूसरी जगह भटकता फिरा इससे आपका मुझ पर रोष हुआ सो हे हरि!

"अब लौं नसानी अब न नसै हौं ॥

याने बेसमझपने में अथवा परीक्षा के निमित्त भी इतर जगह व्यर्थ समय बिताने के कारण मेरे ऊपर जो आपका रोप हुआ है उसको अब कृपा करके त्याग दीजिये। अब मैं सब को त्यागकर आपकी शरण आया हूँ। हे कृपासागर अब मुझ पर करुणा करिये।

इस प्रार्थना के बाद प्रभु ने उनकी विनय पत्रिका में सही की। इस पद से यह मालूम होता है कि दूसरों को शीश नवाने की माफी मांगी है कहने का साराश यह हुआ कि भगवान के मिलने के लिए भी दूसरे देवों का वन्दन पूजन करने वालों को मध्यम अधिकारी ही बताया किन्तु उत्तम अधिकारी नहीं। क्योंकि यथार्थ रीति से तो भगवत् सम्बन्ध का ज्ञान, पिता-पुत्र सम्बन्ध का ज्ञान न होने के कारण ही देवान्तरों का संसर्ग उन्होंने लिया।

भगवान के मिलने के लिये भगवान ही को साधन मानना, भगवान ही को उपाय मानना भगवत् कृपा का ही अवलम्ब लेना, इससे तो पूर्ण सम्बन्ध-ज्ञानी कहा जा सकता है। उसको इसी जन्म के अन्त में जरूर भगवत् प्राप्ति होती है। परन्तु दूसरे उपायान्तरो का अवलम्ब पकड़ने वालों को या दूसरे देवताओं के जरिये से भगवत् प्राप्ति की इच्छा करने वालो को कब फल मिलेगा इसका निश्चय ही नही है।

हां! कहीं कही ऐसा भी लिखा है कि किसी किसी देव को निरन्तर दस बीस जन्म सेवन करे तो वह भगवद्भक्ति पान योग्य होता है। परन्तु जब भगवान की कृपा का अवलम्ब पकड़ने से इसी जन्म में जन्म मरण से छुटकारा मिल सकता है तो फिर स्वरूप विरुद्ध इतर देवों के सेवन में दस बीस जन्म बिताकर भगवद्भक्ति लेने की आशा करना सिवाय बेसमझपन के और क्या कहा जा सकता है। दूसरे उपायान्तर तथा देवतान्तरों की आशा छोडकर एक भगवान की शरणागति करने से जब कि इसी जन्म में भगवद्दर्शन स्पर्शन का लाभ हमको मिल रहा है और इसी जन्म के अन्त में मुक्ति मिल रही है फिर दस बीस जन्म गर्भ में दुर्दशा भोगें, अनेक कुटुम्बों के वियोग में छाती कूटना, रोना चिल्लाना, अनेक रोगों से पीडित होकर प्राण-वियोग की व्यथा सहना इत्यादि कष्टों को सहते हुए दस बीस जन्म लेने की आशा करके देवों को पूजना और आखिर में भगवद्भक्ति पाना; ऐसे चक्रव्यूह में समझदार पुरुप क्यों पड़ेंगे।

अतः समझदार को चाहिये कि जड़ मूल से इतर अवलम्बों को छोड़कर सद्यह फल देने वाली स्वरूपानुरूप श्री रघुनाथजी की शरणागति को ही स्वीकार करें। यदि भगवान को ही साधन और भगवान को ही फल मानने से उत्तम अधिकारी कहाता है तो भगवत्प्राप्ति करने के लिये इतर अवलम्बों में पडकर मध्यम अधिकारी क्यों बने ?

अब रह गई कथा श्री रुक्मिणीजी की और श्री जानकीजी की। सो वाल्मीकीय रामायण में तो कहीं भी नहीं लिखा है कि देवीजी का पूजन जानकीजी ने किया था। उसमें यह भी नहीं लिखा है कि श्री रघुनाथजी लिङ्ग का पूजन किये थे। और आदि काव्य भी वही है। किया भी हो तो प्रपन्न मुमुक्षु भी ऐसा करें, यह बात नहीं है। यह सारा जगत जानता है कि श्री रुक्मिणीजी और श्री जानकीजी श्रीलक्ष्मीजी के अवतार थीं। श्रीकृष्ण भगवान तथा श्री रघुनाथजी परब्रह्म थे। उनके वे थे और उनकी वे थी। देवी के वरदान के बल से उनके लिये भगवान मिलना यह तो मजाक की बात है। तो भी नरलीला करने के लिये यदि देवी का पूजन किया तो भगवान ही के मिलन के लिए किया। आज दुनिया में भगवान के मिलने के लिए ही देवी वगैरह का पूजन करने वाली कोई है क्या ? यदि ईमान धर्म से भगवान ही के मिलने के लिए कोई देवी का पूजन करता हो तो अपने हृदय नाथ को साक्षी देकर करे, उसके लिए मध्यम अधिकारी का दर्जा शास्त्र ने रख ही छोडा है परन्तु यह शरणागत, अनन्य, चातक व्रत वाले को नहीं करना ठीक है। यदि कहो कि देवी की पूजा छोड़ देने से क्या देवीजी नाराज नही होंगी ? या देवता का अपमान नहीं गिना जायगा ?

सो सुनो ! यह तो तुम्हारी निराली भूल है। भगवान की प्राप्ति से और इतर देवताओं से क्या सम्बन्ध है कुछ भी नहीं। चातक पक्षी को एक दिन व्याध ने बाण मारा, वह पक्षी गगा की धार में गिरा यद्यपि प्यासा था और उसका मरण समय भी था परन्तु अपने स्वाति-बूँद के व्रत को याद करके उसने गगाजली में मुह न लगाकर ऊपर चोंच उठाई। उसी को श्री तुलसीदासजी कहते हैं कि :—

"वध्यो वधिक पर्यो पुण्य जल, उलटी उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रीति पट मरतेहु लगी न खोंच॥"

इस दोहे में उस चातक के स्वाति-बूँद की निष्ठा की कवि प्रशंसा करते हैं। गंगाजल त्याग देने से उस पक्षी को पापी अभागा नहीं बताते हैं। किन्तु उसकी एक निष्ठा की शतबार प्रशंसा करते हैं।

इसी प्रकार अपनी शरणागति निष्ठा पालने के लिए जो इतर देवताओं को छोड देगा, सारे जगत में उसकी कीर्ति गाई जायगी। एक निष्ठा पालने के कारण जो शरणागत स्त्री तथा पुरुष देवी-देवता को छोडे हुए हैं या छोडेंगे उनकी निन्दा समझदार लोग कभी नहीं कर सकेंगे। देखो! दुनियां में मीरा बाई का कितना नाम चल रहा है। मीरा बाई के समान चतुर, ज्ञानी, समझदार कौन होगा? इतनी बडी रानी होकर भी अनन्य निष्ठा पालने के लिए देवतान्तरों को जड़ी मूल से छोड़ करके एक श्री राधारमण के चरणों मे आत्मा को न्योछावर कर दिया।

इससे अनन्य शरणागतों को कभी भी देवी का व्रत, देवी का पूजन, देवी का पाठ, देवी को प्रणाम आदि नहीं करना चाहिए। जो कहो कि मीरा बाई के समान हम थोडे हो सकेंगे?

तो यह तुम्हारी भूल है। जीव मात्र परमात्मा की शरणागति करने के लिए अधिकारी हैं। जो कोई एक निष्ठा पकड़े वही मीरा बन सकता है।

देखो! श्री प्रह्लादजी भी एक निष्ठा ही के कारण भक्त शिरोमणि गिने गये। उनके पीछे भी दुष्टों ने एक निष्ठा छुडाने के लिए बहुत उपद्रव मचाया। उन्होंने मरण तो कबूल कर लिया परन्तु एक निष्ठा नहीं छोडी, उसीका फल है कि भगवान ने अपूर्व लोकोत्तर दर्शन दिया।

शास्त्रों में कई जगह कहा है कि सब देव भगवान के अंग हैं। यह भी कई जगह कहा है कि किसी का भी पूजन करे तो भगवान की ही पूजा है। परन्तु श्री गीता मे भगवान अपने मुख से कहते हैं कि हे अर्जुन! जो दूसरे देवो को भजते पूजते हैं वह पूजा तो हमारी है परन्तु वह पूजा विधि पूर्वक नहीं है। विधि पूर्वक तो वही हो सकती है जिसमे खास मेरी ही पूजा हो। वह यही श्लोक है :—

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

इसमें अविधि पूर्वक पद आया है ।

जब खुद ही भगवान देवताओं के द्वारा अपनी पूजा को विधि भ्रष्ट, विधि हीन बताते हैं तो उसका फल उत्तम कैसे हो सकता है । इससे अब भी भ्रम छोड़ एक मुकुन्द का ही सेवन करो । सातवें अध्याय गीता में देवतान्तरों के भक्तों को भगवान हृत-ज्ञान याने नष्ट ज्ञान बताते हैं । देखो :—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।

इस में हृत-ज्ञान पद है फिर :—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेधसाम् ॥

इसमें देवताओं के भक्तों को अल्प मेधा याने कम अक्ल बताया है । उनके दिये हुए फलों को नाशवान बता रहे हैं । जब कि सारे ब्रह्माण्ड के नाथ श्री लक्ष्मीकान्त हीं हैं ; वे ऐसा बारम्बार कहते हैं तो इसको जानकर भी ऐसा कौन होगा जो श्री रंगनाथ भगवान को श्री गोविन्द, गोपाल को छोडकर दूसरे देवों में फिजूल टाईम नष्ट करेगा ।

जब कि लाख चक्कर करके भी चाहे कितना भी इतर देवों में प्राण न्यौछावर कर दो परन्तु गोविन्द के चरणों में शरण हुए विना इस जीव का कहीं भी ठिकाना लगने का ही नहीं है । तो फिर इस बात को जानता हुआ भी कौन विचारवान होगा जो कि श्री निवास प्रभु को छोडकर विना मतलब दूसरे देवों में अपना अमूल्य समय नष्ट करेगा । फिर श्रीनन्द-नन्दन प्रभु के भजन नमन कीर्त्तन स्मरण ध्यानादि करने वाले बडभागियों को इस बात को मन मे लाने की भी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि :—

"हरि पूजै सब देव की पूजा ।"

जब कि सारे ब्रह्माण्ड के मूल नाथ श्रीनाथजी ही में प्राण न्यौछावर किया हैं तो फिर

किस की उपासना बाकी रही ? किसी की नहीं। यह बात तो युधिष्ठिरजी के राजसूय यज्ञ में निश्चय हो ही चुकी है कि श्री कृष्णजी की ही सेवा में सारे जगत की सेवा है। कहा भी है कि :—

शिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म बिचार विशारद॥
सबकर मत खगनायक एहा। करिय राम पद पंकज नेहा॥

इससे मुमुक्षु अनन्य शरणागतों को चाहिए कि बिलकुल भ्रम, शंका, तर्क, सदेह को आत्मा का नाशक समझ कर जड़ी मूल से छोड दे। और स्वरूप विरुद्ध अमूल्य-समय-नाशक जो इतर देवों का भजन पूजन वगैरह है उसको विल्कुल त्यागकर अपने अनादि पिता सच्चे बन्धु जो श्री लक्ष्मीकान्त हैं उन्हीं के शरणागत होकर रहे।

श्री रुक्मिणीजी तथा श्री जानकीजी ने देवी को पूजा था इस बात से यदि सारे ससार के स्त्री-पुरुषों को देवी पूजना चाहिये तो फिर इस बात को श्री मीरा बाईजी ने क्यों नहीं माना ? श्री मीरा बाईजी से उनकी सास बोली कि हमारे कुल के इष्टदेव याने कुलदेव देवीजी हैं। इससे इनको प्रणाम करो। सास की बात सुनकर मीरा बाईजी बोली कि :—"ना मैं पूजा गोरज्याजी ना पूजा अनदेव, मैं पूज्या रणछोड़ सासू थें कांई जानो भेव।" याने यह माथा तो श्री गोपालजी को छोड़कर दूसरे देवों को प्रणाम नहीं कर सकता है। फिर जब कि सारे जगत के कर्त्ताधर्त्ता श्री गोविन्द हैं तो दूसरे देव कुलदेव याने इष्ट देव कैसे बन सकते हैं। श्री लक्ष्मीपति को छोड़कर दूसरे देवों को कुल देव बनाना निराली भूल है।

इस बात को सुनकर सास ससुर पति आदिक सख्त नाराज होकर बोले कि समझ लो इससे तुम्हारा भला नहीं है। देवी के पूजन से सोहाग बढता है इससे प्रणाम करना ही पडेगा। इतना सुनकर श्री मीरा बाईजी बोलीं कि असल सोहाग तो श्री गोविन्द की शरणागति में है। सोहाग किसको कहते हैं यह बात आप लोग समझ ही नहीं पाये हैं। असल सोहाग या सौभाग्य तो उसी का है कि जिसके सिर्फ श्री गोविन्द धनी हैं। बाकी पति

सम्बन्ध तो अनित्य है। दस दिन आगे पीछे इस अनित्य पति सम्बन्ध का तो नाश अवश्य ही होने वाला है। देखिये ! हजारों स्त्रियां प्रारब्धाधीन संयोग वियोग को नही समझती हुई, भोली भाली बेचारी सोहाग के लिये देवीजी को कितने कष्ट सहकर पूजती है। तथा कितना कष्ट उठा उठाकर देवीजी का तथा गणपतिजी का व्रत करती हैं परन्तु उनमे बहुत सी सोहाग से हीन हो जाती हैं याने पति विहीन देखने में आती हैं।

इससे अनित्य सोहाग के लिये अपने नित्य सम्बन्धी गोविन्द गोपालकी अनन्यता पूर्वक शरणागति उसको समझदार स्त्री पुरुष कैसे छोड़ सकते है।

इससे हमारा माथा तो गोवर्धननाथ के हाथों बिक गया है अतः आप सब विशेष तकलीफ न करें। आप कहते हैं कि अच्छी तरह समझ लो, सो हमको अब क्या समझना है ? जब कि भगवान स्वयं अपने मुख से कहते हैं कि :—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'

याने सब वेदों से मैं ही जानने का विषय हूँ। सो जो श्रीमन्नारायण का शरणागत हो चुका, बाकी देवों का सम्बन्ध छोड़कर जो श्रीपति, प्राणों के प्राण, देवों के देव, सुख समुद्र, सर्व बन्धु, भगवान श्यामसुन्दर का चरण पकड़ लिया उसके लिए कुछ भी समझने को बाकी नहीं रहा। इससे आप लोगों के कहने से अपनी एक निष्ठा भंग नही कर सकती हूं। सौभाग्य रखना, सौभाग्य बढ़ाना किसी भी देवी दुर्गा के हाथ में नहीं है। जब कि अपने नियम को परमात्मा भी नहीं मिटाते हैं तो परवश रहने वाले सामान्य शक्तिमान देवताओं की क्या शक्ति कि प्रारब्ध को मिटाकर परमात्मा के नियम को मिटा सकें। जब कि दस हजार वर्ष तप करने पर, माथा काटकर भी अर्पण कर देने पर रावण सरीखे भक्त को ब्रह्मा जी के समान बडे देवता अमर नहीं कर सके, मृत्यु से नहीं बचा सके, तो दूसरे देवता सोहाग रख सकें, और प्रारब्ध को मेट सकें यह कैसे हो सकता है ? यदि सोहाग रखना देवताओं के हाथ होता तो उनके पूजने वाले, उन देवताओं के व्रत करनेवाले बिना सोहाग के क्यों हो जाते ? जब कि गीता में भगवान स्वय कहते हैं कि :—

'अहमादिर्हि देवानां ।'

यने हे अर्जुन ! सब देवों का आदि मैं हूँ। तो फिर भगवान के सिवा दूसरे देवों को कुलदेव, इष्ट देव बनाना या मानना बेसमझपना है।

इस प्रकार से मीरा बाई जी की बात सुनकर सबके सब सख्त नाराज हो गये। उनको घर से निकाल दिया और मारने के लिए अनेक प्रयत्न किया। परन्तु भक्त शिरोमणि श्री मीरा बाई जी ने उन दुष्टों से दिये हुए अनेक कष्टों को सहन किया। परन्तु अपनी अनन्यता को नहीं छोड़ा। इसी का तो फल है कि आज सारे जगत में उनकी कीर्त्ति-पताका फहरा रही है। इससे जो अपना भला चाहते हैं सो मीरा बाई जी के समान एक अनन्य निष्ठा को पकड़ें। इसी शरीर से भगवान ने बडभागिनी श्रीमीरा जी को ग्रहण कर लिया। अनन्य निष्ठा का ऐसा फल हुआ करता है कि सारे कुटुम्ब का त्याग, जंगलों का निवास सब कबूल कर लिया परन्तु देवी का पूजन नहीं किया। बस ! शरणागत को इसी तरह रहना चाहिए। देवी को न पूजने से कोई आज उनकी निन्दा नहीं करता है और देवी जी भी उनके ऊपर नाराज नहीं हुईं। भगवान ने भी उनको देवी द्रोही कायम नहीं किया और लोकोत्तर प्रसन्न होकर इसी शरीर से मिल गये। यह कथा भक्त माल में प्रसिद्ध है। जिसकी इच्छा हो देख सकता है। इससे अनन्य स्त्री पुरुषों को अपनी निष्ठा भंग नहीं करनी चाहिए। किन्तु श्री मीरा जी की नजीर लेकर निर्भय देवी वगैरह स्वरूप विरुद्ध देवताओं का पूजन वन्दन स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। जो अनन्य शरणागत हैं उनको तो अनन्यों का ही आचरण ग्रहण करना होगा क्यों कि वे मुमुक्षु हैं।

कहीं-कहीं लिखा है कि ब्रह्माजी जगत के रचयिता हैं; कहीं-कहीं लिखा है कि शिवजी ही ब्रह्माण्ड के कर्त्ता हैं; कहीं कहीं लिखा है कि देवी जी ही ससार को रचनेवाली हैं।

इन प्रसंगो को सुनकर भ्रम में नहीं पडना चाहिए। ऐसी भ्रमकारक पोथियाँ तो मुमुक्षुओं को पढ़ना सुनना भी नहीं चाहिए। क्योंकि शंका जल्दी घुस जाती है। शायद कही पढ़ने सुनने का काम भी पड़ जाय तो उसको ऐसा समझ लेना चाहिए कि दो प्रकार की सृष्टि होती है एक अद्वारक और दूसरी सद्वारक अद्वारक सृष्टि उसको कहते हैं जो लक्ष्मीपति

से होती है याने परब्रह्म से होती है। परब्रह्म लक्ष्मीपति को ही कहते हैं क्योंकि स्पष्ट शब्द वेदों में है कि :—

"ह्रीश्च लक्ष्मी श्चते पत्न्यौ'।

याने परब्रह्म परमात्मा की पत्नी लक्ष्मी जी हैं। प्रथम जो लक्ष्मीपति के द्वारा सृष्टि होती है उसी को अद्वारक सृष्टि कहते हैं।

वे कुछ मूल वस्तु बना देते हैं पश्चात देवों को रचते हैं फिर उनमें शक्ति ज्ञान प्रदान करते हैं, सृष्टि का तरीका बता देते हैं और अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। फिर जो रचना उन देवों के द्वारा होती है उसी का नाम सद्वारक सृष्टि है। क्योंकि उन्होंने परमात्मा की दी हुई शक्ति से रचना की न कि स्वतन्त्र। इसी से वे सद्वारक सृष्टि करनेवाले मूल कारण मूल रचयिता नहीं कहे जाते। जैसे—सोने की रचना परमात्मा ने की, कंकण की रचना सुनार ने की। लोहे की रचना परमात्मा ने की, चाकू की रचना लोहार ने की। ऊख की रचना श्रीपति ने की और गुड की रचना मनुष्य ने की। चमडे की रचना चतुर्भुज ने की और जूते की रचना चमार ने की। लकडी को लक्ष्मीकान्त ने रचा और बेलन को बढ़ई ने रचा। तो सोना, लोहा, ऊख, लकडी, चमडी की अद्वारक सृष्टि हुई और कंकण चाकू गुड़ बेलन जूता की सद्वारक सृष्टि हुई। कपास रूई की अद्वारक सृष्टि हुई धोती, टोपी, साडी वगैरह की सद्वारक सृष्टि हुई। जैसे गर्भ में रहते हुए बच्चे की सृष्टि अद्वारक हुई। जन्म के बाद मा-बाप की सेवा के द्वारा सृष्टि याने दूध वगैरह खिला पिलाकर बढ़ाना सद्वारक सृष्टि हुई।

जैसे एक लडका है उससे पूछते हैं कि तुम्हारे माँ-बाप का नाम क्या है? वह बताता है बाप का नाम बच्चू और माँ का नाम मीरा है। उसके कहने से तो माँ-बाप मीरा-बच्चू हुए परन्तु ये दोनों उस लडके के असल निर्माता नहीं हैं। याने मूल माँ-बाप नहीं हैं। क्योंकि माँ का गर्भाशय माँ का बनाया हुआ नहीं है। बाप का वीर्य-सेचन का यंत्र बाप का बनाया हुआ नहीं है। माँ का स्तन और दूध जिससे लडका पोषा जाता है वह माँ का बनाया हुआ नहीं है। ये कुछ भी न होते हुए भी मां-बाप तो वही दोनों कहलाते हैं परन्तु जब असली की खोज होने लगती है तो—

अनेक पुराणों में अनेक देवों को ब्रह्म बताया उन्हीं देवों को जगत का कारण बताया फिर इन दोषों को मिटाने के वास्ते, आखिरी का फैसला करने के वास्ते श्रीमद्भागवत की रचना की। उसमें खुलासा निर्णय कर दिया कि भगवान श्रीपति ही जगत के कारण हैं। सब देवता लोग उनके हुक्म से ही काम करते हैं। इससे बाकी पिछले पुराणों के जरिये जो कोई दूसरे देवों को ब्रह्म निर्णय करेगा या उनको जगत का मूल कारण कहेगा वह प्रमाण कोटि में नहीं लिया जायेगा क्योंकि श्रीमद्भागवत से पहिले के पुराणों में जो लक्ष्मी पति के सिवाय दूसरे देवों को परतत्व या ब्रह्म जगत कारण जो कुछ भी कहा गया है वह सब बिलकुल प्रशंसावाद है। यथार्थवाद बिलकुल नहीं है और वे सब पिछले इजलासों की डिग्री के समान श्रीमद्भागवत के निर्णय के सामने बिलकुल नाजायज हैं। क्योंकि वे सब श्रीमद्भागवत के पहिले से लिखित हैं और श्रीमद्भागवत आखिरी का पुराण है याने आखिरी का फैसला है।

श्रीमद्भागवत के पश्चात फिर व्यास जी के द्वारा दूसरे किसी पुराणों की रचना नहीं हुई। इससे श्रीमद्भागवत के निर्णय के अनुसार जो कुछ पुराणों में निर्णय होगा वह तो ग्राह्य है। इसके विपरीत जो इतर देवों को भगवान बताया है यह सब बिलकुल नाजायज है। इस प्रकार से निर्णय करके श्री वेदव्यास जी ने भगवान के सामने, भगवद्भक्तों के सामने सब देवों को नीचा दिखाया है। और बाकी देवताओं को तथा उनके भक्तों को बिलकुल छोटा बताया है। जैसे बाणासुर की लड़ाई के समय बाणासुर की हार बताई साथ-साथ शंकरजी का, गणेशजी का, षड़ाननजी का, शिवजी के पार्षदों का सब का ही पराजय बताया। श्री कृष्ण भगवान और अनिरुद्ध वगैरह की जीत बतलाई। हिरण्यकशिपु की हार बताई और प्रहलाद जी की जीत बताई ब्रह्मा को छोटा बतलाया तथा श्री नृसिंहजी को बड़ा बताया। इन्द्र को छोटा बतलाया और श्रीकृष्णजी को बड़ा बतलाया। इसी से इन्द्र की पूजा छुड़ा कर गोपों के द्वारा श्रीकृष्णजी की पूजा कराई। यमराज को नीचा बताकर यमपुरी से जबरदस्ती भगवान के द्वारा सांदिपन गुरु का मरा हुआ लड़का जीवित करके मँगवाया। राहु के झगड़े में सूर्य चन्द्र की सुदर्शन चक्र से रक्षा बताई। देवी भक्तों से जड़भरतजी को ऊँचा बताया और जड़भरतजी का देवी के द्वारा सन्मान बताया तथा देवी के ही द्वारा देवी भक्तों का नाश बताया।

पूर्व लिखित पुराणों में ब्रह्मा, शिव, देवी, सूर्य इत्यादि देवों को ब्रह्म बताया था आखिर निर्णय का पुराण जो श्रीमद्‌भागवत है उसमें श्रीमन्नारायण को याने श्री गोविन्द गोपाल को ही तो परब्रह्म निर्णय किया बाकी देवों को उनके सामने छोटा याने साधारण से साधारण निर्णय किया और उसको कथाओं के द्वारा सच्चा करके बताया। जैसे देवी के द्वारा देवी भक्तों का नाश और जड़ भरतजी का पक्षपात। बाणासुर के युद्ध समय श्री कृष्णजी की विजय और शिवजी की पराजय। प्रह्लाद की विजय तथा ब्रह्मा के प्रबल भक्त हिरण्यकशिपु का विनाश, भगवद्भक्त श्री विभीषणजी की विजय और शिव भक्त रावण वगैरह का विनाश। भगवान द्वारा इन्द्र का मान भंग। फिर यमराज को भगवान के द्वारा फटकार। भृगु के द्वारा शिव ब्रह्मा को क्रोधी ठहराना। श्री विष्णु भगवान को क्षमा सागर बताना, अम्बरीष के प्रसग में सुदर्शनजी के भय से भगे हुए दुर्वाशा को ब्रह्मा शकर की शरण जाने पर भी रक्षा न होना इत्यादि।

ऐसे अनेक प्रसंगो से भगवान श्री नाथजी को ही परतत्व परब्रह्म जगत का कारण, परमपद का मालिक निर्णय किया। बाकी देवों को साधारण असमर्थ बताया। इससे श्रीमद्भागवतजी का जो फैसला है इसके सामने परतत्व निर्णय में दूसरे पुराणों का प्रमाण लेकर बात करना निराली भूल है। यदि कहो कि कैसे जाना जाय कि श्रीमद्भागवत आखिरी का पुराण है।

सुनो! श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में लिखा है कि जब सनकादिकों ने नारद जी को सप्ताह सुनाया उस समय वहां सुनने के लिये मूर्ति मत सत्रह पुराण भी आये थे :—

श्रीमद्भागवत माहात्म्य अध्याय ३, श्लोक १५

'सप्तदश पुराणानि षट्शास्त्राणि तथाऽययुः'।

इसी से जाना जाता है कि श्रीमद्भागवत आखिरी का पुराण है। इसके निर्णय के सामने इसके विपरीत, दूसरे पुराणों का परतत्व निर्णय में प्रमाण, किसी प्रकार भी इन सब व्यवदाओं को समझने वाले के सामने काम नही दे सकता।

दूसरे ही अध्याय श्रीमद्भागवत में मुमुक्षुओं के लिये यही उपदेश कर दिया कि 'मुमुक्षुओं को चाहिए कि घोर रूप वाले ब्रह्मा शकरादि को छोड़कर नारायण के शान्त अवतार

जो श्री राम कृष्णादिक हैं उन्हीं का भजन करे'। श्रीमद्भागवत की रचना के पहिले व्यासजी को उद्वेग ही रहता था किन्तु जब नारदजी के उपदेश से श्रीमद्भागवतजी की रचना की तो उसके बाद ही उनके हृदय में शान्ति प्राप्त हुई। यह प्रसंग प्रथम स्कंध पांचवे अध्याय में नारदजी और व्यासजी के सम्वाद में लिखा है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध प्रथम अध्याय के दूसरे ही श्लोक में व्यासजी कह चुके हैं कि :—

"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र।"

याने इस श्रीमद्भागवत के कपट रहित धर्म का निर्णय करता हूं। इससे आखिरी पुराण श्रीमद्भागवत के निर्णीत सिद्धान्त के सामने पिछले पुराणों के प्रमाण काम नहीं दे सकते। इस कारण जहां कहीं भी किसी देवों के द्वारा सृष्टि का प्रसग आवे वहां सद्वारक सृष्टि समझना चाहिए।

श्री गीताजी बादशाही फैसले के समान है श्री गीता में भी स्वय भगवान कहते हैं कि :—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। गीता अ० १० श्लोक ८

पितामहस्य जगतो माताधाता पितामहः॥ गीता अ० ९ श्लोक १७

याने हे अर्जुन! मैं ही जगत कारण हूँ मुझ से ही सब जगत होता है।

'अहमादिर्हि देवानां'

सब देवों का आदि मैं हूँ। ब्रह्मा का भी आदिकर्त्ता मैं हूँ। अब इस कहीं का भी वाक्य प्रमाण कोटि में नहीं दिया जा सकता है क्योंकि श्रुति देकर श्रीलक्ष्मीपति को ही परब्रह्म बताती है। श्री गीताजी सब उपनिषदों भी आखिरी सिद्धान्त सर्वत्याग पूर्वक जगत्कारण श्रीपति की शरणागति ही

का गेहूँ, पच्चीस हजार के चावल, पच्चीस हजार का सोना, पच्चीस हजार की चांदी, पच्चीस हजार का सूत चिठ्ठी देखते मात्र भेजना। चिठ्ठी में इतना लिखने के बाद उसको इतना माल मँगाना नहीं जँचा फिर नीचे एक पक्ति में लिख दिया कि सिर्फ पच्चीस हजार का सूत ही भेजना बाकी माल नहीं। इतना लिखकर चिठ्ठी बन्द करके आढतिए के पास भेज दी। वह चिठ्ठी आढतिए के पास पहुंची उस आढतिए ने नीचेकी लकीर पढे बिना ऊपर का सब माल भेज दिया। पीछे साहूकार और आढतिए मे झगडा फैला। उस झगडे मे साहूकार की जीत हुई और आढतिया हार गया। जीत इसी बात पर हुई कि आखिरी की लकीर पढे बिना ऊपर का माल तुमने क्यों भेजा। वही प्रथा आजतक साहूकारों में चली आती है।

इसका साराश यह हुआ कि आखिरी की लकीर के सामने ऊपर की सैंकडों लकीरें नाजायज हो गई। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के परतत्त्व निर्णय में, परब्रह्म निर्णय में, जगत-कारण निर्णय में श्री मद्भागवत के विपरीत किसी भी पुराण का प्रमाण काम नहीं दे सकता। आखिरी के फैसले को लक्ष न करके जो पिछले पुराणों के लिखित सामान्य देवों को ही परब्रह्म मानकर उपासना करेगा सो आढतिए के समान और हिरण्यकशिपु के समान धोखा खाकर पीछे बहुत पछतावेगा और देवों को भी दुर्लभ इस मनुष्य जन्मका अमूल्य समय निकल जाने के पीछे पछताने से भी कुछ हाथ नही आवेगा।

अतः लक्ष्मीपति के सिवा किसी जगह भी किसी देव से जगत सृष्टि का वर्णन आवे तो सद्वारक ही समझना अथवा प्रशसावाद समझना, पर कभी संशय में नहीं पडना।

कही कहीं पूजा विधि में भगवान के साथ में नीचे दूसरे देवों के भी पूजन का वर्णन आया हुआ है उसको देखकर भ्रम चक्कर में नही पडजाना क्योंकि वह अनन्य शरणागतों के लिए नहीं है। अनन्य शरणागतों का कर्त्तव्य तो श्री मीरा बाईजी की कथा के द्वारा बता ही दिया है।

यद्यपि उन स्थलों पर अधिकारी का नियम नही बताया है। परन्तु उसमें अनुमान से समझ लिया जाता है कि मिश्रित उपासना को अनन्य भागवतों के लिए तो शास्त्रों ने मना किया है। इससे अन्यदेव मिश्रित जो भगवत पूजा है सो अनन्य भागवतो के लिये विधान नहीं है। ऐसा समझना चाहिये जैसे किसी जगह चिकित्सा ग्रन्थो में लिखा है कि अमुक रोगी को प्याज

जो श्री राम कृष्णादिक हैं उन्हीं का भजन करें'। श्रीमद्भागवत की रचना के पहिले व्यासजी को उद्वेग ही रहता था किन्तु जब नारदजी के उपदेश से श्रीमद्भागवतजी की रचना की तो उसके बाद ही उनके हृदय में शान्ति प्राप्त हुई। यह प्रसग प्रथम स्कंध पांचवे अध्याय में नारदजी और व्यासजी के सम्वाद में लिखा है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध प्रथम अध्याय के दूसरे ही श्लोक में व्यासजी कह चुके हैं कि :—

"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र।"

याने इस श्रीमद्भागवत के कपट रहित धर्म का निर्णय करता हूँ। इससे आखिरी पुराण श्रीमद्भागवत के निर्णीत सिद्धान्त के सामने पिछले पुराणों के प्रमाण काम नहीं दे सकते। इस कारण जहां कहीं भी किसी देवों के द्वारा सृष्टि का प्रसंग आवे वहा सद्वारक सृष्टि समझना चाहिए।

श्री गीताजी वादशाही फैसले के समान है श्री गीता में भी स्वय भगवान कहते हैं कि :—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। गीता अ० १० श्लोक ८

पिताहमस्य जगतो माताधाता पितामहः॥ गीता अ० ९ श्लोक १७

याने हे अर्जुन ! मैं ही जगत कारण हूँ मुझ से ही सब जगत होता है।

'अहमादिर्हि देवानां'

सब देवों का आदि मैं हूँ। ब्रह्मा का भी आदिकर्त्ता मैं हूँ। अब इस वाक्य के विपरीत कहीं का भी वाक्य प्रमाण कोटि में नहीं दिया जा सकता है क्योंकि श्रुति भी खुलासा नाम देकर श्रीलक्ष्मीपति को ही परब्रह्म बताती है। श्री गीताजी सब उपनिषदों का सार है इनका भी आखिरी सिद्धान्त सर्वत्याग पूर्वक जगत्कारण श्रीपति की शरणागति ही से जीव का कल्याण है। अतः आखिरी का फैसला समझे बिना पिछले के निर्णयों के ऊपर स्थिर होकर रहने वाला या उससे झगड़ने वाला धोखा खा जाता है। जैसे एक बड़े साहुकार ने अपने किसी आढ़तिये को चिट्ठी लिखी कि पच्चीस हजार की चीनी, पच्चीस हजार का घी, पच्चीस हजार

का गेहूँ, पच्चीस हजार के चावल, पच्चीस हजार का सोना, पच्चीस हजार की चांदी, पच्चीस हजार का सूत चिट्ठी देखते मात्र भेजना। चिट्ठी में इतना लिखने के बाद उसको इतना माल मँगाना नहीं जँचा फिर नीचे एक पक्ति में लिख दिया कि सिर्फ पच्चीस हजार का सूत ही भेजना बाकी माल नहीं। इतना लिखकर चिट्ठी बन्द करके आढतिए के पास भेज दी। वह चिट्ठी आढतिए के पास पहुंची उस आढतिए ने नीचेकी लकीर पढे विना ऊपर का सब माल भेज दिया। पीछे साहूकार और आढतिए में झगडा फैला। उस झगडे मे साहूकार की जीत हुई और आढतिया हार गया। जीत इसी बात पर हुई कि आखिरी की लकीर पढे विना ऊपर का माल तुमने क्यों भेजा। वही प्रथा आजतक साहूकारों में चली आती है।

इसका साराश यह हुआ कि आखिरी की लकीर के सामने ऊपर की सैकडों लकीरें नाजायज हो गई। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत के परतत्व निर्णय में, परब्रह्म निर्णय में, जगत-कारण निर्णय में श्री मद्भागवत के विपरीत किसी भी पुराण का प्रमाण काम नही दे सकता। आखिरी के फैसले को लक्ष न करके जो पिछले पुराणों के लिखित सामान्य देवों को ही परब्रह्म मानकर उपासना करेगा सो आढतिए के समान और हिरण्यकशिपु के समान धोखा खाकर पीछे बहुत पछतावेगा और देवों को भी दुर्लभ इस मनुष्य जन्मका अमूल्य समय निकल जाने के पीछे पछताने से भी कुछ हाथ नहीं आवेगा।

अतः लक्ष्मीपति के सिवा किसी जगह भी किसी देव से जगत सृष्टि का वर्णन आवे तो सद्वारक ही समझना अथवा प्रशसावाद समझना, पर कभी संशय में नहीं पडना।

कही कहीं पूजा विधि में भगवान के साथ में नीचे दूसरे देवों के भी पूजन का वर्णन आया हुआ है उसको देखकर भ्रम चक्कर में नहीं पडजाना क्योंकि वह अनन्य शरणागतों के लिए नहीं हैं। अनन्य शरणागतों का कर्त्तव्य तो श्री मीरा बाईजी की कथा के द्वारा बता ही दिया है।

यद्यपि उन स्थलो पर अधिकारी का नियम नही बताया है। परन्तु उसमें अनुमान से समझ लिया जाता है कि मिश्रित उपासना को अनन्य भागवतों के लिए तो शास्त्रों ने मना किया है। इससे अन्यदेव मिश्रित जो भगवत पूजा है सो अनन्य भागवतों के लिये विधान नहीं है। ऐसा समझना चाहिये जैसे किसी जगह चिकित्सा ग्रन्थो में लिखा है कि अमुक रोगी को प्याज

खिलाने से अमुक रोग चला जावेगा। इससे यही समझना चाहिये कि जिन लोगों में खाने की चाल है यह विधान उन्हीं लोगों के लिए है किन्तु दुग्धहारी रोगी के लिए यह नहीं है।

इसी प्रकार शास्त्र अनेक प्रकार के अधिकारियों के लिए अनेक प्रकार की उपासना, प्रकार के तीर्थ, व्रत, जप, तप विधान करता है। वह एक के लिये नहीं हो सकता। जो अधिकारी होगा वह अपने अधिकार के अनुगुण नियम को ले सकता है। जैसे नर्मदा रम्य चातक पक्षियों के लिए निकम्मा है क्योंकि वे लोग स्वाति-बूद के व्रत वाले हैं ऋतु गमन का विधान ब्रह्मचारियों के काम का नहीं है।

इसी प्रकार इतर देवों के साथ जो परमात्मा का पूजन, वन्दन वगैरह का विधान है मिश्रित अधिकारियों के लिए है। शुद्ध अधिकारी जो अनन्य भागवत लोग हैं उनके लि नहीं है उनको तो श्री भगवान का, भगवन्पार्षदों का, अपने उपकारी अनन्य गुरुवर्यों पूजन-वन्दन उनके अधिकार के याने स्वरूप के अनुकूल है। कही कही ऐसा भी कहा है देवी ने भगवान को प्रगट किया। कहीं ऐसा भी लिखा है कि शिव ही से विष्णु हुए।

ऐसी थोथी वातें सुनकर कभी भूलकर भी भ्रम में नही पड़ना चाहिए तथा न देवी और न शिव को ही परब्रह्म का कारण मानना चाहिए।

भगवान तो बड़े कृपालु हैं! बड़े किलोली हैं! चाहे जहाँ से प्रगट हो सकते हैं; जिसको बड़ाई दे सकते हैं। क्या किसी के नजदीक से क्रीड़ा के निमित्त भगवान प्रग जाँय, तो वह भगवान का कारण बन सकता है? श्री दशरथजी को भगवान ने अपना बनाया, इससे क्या दशरथजी भगवान के कारण बन सकते हैं? अदितीजी से भगवान हुए; तो क्या अदितीजी भगवान का कारण बन सकती हैं? कदापि नहीं। वह श्रीपति परम कृपालु हैं; यह तो उनका किलोल है।

इसी प्रकार देवी वगैरह से भगवान हुए; कहीं भी ऐसा सुनकर भगवान की कृपालुता ही स्मरण करना, किन्तु भ्रम में पड़कर ऐसा नहीं समझ लेना कि भगवान का कोई कारण

सकता है। यदि भगवान का कारण देवी होती तो उसे मीरा जी क्यों छोड देती ? गोविन्द के कारण यदि शिवजी होते तो घण्टाकर्ण को मुक्ति क्यों न देते ? इससे ये सभी बातें प्रशसा-वाद हैं ऐसा समझो। यदि कभी हुआ भी हो तो भगवान की क्रीडा समझो।

यदि संशय में पड़कर उल्टा ज्ञान पकडोगे तो हिरण्यकशिपु के समान धोखा खाओगे। जब कि श्री कौशल्याजी, श्री देवकीजी, श्री यशोदाजी, भगवान की माताएँ कहाकर श्री भगवान का कारण नहीं हो सकीं तो यदि कहीं ऐसी कथा हो कि देवी से दामोदर हुए, तो ऐसा कहने से देवी दामोदर से कैसे बढ़कर हो सकती है ? इससे कभी भी भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए।

कहीं कहीं ऐसा भी लिखा है कि ज्योतिर्लिङ्ग का पता भगवान ने भी नहीं पाया।

सुनो ! इसमें आश्चर्य ही क्या है ? और कौनसी नई बात है ? मैं तो पहिले ही कह चुका हूँ कि भगवान बडे किलोली हैं। ज्योतिर्लिङ्ग का पता लगाने में अज्ञानी और अशक्त बनें तो कौन आश्चर्य है। वे तो रावण के जानने में भी अशक्त बन बैठे थे। श्री जटायुजी से पूछा कि वह राक्षस कहा रहता है ? पता बताइए उन्होंने तो सूर्य से पूछा कि हमारी प्रिया को कौन ले गया बताओ ? उनको तो अज्ञानी बनने में इतना स्वाद मिला कि वृक्षों से भी पूछा कि हमारी प्रिया को कौन ले गया बताओ ? यह चौपाई है :—

'पूछत चले लता अरु पाती।'

श्लोक—रे वृक्षाः ! पर्वतस्थाः।

श्री जानकीजी को जानने के लिए सुग्रीव के भरोसे स्फटिक शिला पर चौमासा बिताया। दुनियाँ भर में वन्दरों को भेजा। जब इस तरह अज्ञानी बनने में श्री भगवान को किसी ने भी अज्ञानी अशक्त नहीं माना तो किसी चीज के पता न लगाने से उनको अज्ञानी अशक्त कोई समझदार कैसे मान सकता है ? यदि कहो कि हारना ही तो हुआ तो इसमें कौन आश्चर्य है—

"उवाह कृष्णो भगवान् दामानं पराजितः"।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि खेल में कृपा के वश होकर भगवान ने हार करके श्री दामा

गोप को अपनी पीठ पर चढ़ा कर भाण्डीरकवन ले गये। तो क्या लीला में हार मानी इससे किसी ने श्री दामा को परब्रह्म माना, कदापि नहीं। लीला रस बढाने के लिए कई बार राक्षसों के सामने बेहोश के समान गिर-गिर गये। हमनुमान जी ने औषधि लाकर होश कराया। रण शोभा के लिए नागपाश मे बँध गये उसको गरुडजी ने आकर छुडाया। इत्यादि अनेक प्रसंगों में लीला का स्वारस्य बढ़ाने के लिए भगवान अज्ञानी अशक्त बने। गरुड़जी, हनुमान जी उनके सहायक बने। ऐसे अनेक जगह अज्ञानी अशक्त बनने पर भी किसी भी मुनिने गरुड़जी या हनुमानजी को परब्रह्म कायम नही किया और न कृपा लीला के अतिरिक्त किसी ने भगवान को अज्ञानी अशक्त ही माना। तो प्रशसावाद के अन्दर का प्रसंग जो भगवान के द्वारा लिङ्ग का पता न लगा सकने की कथा है। उसको सुनकर किञ्चित मात्र भी अक्लवाला भगवान को अज्ञानी अशक्त कैसे मान सकता है।

इससे इतर देवों के बाबत जो तामस, राजस पुराणों में चित्रकेतु की औरतों के समान जो प्रशंसवाद है उसको सुनकर कभी भी भ्रम में नही पडना। किन्तु श्री लक्ष्मी-कान्त के चरणशरण हुए विना स्वप्न में भी कल्याण नहीं होगा। यह अडोल श्रुति सिद्धान्त समझकर उन्हीं के अनन्य शरणागत होकर निर्द्वन्द पड़े रहना, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

यदि कहो कि तीनों एक नहीं हैं तो "ब्रह्मा, विष्णु, महेश" ऐसी तीनो की एक साथ गणना क्यों की जाती है ?

एक पंक्ति में गणना होने से क्या ब्रह्मा और शिव भगवान के बराबर हो सकते हैं ? कदापि नहीं। क्योंकि रघुकुल की गणना में अज, दशरथ, राम, लव कुश ऐसी गणना होती है। तो क्या एक पंक्ति में गणना होने से श्रीरामजी के बराबर और रघुवशी हो सकते हैं ?

इसी प्रकार यदुकुल की गणना में शूर, वसुदेव, श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न इस प्रकार सब गिने जाते हैं। परन्तु श्रीकृष्णजी के बराबर कोई भी नहीं माना जाता। इसी तरह एक पंक्ति में गणना होने से भगवान के बराबर ब्रह्मा, शिव कभी नही हो सकते।

एक स्त्री ने एक लड़के को जन्म देकर छोड दिया, दूसरी उसको मारने का मौका देखती है। तीसरी आकर उस लडके का पालन करने लगी। जैसे उन दोनों स्त्रियों

की अपेक्षा पालन करनेवाली का ही दर्जा बडा गिना जा सकता है। उसी प्रकार सृष्टि संहार करने वाले ब्रह्मा, शिव की अपेक्षा पालन करनेवाले श्री विष्णु भगवान को ही शास्त्रकारों ने बडा स्वीकार किया है। एक पुरुष ने अपना चरण फैलाया है, दूसरा उस चरण को कमण्डल में धो रहा है, तीसरा पुरुष साष्टांग दडवत करके उस चरणामृत को अपने कल्याण के लिए सदाके लिए अपने मस्तक पर धारण कर रहा है। इन तीनों में जैसे चरण फैलाने वाला ही बडा कहा जा सकता है। उसी प्रकार भगवान त्रिविक्रम ने चरण फैलाया, ब्रह्माजी ने कमंडलु में उसे धोया, शिवजी अपने कल्याणार्थ उस चरणामृत को अपने मस्तक जटा में धारण किया। इस कथा से भी चरण फैलानेवाले त्रिविक्रम रूप धारी भगवान श्री नारायण ही बडे हुए। चरण धोने वाले, चरणामृत लेने वाले उनके अनुचर ही हो सकते हैं।

ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, सूर्य, शक्ति याने देवी इन सबके बावत मैं तुमको अच्छी तरह से समझा चुका कि ये लोग कोई भी परब्रह्म नहीं है। बल्कि ये सभी जीव हैं। अपने-२ पुण्य कर्मों के द्वारा देव योनि को पाये हुए हैं। भगवान की आज्ञानुसार अपनी अपनी ड्यूटी बजाते हैं। इससे इन सबों की आशा छोड़कर, अवलम्ब छोडकर अकाट्य श्रुतिसिद्ध जगत कारण जो लक्ष्मीपति हैं उन्हीं के शरणागत होकर रहो। इससे तुम्हारा इसी जन्म के अन्त में भव सागर से बेडा पार हो जायगा। शास्त्रों के चक्रव्यूह में पडकर "ह्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ" इस अकाट्य श्रुति सिद्धान्त से निर्णीत जगत कारण परब्रह्म लक्ष्मीपति को छोड़कर इतर देवों के बावत जो प्रशसावाद है उसमें पड़कर हिरन्यकशिपु के समान अपना जन्म बरबाद नहीं कर देना। इसी के लिए इन सब बातों को एक एक करके तुमको खुलासा समझाया है। इससे भ्रम छोडकर भागवतों को तो इतर देवों को छोड़कर सदा अनन्य शरणागत होकर रहना चाहिए।

बहुत से कहते हैं कि गायत्री का जप करने के कारण द्विज मात्र शाक्त हैं। यह बात कहने वालों की भी निराली ही भूल है। क्योंकि गायत्री से और शाक्त से सम्बन्ध ही क्या है। गायत्री तो एक वैदिक छन्द है सिर्फ शब्द मात्र स्त्रीलिङ्ग है परन्तु गायत्री का विषय तो परमात्मा है जैसे दार शब्द पुलिंग है और उसका अर्थ स्त्री होता है। पुलिंग में पाठ होने के कारण

जैसे दार शब्द का अर्थ पुरुष नहीं हो सकता, उसी प्रकार गायत्री शब्द स्त्रीलिंग होने के कारण इसका विषय स्त्री नहीं है किन्तु इसका अर्थ परमात्मा विषयक है। देखो ! आगे लिखता हूँ, गायत्री का अर्थ यह है :—

"जो हम लोगों की बुद्धि को प्रेरणा करने वाला है उस जगत के कारण परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट तेज जो उनका लावण्य है और सौशील्यादि गुण हैं, उसका ध्यान करता हूँ।" बस ! इतना यही गायत्री का अर्थ होता है। इसमें "यच्छब्द" भी पुलिङ्ग है, 'सवितृ' शब्द भी पुलिंग है इसलिए गायत्री अर्थ से और शक्ति से कोई सम्बन्ध ही नही है। अतः गायत्री जप करने वालों को उसका अर्थ जाने विना शाक्त वताना निराली भूल है।

कोई-कोई अपनी अज्ञानता से कहते हैं कि गायत्री का अर्थ सूर्य है। गायत्री का विषय सूर्य भी नहीं है क्योंकि वुद्धि को प्ररणा करना परब्रह्म अन्तर्यामी भगवान का कार्य है दूसरे देवों का नहीं। जब कि सूर्य परब्रह्म नही हो सकते हैं तो बुद्धि के प्ररक कैसे हो सकते हैं ? जब कि रावण के सामने सूर्य तप नही सकते थे रावण से भयभीत होकर रहते थे :—

'यस्य सूर्यो न तपति भीतो यस्य च मारुतः ।'

यह श्लोक वाल्मीकीय रामायण वाल कान्ड का है। इसका अर्थ उपर कह चुके हैं। इससे 'सवितृ' शब्द भी सूर्यदेव में गौण है; श्री पति ही में मुख्य है। जैसे किसी लड़के का नाम गोविन्द है परन्तु गोविन्द शब्द भगवान में ही प्रधान है लड़के में गौण है। उसी प्रकार 'सवितृ' शब्द सूर्य में सामान्य और परमात्मा में मुख्य समझो।

इससे गायत्री का अर्थ भगवान को ही समझना चाहिए। कहीं-कही प्रशंसावाद में वायु देव को भी ब्रह्म बताया है :—जैसे वेद मन्त्र 'नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि' इत्यादि। परन्तु यह प्रशंसा मात्र ही है वायु में भी भगवान की दी हुई कुछ शक्ति है जिससे वे कुछ काम करते हैं। तो भी वायु परब्रह्म नही हो सकते क्योंकि रावण के सामने वे भी डरकर रहते थे। जैसे बाल्मीकीय का प्रमाण पहिले कह चुका हूँ।

'भीतो यस्य च मारुतः ।'

इससे भ्रम में पड़कर वायु को ही परब्रह्म नहीं मान लेना क्योंकि परब्रह्म रावण से क्यों डर सकता है ?

देवताओं के प्रति वेदादि शास्त्रों में ब्रह्म कह-कह कर नृग की गायों के समान जो मिथ्या प्रशंसा की है उसको तुम्हें भली भाँति समझाकर चेता दिया है कि सिवाय लक्ष्मीपति के कोई भी देव जगत का कारण नहीं है। याने परब्रह्म नहीं है। जिन जिन ने वेद-वाद के चक्कर में पड़कर लक्ष्मीकान्त के सिवाय शिव, ब्रह्मा, देवी वगैरह को परब्रह्म, जगत्कारण भगवान मानकर उपासना की, उन सबों ने धोखा खाया। जैसे हिरण्यकशिपु की नजीर मैं कई वार दे चुका हूँ। इससे मैं आशा करता हूँ कि अब तुम इस बात में याने तत्व निर्णय के प्रसग में कभी भ्रम में नहीं पड़ोगे

अब मैं तुमको एक बात और समझाये देता हूँ कि पहिले कही हुई शास्त्रीय शैली के अनुसार कितनी ही जगह इस जीव को भी ब्रह्म कहा है। इस प्रकरण को भी सच्चे अनन्य मुमुक्षुओं को भली भाँति समझ लेना चाहिए। क्यों कि जो इस विषय को भली भाँति नहीं समझ पाते हैं वे वेचारे अपनी गर्भ दशा को भूल कर काल, कर्म, जन्म, मरण, ज्वर, भूख, प्यास आदि की परवशता को भी भूल कर बिगड़ैले दिमाग के समान अपने को ब्रह्म मानकर भगवान का पाठ, पूजन, दर्शन, कीर्त्तन, ध्यान, वगैरह को छोड़कर अपने मनुष्य जन्म को, मिथ्या ज्ञान में पड़कर बरबाद कर डालते हैं। इससे खूब ध्यान देकर इस प्रसग को सुनो और मनन करो।

किसी जगह ऐसा लिखा है 'जीवो ब्रह्म'। कहीं कहीं ऐसा भी कहा है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'। याने जीव ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ। कहीं-कहीं ऐसा लिखा है कि 'सोऽहमस्मि'। याने वही मैं हूं। कहीं ऐसा भी लिखा है कि 'तत्त्वमसि' याने वही तुम हो। कहीं ऐसा भी लिखा है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। याने यह सब ब्रह्म ही है। कहीं कहीं ऐसा भी कहा है कि अपने में और ब्रह्म में भेद मानता है उसको भय होता है। कहीं कहीं यह भी है कि एक मिट्टी के पिण्ड से जैसे अनेक पुरवा, परई, गगरी, घड़ा बनते हैं और फिर किसी काल में

वह पूर्व मिट्टी के ही स्वरूप में हो जाते हैं। सिर्फ उसके नाम रूप दूसरे दिखते हैं परन्तु वे सब मिट्टी से भिन्न नहीं हैं।

उसी प्रकार परब्रह्म से ही यह सारा दृश्य हुआ है सिर्फ नाम रूप मात्र दूसरा है। परन्तु कोई भी चीज हो चाहे माया हो या जीव सब के सब ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं।

कहीं-कहीं ऐसा भी है कि जैसे सोने से अंगूठी, कड़ा कुंडल, मुकुट, नथ वगैरह अनेक भूषण बनते हैं परन्तु वे सब गहने सोने से (स्वर्ण से) न्यारे नहीं हैं सिर्फ नाम रूप उनके भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु परमार्थतः वे सब स्वर्ण ही हैं। गला देने से उनका नाम रूप मिट जाता है। फिर सोने का ही गोला बन जाता है।

उसी प्रकार ब्रह्म ही गाय, भैंस, स्त्री, पुरुष, देव, दानव, कूकर, सूकर, राजा, प्रजा, आदि अनेक रूप हो गया है। व्यवहार में ऐसा है परन्तु वास्तव में फिर सब नाम रूप मिट-कर ब्रह्म ही हो जाता है। कहीं ऐसा भी कहा है कि जैसे विशेष अग्नि में से एक कण उड़कर या छिटक कर अलग हो जाता है। उसी तरह ब्रह्म का ही कुछ अंश फरक होकर जीव बन गया है।

कहीं ऐसा भी लिखा है कि जसे घड़े की उपाधि से आकाश घड़े में आ गया है। घड़ा फूट जाने पर महाकाश में मिल जाता है। उसी प्रकार माया की उपाधि से ब्रह्म का ही कुछ अंश जीव बन जाता है। फिर माया की उपाधि मिट जाने से जीव ब्रह्म का ब्रह्म ही हो जाता है।

कहीं ऐसा कहा है कि जैसे गंगा बहती है तो बीच में कुछ विशेष रेती और बालू का घिराव हो जाने से एक कोल पड़ जाता है। वह भाग धारा से अलग हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म में माया आ जाने के कारण कुछ भाग जीव बन जाता है। फिर समय आने पर जीव ब्रह्म हो जाता है।

कहीं पर ऐसा आता है कि जैसे दर्पण में मुँह देखते हैं तो उसमें अपना शरीर मुँह सभी दिखता है। दर्पण फोड़ देने से दोनों एक हो जाते हैं। उसी प्रकार ब्रह्म में माया आ-

जाने से वही अपने को जीव मान लेता है। फिर ज्ञान होने से अपने को ब्रह्म स्वरूप जान लेता है।

कहीं-कहीं ऐसा भी आता है कि जैसे रस्सी में भ्रम वश साँप याने सर्प का भान होने लगता है, जल बिन्दु में मोती का भ्रम हो जाता है, यथार्थ देखने से भ्रम छुट जाने पर रस्सी, जल बिन्दु, सीपी, के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म में जगत जीव इत्यादि का भ्रम हो गया है। वास्तव रूप जानने के बाद फिर सब ब्रह्म ही है, ऐसा समझ में आजाता है।

कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि जैसे एक सिंह का बच्चा बकरियों के बच्चों में मिलकर अपने को बकरी मानने लगता है फिर किसी सिंह के चेता देने से मैं सिंह हूँ ऐसा जान जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म मिथ्या भ्रम में पड़कर अपने को जीव मानने लगा है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इसका अर्थ जानने के बाद भ्रम छोड़कर अपने को ब्रह्म का ब्रह्म समझने लगता है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि ब्रह्म माया में फँसकर अपने को जीव मान बैठा है। 'सोहमस्मि', 'तत्त्वमसि' 'अहंब्रह्मास्मि' इन वाक्यों का ज्ञान हो जाने से ब्रह्म का भ्रम मिट जाता है तब वह अपने स्वरूप को समझ जाता है।

कोई कहता है कि ब्रह्म माया के वश हो कर अपने को जीव मान रहा है। गुरु कृपा से 'सोहमस्मि' इस वाक्य का ज्ञान हो जाने पर अपने को यथार्थ ब्रह्म मानने लगता है।

कोई ऐसा भी कहता है कि माया ने ब्रह्म को जबरदस्ती जीव बना रखा है। वाक्य ज्ञान हो जाने से जीवत्व छूट जाता है। कहीं-कहीं ऐसा कहा है कि जैसे अनेक घड़ों में सूर्य के अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, घड़ा फूट जाने से सूर्य ही हो जाता है। उसी प्रकार माया मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पडने से जीव हो गया है उपाधि मिट जाने पर ब्रह्म का ब्रह्म ही रह जाता है।

सी प्रकार अनेकों जगह लिखा हुआ है यह ऐसा चक्र-व्यूह है कि भगवत्कृपा बिना इसको समझना और इससे निकल कर भगवान के शरणागत होना नहीं बनता है। बहुत पढे लिखे मनुष्यों को भी इस चक्रव्यूहने अपने चक्कर में फँसाकर सत्यानाश कर डाला है।

प्रमाण आता है उस ब्रह्म शब्द का अर्थ क्या परमात्मा है या और कुछ ? यदि कहें कि उसका अर्थ परमात्मा है, तो फिर इस जीव में परमात्मा के लक्षण मिलाना पड़ेगा। यदि परमात्मा का लक्षण इसमें नहीं मिलेगा तो फिर यह समझना होगा कि यहाँ ब्रह्म शब्द का भाव कुछ और है परमात्मा अर्थ नही। इसको खुलासा करनेके लिए एक दृष्टान्त कहते हैं सुनो !—

"किसी एक व्यक्ति का नाम ओंकारदास था। उनको एक महात्मा मिले। हाथ जोड़कर ओंकारदास ने उनसे पूछा कि—'संसार से उद्धार होने के लिए हमको कुछ उपाय बताइये'।

वह महात्मा बोले कि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस मंत्र का जाप करो। इससे संसार बन्धन से छूट जाओगे।

इतना सुनकर ओंकारदास ने पूछा कि 'महात्मन् इस वाक्य का अर्थ हमको समझा दीजिए'।

वह महात्मा बोले कि 'बच्चा मैं ब्रह्म हूँ इस वाक्य का यही अर्थ है'।

फिर ओंकारदास ने पूछा कि 'ब्रह्म शब्द का खुलासा अर्थ बताइये।

वह महात्मा बोले कि 'ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा होता है।

फिर ओंकारदास ने पूछा कि 'महाराज ! अहं ब्रह्मास्मि इस मंत्र का खुलासा अर्थ क्या हुआ' ?

वह बोले कि 'मैं परमात्मा हूँ यही स्पष्ट अर्थ हुआ'।

फिर ओंकारदास ने पूछा कि 'तो क्या महाराज मैं परमात्मा हूँ'।

वह बोले 'हाँ ! जब वेद मंत्र यह बात कहता है कि यह जीव परमात्मा है तो इस मन्त्र का अर्थ दूसरा कैसे हो सकता है' ?

फिर ओंकारदास बोले 'महाराज जी ! वेद शास्त्रों में परमात्मा का क्या लक्षण कहा है' ?

वह बोले 'यतोवा ईमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रत्यभीशं विशन्ति तद्ब्रह्म' ।

इतना सुनकर ओंकारदास ने पूछा कि 'महाराज जी ! इसका अर्थ क्या हुआ ?

वह बोले 'बच्चा ! इसका अर्थ यह है कि जिससे यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है ; जिससे जीता है, अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाता है, उसीको ब्रह्म जानो याने उसी को परमात्मा समझो' ।

इतना अर्थ सुनकर ओंकार दास ने पूछा कि 'परमात्मा का और क्या लक्षण है कृपा करके और सुनाइए' ।

वह महात्मा बोले कि बच्चा और सुनो ! "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो ; सुर्योह्यजायत, मुखादग्नि, श्री श्च लक्ष्मी श्च ते पत्न्यौ ।"

महात्मा के मुख से कहे हुए इन वेद मन्त्रों को सुनकर ओंकारदास ने पूछा कि "इन वाक्यों का खुलासा अर्थ बता दीजिए" ।

वह बोले कि "जिनके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए, जिनके नेत्र से सूर्य प्रगट हुए, जिनके मुख से अग्नि हुए । जो लक्ष्मीजी के पति हैं उनको ब्रह्म समझो याने उनको परमात्मा समझो" ।

इतना सुनकर चकित होकर ओंकार दास बोले कि 'महाराजजी ! ये तो परमात्मा के एक भी लक्षण हम में नहीं मिल रहे हैं । क्योंकि न हमने ब्रह्माण्ड को बनाया, न मेरे जिलाने से यह ब्रह्माण्ड जीता है । न तो हमारे मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं, न मुख से अग्नि प्रगट हुआ है, न हम श्रीपति हैं । फिर 'अहं ब्रह्मास्मि' इसका अर्थ यह कैसे समझूं कि मैं परमात्मा हूँ ! जब मिलाने से परमात्मा का एक भी लक्षण हममें नहीं मिलता । इससे अच्छी तरह इस मन्त्र का अर्थ हमको कृपा करके समझा दीजिये । क्या ब्रह्म शब्द का यही अर्थ है कि कुछ दूसरा भी । यह अर्थ तो इस जीव में नहीं घटता है । फिर अर्थ समझे बिना मन्त्र जाप

बाईजी को भी यह अनुग्रह प्राप्त हुआ तथा श्री रामजी की पत्नी श्री भागवती बाईजी को जो आजतक चल रहा है। यों तो श्री स्वामीजी महाराज के हृदय के भाव की पूर्ति श्री मदनन्त श्री वेंकटनाथ अनेक भागवतों पर अनेक तरह से अनुग्रह करके किये। सर्वप्रथम महात्माजी परमभागवत श्रीमान् जनार्दन रामानुजदासजी की माताजी को कुछ देर के लिए यह सौभाग्य मिला आरती के समय। और हरिसन रोड से भगवान जब अलीपुर १५ दिन वास्ते परम भावुक श्रीमान् मखनलालजी के यहां पधारे। एक दिन वहाँ भी रात्रि के २ बजे भगवान तीन वार कौशल्या मैया नाम लेकर अपने कमरे से बोलने की कृपा किये। श्रीमखनलालजी की मातजी को जो परम श्रद्धाल्वी हैं, मैं कौशल्याजी कहा करता था, आप दौड़कर मेरे कमरे में गयीं जहा और भी अनेक व्यक्ति सोये थे हमें जगाकर बोलीं—सरकार आप नाम लेकर तीनवार पुकारे, हमें भी आश्चर्य हुआ, एक दो व्यक्ति और भी बोले कि हम भी सुने इस कमरे से बालक की जैसी आवाज आई। फिर भगवान का कमरा खोलकर देखा गया तो पंखा बन्द था और उस दिन गर्मी भी विशेप थी। दूसरे दिन परम भागवत श्रीमान् ज्वालाप्रसादजी (जनार्दन रामानुज दासजी) कौशल्या मैया, गोदास्वरूपा श्री इन्दिराजी, श्री विमलाजी, श्री रामचन्द्रजी, श्री नन्दकिशोरजी, श्री कौशिल्याजी (श्री मखन लालजी की पुत्री) आपकी माता आदि अनेक भागवत आरती के बाद तीर्थ प्रसाद वितरण के समय पाठकर रहे थे इतने में भगवान वेंकटनाथजी के पीछे अपूर्व प्रकाश से युक्त चलते हुए श्री चक्रराज का दर्शन हुआ। भाव यह है कि श्री मदनन्त श्री स्वामीजी महाराज की कृपाधारा आज भी चालू है।

छन्दावली के अतिरिक्त नूतनस्तोत्र रत्नावली, श्री वष्णव भजन माला, हरिमगल सकीर्तन नाम रामायण, मोक्षमाला, चितोपदेश शतक जैसे अनेक ग्रन्थो का निर्माण जन कल्याणार्थ हुआ। अन्तिम समय में शरणागति मीमासा जैसे ग्रन्थ रत्न का निर्माण कर मुमुक्षुजगत का जो उपकार किये हैं उसके लिए भागवतजन श्रीमदाचार्य चरण के सर्वदा ऋणी रहेंगे। अपने क्षेत्र में ग्रन्थ की रचना अपूर्व है। श्रुतिस्मृति, इतिहास, पुराण, गीता ≈ पञ्चरात्र तथा भावुक जनके भापा ग्रथ के पद्यों और अकाट्य युक्तियों द्वारा सर्वदेश, सर्वकाल, सर्वावस्था में सर्व वर्ण सर्व आश्रम के लिए भगवत्प्राप्ति का सरलतम उपाय शरणागति ही है। यहां श्री

वह बोले 'यतोवा ईमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रत्यभीशं विशन्ति तद्ब्रह्म'।

इतना सुनकर ओंकारदास ने पूछा कि 'महाराज जी ! इसका अर्थ क्या हुआ ?

वह बोले 'बच्चा ! इसका अर्थ यह है कि जिससे यह सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है ; जिससे जीता है, अन्त में जिसमें प्रवेश कर जाता है, उसीको ब्रह्म जानो याने उसी को परमात्मा समझो'।

इतना अर्थ सुनकर ओंकार दास ने पूछा कि 'परमात्मा का और क्या लक्षण है कृपा करके और सुनाइए'।

वह महात्मा बोले कि बच्चा और सुनो ! "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो ; सुर्योह्यजायत, मुखादग्नि, श्री श्च लक्ष्मी श्च ते पत्न्यौ।"

महात्मा के मुख से कहे हुए इन वेद मन्त्रों को सुनकर ओंकारदास ने पूछा कि "इन वाक्यों का खुलासा अर्थ बता दीजिए"।

वह बोले कि "जिनके मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए, जिनके नेत्र से सूर्य प्रगट हुए, जिनके मुख से अग्नि हुए। जो लक्ष्मीजी के पति हैं उनको ब्रह्म समझो याने उनको परमात्मा समझो"।

इतना सुनकर चकित होकर ओंकार दास बोले कि 'महाराजजी ! ये तो परमात्मा के एक भी लक्षण हम में नहीं मिल रहे हैं। क्योंकि न हमने ब्रह्माण्ड को बनाया, न मेरे जिलाने से यह ब्रह्माण्ड जीता है। न तो हमारे मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं, न मुख से अग्नि प्रगट हुआ है, न हम श्रीपति हैं। फिर 'अहं ब्रह्मास्मि' इसका अर्थ यह कैसे समझूं कि मैं परमात्मा हूँ ? जब मिलाने से परमात्मा का एक भी लक्षण हममें नहीं मिलता। इससे अच्छी तरह इस मन्त्र का अर्थ हमको कृपा करके समझा दीजिये। क्या ब्रह्म शब्द का यही अर्थ है कि कुछ दूसरा भी। यह अर्थ तो इस जीव में नहीं घटता है। फिर अर्थ समझे बिना मन्त्र जाप

से लाभ ही क्या हो सकता है ? अथवा विपरीत अर्थ से फायदा ही क्या हो सकेगा ? इससे कृपा करके इसका यथार्थ अर्थ बता दीजिए।

फिर महात्मा बोले "तत्त्वमसि" बच्चा वही परमात्मा तुम हो, तुम में और उनमें बिल्कुल भेद नहीं है। सारे जगत की उत्पत्ति तुम्हीं से हुई है ; तुम्हारे ही मुख से अग्नि प्रगट हुए हैं। 'सोऽहमस्मि' वही परमात्मा मैं हूँ ऐसा तुम अपने को समझो। परमात्मा में और अपने में जो भेद समझता है उसको ज्ञानी नहीं कह सकते हैं इस वास्ते हमारी बातों पर विश्वास करके अपने को परमात्मा समझो'।

इतना सुनकर ओंकार दास बोले—'कि सरकार मै क्षमा चाहता हूँ माफ करिये। जब तक हमको जँचेगा नहीं तब तक जबर्दस्ती हम इस बात को कैसे मान लेंगे। आपने ही मुझको बताया है कि जिससे चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि के साथ सारा ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ वह परमात्मा है। फिर मैं अपने को भगवान कैसे समझ लूँ' ?

इतना सुनकर वह बोले कि मैंने कह तो दिया है कि 'उनमें और तुममें भेद नहीं है। "वही मै हूँ" "वही मैं हूं" इस बात को रटते-रटते आपही समझ जाओगे'।

इतना सुनकर ओंकार दास बोले कि 'क्या कहूं ? महाराजजी ! बड़ी मुश्किल की बात है कि जब मैं वह हूं ही नहीं तो कैसे इस बात को रटूँ कि मैं वही हूँ' 'मैं वही हूं' आप जब कहते हैं कि तुम वही हो तुम में और परमात्मा में भेद नहीं है तो फिर परमात्मा का एक भी लक्षण हमारे में क्यों नहीं मिलाते हैं ? आप तो महात्मा हैं। आप ही कह दीजिए कि हममें परमात्मा के एक भी लक्षण मिलते हैं, आप कहते हैं कि तुम्हारे मुख से अग्नि हुई। महाराज जी ! मेरी तो चालीस वर्ष की उम्र है। जरा सी दाल या दूध गरम रहता है, तो मैं उसे खा-पी नहीं सकता। फिर कैसे मान लें कि हमारे मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। मैं संसार में पड़ा हुआ अनेक रोगों से आक्रान्त, भूख प्यास के परवश नो माह गर्भ में सड़कर निकला हुआ, संसार दुख से पीड़ित अपने को कैसे मान लूँ कि मैं परब्रह्म भगवान हूँ। जब तक आप अच्छी तरह से हमको समझा न देंगे तब तक आपकी बात मात्र से मैं अपने को कैसे ब्रह्म निश्चय कर लूँगा। हम में भी तो कुछ समझने की शक्ति भगवान ने दे रखी है।

इसलिए आप कृपा करके हमको इसका अर्थ अच्छी तरह से समझा दीजिये। ब्रह्म शब्द का अर्थ जो आपने परमात्मा किया है और परमात्मा का लक्षण जो आपने बताया है सो हम में अथवा किसी जीव मात्र में नहीं घटता है न घटने की आशा है। हमको तो आपकी बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है और एक प्रकार की हँसी छूट रही है कि ये अनहोनी बातें आपको कैसे जच रही हैं! यदि हम ब्रह्म होते, भगवान होते, परमात्मा होते, तो जो चाहते सो हो जाता। इस गर्भ दुख को भोगने के लिए हम क्यों आते? और फिर मृत्यु के परवश क्यों होते? हम जो चाहते सो क्यों न हो जाता? फिर संसार बन्धन से छूटने के लिए हमको गुरु क्यों ढूँढना पड़ता? जब कि इतनी हद से ज्यादा हमारी पराधीनता हमको नज़र आ रही है तो फिर हम अपने को जबरदस्ती कैसे ब्रह्म मान लें? हां यदि हमारी समझ में आप को कुछ कमी मालूम पड़ती हो तो फिर हमको कृपा करके समझा दीजिए'।

इतना सुनकर वह बोले 'सुनो बच्चा तुमको समझाता हूँ। वेद में लिखा है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन' इसका अर्थ यह है कि याने यह जो कुछ दिखाता है सब का सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म के सिवाय दूसरी चीज है ही नहीं। जब कि स्वयं वेद भगवान ही इस बात को बता रहे हैं तो तुम्हारे मानने में कौन सा एतराज है'?

उस महात्मा का बचन सुनकर चकित होकर ओंकार दास बोले कि 'महाराज! क्या कहूँ पहिले तो आपने कहा था कि यह 'जीव ब्रह्म है' उसी के निर्णय करने में इतनी देर हुई; तो अभी तक उस ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्णय नहीं हुआ। इस जीव में अभी तक एक भी परमात्मा के लक्षण नहीं मिले। अभी तो मैं उसी में चकित था उसका पूरा निर्णय हुए बिना ही आपने दूसरा मन्त्र प्रमाण दिया भला! उसका निर्णय थोड़ी देर के लिए रहने दीजिये। कृपा करके इस दूसरे मन्त्र का भी भलिभाति लक्षण मिलाकर हमको समझा दीजिये। आप वेद मन्त्र का प्रमाण देकर कहते हैं कि जो कुछ दिखता है सभी ब्रह्म है। अच्छा! इसी मन्त्र में जो ब्रह्म शब्द है उसका भाव क्या है? सो खुलासा बता दीजिए'।

इतना सुनकर वह बोले कि 'मैं तो तुमसे पहले ही कह आया हूँ कि ब्रह्म का अर्थ परमात्मा ही होता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ सिवाय परमात्मा के दूसरा नहीं हो सकता'।

इतना सुनकर ओंकारदास फिर बोले कि 'महाराज ! फिर तो वही झंझट आकरके पड़ी। जैसे हमारे में या किसी जीव में परमात्मा के लक्षण नहीं मिले ; उसी तरह इस जगत में भी परमात्मा के लक्षण कहाँ मिलते हैं ? जैसे मान लीजिए कि आपके कहे मुताविक सामने जो यह पेड़ दिख रहा है ; यह भी तो ब्रह्म हुआ। याने परमात्मा ही हुआ तो इसी में परमात्मा का कोई लक्षण मिला दीजिए, क्योंकि यह वृक्ष पानी से बढता है। पानी पाने से हरा रहता हैं। पानी देने से फूल फल देता है। पानी न मिलने से मुरझा जाता है। इसको काटे तो कट जाता है। जलायें तो जल जाता है। पहिले आप कह चुके हैं कि जो सारे जगत की रचना करता है, वह ब्रह्म है। तो इस वृक्ष में तो एक भी ब्रह्म या परमात्मा के लक्षण नहीं मिलते हैं। फिर जो आप कहते हैं कि सब का सब ब्रह्म ही है तो मैं इस बात को कैसे मानलूं कि यह वृक्ष परमात्मा है। क्या परमात्मा पानी के भरोसे रह सकता है ? क्या परमात्मा पानी बिना सूख सकता है ?

जैसे इस वृक्ष में परमात्मा का लक्षण नही मिलता, उसी तरह जो कुछ यह दिख रहा है ; उसमें तो हमको भरोसा नहीं है कि एक में भी परमात्मा का लक्षण मिल जाय परमात्मा के जो वेदोक्त लक्षण हैं। यदि आप किसी दृश्य-पदार्थ में मिला दीजिए तो मैं क्यों न मान लूँगा। यदि प्रत्यक्ष में लक्षण नहीं मिलेगा तो सिर्फ प्रमाण मात्र से किस तरह खातिरी हो सकेगी ? इससे की तो आप जीव में या दृश्यमान् जगत् में परमात्मा का लक्षण मिलाइए ; नहीं तो ब्रह्म शब्द का कोई और अर्थ बताइये।

आप कहते हैं कि ब्रह्म के सिवाय कोई और दूसरी चीज ही नहीं है। आपने ही कहा है कि जिसके नेत्र से सूर्य निकले, जो सारे जगत को रचता है वह ब्रह्म है। तो इस प्रकार का ब्रह्म लक्षण न तो जगत् में मिलता है और न जीव में ही। क्योंकि इतने अनन्त जीव हैं, उनमें से किसी की आँख से सूर्य नहीं निकला है और न तो दृश्यमान् जगत् से कहीं सूर्य पैदा हुआ है। जबकि देव, दानव, नर, वानर, कूकर, शूकर, पेड़, पाषाण इन सब को परमात्मा ने उत्पन्न किया है और उन्हीं परमात्मा के आधार से ये सभी जीते हैं। तो फिर वे ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? जिसके पीछे गर्भ दुख की विपत्ति लगी है। जिसके पीछे मरण की बला बैठी है।

जो इच्छा न रहते हुए भी अनेक रोगों से पीड़ित होता है। जिसमें किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दिख रही है। जो भूख प्यास को थोड़ा भी नही सह सकता है। ऐसा यह पामर जीव परमात्मा कैसे हो सकता है?

यदि सब ब्रह्म होता तो एक रस होता, एक तरह से होता, भिन्न रूप होने पर भी एक स्वभाव होता। सो तो दिखता ही नहीं है। आप लोगों के मुख से यह भी सुना है कि जो पाप करता है सो नरक जाता है। पुण्य करता है सो स्वर्ग जाता है। जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल पाता है। इन सब बातो से तो यह मालूम पडता है कि कर्म करने वाला कोई और है तथा कर्म के मुताबिक सुख-दुख, नरक-स्वर्ग देने वाला कोई और है। जो कर्म के मुताबिक सुख-दुख, नरक-स्वर्ग भोगनेवाला है, वह तो जीव है और कर्म के मुताबिक जो सुख-दुख का दाता है वही ब्रह्म या परमात्मा या ईश्वर है।

जीव परवश है। भगवान स्ववश हैं। जीव अनेक हैं; श्रीकान्त याने परमात्मा एक है। जीव माया के परवश हैं और माया परमात्मा के अधीन है याने परवश है। जैसे कहा है—

परवश जीव स्ववश भगवन्ता। जीव अनेक एक श्री कन्ता।
माया वश्य जीव अभिमानी। ईश वश्य माया गुन खानी॥

"कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥"

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सबको रचने वाला, माया को अपने वश में रखने वाला, सब जीवों को कर्माधीन सुख-दुख भुगताने वाला तो ईश्वर है और माया के परवश रहने वाला, कर्म के अनुसार सुख दुःख नरक स्वर्ग भोगने वाला जो है सो जीव है। जो यह सामने जगत दिख रहा है यह सब माया है याने माया रचित है। जीव अलग तत्त्व है माया और चीज है। परमात्मा दोनों का मालिक है। यह सगति तो सीधी मिल जाती है। जैसे :—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई ।
सो सब माया जानो भाई ॥

और आप जो कहते हैं कि 'सर्वखल्विद ब्रह्म, नेह ना नास्ति किञ्चनं' याने यह सबके सब ब्रह्म ही है, ब्रह्म के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। आपके अर्थ से तो यही बात निकलती है परन्तु जब ब्रह्म का लक्षण मिलाने लगते हैं तो न जीव में ही ब्रह्म का लक्षण मिलता है और न दृश्यमान जगत में ही। किसी भी एक चीज में ब्रह्म का लक्षण नहीं मिलता है।

यदि ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा न करके कोई दूसरा अर्थ हो सकता हो तभी इस मन्त्र की संगति लग सकेगी। सर्व जगत के हित के लिए सदा प्रवृत्त जो वेद भगवान हैं वह अपने मंत्रों में अज्ञानी तथा कर्म के परवश जीवों को तथा गदृ कर्मों के फलों का भयंकर परिणाम सुख दुख भोगते हुए जो कूकर शूकरादिक अनेक माया बद्ध जीव हैं उनको उन्मादी के समान परमात्मा बताने का कैसे साहस करेंगे, इससे या तो जीव और जगत में परमात्मा का लक्षण मिलाकर हमको समझाइये, नहीं ब्रह्म शब्द का कुछ और अर्थ बताइये।

आप एक नहीं हजारों प्रमाण देंगे और यदि लक्षण नहीं मिलायेंगे तो हमको किसी तरह भी नहीं जच सकता है।

इतना सुनकर वे महात्मा बोले कि बच्चा! तुम वैदिक शैली न समझ कर बिना मतलब जिरह करते हो सुनो तुमको और प्रमाण बताता हूँ।

'तदैक्षत बहुस्याम प्रजायेय एकोहं बहुस्याम।'

आदि सृष्टि में ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ इस प्रमाण के अनुसार एक ही ब्रह्म अनेक रूप में हो गया। देखो! फिर भी हमारीकही हुई बात आ गई कि ब्रह्म के सिवा कोई भी दूसरा नहीं है। इस बात को तुम अपने हृदय में जँचालो।

इतना सुनकर ओंकार दास बोले कि 'महाराज! आप बुरा मत मानिए, आप तो प्रमाण ही प्रमाण दिये जाते हैं, जब मैं लक्षण मिलाने को कहता हूँ तब आप चुप लगा जाते हैं! जब कि मैं स्वय अपनी आंखों से देख रहा हूँ कि मरने की इच्छा नहीं रहती है और बरबस मनुष्य

काल के गाल में चला जाता है। और कभी भी यह जीव नहीं चाहता है कि मुझको हैजे की बिमारी हो, पर हो जाती है। इसी प्रकार कोई भी मनुष्य नहीं चाहता कि हमको प्लेग हो और अचानक प्लेग हो जाता है। वह रोगी चाहता है कि मरूँ नहीं, जीने के लिए अनेक उपाय तथा इलाज भी करता है, परन्तु प्रायः इच्छा न रहते हुए भी मर जाता है। तो यदि भगवान ही अनेक रूप हुए होते तो इच्छा न होते हुए भी अनेक रोगों के वश कैसे होते? इससे यह जीव तो परमात्मा कभी भी नहीं हो सकता है।

देखिए महात्मा जी! बुरा मत मानिए। आप ज्ञान के शिखर पर पहुँचे हुए हैं, परन्तु दस रोज यदि आपको खाने को न मिले तो आप अन्न-अन्न चिल्लायेंगे। मैं ब्रह्म हूँ आप यह बात भूल जावेंगे, अन्न पानी पेट में जाने से फिर होश होगा, तब चाहे जो ज्ञान आप कह सकेंगे। जोर से टट्टी लगने पर याने डोलडाल लगने पर यदि आप तुरत न निबट लेवें तो बिमारी हो जावेगी। जब इतनी परवशता है वह अपने को भगवान बतावे और दूसरे को भी कहे कि तुम भगवान हो, यह कैसी आश्चर्य की बात है। सन्तोष जनक उत्तर सरकार नहीं दे रहे हैं। अतः कैसे संतोष होगा।

हमको तो यों मालूम पड़ता है कि मन्त्र सब सच्चे हैं। सिर्फ आप इनके अर्थ हम से छिपा रहे हैं या हमारी परीक्षा के वास्ते भ्रमकारक अर्थ बतला रहे हैं अथवा स्वयं आप इन मन्त्रों के अर्थ से अनभिज्ञ हैं। आपको स्वयं ब्रह्म और जीव का ज्ञान नहीं है। इससे भ्रममें पड़े हुए हैं क्योंकि भगवान सर्व समर्थ परमात्मा जीव होकर अनेक दुःख तथा नरक स्वर्ग भोगें, और मुक्ति मिलने के लिए परमात्मा को भजें ये कितनी असंगत बातें हैं। किसी तरह से भी ये बातें जी में जम ही नहीं रही हैं। फिर कैसे मान लें कि स्वयं भगवान कूकर सूकर होकर आफत उठा रहे हैं। स्वय भगवान तो जो कुछ होंगे वही लोकोत्तर होवेंगे।

जैसे भगवान ने हंस का रूप धारण किया फिर अन्तर्ध्यान हो गये। श्री वराह अवतार धारण किया वहां भी स्वच्छन्द लीला करके अन्तर्ध्यान हो गये। मत्स्य अवतार धारण किया वहां भी ऐसा ही हुआ, कच्छप रूप धारण किया वहां भी लोकोत्तर लीला करके अन्तर्ध्यान हो

गये। प्रारब्ध कर्मों के परवश परमात्मा कैसे हो सकते हैं इस बात के कहने में यदि हमारी भूल हो तो आप फिर हमको समझा दीजिए।

इतना सुनकर वे महात्मा बोले 'ध्यान देकर सुनो बच्चा! और समझाता हूँ। स्वयं भगवान ने ही जीव का रूप धारण कर लिया है"।

इतना सुनकर ओंकार दासजी बोले कि महाराजजी यदि स्वय भगवान जीव हुए होते तो परवश गर्भवास और मृत्यु का सकट, इच्छा भग की विपत्ति कभी नहीं भोगते। इससे यह आपका कहना शास्त्र और युक्ति दोनों के खिलाफ है क्योंकि कोई भी यथार्थ परवश होकर विपत्ति नहीं भोग सकता इससे यह भ्रमकारक बात है। इसको हमें और तरह से समझाइये"।

इतना सुनकर महात्मा बोले 'देखो बच्चा! मैं फिर भी तुमको समझाता हूँ, ध्यान देकर सुनो! तुमको चार-पाँच नजीरें देता हूँ किसी में भी तो तुम्हारा समाधान हो जायगा।

जैसे आकाश का स्वरूप बडा विशाल है। अच्छा! उसमें (मठ) घर बनाने से कुछ आकाश परिछिन्न हो जाता है। घर के (मठ के) भीतर का जो आकाश है वह बन्धन मे आ जाता है। कालान्तर में घर या मठ की दीवालें नष्ट हो जाने से जैसे घर के भीतर वाला पड़ा हुआ आकाश महाकाश में मिल जाता है। फिर भी जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है उस घड़े के भीतर भी कुछ आकाश आ जाता है उसीको घटाकाश कहते हैं समय पर उस घडे के फूट जाने पर उस घड़े का आकाश महाकाश में मिल जाता है उसी प्रकार परमात्मा में याने ब्रह्म में माया की उपाधि आनेसे ब्रह्म का ही कुछ अश जीव कहाने लगता है। फिर वाक्य ज्ञान हो जाने से माया की उपाधि कट जाती है फिर वह जीव ब्रह्म का ब्रह्म हो जाता है ऐसा समझो।

और दूसरी नजीर सुनो! जैसे सामने दर्पण लेने से अपना ही शरीर प्रतिबिम्ब रूप से दर्पण में दूसरा दिखने लगता है। दर्पण को हटादेने से या फोड़ देने से दोनों एक हो जाता है। इसी तरह माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ गया है वही माया की उपाधि में पड जाने से अपने को जीव मानने लगा है। जब ज्ञान से माया की उपाधि मिट जाती है तो ब्रह्म का ब्रह्म ही हो जाता है।

तीसरी नजीर सुनो ! जैसे गंगा की धार के बीच में बालू रेती या मिट्टी की कुछ ढेरी आ जाने से कुछ जल धार में से ही फरक होकर छूट जाता है फिर वह धारा मिट्टी और रेत हट जाने से गंगा की गंगा बन जाती है उसी तरह ब्रह्म के भीतर कुछ माया का आवरण हो जाने से ब्रह्म ही का कुछ भाग जीव कहाने लगता है। माया की उपाधि मिट जाने से वह पूर्ववत बन जाता है।

अब चौथी नजीर सुनो ! जैसे पानी से भरे हुए घड़ों में सूर्य का प्रतिबिम्ब पडने से दश घड़ों में दश प्रतिबिम्ब नजर आते हैं। घड़ों के फूट जाने से वह फिर सूर्य ही हो जाते हैं। उसी तरह माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ने से जीव हो गया है। उपाधि मिट जाने पर दोनों एक हो जाते हैं।

पाँचवीं नजीर सुनो ! जैसे सुनार एक ही सोने से अनेक भूषण बनाता है। उसी सोने के ही कड़ा, कुण्डल, मुकुट, अँगूठी आदि अनेक नाम हो जाते हैं। फिर जब उसी को सुनार गला देता है तब फिर सोने का सोना ही कहाने लगता है। व्यवहार में गहना नाम रहता है यथार्थ में सोना नाम रहता है। उसी तरह ब्रह्म ही जीव, जगत नाम से अनेक बन गया है। फिर आखिरी में सब व्यवहार मिटकर परमार्थ में एक का एक हो जाता है।

और छठवीं नजीर सुनो ! जैसे विशेष अग्नि के ढेरी में से स्फुलिंग याने कितने ही कण हवा के जोर से छिटक कर अलग चले जाते हैं। उसी प्रकार माया के जरिये ब्रह्म के ही कुछ अंश जहां तहां छिटक कर जीव कहलाने लगते हैं।

सातवीं नजीर सुनो ! जैसै वायु के वेग से जल की तरंगे उठती हैं। कहने के लिये वे दो हैं लेकिन जल और तरंग एक ही हैं। उसी तरह ब्रह्म में माया की झकोर से कुछ उपाधि हो गई है। वही जीव बन गया है परन्तु वास्तव में जीव और ब्रह्म में भेद नहीं है। ऐसा समझो।

अब आठवीं नजीर सुनो ! जैसे एक ही मिट्टी के पिण्ड से कुम्हार परई, परवा, कुल्हर, घड़ा वगैरह अनेक चीजें बनाता है। नाम तो अनेक हैं परन्तु कोई भी मिट्टी से भिन्न नहीं है।

उसी तरह माया ही ब्रह्म को जीव, जगत आदि अनेक रूप मे बना देती है। कहने और देखने मे तो सब अलग-अलग मालुम पडता है। परन्तु परमार्थतः सब एक है। हमारी बताई हुई ये आठ नजीरें तुमका जॅची की नहीं। फिर मैं तुमको और बताऊँगा।

उक्त आठ नजीरों को सुनकर थोरी देर चुप रह कर बहुत गहरी दृष्टि से विचार कर ओंकार दास बोले 'महाराजजी! ये जितनी नजीरें आपने दिखाई है, इन सबों को सुनकर बड़ा आश्चर्य हो रहा है कारण कि जीव तो चेतन है और परमात्मा भी परम चेतन हैं। चेतन और परम चेतन की उपमा में आपने जो आठों नजीरें बताई हैं इन आठो नजीरों में एक भी तो चेतन की नजीर देनी चाहिए थी सो आपने नही दी। देखिए! घड़े का आकाश, दर्पण का बिम्ब, घडों में प्रतिबिम्ब का सूर्य, परई कुल्हड, मिट्टी के बर्त्तन, कड़ा, मुकुट आदिक भूषण, गगा से छोड़ा हुआ जल, आग से उडी हुई चिनगारियाँ और जल की तरंगे इत्यादि जितनी नजीरें आपने दीं ये सभी नजीरें जड़ों की हैं। इनमें एक भी नजीर चैतन्य की नहीं है।

इन सभी चीजों में से चाहे जिसे काट सकते है और चाहे जिसे बन्धन मे डाल सकते हैं। जैसे कुम्हार ने घड़ा बनाया तो उसमें आकाश आ गया। उस घडे के आकाश की उपाधि उसका घिराव हुआ। मठ के आकाश की उपाधि मठ की दीवाल हुई उसको कारीगरों ने घेरा ये सभी बातें बन सकती हैं। परन्तु अकाट्य सर्व रसमय, सर्व सुखमय, सर्व सुगन्ध मय, सदा स्वतन्त्र, सदा माया के परे रहने वाले, सदा माया को अपने वश में करके रखने वाले श्रीपति सच्चिदानन्द स्वरूप उनमें कौन सा आवरण आ गया कि उसके कुछ अंश को जीव बना दिया। एक तो ऐसी कोई प्रबल चीज नहीं है कि जो उनके बीच में घुस पडे और उनको जीव बना दे। शायद लीला करने के वास्ते यदि वे किसी के खुद बेटा या भाई बन जायँ या कुटुम्बी बन जायॅ तो वहां भी उनका ब्रह्मपना, सर्वज्ञपना साथ ही रहेगा।

जैसे परमात्मा श्री देवकी जी और वसुदेव जी के बेटा कहाये परन्तु उनमें ईश्वर पना भर-पूर था और बालकों के समान माँ के गर्भ में नौ महीने नहीं लटके रहे। जैसे अन्य कर्म वश वाले का जन्म होता है वैसे उनका जन्म नही हुआ। सामने किशोर मूर्ति चतुर्भुज - प्रगट हो

गये। मुखमें त्रिलोक दिखाया। रास में हजारों रूप ग्रहण कर लिए। पाव मिनिट में समुद्र में अड़तालीस कोस की द्वारिका सकल्प से ही बना ली। कितने ही वर्षों के मरे हुए गुरु के लड़के को जिलाकर यमपुरी से लाये। सैकड़ों वर्ष के मरे हुए श्री देवकी जी के लड़कों को लाकर दिखाया। इन्द्रको नीचा दिखाया। बाणासुर के समय मे काल मूर्ति शंकर जी को युद्ध में हराया, ब्रह्मा की अक्ल चकरा दी। सोलह हजार रानियों के साथ सोलह हजार रूप धरकर रहते थे। सदा किशोर मूर्ति रहे, कभी उनको दाढी मूँछ नहीं आई अन्त में उसी श्री विग्रह से अन्तर्ध्यान होकर परमधाम को पधारे। उस समय ब्रह्मा शंकरादि तैंतीस करोड़ देवताओं ने आकर उनकी स्तुति की। उनका जन्म भी दिव्य हुआ और अन्तिम यात्रा भी दिव्य हुई। न तो उनका रज वीर्य से शरीर बना और न वे नौ महीने गर्भ में रहे, न प्राकृत लड़कों के समान उनका पोषण हुआ, न तो कर्म के परवश जीवों के समान उनका अन्त हुआ। उनका जन्म भी दिव्य हुआ और अन्तिम यात्रा भी दिव्य हुई। लीला कर्म भी उनके दिव्य हुए।

हमारे कहने का सारांश यह हुआ कि परमात्मा लीला करने के वास्ते जीवो के समान छिपकर, बेटा कहाकर साधारण के समान रहना भी चाहे तो भी परब्रह्म के लक्षण उनके एक भी नहीं छिप सके। सर्वज्ञपना भी उनका नहीं छिप सका। प्रगट के पहिले ब्रह्मा शंक-रादिक सबों ने आकर स्तुति की, बीच में समय-समय पर आकर सभी हाजिरी बजाते थे। अन्तर्ध्यान के समय में भी आकर सबों ने स्तुति की। अपना परब्रह्म पना छिपाने का उन्होने कितना भी विचार किया परन्तु नहीं छिपा। आज भी उन्हीं के चरित्र गाकर, उन्ही के नाम जप कर लाखों जीव भवसागर से पार होते हैं। उनको तो आप परमात्मा कहिए, परब्रह्म कहिए या जो कुछ कहिए सो मैं मानने को तैयार हूँ।

उसी तरह जब वे श्रीराम रूप से होकर आये तो भी परब्रह्म पना नहीं छिप सका। लोकोत्तर प्रगट हुए, लोकोत्तर लीला की, लोकोत्तर अन्तर्ध्यान हुए। चरण छुलाकर अहिल्या को तारा। कालमूर्ति शंकरजी का धनुप तृण के समान तोड़ डाला। अपने को प्राकृत जनाने के लिए श्री स्वामिनी जी को ढूढ़ने के वास्ते करोड़ों वानरों को भेजा, तो भी

हनुमान जी को मुद्रिका देने से सर्वज्ञपना नहीं छिप सका। वहाँ भी सारे देवों ने आकर स्तुति की।

कहने का सारांश यह हुआ कि परब्रह्म जीव की नकल भी करे, तो भी परब्रह्म पने का गुण नहीं जा सकता है। आपने घड़े के आकाश की उपमा दी, उस जड़ की उपमा चेतन जीव में कैसे लागू हो सकती है। जल में तो प्रवाह के जोर से तरंग उठना सम्भव है और हो सकता है लेकिन परमात्मा में कौन सा प्रवाह है कि हजारों जीव बना देता है। स्वयं परमात्मा उछल कर परवश जीव नहीं बन सकता तथा उनमें कोई और कारण भी प्रवेश नहीं कर सकता फिर तरंगो की और जीवों की उपमा कैसे बन सकती है। अग्नि तो जड़ है उसमें से चिनगारियाँ उड़ सकती हैं। ईश्वर तो सत्-चिद्-आनन्द स्वरूप है, उसमें से क्या उड़कर जीव बन सकता है इसलिए यह उपमा भी ईश्वर से जीव बनने मे लागू नहीं हो सकती सूर्य का प्रतिबिम्ब भी जीव की उपमा का नहीं हो सकता है। न तो दर्पण के प्रतिबिम्ब की नजीर जीव के प्रति हो सकती है क्योंकि ये सभी तो आभास उपमाएँ हैं।

जीव के पीछे तो पुण्य पाप कर्मों की परतन्त्रता रखी हुई है नरक स्वर्ग भोगने की भी चला पडी हुई है। सुख दुख भी इसके पीछे लगे हुए हैं। अमुक करना और अमुक काम नहीं करना। इस प्रकार शास्त्रों का विधि निषेध कर्त्तव्य भी इसके पीछे लगे हैं।

आपकी दी हुई आठ नजीरों की उपमाएँ इसपर कैसे लग सकती हैं? घटाकाश, दर्पण बिम्ब, सूर्य प्रतिबिम्ब, जल की तरंगे गंगा से छोडा हुआ कोल का जल, कुम्हार से बने परई, परवा सुनार के बनाये हुए मुकुट कुण्डल, इन किसी के भी पीछे न तो कर्म परवशता है और न शास्त्रों का विधि निषेध है। न तो इन सबों के पीछे कुछ सुख दुख हैं। फिर आँखों में धूल झोंकने के समान इन सबों की नजीरें देकर ईश्वर को जीव बनने का बारम्बार हठ करना कितनी भूल की बात है। आप बताइए तो सही सोना तक जड़ चीज है। आग में गल सकता है। उसका रूपान्तर करने वाला सुनार भी है। इससे अनेक भूषण बन जाते हैं और गलाकर एक भी हो जाते हैं। परब्रह्म तो गलने की चीज है ही नहीं। सर्व समर्थ परमात्मा स्वयं अज्ञ बन जावे और कर्मों के परवश हो जाँय यह बात

किसी तरह से नहीं बन सकती। न तो शास्त्र और युक्तियों से किसी प्रकार सिद्ध ही हो सकती है।

जैसे सुनार ने सोने के भूषण बना डाले, इस प्रकार परमात्मा को जीव बनाने वाला कौन? उसको बता तो दीजिए। यदि आप कहें कि माया ने भगवान को जीव बना दिया, तो यह बात किसी तरह बन ही नहीं सकती। क्यों कि किसी तरह भी ब्रह्म से माया प्रबल नहीं है कि जो जबरदस्ती ब्रह्म को जीव बना कर नरक स्वर्ग भोगावे। क्यों कि यदि बलात्, इच्छा नहीं रहते हुए भी ब्रह्म को दबाकर माया जीव बना ले और ब्रह्म उसका कुछ नहीं कर सके, तब ब्रह्म कमजोर कहा जायगा और माया ही प्रबल कही जायगी। फिर ब्रह्म से भी प्रबल होने के कारण माया ही उपास्य बन जायगी। और किसी शास्त्रकार ने ब्रह्म की उपासना छोडकर माया कि उपासना करने को कबूल नही किया है। इससे जबरदस्ती माया ने ब्रह्म को जीव बनाया यह बात भी किसी तरह सिद्ध नही होती है और स्वयं परमात्मा कूकर शूकर होकर विपत्ति भोगें इस बात को भी कोई समझदार कबूल नही कर सकता है। फिर ब्रह्म जीव कब हुआ? और ब्रह्म को जीव किसने बनाया? आप हमको यह बात समझाइये। गगा से छोड़े हुए जल में भी यही बला है। क्यों कि गगा की धार में तो रेती, मिट्टी की ढेरी आ भी सकती है, इससे गंगा की धार से जल अलग होकर छूट भी सकता है। पर ब्रह्म के बीच में कौन सी रेती घुस गयी कि जिसने उसको जीव बना दिया? यदि कहें कि माया घुस पडी तो यह बात जमती नही, क्यों कि खास सूर्य के गोले के भीतर अधकार कैसे घुस सकता है? सूर्य तो अधकार का नाश करने वाला है। सूर्य से लाखों कोस दूर रहने वाला अंधकार सूर्य के गोले में कैसे प्रवेश कर सकेगा।

जब कि ब्रह्म की उपासना से ब्रह्म के नाम जप से माया दूर हो जाती है और माया छोड देती है तथा यह चेतन मुक्त हो जाता है। उसी परब्रह्म के भीतर किस तरह और किस तरफ से प्रवेश कर के माया उसको जीव बना सकेगी। जब कि जीव के स्वरूप को ही कोई शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, वायु उडा नहीं सकती, जल डूबा नही सकता, तब परमात्मा के स्वरूप को कौन ऐसी प्रबल शक्ति है कि जीव बना देगी? सर्व स्वतत्र

मायापति, सदा सर्वज्ञ, सदा सुखमय, वह किस कारण से महा अज्ञानी, अत्यन्त कर्म परवश होकर दुर्गन्ध-मय गर्भ में नौ मास विपत्ति भोगने के लिए आवेगा और वह कब नरक स्वर्ग भोगने के लिए कबूल करेगा ? इससे परमात्मा को जीव होने में जो जो नजीरें तथा कारण आप बता रहे हैं ; ये एक भी यथार्थ लागू नहीं हो रहे हैं। इससे या तो आप इस जीव में एक भी परब्रह्म के लक्षण मिला दीजिए अथवा परब्रह्म को जीव किसने बनाया ? वह कैसे बना ? ये सारी बातें हमको समझा दीजिए।

ये तो हम कह ही आये हैं कि खुद यह ब्रह्म जीव नहीं बना है क्यों कि सर्वज्ञ अज्ञ क्यों बनेगा ? परमधाम का मालिक जिसका नाम लेने से जीव अनेक नरकों से छूट सकता है। वह परमात्मा बुद्धू तेली और कल्लू कलार होकर नरक कैसे भोग सकता है ? इसे यदि कोई कहे कि परमात्मा स्वयं पशु पक्षी होकर विपत्ति उठा रहा है यह बात तो युक्ति से किसी तरह भी नहीं जमती। अब रही दूसरी बातः वह यह है कि यदि कोई कहे कि माया ने भगवान को जबरदस्ती जीव बना दिया तो यह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि ब्रह्म से जबरदस्त माया है ही नहीं कि ऐसा काम कर सके। यदि कहें कि खुद ब्रह्म ही माया के परवश होकर असमर्थ हो गया है और अपने को जीव मान रहा है, तो यह भी किसी तरह से हो नहीं सकता। जिसके नाम लेने से माया छूट जाती है, जिसके सम्बन्ध से यह जीव माया से छूट जाता है वह परब्रह्म माया के परवश हो ही कैसे सकता है और जो आप कहते हैं कि माया ने फँसाकर ब्रह्म को जीव बना लिया है और परवश कर दिया है सो 'तत्त्वमसि' 'सोहमस्मि' 'अहंब्रह्मास्मि' इनके अर्थ ज्ञान होने से यह जीव माया से छूटकर ब्रह्म हो जायगा, आपकी यह बात सुनकर बड़ा मजाक मालूम पडता है और बड़ी हँसी छूटती है; क्यों कि जब स्वतन्त्र दशा में, सर्व समर्थ हालत में परब्रह्म रहा, उस वक्त जब मायाने फँसाकर उसको जबरदस्ती अज्ञानी, असमर्थ, परवश और सुख दुःख के वश रहनेवाला जीव बना दिया और परब्रह्म उस माया का कुछ भी न कर सके, ज्यों तक नहीं किया, वही माया के वश जीव बना हुआ जो परब्रह्म है सो दो-चार वाक्य ज्ञान करके कैसे माया से छूटकर और फिर परब्रह्म बन सकता है ?

यदि समर्थ हालत में परब्रह्म को जबरदस्ती दबा कर माया ने प्राकृत जीव बना दिया और ब्रह्म अपने बल से उससे नहीं छूट पाये फिर वाक्य ज्ञान होने से असमर्थ बना हुआ जीव जो ब्रह्म है अपने स्वाभाविक रूप को कैसे प्राप्त कर सकता है ? इससे किसी तरह से भी आपकी नजीरें परब्रह्म को जीव बनने में काम नहीं दे रही हैं। 'अहम्ब्रह्मास्मि' इत्यादि मंत्रों में आपके किये हुए ब्रह्म शब्द का अर्थ किसी तरह परब्रह्म में लागू नहीं हो रहा है। इससे ब्रह्म शब्द का अर्थ दूसरा कीजिए या ब्रह्म कैसे जीव हुआ इस बात को साबित कीजिए।

इतना सुनकर महात्मा जी बोले अच्छा एक और नजीर देता हूँ सुनो ! जैसे एक सिंह का बच्चा था अपनी माता से बिलग हो गया था। इतने में बहुत सी बकरियां जंगल में चरने को आई वह भी उन्हीं बकरियों के साथ आ गया। जब बकरियाँ अपने घर आईं तो वह सिंह का बच्चा भी साथ-साथ आ गया। इस तरह उन बकरियों के सग मे उन्हीं का स्वजाति जानवर अपने को भी मानता हुआ बकरियों के झुण्ड में वर्ष दो वर्ष रहा। बकरियों के साथ रहते रहते वह अपने को कमजोर और अशक्त भी समझता था। उन्हीं के साथ 'में' 'में' की बोली भी सीख ली। नित्य बकरियों के साथ जगल जाता और शाम को फिर उनके साथ चला आता था।

एक रोज जंगल में जहाँ बकरियों के साथ वह बठा हुआ था उसके नजदीक एक सिंह आया। उसने गर्जना की। सिंह का गर्जन सुनकर सभी बकरियाँ जोरों से भागीं। उन बकरियों के साथ वह सिंह का बच्चा भी भागा। फिर जिसने गर्जना की थी उस सिंह ने उस सिंह के बच्चे को भागते हुए देखकर उसने हँसकर कहा—अरे मेरे भाई ! मेरे कुटुम्ब ! तू क्यों इन बकरियों के साथ भागा जा रहा है। तुम और हम तो एक जाति वाले हैं। ये बकरियाँ तो हमारा और तुम्हारा दोनों का भक्ष्य हैं। हमारे और तुम्हारे दोनों के खाने की चीज हैं। तुम इन बकरियों के संग रहते रहते अपना स्वरूप भूल कर, अपने को सिंह का बच्चा न समझ कर इन्हीं के समान एक प्राकृत जानवर मान बैठे हो और उन्हीं के समान 'मे में' बोली भी सीख गये हो। लेकिन वास्तव में तुम बकरे नहीं हो। अब तुम अपनी जाति में चले आओ। अब हम और तुम साथ रहें।

उस सिंह की ऐसी बात सुनकर सिंह का बच्चा भी भ्रम से छूट कर उस सिंह के नजदीक आ गया और अपना यथार्थ स्वरूप समझ गया। इसी तरह माया में पड़कर ब्रह्म भी अपना स्वरूप भूलकर अपने को परवश जीव मानने लगा है। जब किसी ब्रह्म ज्ञानी रूप सिंह का 'अहं ब्रह्मास्मि' तत्त्वमसि' ऐसी गर्जना सुनता है और इस वाक्य का अर्थ-ज्ञान जब समझ जाता है तो अपने को फिर ब्रह्म का ब्रह्म समझने लगता है।

इस दृष्टान्त से भी तुम हमारी बात पर विश्वास करो। जीव में और भगवान में भेद नहीं है। यह निश्चय समझो।

सिंह के बच्चे का दृष्टान्त सुनकर ओंकार दास बोले 'क्या कहें महाराजजी! ब्रह्म के जीव होने में जो-जो नजीरें आप देते हैं वह वस्तुतः एक भी लागू नही हो रही है। मै मन को बहुत समझा रहा हूं परन्तु कुछ जॅच नहीं रहा है। आप ही देखिये और गहिरे विचार से सोचिए। इस सिंह के बच्चे की जो नजीर है वह किसी तरह भी परमात्मा के जीव होने में निश्चय कारक नहीं बन रही है। क्योंकि सिंह का बच्चा तो एक जंगली जानवर है और बाल्यावस्था में है। इससे उसमें तो अज्ञान हो सकता है और वह भ्रम में भी पड सकता है तथा बकरियों के बच्चों मे भी निवास कर सकता है। मौके पर सज्ञान होने से, किसी सिंह के चेताने से सम्हल भी सकता है। ये सब बातें जानवरों मे सम्भव भी हो सकती हैं परन्तु सदा भूत भविष्य वर्त्तमान को जानने वाले ब्रह्मा को भी इच्छा मात्र से सभी वेदों को पढाने वाले सर्वदा, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान, अनन्त ब्रह्माण्ड के मालिक, सारे ब्रह्माण्ड में भीतर बाहर व्याप्त होकर रहने वाले जिन से सदा माया डरती है, जिनके नाम जपने से, जिनका ध्यान करने से अनेक भ्रम छूट जाते हैं, उन माया पति साक्षात श्रीपति में पशुओं के समान अज्ञात कैसे आ सकता है? जिनके जरासा गाल में शंख छुला देने से पांच वर्ष का ध्रुव बालक ज्ञान का भण्डार बन गया। वह परब्रह्म सर्व समर्थ परमात्मा भगवान अखिलेश्वर, अखिल ज्ञान का सागर कैसे अज्ञानी बन सकता है।

जिसका नाम लेने से, ध्यान करने से माया बेचारी लाखो कोस दूर भागती है वह माया-पति भगवान गोविन्द अज्ञानी बनकर अपने परवश रहने वाली माया में फॅसकर अपने को जीव

कैसे मान सकता है। फिर भ्रम में पड़े हुए परब्रह्म को स्वयं कर्मों के परवश रहने वाले हड्डी, मांस, मल मूत्र की ठठरी जो यह शरीर है इसमें रहने वाले स्वयं कर्मों के परवश, भूख प्यास के विवश, काल, कर्म, मृत्यु के फन्दे में पड़ा हुआ ब्रह्म ज्ञानी नामक एक कोई मनुष्य दश पाच अक्षर का मन्त्र ज्ञान करा कर उसको किस तरह और कैसे पूर्व स्वरूप में ला सकता है। जब कि सर्व समर्थ सदा सर्वज्ञ सच्चिदानन्दघन सदा एक रस ज्ञान वाला भी माया के फन्दे मे पड़कर कर्म परवश महा अज्ञानी, संसारी नरक स्वर्ग भोगने वाला जीव बन जायगा तो दश अक्षरों के मन्त्रों में कौन शक्ति है जो फिर उसको सर्वेश्वर के रूप में ला सके ?

महाराजजी ! यदि सर्वज्ञ सर्व समर्थ भगवान ही अपनी सारी शक्ति सामर्थ्य को भूलकर अज्ञानी जीव बन जायगा तो फिर कौन सा ऐसा वाक्य ज्ञान है जो उसको पूर्व दशा में ला सकता है ? कारण कि माया तो एक बकरी के समान है और सर्वेश्वर सिंह के समान है। बकरी कभी सिंह को फँसा नहीं सकती है फिर माया सर्वेश्वर को फँसाकर कैसे जीव बना सकती है और यदि ऐसा कभी हो सके कि एक बकरी अति प्रबल जानवर सिंह को दबाकर अपने वश करले और इतना जोरदार जानवर सिंह कुछ न कर सके फिर "मैं शेर हूँ" "मैं शेर हूँ" यह शब्द मात्र कैसे उसको बकरी से छुड़ाकर फिर स्वाभाविक शक्तिवान बना सकता है ?

इसी प्रकार पहिले तो यह हो ही नहीं सकता कि सर्वज्ञ परमात्मा अज्ञ हो जाय। कर्मों के फलों को भुगताने वाला कर्म के परवश हो सके और माया को तावे में रखने वाला माया में फँस सके। यदि आपके बात के अनुसार थोड़ी देर के लिए कोई मान भी ले कि सर्व शक्तिमान अनन्त ब्रह्माण्डों को पाव मिनिट में इच्छा मात्र से रचने वाला साक्षात् श्रीपति यदि किसी कारण से कर्म के परवश महा अज्ञानी माया बद्ध जीव होकर जन्म मरणादिक दुखों के परवश हो जाय और संचित, प्रारब्ध-क्रियमाण, ऐसे कर्म फाँसों में फँस जाय तो फिर एक नहीं लाखों वाक्य ज्ञान की शक्ति नहीं है कि उसको 'सोऽहं' 'सोऽहं' रटाकर, 'अहं-ब्रह्मास्मि' जपाकर, तत्त्वमसि का अर्थ बताकर, कर्मों से छुड़ा कर, अज्ञान पने से हटाकर, पूर्ववत सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान बना सके; हाँ लीला करने के लिए यदि अज्ञ हुआ हो तब तो वाक्य ज्ञान के विना ही उसका सर्वेश्वर पना, प्रकाशित हो सकता है। जैसे श्री रामजी,

श्री कृष्णजी। परन्तु जिस सर्वेश्वर को माया ने अपने जाल में फँसा कर अज्ञ तथा जीव बनाया हो और माया की परवशता में होकर अपने सर्वज्ञपने को अपने सर्व समर्थ पने को यथार्थ में खोकर यदि संसारी जीव बन गया हो उसको चाहे लाखों वर्ष तक कोई 'तत्त्वमसि' 'तत्त्वमसि' सिखाया करें या 'सोहमऽस्मि' को रटाया करे, कोई समझदार इस बात को नही मान सकता है कि फिर वह माया बन्धन से छूटकर और अपने स्वरूप को प्राप्त हो सकेगा। क्यों कि जब सर्वशक्तिमान था, सर्वज्ञ था, एक रस था, उस वक्त अज्ञानी बनने से नहीं सम्हल सका और न खुद माया बन्धन से छूट सका फिर वाक्य ज्ञान में कहाँ की ऐसी शक्ति भरी है जो अनन्त वर्षों से कर्म फाँसों में फँसे हुए जीव रूप बने हुए सर्वेश्वर को उसके स्वाभाविक स्वरूप में पहुँचा सके।

जब कि सर्वेश्वर ही अज्ञ बन जायगा, कर्म फाँसो से छुड़ाने वाला ही यदि कर्मों के फाँस में फँस जायगा। जिसके नाम लेने से नरकादि दुखो से छूटते हैं वही सर्वेश्वर यदि नारकी बन बैठेगा, जिसके प्रताप से संसार से मुक्त हुआ जाता है वही सर्वेश्वर यदि बद्ध संसारी हो जायगा, फिर कौन उसको मुक्त बना सकता है ? इससे सारे मुक्ति के साधन और गुरु शिष्य का प्रयोजन निकम्मा बन जायगा। इस वास्ते महाराज जी! ये जो आपने सर्वेश्वर को जीव होने में जंगली जानवर शेर के अज्ञानी बालक की नजीर दी यह बिल्कुल शास्त्र और युक्ति दोनों के खिलाफ है। और यदि कहो शास्त्रों में लिखा भी हो तो नृग की गायों के समान बिल्कुल प्रशंसावाद मात्र है, अर्थवाद मात्र है। न जाने आप इतने समझदार हो करके भी ये क्या-क्या नजीरें दे रहे हैं ?

महाराज जी अंधे को तो एक चीज की दूसरी चीज भी कोई बता दे तो वह मान सकता है परन्तु जिसकी आखें बराबर हैं याने जो आँख वाला है उससे कोई मिट्टी को सोना कहे तो वह कैसे मान सकता है ? इसी तरह जो अक्ल के शत्रु याने कम अक्ल वाले, जिनमें समझने की शक्ति नहीं है और जिनको शास्त्रों की शैली ज्ञात नहीं है, वे लोग तो वेद मन्त्र का नाम सुनते ही झट मान बैठेंगे। और अपने को काल कर्म के वश जानते हुए भी 'मैं परमात्मा हूँ' 'मैं वही हूँ' 'मैं ब्रह्म हूं' इस तरह जैसे कर्म दरिद्र, भाग्य हीन कंगला मनुष्य भी

मद्यादि के नशों के वश होकर, अपनी पूर्व दशा को भूल कर, अपने कङ्गलेपने को भूल कर 'मैं राजा हूँ' 'मैं बादशाह हूँ' ऐसा बका करते हैं उसी तरह बडबड़ाया करेगा।

जिसको कुछ अक्ल है, जिसने कुछ भी सत्संग किया है, कभी भी गीता, श्रीरामायण, श्री भागवत को बाँचा सुना है और भगवान को माया पति समझा है, उनको सर्वज्ञ जाना है, वह इस बात को कब मान सकता है कि सर्वज्ञ ईश्वर अज्ञ बन गया है ? हाँ वेद मन्त्र सुनकर और उस पर चकित न होकर, रोचक, भयानक, यथार्थ, विषय राजस, तामस, सात्विक अनेक अधिकारियों के लिए अनेक, प्रसंग भरे हुए हैं और जो प्रसंग युक्ति और प्रत्यक्ष से नहीं जम सकेगा उस पर कभी भी विश्वास न करके वह चित्रकेतु की औरतों के समान प्रशंसावाद है ऐसा दृढ़ निश्चय करेगा।

इस वास्ते या तो आप इस जीव और जगत में परब्रह्म का लक्षण मिलाइये नही तो परब्रह्म किस कारण से और कब परवश जीव बना इस बात को अच्छी तरह से समझाइये अथवा ब्रह्म शब्द का कोई दूसरा अर्थ करिये'

इतना सुनकर वह महात्मा बोले 'अच्छा ! तुमको एक नजीर और बताता हूँ सुनो ! जैसे नदियाँ अपना नाम रूप छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं उसी तरह यह जीव अपना रूप छोड़कर ब्रह्म हो जाता है। क्यों ? यह नजीर जँची ?

इतना सुनकर ओंकारदास बोले 'महाराज जी ! क्या जँचे और क्या न जँचे ? आपकी नजीर सुनकर तो मेरा दिमाग चकरा जाता है। नदी का जल भी तो जड है। वह ऊँचे से नीचे बहता हुआ समुद्र में चला जाता है और एक हो जाता है। यह बात थोड़ी देर के लिए घट भी सकती है पर एक हो जाने की बात तो सर्वथा असंभव है। समुद्र में जाकर के भी नदी का जल तो नदी का ही जल रहता होगा और समुद्र का जल समुद्र का ही जल रहता होगा। यह बात मैं सशय के साथ नहीं कह रहा हूँ।

एक वक्त की बात है कि मैं जहाँ गंगा और समुद्र का संगम हुआ है उसी के सामने से किसी एक टापू में जहाज पर होकर जा रहा था। संयोग वश उस जहाज में जो मीठा जल

भरा हुआ था; जहाज पर चढ़कर सफर करने वाले मनुष्यों के लिए वह कम हो गया। जब इस बात की हलचल मची कि अब काम कैसे चलेगा तो जहाज का मालिक बोला कि घबड़ाओ मत, कहीं भी गंगा आदिक नदियों का जल इसमें मिलेगा सो निकाल लिया जायगा। यह तरीका हर-एक को मालूम नहीं है पर हम जहाज चलाने वालों को मालूम रहता है। और हमी लोग जान सकते हैं कि यह जल कहाँ का है। इस अनुभूत नजीर से यह तो नहीं कह सकते हैं कि समुद्र में जाकर नदियाँ एक हो जाती हैं हाँ इतना जरूर कह सकते हैं कि इतने बड़े समुद्र मे नदियों के जाने के बाद हर एक उसका नाम रूप जान सकेंगे यह नहीं हो सकता है। हाँ! जहाज वाले सूक्ष्म-दर्शी-यंत्र से जान भी जाते हैं और मौके पर उससे काम भी लेते हैं। इतना जरूर है कि लाखों करोड़ों में कोई एक इस तरीके को जानता है। इतनी बात तो सबको कहनी पडती है कि यदि १० सेर समुद्र का जल है तो एक सेर नदी का जल मिलने से ११ सेर जरूर ही हो जाता होगा। अत्यन्त विशाल समुद्र का रूप होने के कारण उसको कोई तौलकर नहीं जान सकता है, इस रीति से एक हो जाना सर्वथा असम्भव है। थोड़ी देर के लिए नदी के जल का समुद्र मे जाकर एक होना मान भी लें तो भी जीव नाम रूप छोड़कर ब्रह्म हो जाता है यह कैसे बन सकता है क्योंकि मैंने आप सरीखे महात्मा के ही मुख से मोक्ष दशा के एक वेद मन्त्र का अर्थ सुना है। वह यह है :—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'।

और 'यत्र साध्याः पूर्वे सन्ति देवाः'।

उन विष्णु भगवान के परमधाम को याने परम पद को सूरी लोग अर्थात् संसार से छूटे हुए नित्य मुक्त सदा देखते हैं। इस श्रुति में यह बहुवचन पद आया है। यदि नाम रूप छोड़ कर जीव ब्रह्म में मिल जाता या ब्रह्म हो जाता तो उसका नाम सूरी कैसे आता और बहुवचन कैसे आता तथा 'देखता है' यह शब्द कैसे आता याने यह क्रिया कैसे आती।

इस वेद मंत्र के अर्थ से ऐसा मालूम होता है कि मोक्ष दशा में भी जीव अलग ही रहता और अनेक रहता है तथा ब्रह्म को देखता भी है। तो जब मोक्ष दशा में भी जीवों के

बाबत 'अनेक' बहुवचन आ चुका' सूरी नाम आ चुका, विष्णु का नाम अलग आ चुका फिर नाम रूप छोड़कर नदी का जल जैसे समुद्र में एक हो जाता है उसी तरह जीव नाम रूप छोड़कर ब्रह्म में लीन हो जाता है याने ब्रह्म बन जाता है। यह नजीर किस तरह घट सकती है ?

इस मुमुक्षु दशा की श्रुति से स्पष्ट मालूम होता है कि यह जीव ईश्वर कभी नहीं होता है। क्यों कि यदि एक हो जाता तो फिर मन्त्र में 'सूरयः पश्यन्ति' यह पद बहुवचन के साथ नहीं आ सकता था। इससे जीव के ब्रह्म होने में आपकी यह नजीर भी काम नहीं दे रही है। इससे या तो आप अपने कहे मुताबिक परब्रह्म का लक्षण मिलाइए नहीं तो 'सर्वं खल्विदं' ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि' इन मंत्रों में जो ब्रह्म पद है उसका दूसरा अर्थ बताइए या कौन जीव ब्रह्म हो गया एक कोई नजीर दिखा दीजिए।

इतना सुनकर वह बोले 'सुनो अब तुम को भाषा से समझाता हूँ। सरभंग मुनि श्रीराम-जी से बोले कि :—

तब तक रहहु दीन हित लागी। जब लगि तुमहि मलौं तनु त्यागी ॥'

इसका अर्थ सुनो ! कि हे श्री रामजी ! इस देह को छोड़कर जब तक मैं आप में मिलता हूँ तब तक आप कृपा कर के खडे रहिए।

क्यों बच्चा ! यह दृष्टान्त कसा खुलासा कह रहा है कि तुम्हारे में मिल जाऊँ अब तो हमारी नदी-जल समुद्र में मिलकर एक होने की नजीर ठीक आ गई न !

इतना सुनकर थोड़ा विचार कर ओंकारदास बोले कि—महाराज जी ! इस चौपाई का जो आपने अर्थ किया है वह यथार्थ नहीं है। इसका अर्थ है कि 'हे श्री रामजी इस दीन के लिए कृपा करके तब तक आप यहाँ रहिए जब तक मैं इस शरीर को त्याग कर आपको मिला सकूँ ! याने आपको पा जाऊँ। यहाँ पर जीवत्व मिटकर ब्रह्म होने का अर्थ नही है और न एक होने का अर्थ। क्योंकि यदि ब्रह्म में मिलजाने का इसका अर्थ होता तो—

अस कहि योग अगनि तनु जारा। राम कृपा वैकुण्ठ सिधारा ॥

इस अगली चौपाई मे श्री रामजी की कृपा से सरभंग मुनि वैकुण्ठ चले गये। आपकी यह ब्रह्म होने की बात आगे नहीं आती। इससे कौन जीव ब्रह्म होगया आपको यदि याद हो तो नाम धरकर समझा दीजिए।

इतना सुनकर वह बोले कि 'अच्छा! और एक दृष्टान्त देता हूँ। ध्यान देकर सुनो! शिशुपाल, दन्तवक्र इन दोनों को जब भगवान ने मारा तो वहाँ श्लोक आया है—

ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा वैद्यवधेनृप॥

मद्भागवत दसम स्कन्ध अ० ७८ २०-१०

शिशुपाल की देह से ज्योति निकलकर भगवान श्री कृष्ण में मिल गई। दन्तवक्र का भी आत्मा निकल कर श्री कृष्णजी में प्रवेश कर गया। शिशुपाल की ज्योति भगवान की ज्योति में मिल जाने से यह खुलासा हो गया कि ज्योति में ज्योति मिल जाती है याने जीव अवश्य जीवत्व को छोडकर ब्रह्म बन जाता है। अब तो हमारे कहे हुए सारे प्रमाण ठीक हो गये।

इतना सुनकर ओंकारदास बोले कि 'क्या कहूँ महाराज जी! आपकी बातों को बार-बार काटना पडता है। परन्तु मैं क्या करूँ! सरकार जो नजीर देते हैं वह एक भी अकाट्य नहीं रहती है। सुनिए! शिशुपाल की ज्योति श्री कृष्णजी की ज्योति में मिल गई। इस नजीर से जो आप जीव को ब्रह्म बनना ठहरा रहे हैं। यह बिल्कुल असंगत है। जैसे आपने सरभंग जी के बाबत भगवान में मिलने का अर्थ किया था और वह अर्थ सिद्ध नहीं हो सका बरन् अगली चौपाई से वैकुण्ठ जाना सिद्ध हो गया किन्तु सरभंगजी का जीवत्व मिटकर ब्रह्म होना सिद्ध नहीं हुआ।

उसी तरह शिशुपाल के प्रसंग में भी कुछ भीतरी रहस्य भरा पडा है वह यह है कि 'किसी बड़ भागी के मरने के समय ज्योति में ज्योति मिल गई। इस तरह कहने की शास्त्र की एक प्रकार की प्रथा है। जो वैकुण्ठ याने परमधाम को जाता है। उसको खुली वह

मात न कह कर यों ही शास्त्र कहता है कि ज्योति में ज्योति मिल गई। कहने की यह भी एक प्रकार की शास्त्र की शैली है कि जिसको परमधाम मिलता है याने भगवान का लोक मिलता है। उसको परमधाम गया ऐसा न कह कर प्रायः ऐसा ही मुनि लोग कह देते हैं कि ज्योति में ज्योति मिल गई। भगवान में प्रवेश कर गया। उसका तेज भगवान के मुख में समा गया। वाक्य तो ऐसे ही रहते हैं कहने में अर्थ ऐसा ही मालूम पडता है कि ब्रह्म हो गया या ब्रह्म हो जाता है। या ज्योति में ज्योति मिल गई। परन्तु जब उसका वास्तविक विचार किया जाता है और संगति मिलाई जाती है तब यह एक भी अर्थ सिद्ध नहीं होते, बल्कि उसका यही अर्थ होता है कि वह बड भागी जीव परमपद चला गया। याने वैकुण्ठ में जाकर भगवान की सेवा में शामिल हो जाता है।

इससे जहाँ-जहाँ ऐसे शब्द आवें कि भगवान में मिल गया, ज्योति में ज्योति मिल गई, उसका तेज भगवान में प्रवेश कर गया। वहां आप ऐसा ही समझा कीजिये कि वह श्री गोलोक धाम में जाकर परमात्मा की सेवा को पा गया।

इतना सुनकर महात्माजी बोले कि जब प्रमाण में ज्योति मिल जाना ऐसा मिल रहा है। तो उसका भाव याने मतलब परमधाम को चला गया यह कैसे समझ लें ?

इतना सुनकर ओंकारदास बोले 'अच्छा महाराजजी ! मैं आपके सामने निवेदन करता हूँ सुनिये ! आपके सामने मैं असंगत बात नहीं करना चाहता न व्यर्थ समय ही बिताना चाहता हूँ। हाँ ! इतना जरूर है कि जो हमको नहीं जँचेगा उसे हम बार-बार आप से पूछेंगे। शिशुपाल की ज्योति भगवान में मिल गई, इस लेख से जो आप जीव का ब्रह्म होना साबित करते हैं, यह किसी तरह से सिद्ध नहीं होता है क्योंकि उसकी कथा तो प्रसिद्ध ही है कि जय विजय को सनकादिक मुनियों का श्राप था और उन जय विजय को भगवान ने कहा था कि तीसरे जन्म में तुम लोग फिर यहां के याने वैकुण्ठ के पार्षद हो जाओगे। पहिले वे दोनों हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए थे। दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकरण हुए थे। तीसरे जन्म में दन्तवक्र और शिशुपाल हुए थे भगवान श्री कृष्णजी के सुदर्शन चक्र के द्वारा शरीर छोडकर फिर वैकुण्ठनाथ के द्वार के द्वारपाल याने जय विजय पूर्ववत् पार्षद हो गये।

तो जब वे शिशुपाल और दन्तवक्र का शरीर छोड़कर वैकुण्ठ-द्वार के पार्षद बन गये तो हम कैसे मान लें कि ज्योति में ज्योति मिल गई। और यह भी कैसे कबूल करें कि उनका जीवत्व छूटकर स्वयं ब्रह्मपना आ गया। पहिले ही मैं ने आप से निवेदन किया था कि प्रायः वैकुण्ठ या परमपद जाने वाले के बाबत ऐसे ही शब्द आया करते हैं कि ज्योति में ज्योति मिल गई। उसका तेज भगवान के मुख में प्रवेश कर गया। अमुक भक्त शरीर छोडकर भगवान में मिल गया। अमुक ब्रह्म हो गया। परन्तु सूक्ष्म विचार करने से उसका यही भाव निकलता है कि वैकुण्ठ में जाकर उसने भगवान की सेवा प्राप्त की।

जैसे-शिशुपाल जब मरा तो वहाँ यही शब्द आया है कि शिशुपाल का तेज याने ज्योति श्रीकृष्णजी में प्रवेश कर गई। परन्तु ऐतिहासिक कथा विचारने से यह अर्थ निकलता है कि यह तीसरा जन्म था दन्तवक्र और शिशुपाल दोनों पूर्ववत् जय विजय हो गये। याने पूर्ववत् वैकुण्ठ-द्वार के पार्षद बन गये। इन सब बातों से यह स्पष्ट जाहिर हो रहा है कि यह जीव कभी परब्रह्म नहीं होता है। सृष्टि के आदि में भी जब सृष्टि करने का संकल्प परमात्मा ने किया है उस वक्त का भी एक वैदिक मन्त्र है:—

"आत्मना जीवे नानु प्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि"।

इसका भाव यह है कि परमात्मा संकल्प करते है कि 'मैं आत्मा जो जीव है उसके साथ भीतर प्रवेश करके इस जीव को शरीर देकर इसका नाम रूप जाहिर करूँ'।

इस मन्त्र के भाव से यह स्पष्ट मालूम पडता है कि सृष्टि के आरम्भ में भी जीव था क्यों कि इस मन्त्र में जीव के साथ प्रवेश करके जीव का नाम रूप प्रगट कराने का संकल्प है इस मन्त्र के अनुसार 'एकोऽहं बहु स्याम' इस मन्त्र का भी यही अर्थ उचित मालूम पड़ता है कि अनेक जीवों के साथ अन्तर्यामी रूप होकर मैं बहुत हो जाऊँ। परमात्मा ने इस मन्त्र से यही संकल्प किया है। इस मन्त्र का यह अर्थ नहीं है कि कूकर-शूकर पशु-पक्षी अनेक रूप से कर्म भोगने वाले अनेक जीव मैं बन जाऊँ। क्योंकि पहिले मन्त्र में सृष्टि होने के पहिले ही जीव शब्द आया है और उसके साथ परमात्मा के प्रवेश का संकल्प आया है। श्रीमद्भागवत में भी ब्रह्मा से भगवान ने कहा है कि (सृष्टि के आरम्भ में) हे ब्रह्मा!

"प्रजाः सृज यथा पूर्वं याश्च मय्यनु शेरते"।

पहली सृष्टि के अन्त में याने महाप्रलय के समय में जो प्रजाएँ हमारे में सो गई थीं याने ज़ो जीव जैसी-जैसी भली बुरी अपनी कर्म वासनाओं को लेकर स्थूल नाम रूप छोडकर हमारे अन्दर प्रवेश करके पडे हुए हैं उनकी तुम सृष्टि करो।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज संरक्षित विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमांसा का द्वीतिय खण्ड समाप्त

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

शरणागति मीमांसा

(तृतीय खण्ड)

हे ब्रह्मा ! 'हमारी दी हुई शक्ति तथा ज्ञान से, इन जीवों के पूर्व कर्मों को भली-भाति जानकर जो जैसे ऊँच नीच शरीर पाने के अधिकारी हैं उनको वैसा ही शरीर देकर नाम रूपको स्पष्ट करो'।

इस प्रसग से भी यही विदित पडता है कि पहिले सृष्टि के महा प्रलय समय में भी जीव परमात्मा में नहीं मिले थे न परमात्मा ही बने थे किन्तु अचिन्त्य शक्ति परमात्मा के शरीर मे अपनी सूक्ष्म कर्मवासना को लेकर प्रवेश कर गये थे याने सो गये थे। उस समय परमात्मा ही उन लोगों को जान सकते थे कि वे कौन हैं और कहां पडे हैं ? फिर जब दूसरी सृष्टि का आरम्भ आया तो भगवान ब्रह्मा को प्रकट कर सावधान कर रहे हैं कि हे ब्रह्मा ! पूर्व प्रलय में हमारे में जो सोई हुई प्रजा है उनकी सृष्टि उनके पूर्व कर्मों के अनुसार करो, याने जो देवता बनाने लायक हैं उन्हें देवता बनाओ, जो भूत बनाने लायक हैं उनको भूत बनाओ, जिनके कर्म मनुष्य के योग्य हैं उनको मनुष्य बनाओ इसी तरह साप, बिच्छू, कूकर, शूकर, वृक्ष, लता, गुल्म, कीट, पिपीलीका आदि में जो जिस कर्म के अधिकारी हैं ; उस की रचना उसी तरह करो।

श्री मद्भागवत के इस वचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि जैसे किसी कोठरी में अनेक वस्तु भरकर रख देते हैं और फिर समय पर निकाल लेते हैं। भरते समय मालूम पड़ता है कि अमुक चीज भरी जाती है और निकालते समय भी मालूम होता है कि अमुक-अमुक चीजें निकाली जाती हैं परन्तु मध्य में यही कहा जाता है कि एक कोठरी है।

इसी प्रकार प्रलय के समय सारे जीव अपने कर्मवासनाओं को लेकर प्रभुकी एक विचित्र शक्ति के द्वारा परब्रह्म परमात्मा में किसी जगह पृथक्-पृथक् रख दिये जाते हैं। फिर सृष्टि करने के समय में उनके पूर्व वासनाओं के अनुसार भगवान से रचित ब्रह्मा के द्वारा अनेक प्रकार के शरीर पाते हैं। इससे यह खुलासा हो गया कि महाप्रलय के समय में भी कोई जीव ब्रह्म नहीं बनता है बल्कि ब्रह्म में जाकर सो जाता है। सृष्टि के आरम्भ में भी भगवान याने परमात्मा देव, दानव, कुक्कर, शूकर, पशु, पक्षी आदि अनेक सुख-दुःख भोगने वाले कर्मों के परवश जीव रूप से खुद नहीं बन जाते हैं। वेद मन्त्रों में जहां पर स्वय परमात्मा से ही ब्रह्मा के पहिले कुछ सृष्टि का क्रम आता है वहाँ भी यही आता है कि :—

"तस्मात् अश्वा अजायन्त"

याने उस परमात्मा से घोडे हुए। ऐसा नहीं आया कि परमात्मा ही घोडा हो गये।

"गावोहि जगिरे तस्मात्" याने उस परमात्मा से गायें हुई।

"मुखादग्निरजायत" परमात्मा के मुख से अग्नि हुआ।

इसस यह स्पष्ट होता है कि जैसी वासना लेकर महाप्रलय के समय परमात्मा में ये जीव रह गये। फिर सृष्टि के समय में अचिन्त्य शक्ति, सदा सर्वज्ञ, परम कृपालु भगवान ने उन जीवों की पूर्व कर्म वासनाओं के अनुसार जो जैसे होने योग्य थे वैसे देव, दानव, मनुष्य, कूकर, शूकर, पशु, पक्षी रूप से बनाया। इसी बात को छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि "ये कपूयाचरणा दुरात्मानस्ते कपूयायोनि मामपद्येरन श्वान योनिं शूकर योनिं चाण्डाल योनिंवा"।

याने पूर्व महाप्रलय के प्रथम जिन जीवों ने खराब कर्म किये थे उन दुरात्माओं को कुत्ते सूअर और चाण्डाल की योनि दी गयी और जो :—

"ये रमणीया चरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण योनिं क्षत्रिय योनिं वैश्य योनिंवा"।

याने प्रलय के प्रथम जिन जीवों ने सत् आचरण किये थे याने पुण्य कर्मों को किये थे

उन लोगों को फिर सृष्टि के समय में ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि, और वैश्य योनि परमात्मा के तरफ से प्राप्त हुई।

सृष्टि के आदि के प्रसंग में भी अनेक जीवों को उनके कर्मानुसार सृष्टि का प्रसग आया। महाप्रलय के समय में भी अपने कर्मों के अनुसार उन लोगों ने जाकर परमात्मा का अवलम्ब लिया। न तो महाप्रलय के समय में यह प्रकरन आया कि सब जीव परमात्मा हो गये और न सृष्टि के आरम्भ में आया कि परमात्मा ही कूकर, शूकर, देव, दानव, हो गये। परमपद में गये हुए जीवों का भी प्रसग आप से पहिले कह ही चुका हूँ कि वहा भी गये हुए मुक्त जीवों के लिये बहु वचन पद आता है, वे लोग परमपद में परमात्मा को देखते हैं ऐसा आता है। तो परमपद में जाकर के भी माया से मुक्त हुये जीवों के बाबत भी पृथक् की ही कथा आती है, पृथक् का ही प्रसंग आता है। फिर प्रलय में भी एक होना नहीं आया। सृष्टि मे भी परमात्मा ही अनेक जीव कूकर, शूकर आदिक हुये यह नहीं आया और परमपद में भी एक हो गये यह नहीं आया।

शिशुपाल के प्रसग में भी जहां ज्योति में ज्योति मिल गई यह आया है उसका भी खुलासा भाव यह हो गया कि शिशुपाल का तीसरा जन्म पूरा हो गया। इससे वह भगवान की आज्ञानुसार जाकर वैकुण्ठ द्वार का पार्षद बन गया। और शवरीजी के परमपद प्रसंग में भी आया है कि :—

"यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः
तत्पुण्यं शवरी स्थानं जगामात्म समाधिना।"

'श्री बाल्मीकीय रामायण'।

जहां शवरीजी के पुण्यात्मा गुरु महर्षि लोग विहार करते हैं उस पवित्र स्थान परमपद को शवरीजी गई। इसमें भी यह नहीं आया कि शवरी परमात्मा बन गई; या ब्रह्म बन गई और यह भी नहीं आया कि महर्षि लोग परमपद में जाकर परमात्मा बन गये। परमपद मे पहुँचे हुये महर्षियों के बाबत भी बहुवचन पद आया है। जब कि लोक शास्त्र प्रसिद्ध भक्त

शिरोमणि शबरी और महर्षि लोग भी परब्रह्म नहीं बन सके तो दूसरा कौन है कि जीव से परब्रह्म बन जाय ?

श्री जटायुजीके प्रसंग में भी श्री रघुनाथजी ने जटायुजी को परमपद भेजा। श्रीरामजी ने श्री जटायुजी से कहा कि :—

"गच्छ लोकान् अनुत्तमान्"।

याने हे भक्तराज श्री जटायुजी ! मैं आज्ञा देता हूँ कि सब से श्रेष्ठ दिव्य लोक परमपद को आप जाइये। वहां भी यही आया कि :—

"गृद्ध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषण बहु पट पीत अनूपा॥
श्याम गात विशाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि वारि॥"

आगे यह आता है कि

"अविरल भक्ति माँग वर, गीध गयो परधाम।
तेहि की क्रिया यथोचित, निज कर कीन्हीं राम॥

याने श्री जटायु जी भी शरीर छोड़कर चतुर्भुज होकर परमधाम को ही गये। जब कि श्रीरामजी के काम में शरीर छोडा, श्री रामजी ने खुद उनका संस्कार किया ऐसे भक्त शिरोमणि श्री जटायु जी भी मुक्त होने पर यदि परमात्मा नही बन सके तो दूसरा ऐसा कौन माई का लाल उनसे बढ़कर ज्ञानी हो सकेगा कि जीवत्व मिटाकर परमात्मा बन जाय। ध्रुव भक्त के प्रसंग में भी शरीर छोड़कर यही पद आता है कि—

"मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्वा आरुरोह हरेः पदम्"।

याने मृत्यु के माथे पर पग देकर श्रीहरिके स्थान को ध्रुव जी गये। उनके बाबत भी यह नहीं आया कि जीवत्व मिटाकर भगवान बन गये।

प्रहलाद जी को भी भगवान ने ऐसा ही कहा कि—

"मामेष्यसि मुक्त बन्धः" ।

याने हे प्रहलाद जी ! सब प्रकार का सुख भोगकर अन्तमें शरीर छोडकर हमको पावोगे। इसमें भी यह नहीं आया कि हम तुम एक हो जायँगे। इसी प्रकार अम्बरीप जी के प्रसग में जीव का ब्रह्म होना नहीं आया। प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि ऋषभदेव, जडभरत, विरज, आरुणि, जनक, अंग पृथु इत्यादि वडे-वडे भक्त प्रवर राज्य काज सर्वस्व छोड़कर; अन्त में जङ्गल में जाकर, परम विरक्त होकर, शरीर त्यागने वाले भक्त-शिरोमणि राजाओं के वावत भी नही आया कि वे परमात्मा वन गये। वडे-वड़े इतिहास पुराणों के नामी लोग यही हैं फिर किसके नजीर से जाना जाय कि परमात्मा ही जीव वन गये हैं और जीवत्व से छूटकर फिर श्रीपति बन जाते हैं।

इससे किसी तरह भी जीव और जगत परमात्मा हैं यह नहीं सिद्ध होता है क्योंकि दृश्य-मान जगत नाशवान है। यह सब देख रहे हैं। परमात्मा नाशवान हो ही नही सकता और जीव हद से ज्यादा कर्मों के परवश पड़ा हुआ है। इससे जीवन-मरण, दुःख-सुख के चक्र में परवश पिस रहा है और परमात्मा कर्म परवश हो करके जीव बन के विपत्ति भोगें यह कभी हो नहीं सकता इससे महात्मा जी या तो आप सिद्ध करिये कि 'भगवान' जीव कब बनें और क्यों बने ?' या ब्रह्म शब्द का कोई दूसरा अर्थ करिए।

इतना सुनकर वह महात्मा वोले कि "तुम्हारा कहना तो बहुत ठीक है परन्तु कई एक जगह ऐसा आता है कि—

"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" ।

याने ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। फिर कई जगह यह भी मिलता है कि जीव ब्रह्म एक हो जाते हैं। इससे तुम जँचालो कि जो भगवान है वही जीव है। भगवान के सिवा दूसरा कोई है इस बात को जो ख्याल में रखता है उसका संसार भय छूटना मुश्किल है। क्यों ! हम कहते हैं सो मान गये ?

इतना सुनकर औंकारदास बोले ! महाराज ! क्या माने और क्या न मानें। आपने

इसपर आपने झट कह दिया कि 'तुम अपने को भगवान समझो'। 'मैं परमात्मा हूं' 'मैं परमात्मा हूँ' इस बात को रटो।

महाराजजी! यदि मैं परमात्मा होता, भगवान होता, तो इतनी विपत्ति क्यों भोगता? और मुक्ति के लिए उपाय क्यों करता? मैं अपनी दुर्दशा जब स्वयं जान रहा हू और कुछ मेरे में समझ भी है फिर कोई झूठी बातें बता दे उसको कैसे मान लू? और मुझको कैसे हिम्मत पड सकती है कि मैं अपने को भगवान मान लू? यह बात तो ऐसी हुई कि कोई प्यासा पानी मागने को कहीं जा रहा है, प्यास, प्यास चिल्ला रहा है। एक के पास गया कि जल्दी पानी दो, नहीं तो मरना चाहता हूँ और उसने यों कहा कि 'इस अगार को मुख में डालो' तुम्हारी प्यास बुझ जायगी। वह घबडाकर बोलता है कि भाई यह तो अगार है इससे प्यास क्या बुझेगी, मर जाऊँगा। यह सुनकर वह प्रमाण देता है कि भाई! यह अग्नि नहीं है जल है इसको पियो? जब तक उसमें होश रहेगा वह कैसे मान लेगा कि यह जल है।

इसी तरह मैं तो ससार दुःख से घबडाकर आपके पास ज्ञान लेने आया और पूछा कि 'मुक्ति के लिए उपाय बताओ'। आप सरासर झूठ बातें मुझ को सिखाने लगे। आप हमको यह कहते कि भगवान का ध्यान करो, भगवान के शरण हो जाओ, भगवान का भजन कीर्त्तन करो, भगवान प्रसन्न होकर तुमको मुक्ति देगें। यह बात सीधी है। इसे न कहकर आपने यह कहा कि 'मै भगवान हूं' ऐसा तुम अपने को समझो। बडी मुश्किल की बात है जब हमारे में एक भी भगवान के लक्षण नहीं मिलते तो यह बात कैसे जॅचे।

न जाने पूर्व में कौन से पाप किये जिनके फल भोगते-भोगते आजतक हैरान हू। अब मैं 'भगवान हूँ' 'भगवान हूँ' ऐसी झूठी बातें कहूँ और रटूँ तो न जाने कौन सा बुरा फल भोगना पड़ेगा। इससे आप हमको सच्चा-सच्चा मार्ग बताइए। आप कहते हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। मैंने इसी बात का तो उत्तर आपको दिया था कि शबरी, जटायु, सरभंग मुनि, जड़भरत, श्री जनक इत्यादि सभी तो ब्रह्म को जानने वाले थे। परन्तु इनके अन्त समय में परमपद जाने का प्रसंग जब आया तो किसी के प्रसंग में ऐसा नहीं आया कि वे भगवान हो गये, उनका जीवत्व मिटगया और परब्रह्मपने को प्राप्त हो गये।

शिशुपाल, दन्तवक्र, कुम्भकर्ण की एक नजीर आपने दी थी कि ये लोग भगवान में मिल गये सो इन लोगों के प्रसंग में भी ऐतिहासिक विचार से यही सिद्ध हुआ कि ये लोग अपने मुनि श्राप के म्याद खतम होने पर वैकुण्ठ के पार्षद बन गये। इससे जीव का परब्रह्म होना किसी हालत में भी सिद्ध नहीं होता है। अब रहा एकता का प्रसङ्ग। इसमें भी नृग की गायों के समान यदि कहीं शास्त्र यह कह दे कि जीव ब्रह्म दोनों एक हो गये तो भले हीं कहें, कहने दीजिए। किन्तु यह बात कभी नहीं हो सकती। दोनो एक हो गये, शास्त्रों में यदि इस तरह का प्रसङ्ग आवे तो उसको ऐसा समझिए कि जैसे वालमीकीय रामायण मे हनुमान जी ने श्री जानकी जी से कहा है कि हे श्री जानकी जी!

'राम सुग्रीवयोरैक्यं देव्यैवं समजायत'।

श्री रघुनाथ जी और सुग्रीव जी की इस तरह एकता हो गई याने श्री रामजी और सुग्रीव जी कुछ देर बात करने के बाद दोनों एक हो गये।

देखिये! इस प्रसग में भी दोनों एक हो गये यहा बात आई। परन्तु इसका अर्थ यही हुआ कि दोनों में मैत्री हो गई। मैत्री होने पर भी रावण से सुग्रीव जी यही बोले कि—

'लोकनाथस्य रामस्य सखा दासोस्मि राक्षस'।

हे रावण! मैं लोकनाथ श्री रामजी का सखा हूँ। याने उनका दास हूँ। कहने का सारांश यह हुआ कि दोनों एक हो गये यह बात आने पर भी लोकनाथ तो भगवान ही रहते हैं और यह जीव उनका दास रहता है। इससे 'ब्रह्म शब्द का और कुछ अर्थ समझाइये।

ओंकारदास का वचन सुनकर वह बोले कि "सुनो भाई! मैंने तो तुम से कह ही दिया है कि—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" याने ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। इसका खुलासा अर्थ यह हुआ कि जीव और ब्रह्म दोनों एक हो जाते हैं। इससे अपने मनमें इस बात को अब भी निश्चय कर लो कि ज्ञान होने पर, माया की उपाधि मिटने पर यह जीव जरूर ही ब्रह्म हो जाता है। देखो! मैं भी तो वेद शास्त्रों का ही प्रमाण दे रहा हूँ। मैं कुछ मन-मानो बातें नहीं कहता हूँ। तुम भी तो खुद समझ रहे हो कि महाराज वेद शास्त्रों का ही

प्रमाण दे रहे हैं। जब कि शास्त्रों का ही प्रमाण दे रहा हूँ तब तुमको न मानने में कौन-सी बात है?

इससे बिना मतलब की बार बार की जिरह छोड़कर यह जीव भगवान ही है और अन्त में भी ब्रह्म को जान लेने के बाद ब्रह्म ही में मिल जाता है याने एक हो जाता है। यह अच्छी तरह समझ लो।

इतना सुन चकित होकर ओंकारदास बोले—"क्या कहें महाराज! आप बारबार उसी गीत को गाते हैं। मैं यह थोड़े ही कहता हूँ कि आप शास्त्रों के प्रमाण नहीं दे रहे हैं। मैं भी तो यही कहते आ रहा हूँ कि आप शास्त्रों का ही प्रमाण दे रहे हैं। आपके प्रमाणों में किसी प्रकार का दोष नहीं है। हाँ! इतना जरूर है कि शास्त्रों की शैली से अनभिज्ञ हैं कारण कि यदि शास्त्र शैली से वाकिफ होते तो इतनी झंझटें करनी ही नहीं पड़ती। आपने तो पहिले ही कहा था कि "मैं ब्रह्म हूँ" इस बात को तुम रटो। आप से कहा हुआ "अहं ब्रह्मास्मि" इससे पहिले ही शब्द में ब्रह्म पद आया है। इसका अर्थ पूछने पर आपने यही कहा था कि "यह जीव परमात्मा है"। जब मैं चकित होकर परमात्मा का लक्षण पूछा था तो आपने कहा था कि जो सारे ब्रह्माण्ड को रचने वाला है, जो सारे ब्रह्माण्ड को जिलाता है वह परमात्मा है।

आपकी इतनी बात सुनकर मैंने बहुत देर तक अपने में तथा और भी अनेक जीवों में यह लक्षण मिलाया जब किसी जीव मात्र में आपके कहे मुताबिक परमात्मा का लक्षण नहीं मिला तो मैं लाचार होकर आपसे फिर पूछा कि परमात्मा के एक दो लक्षण और भी बताइए! फिर आपने बताया कि जिसके, नेत्र से सूर्य उत्पन्न हुए, जिसके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए उनको ब्रह्म याने परमात्मा समझो। जब आपने परमात्मा का यह लक्षण कहा तब मैं और भी आश्चर्य में पड़ा। जब अपने से या किसी जीव मात्र से चन्द्र, सूर्य की उत्पत्ति नहीं देखी तब आप से पूछा कि महाराज जी! समझे बिना मैं अब आगे नहीं बढ़ सकता हूँ या तो किसी जीव में परमात्मा का लक्षण मिला दीजिए या ब्रह्म शब्द का दूसरा अर्थ बता दीजिए। बस शुरू से ही मैं आप से यही पूछता चला आ रहा हूँ परन्तु अभी तक आप प्रमाणों की ढेरी लगा रहे हैं जो

पूछता हूं उसका उत्तर अभी तक नहीं दिये। फिर भी बारंबार आपसे मेरा यही निवेदन है कि अभी भी हमारे प्रश्नों को अच्छी तरह समझ कर और उसका उचित उत्तर दीजिए। योग्य उत्तर मिलने पर मैं जरूर समझ जाऊँगा। बारम्बार आप कहते हैं कि मैं शास्त्रों का ही प्रमाण दे रहा हूँ। मैं तो अनेक बार पहिले से ही कहता आ रहा हूं कि शास्त्रों में तीन प्रकार के प्रमाण हैं। यथार्थ, रोचक और भयानक। उनमें दो प्रकार के जो प्रमाण हैं वे बिल्कुल सत्य नहीं हैं याने कुछ बढ़ाया भी है।

रोचक उसको कहते हैं जिसकी शास्त्रों ने प्रशंसा मात्र की है वह सर्वांश में यथार्थ नहीं है जैसा कि पहिले कह आया हूं कि श्री तुलसीदास जी ने लिखा है कि—

'रहा न नगर बसन घृत तेला। बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला ॥

अब आप ही सोचिए यह भी तो प्रमाण ही है। एक लोकोत्तर महात्मा का ही लिखा है परन्तु इसमें कुछ सच्चा बाकी सब रोचकमात्र है यदि इस प्रमाण को सच्चा मानें तो यही कहना पड़ेगा कि ४०० कोस की लंकापुरी में सब नंगे हो गये थे। अतः इसको मानना पड़ेगा कि प्रशंसावाद भी शास्त्र की एक प्रकार की शैली है। उसी के अनुसार महात्मा तुलसीदास जी ने भी यह बात लिख दी है किन्तु इसका यथार्थ भाव यही समझा जायगा कि "जीर्णैः कार्पासिकैः पटैः" याने पुराने-पुराने कपास के कपड़े कुछ घी तेल में डालकर श्री हनुमन्तलाल जी की पूँछ में लपेटे गये।

यह सब कहने का सारांश यह आया कि केवल प्रमाण मात्र सुन लेने से संगति लगाये बिना कैसे मान लिया जाय। जैसे कि शास्त्रों में सीपी भर पानी को महा समुद्र से भी बढ़कर कहने वाले बहुत से प्रमाण हैं; कोई भी सुनकर एकदम विचार किए बिना समझदार पुरुष यह ठीक ही है ऐसा कैसे मान लेंगे ?

हाँ यदि सब शास्त्रों के सब प्रमाण यथार्थ ही यथार्थ होते तब तो किसी के भी मुख से कोई भी प्रमाण सुनकर जरूर विश्वास कर लिया जाता। अतः किसी के मुख से कुछ भी प्रमाण सुनकर या देखकर यह विचार तो करना ही पड़ेगा कि इन प्रमाणों में यथार्थवाद है

कि नहीं। बड़े-बड़े हरि भक्त वैष्णवों के भ्रम रहित वचनों के अनुसार तथा अनन्य भगवद्दासों के आचरित मार्ग के अनुसार यथार्थवाद के जो प्रमाण होंगे वे जरूर माने जायँगे।

ऐसा भी देखने तथा सुनने को मिला है कि चित्रकेतु राजा की एक करोड स्त्रियाँ थी। ऐसे-ऐसे भी वाक्य मुनियों के ग्रन्थ में प्रशंसावाद को चरितार्थ करने के लिए पड़े हुए हैं। इन व्यवराओं को जानने वाला संगति लगाये बिना, प्रमाण मात्र सुन लेने से कैसे और किस प्रकार विश्वास कर सकता है ? आप ही कहिए क्या एक मनुष्य की एक करोड़ स्त्रियाँ कभी हो सकती हैं कदापि नहीं। परन्तु शास्त्रों में तो लिखा ही है।

जब एक राजा के वैभव-प्रशंसा में हद से ज्यादा कहा गया है। तो फिर जीव के बाबत परमात्मा हो जाने का यदि प्रमाण आवे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

श्रीमद्भागवत छठवें स्कन्ध चौदहवें अध्याय में आप देख लीजिए चित्रकेतु स्त्रियों का प्रमाण है :—

"तस्यभार्या सहस्त्राणां सहस्त्राणि दशा भवन्"

और सुनिए ! नृग राजा के गैयों के बाबत –

"यावत्यः सिकता भूमौ, यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्ष धाराश्च, तावती ररदरमगाः॥"

इसका अर्थ खुलासा ही है फिर भी कहे देता हूं। "भूमि में जितनी रेत याने धूल के कण हैं, आकाश में जितनी तारिकाएँ हैं, जितनी वर्षा की बूंदे याने आकाश से पड़ती हुई बूंद की धाराएँ हैं, उतनी गायें राजा नृग ने ब्राह्मणों को दी थीं। कहिए महात्माजी ? ये मानने के योग्य है। एक हाथ जमीन में करोड़ों रजः कण रहते हैं। यदि इस प्रमाण को सच्चा मान लें तो किस तरह और कैसे।

बस ! हमको तो यही जँचा कि जब तक आप इस जीव में वेदादि शास्त्रोक्त परमात्मा के लक्षण नहीं मिलायेंगे तब तक आप से कहे हुए 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अनेक प्रमाणों

को चित्रकेतु की औरतों के समान और राजा नृग की गायों के समान झूठ और गपोड़ मानूंगा।

यदि कोई कहे कि ऐसा कहने से क्या नास्तिक नहीं कहाओगे ? तो मल-मूत्र खानेवाले कूकर-शूकरों को, घास चबाने वाले गधों को अनेक कर्मों के वश रहकर जन्म-मरण, रोग-व्याधि, भूख-प्यास अनेक दुःखों से पीडित और अपने कर्मों के अनुसार अनेक नरकादिक दुःखों को परवश भोगते हुए अनेक जीवों को साहस करके परमात्मा कहने वाला यदि नास्तिक नहीं कहावेगा तो प्रशंसावाद को प्रशंसावाद कहने वाले हम नास्तिक कैसे कहायंगे ?

यदि हमारी बात पर किसी को भी चीढ लगती हो या बुरा मालूम पड़ता हो वह आकर हमारे नेत्र से सूर्य को प्रगट कराकर, हमारे मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कराकर या हमारी इच्छा से कोई एक ब्रह्माण्ड तैयार कराकर हम में परमात्मा का लक्षण मिला दे। फिर में आपही मान जाऊँगा।

महात्माजी ! आपको तो "मैं ब्रह्म हूँ" "मैं भगवान हूं" "भगवान हूँ मैं वही हूँ" हम में और ईश्वर में जरा भी भेद नहीं है। मैं और वह एक ही हैं। इस प्रकार मत्रों को और मंत्रों के अर्थों को रटते-रटते, जपते-जपते याने कहते-कहते बुढ़ापा आगया है। आप अपने में ही एक भी परमात्मा का लक्षण मिलाकर हमको दिखा दीजिए अथवा छः माह टट्टी मत जाइए या दो चार महीना बिल्कुल खाना पीना छोड दीजिए अपने नेत्र से सूर्य को ही प्रगट कर दीजिए, भला एक से दो सूर्य तो दुनियाँ में हो जाँय अथवा एक चन्द्रमा अपने मन से प्रगट कर दीजिए चाहे मुँह से हजार दो हजार मन अग्नि उत्पन्न कर दीजिए। यह न हो सके तो अपने देह से पाँच-पचास हजार घोडे ही प्रगट कर दीजिए। क्यों कि भगवान से तो घोड़ों का पैदा होना वेद मंत्रों में आया है ! जैसे :—"तस्मात् अश्वा अजायन्त" याने उस भगवान से अनेक घोडे हुए। उस भगवान से महा समुद्र प्रगट हुये ऐसा लिखा है। आप अपनी इच्छा से एक तालाब भी तो प्रगट कर दीजिए। क्यों कि आप को इन मंत्रों का यथार्थ अर्थ जँचा हुआ है और आपने जिन्दगी भर इसका जप किया है और ब्रह्म ज्ञान के उच्च शिखर पर चढे हुए हैं। यदि आपका यह अभेद ज्ञान याने अद्वैत ज्ञान अर्थ यथार्थ

है तो इनको जिन्दगी भर रटते-रटते आपकी उपाधि जरूर मिट गई होगी। आप में वेदोक्त परमात्मा के लक्षण जरूर आगये होंगे। जब आप हमारे कहने के मुताबिक अपने में कुछ भी परमात्मा का लक्षण दिखा देंगे तो मेरे मन में भी आप ही खातिरी जम जायगी। फिर समझाने के लिए अनेक प्रमाण देने का परिश्रम भी नहीं उठाना पड़ेगा।

इतना सुनकर ब्रह्म ज्ञानी कहाने वाले महात्मा बोले—बच्चा हमारी बातों पर विश्वास करो। यह सब भेद कुछ दिन ज्ञानियों का संग करने से मालूम होता है। इससे पहिले कुछ दिन हमारे कहने के मुताबिक इस मंत्र को जपो; फिर तुम आपही समझ जाओगे जिरह करने से कुछ लाभ नहीं होता। क्यों! समझ गये? अब तो हम कहते हैं वैसा करोगे?

इतना सुनकर ओंकारदास बोले "क्या कहूँ महाराज! मैं ने जो जो बातें आपको कहा उनमें से एक का भी उत्तर आपने नहीं दिया और बार-बार यही कह रहे हैं कि रटो-रटो कुछ दिन रटने के बाद आप ही समझ जाओगे। इसी बात को तो में पूछ रहा हूँ कि अब आप से बढ़कर के रटने वाला कौन होगा? जब आपने अपनी सारी जिन्दगी 'मैं ब्रह्म हूँ' 'मैं ब्रह्म हूँ' 'परमात्मा हूँ'। इसी बात को रटने-जपने में बिताई है। अतः आप अपने में परमात्मा का एक भी लक्षण मिला दीजिए, फिर मेरा संदेह छूट जाय और जँच जाय कि ये महात्मा बुढ़ाई तक 'अहंब्रह्मास्मि' जपे हुए हैं इससे इनमें परमात्मा का लक्षण आगया है। फिर मैं भी बुढाई उमर तक जपूँगा तो परमात्मा का लक्षण आ जायगा।

इतना सुनकर ब्रह्म ज्ञानी महात्मा बोले कि ये बातें तो हम से एक भी नहीं हो सकती। यह जो ब्रह्माण्ड बनाना, सूर्य बनाना है सो बात बहुत मुश्किल है। अच्छा बच्चा! जरा ठहरो। मैं लघु शंका करके आता हूँ।

ओंकारदास बोले महाराज! मुझे भी देरी हो गई है, अब चलना है; आधा घण्टा और ठहर जाइये। यह प्रसंग पूरा हो जाय तब आप भी पधारिये और मैं भी चलूँ।

इतना सुनकर वह बोले 'बचा! बुढ़ाई का समय है बैठे बहुत देर हो गई। देर से पेशाब लगी है ठहरने से गर्मी बढ़ जायगी।"

ओंकारदास बोले 'अच्छा ! कृपा करके पन्द्रह मिनिट रुक जाइये' ।

इतना सुनकर वह बोले 'बच्चा ! अब न रोको, मल-मूत्र रोकने से बिमारी उत्पन्न होती है ।

ओंकारदास बोले 'अच्छा ! लघुशंका करके आइये फिर पूछूँगा' ।

महात्मा के आने के पश्चात ओंकारदास बोले महाराज जी ! जब कि आपके समान विद्वान, विरक्त सैकडो वर्ष तक 'अहं ब्रह्मास्मि' 'सोहमस्मि' इनको जपकर यदि आज तक एक भी अपने में परमात्मा का लक्षण संपादन नहीं कर सके ; न तो परमात्मा के कुछ कर्त्तव्य ही प्रगट कर सके तो फिर किस आश्रय पर "अहं ब्रह्मास्मि" इसको रटने की मैं हिम्मत कर सकूँ ?

यदि इन वाक्यों के रटने से यह जीव परमात्मा हो जाता है तो आप आज तक परमात्मा हुए बिना कभी भी नहीं बच सकते थे और परमात्मा के लक्षण आये होते तो बार-बार कहने पर आप अवश्य चन्द्र सूर्य को पैदा कर देते, नहीं तो दस पाँच घोडे बनाने से तो कभी नहीं चूकते ।

जब सौ वर्ष में "अहं ब्रह्मास्मि" "सोहमस्मि" इन वाक्यों का रटना जीवत्व मेटकर परमात्मा नहीं बना सका, न एक भी परमात्मा का लक्षण ला सका तो चाहे लाख वर्ष भी रटा-जपा करिये कभी कुछ नहीं हो सकता ।

इतना सुनकर वह महाराज बोले "नहीं ! नहीं !! बच्चा !!! ऐसा मत कहो मैं रटते-रटते जरूर परमात्मा हो गया हूँ" ।

ओंकार दास बोले "महाराज आश्चर्य की बात है कि फिर भी आप वही कहते हैं कि मैं परमात्मा हो गया हूँ । यदि परमात्मा हो गये हैं तो अपनी आंख से सूर्य क्यों नहीं प्रगट करते ?

महात्मा बोले "सूर्य प्रगट न करने से परमात्मापने में कोई बाधा है ?

ओंकार दास बोले "महाराजजी ! कहने में क्या लगता है यह महापातकी पामर जीव भी अपने को परमात्मा कहकर पुकारे और तुम परमात्मा हो ऐसा उपदेश करे यह अन्याय

की बात है अभी थोडी देर हुई जब कि आप पेशाब करने को जा रहे थे मैंने तीन बार रोका कि महाराजजी थोड़ी देर ठहर जाइये पर आप न ठहर सके और झट कह दिये कि बचा ! अब मलमूत्र रोकने से बिमारी हो जायगी। जब तक आप पेशाब करने नहीं गये तब तक आपका बोलना, ठहरना मुश्किल हो गया।

महाराज कही शास्त्रों में लिखा है कि परब्रह्म दस मिनिट पेशाब भी नहीं रोक सकता। हमको सुनने में दुःख होता है पर आपको 'मैं भगवान हूँ' 'भगवान हू' यह बोलने मे नहीं। यह खेद का विषय है।

आप मिथ्या ज्ञान में पड़ हुये हैं और हमारी आँखों में भी धूल झोंक रहे है। श्रीराम श्रीकृष्ण परब्रह्म थे। जिनके चरित्र गा-गाकर अनेक जीव अपना कल्याण कर रहे हैं। उनकी कथाओं में यह कहीं नहीं आता है कि वे गर्भ में रहे या अन्य बालकों के समान पेट से निकले अथवा बूढे ही हुये और यह भी नही कहा कि हे लक्ष्मणजी ! जरा ठहरो मैं टट्टी से हो आऊँ पेशाब हो आऊँ नही तो बीमारी हो जायगी।

आपने अभी कहा था और फिर भी कह रहे हैं कि "मैं परमात्मा हूँ" मैं ब्रह्म हूँ"।

इस प्रकार सच्चे मुमुक्षु, परम जिज्ञासु ओंकारदास जी के वचनों को श्रवण करके ब्रह्म ज्ञानी महात्मा कुछ देर तक मौन रहे। सोचने लगे कि इस जीव के ब्रह्म होने के मै अनेक प्रमाण दिखाया परन्तु ऐसा एक प्रमाण नहीं रह गया जिसको ओंकारदास ने नहीं काटा और इनका कहना भी तो यथार्थ ही है। जो बात अनहोनी के समान है वह जँच भी कैसे सकती है। चाहे अपने बड़प्पन के अभिमान में मै भले ही न मानू परन्तु कहा हुआ तो ओंकारदास का ही ठीक मालूम पड़ रहा है। परन्तु मुश्किल तो यह है कि इन महा वाक्यो को झूठा कहूँ तो भी नहीं बनता और सच्चा कहूँ तो भी नहीं बनता। बात भी सच्ची ही है "मैं ब्रह्म हूँ" यही रटते-रटते मेरा आज तक समय बीता है परन्तु हमें भी तो इससे कुछ लाभ नहीं हुआ। सदा खूनी बवासीर से पीड़ित रहता हूँ, भिक्षा माँगते-माँगते जिन्दगी बीती। सचमुच यदि हम ब्रह्म होते तो यह सब दुर्दशा क्यों भोगनी पड़ती। क्या कहूँ खुद अपने को परमात्मा कहना यह ब्रह्म ज्ञान है या भ्रम जाल, उमर इसी में बीत गई। इसको छोड तो

कसे छोड़ू और इसमें रहूँ तो कैसे। क्योंकि मेरा भी चित्त इस विषय से अलग ही रहा है। यदि इस पथ वाले से पूछूँ तो बेवकूफ कहा जाऊँ। इसको छोड देऊँ तो गुजारा के लिए दूसरी कोई हीला नहीं है। यदि ओंकार दास के सामने उन्ही का कहा कबूल कर लूँ तो मेरा छोटापना जाहिर होता है। न जाने कि हमारे बडों को यह विषय कैसे जँचा और यह परम्परा कैसे चल पडी "मैं ईश्वर हूँ" "मैं परमात्मा हूँ" "ब्रह्म हूँ" यह बात इस जीव मे कसे किस तरह लागू हो सकती है। जब कि भगवान गीता में खुद ही कहते हैं कि हे अर्जुन जो लोग अपने को ईश्वर कहते हैं और जगत को मिथ्या बताते हैं उन्हें आसुरी प्रकृति का मनुष्य समझो। जैसे—

"ईश्वरो ऽहमहं भोगी इत्यादि"
"असत्यमप्रतिष्ठं ते इत्यादि"—

श्लोकों में स्पष्ट वर्णन आया है।

इस प्रकार दया के वश होकर भगवान से दी हुई शुद्ध बुद्धि से मन में विचार करते हुए अपना नेत्र मींच कर गुप-चुप बैठे उस ब्रह्म ज्ञानी महात्मा को देखकर ओंकारदासजी बोले कि महाराज जी! हमें क्या आज्ञा हो रही है। मैंने तो सरकार को बहुत कष्ट दिया।

इस प्रकार नम्रता भरी उनकी प्रार्थना को सुनकर वह ब्रह्मज्ञानी नेत्र खोलकर आँसू लेकर बोले कि भाई ओंकारदास जी आपने कष्ट तो क्या दिया आपके सत्सग से तो हमारे आत्मा का बड़ा भारी सुधार हुआ। भगवान आपका भला करें। आप के कई शब्दों मे कड़ापन तो मालूम पड़ता था परन्तु हमारे लिए तो महान औषध रूप हुआ। बडों का बचन बहुत सत्य है कि—

क्षणमपि सज्जन संगतिरेका।
भवति भवार्णव तरणे नौका॥

याने क्षण मात्र भी जो सज्जनों का समागम है सो ससार सागर के तरने में नौका रूप बन जाता है। आपके सत्सग से जो हमें आज अलभ्य लाभ हुआ है उसको हम ही जान

सकते हैं। बहुबार हमारे समझाने से जो आपको सन्तोष नहीं भया यह ठीक ही है। मैं क्या करूँ, तोते सरीखा जो आज तक रटा था उसी को जँचाने के लिए आप से भी वारम्वार हठ करता था परन्तु अब हमें भी यह खूब मालूम पड गया कि मैं खुद ही भ्रम में पड़ा हुआ हूं। अब तो कृपा करके भगवान किसी अपने कृपा पात्र शुद्ध ज्ञानवाले विद्वान को मिलावे तब ही इन श्रुति वाक्यों की संगति लग सकती है।

उस महात्मा की दीनता भरी अति नम्रता पूर्वक बातों को श्रवण कर अत्यन्त सकुचित होकर हाथ जोड़कर ओंकारदासजी बोले कि महाराजजी! सरकार के साथ मैंने बहुत ढीठाई की परन्तु उसको मन में न लेकर सरकार उपकार मान रहे हैं ऐसा तो बड़ों का स्वभाव ही होता है। हाँ! इतना जरूर है कि तर्क वितर्क मन में लेकर या वाद-विवाद की इच्छा से मैंने सरकार से कुछ नहीं कहा। यथार्थ में जीव को परमात्मा बताने वाले जो प्रसंग हैं ये किसी प्रकार हमारे हृदय में नहीं जँचे। इसीसे वारम्वार सरकार से मैं हठ करता रहा। परन्तु आप का हृदय धन्य है कि क्रोध न करके बराबर हमको समझाने की कोशिश करते ही रहे। परन्तु हमारा भी कितना प्रबल दुर्भाग्य है कि इसका निर्णय कुछ अभी तक नहीं हो पाया प्रथम यह ही प्रसंग छिड़ गया है, इससे इसके निर्णय बिना किसी परमार्थ पक्ष में शान्ति पूर्वक चित्त लग ही नहीं सकता है। अब मैं क्या करूं, कैसा करूं, कहां जाऊँ, किससे पूछूँ यह कुछ समझ ही नहीं आ रहा है। इतना कहकर ओंकारदासजी मौन होकर भगवान का स्मरण करने लगे।

इतने में अनायास अचानक वहा पर एक अच्छे प्रभावशाली भव्य मूर्ति आ पहुँचे। उनको अत्यन्त तेजोवान पुरुष जानकर ये दोनों हाथ जोड़कर आदर पूर्वक बैठाये। बाद ओंकारदासजी पूछे कि आप कौन हैं, यहां कैसे दर्शन दिये, आपका शुभनाम क्या है, क्या हमारी चिन्ता दूर करने के लिए कृपासागर भगवान हीं यहां आपको भेजे हैं? मैं आपकी क्या सेवा करूँ? हमारे लायक कुछ सेवा हो तो कृपा करके आज्ञा कीजिए।

इस प्रकार नम्रता पूर्वक उनका मधुर वचन सुनकर वे बोले—मैं दक्षिण रामनगर का रहने वाला हूँ। श्री अयोध्यापुरी के दर्शन के लिए वहाँ से चला हूँ। यह दोनों मूर्ति यहाँ

क्यों बैठें हैं यह जानने को अनायास उत्कण्ठा हुई इससे यहाँ आ गया हूँ। श्रीधर शर्मा मेरा नाम है। कोई कोई मुझे देशिक भी कहा करते हैं। बहुत पीढ़ियों से हमारे यहाँ आचार्यपने का काम होता चला आ रहा है। इससे कोई-कोई मुझे आचार्यजी भी कह कर पुकारा करते हैं। जैसा आप समझते हैं वैसा तो मैं नहीं हूं किन्तु आप सज्जनों का कृपा पात्र एक तुच्छ चेतन हूँ और मैं यह जानना चाहता हूं कि यहाँ पर आप दोनों किस बिचार से बैठे हुए हैं। यदि आपको उचित जँचता हो तो कृपा करके बताइए।

इस प्रकार श्रीधर शर्मा का वचन सुनकर ओंकारदास जी जिस प्रकार शुरू में ब्रह्मज्ञानी जी से अपने कल्याण का मार्ग पूछे थे और जिस प्रकार दोनों में आदि से अन्त तक प्रश्न-उत्तर पूर्वक ब्रह्म जीव का प्रसग चला था और अंत में कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया तथा अशान्ति बनी ही रही, यह सारी वार्ता उन से कह सुनाये। बाद प्रार्थना भी किये कि आप आचार्य हैं यदि कृपा पूर्वक इन श्रुति वाक्यों की संगति लगा देंगे तो हमलोगों पर सरकार का बड़ाभारी अनुग्रह होगा।

उनका वचन सुनकर, थोड़ी देर चुप रह कर बड़े प्रेम से भगवान का स्मरण करके आचार्य जी बोले—ओंकारदास जी यह विषय कठिन से कठिन है और सुलभ से सुलभ। इतना कठिन विषय उनके मुख से जब सुलभ से सुलभ सुना तो ब्रह्मज्ञानी महात्मा भी दंग हो गये और हाथ जोडकर बोले कि शर्मा जी! हमें भी यह विश्वास हो रहा है कि इन श्रुति वाक्यों की उलझन आपके द्वारा जरूर सुलझ जायगी। आचार्य जी! भगवान का जो महान कृपा पात्र होगा और बहुत भारी विद्वान होगा, श्रुति वाक्यों की संगति लगाने को वही सुलभ से सुलभ कह सकेगा। अब आप कृपा करके सुगम रीति से थोडे में इन श्रुति वाक्यों का तात्पर्य बताइए। आपका समय तो लगेगा परन्तु हमलोगों पर आपका बड़ाभारी उपकार होगा। विसेष आपको कष्ट देना हम लोग नहीं चाहते। "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "सोहमस्मि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "नेहनानास्ति किञ्चन" "जीवो ब्रह्म" इत्यादि श्रुति वाक्यों का खुलासा अर्थ तो यही दीख रहा है कि जीव परमात्मा ही है। परन्तु यह बात किसी प्रकार जँच नहीं रही है क्योंकि परमात्मा स्वतत्र हैं, सर्व शक्तिमान हैं माया के पति

हैं। उनका किसी प्रकार भी जीव होकर अनेक प्रकार के नरकादिक दुःख भोगना, परवश जन्म मरणादि दुःखों के चक्र में पड़ना, परवश काम-क्रोध, शोक-मोह में पड़कर दुर्दशा भोगना यह जॅचता नहीं है। क्योकि खुद भगवान जीव बनकर दुर्दशा भोगें यह हो ही नहीं सकता और माया उनके परवश है वह उन्हें जबरदस्ती जीव बनाकर नरकादिक दुःख भोगावे यह भी नहीं बनता जबकि वेद ही का वचन है कि "तमेव विदित्वा अति मृत्यु मेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते" अर्थात् उसी परमात्मा को जानकर, उनकी उपासना कर इस संसार चक्र से यह जीव छुटकारा पाता है। इस चेतन के कल्याण के लिए परमात्मा की उपासना-शरणागति के द्वारा माया से छूटकर यह जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है। उस सर्व शक्तिमान परब्रह्म परमात्मा को उन्हींके तावे मे रहने वाली माया जबरन उनको जीव बनाकर भयंकर संसार में दुर्दशा भोगावे यह तो बिल्कुल मजाक की सी बात है। आचार्य जी महाराज! हम दोनों बड़े असमंजस में पड़े हुए हैं आप कृपा करके इस भ्रम से छुडा दीजिए। ब्रह्म का जीव बनना न तो किसी प्रकार ओंकारदास जी को जॅच रहा है और न हमें।

इस प्रकार दीनता भरी उनकी बातें सुनकर देशिक भगवान बोले कि आप लोगों की हमारे उपर बड़ी कृपा है कि यह सेवा दे रहे हैं। अच्छे-अच्छे पहुँचे हुए जगत्प्रसिद्ध सच्चे मुमुक्ष विद्वान महात्माओं ने व्यास, पराशर, बोधायन आदिक त्रिकालदर्शी महर्षियों के मत के अनुसार जिस प्रकार इन श्रुति वाक्यों की संगति पूर्वाचार्य्यों ने लगाई है उसी को मैं आप लोगों की सेवा में निवेदन करूंगा और इस अंश को लेकर भगवान श्री कृष्णजी अपने प्यारे अर्जुन जी को जिस प्रकार श्री गीता जी में समझाये हैं उसको आपके सामने कहूंगा। इतनी बात अवश्य है कि हमें ज्यादा टाइम नहीं है श्री अयोध्यापुरी शीघ्र जाना है और आप लोगों को ज्यादा समय की जरूरत भी नहीं है। यह विषय बहुत सूक्ष्म है इस से आप सावधानी पूर्वक एकाग्र चित्त से श्रवण करने की कृपा करिये। हमारे कहे यदि कुछ शंका हो तो फिर पूछ लेने की अवश्य कृपा करिये।

अब मैं प्रथम आप लोगों की सेवा में क्या निवेदन करूं इसका आप में को चला दीजिए। आचार्य जी की इस प्रकार निर्हेतुक असीम भरे श्री मुख

श्रवण करके महात्मा ओंकारदास जी बड़ी प्रसन्नता पूर्वक अति प्रीति से उन्हें साष्टांग दण्डवत कर के प्रार्थना किये कि कृपानाथ ! प्रथम तो "अहं ब्रह्मास्मि" "तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इन वाक्यों में जो ब्रह्म शब्द आया है उसका क्या भाव हैं यही समझा दिया जाय।

देशिक भगवान भी ओंकारदास जी के आकारों से उन्हें सच्चे जिज्ञासु, सच्चे मुमुक्षु, इस विषय को श्रवण करने का परम अधिकारी जानकर अपने गुरुवर्यों को ध्यान-वन्दन करके उस विषय को कहना प्रारम्भ किये।

महानुभावों ! उस परमपिता परमात्मा को अनेक धन्यवाद है कि इस विषय को कहने सुनने का शुभ अवसर हम लोगों को आज अनुग्रह पूर्वक प्रदान किये। इन श्रुति वाक्यों की संगति लगाना सहज बात नहीं है। संगति लगाने वाले के ऊपर इसकी बहुत भारी जिम्मे-वारी है। यदि ठीक से अर्थ लग जाय तो आत्मा का कल्याण भी हो जाता है। यदि प्रमाद से कहा तो अनर्थ भी हो जाने की सम्भावना रहती है। अच्छा ! जिस जगत्पति ने ऐसा संयोग मिलाया है वही कृपा सागर भगवान सब सुधारेंगे क्यों कि न तो आप लोगों को अहंकार कपट से पूछना है न हमें मान बडाई के उद्देश्य से कहना है। जहाँ सच्चे मुमुक्षु, खरे जिज्ञासु श्रोता होते हैं और अहकार रहित खुद भी दयालु, मुमुक्षु, शान्त चित्त वाले विद्वान वक्ता होते हैं वहा परमात्मा विषय को खुद सम्भाल लेने की कृपा करते हैं। एक बात आप लोगों को ध्यान रहे कि मैं जो कहूँगा बिना प्रमाण के तथा बडों के सिद्धान्त के बिना अपने मन से कुछ भी नहीं। भगवत्कृपापात्र तर्क-वितर्क, वाद-विवाद रहित शान्त मूर्ति, अपने आत्मा का यथार्थ कल्याण चाहने वाले, संसार की भयानकता भली-भांति समझकर घवडाये हुए सच्चे मुमुक्षुओं को तो मेरा कहा हुआ विषय बहुत प्रिय होगा और जिन लोगों लोगों को सत्संग नहीं हुआ है तथा विषय को समझने की शक्ति नहीं है और जन्म सिद्ध हठीला स्वभाव है, खरे मुमुक्षु नहीं हैं उनके हृदय में प्रमाण युक्त भी यह निर्णय कैसा असर करेगा यह हम नहीं कह सकते। अच्छा ! वैसे लोगों को जचे, न जचे इससे हमें मतलब ही क्या। मैं तो आप लोगों को खरा जिज्ञासु, सच्चे मुमुक्षु जानकर और आप लोगों के बहुत प्रार्थना करने पर इस विषय को कहने के लिए उत्सुक भया हूं।

विराजते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" का अर्थ "मैं परमात्मा हूं" यह नहीं है क्यों कि सब चेतनों के हित करने के लिए परमात्मा के द्वारा प्रगट कराये गये जो वेद वाक्य हैं उनके द्वारा मिथ्या अर्थों का उपदेश कभी हो ही नहीं सकता। मैं ब्रह्म हूँ याने परमात्मा हूँ ऐसा जो अर्थ करना है वह बिल्कुल ही मिथ्या है। हठ और बात है तथा यथार्थ और बात है। कोई भी समझदार कह सकता है कि जीव को परमात्मा बताना बिल्कुल नासमझपने की बात है। वेद का प्रादुर्भाव तो चेतनों के कल्याण करने के लिए हुआ है न कि मिथ्या बात बताकर इसको डुबाने के लिए। और अनादि से संसार चक्र में पड़कर परवश जन्म मरणादि अनेक दुःखों को भोगता हुआ जो यह जीव है इसको यदि "तुम परमात्मा हो" इस प्रकार की बात वेद भी उपदेश करे तो इसी का नाम अनर्थ में डालना है या डूबोना है। जो बात है ही नहीं उसको कहना मिथ्या ज्ञान कहाता है। अनादि माया बद्ध इस जीव को परमात्मा बताना, इससे बढकर और मिथ्या क्या हो सकता है। इससे "अहब्रह्मास्मि" इसका यही अर्थ यथार्थ है जो उपर कह आया हूं। इसमें प्रमाण भी है कि 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मान नियमयति य मात्मा न वेदः" इसका अर्थ यह भया कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर विराजते हुए इस जीवात्मा को नियमन करते हैं और भली-भांति जिनको यह आत्मा नहीं जान पाता है। इस श्रुति वाक्य से यही सिद्ध भया कि 'अह' शब्द वाच्य जो मैं जीव हूं हमारे अन्दर हमारे कल्याण के उद्देश्य से, अन्तर्यामी रूप से परमात्मा सदा विराजे हुए हैं। याने मैं सदा उनके परतन्त्र हूँ, उन्हीं के अनुग्रह से हमारा कल्याण हो सकता है। इस प्रकार से चेतन का परतन्त्र स्वरूप बताकर वेद भगवान कहते हैं कि 'त्वमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' जो परमात्मा इस चेतन के कल्याण के लिए कृपा करके इसके अन्दर अन्तर्यामी रूप से विराजे हुए हैं, उसी परमात्मा को जानकर, उनकी उपासना कर यह जीव संसार चक्र से पार हो सकता है। इस चेतन के कल्याण के लिए उस परमात्मा के भजन, उपासना, शरणागति के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है।

इस प्रकार आचार्यजी का वचन सुनकर ब्रह्मज्ञानी महात्मा बोले—आचार्यजी ! ये महात्मा ओंकारदासजी परम शुद्ध जिज्ञासु हैं, सत्पुरुषों का सतसंग भी इन्हें खूब मिला है। इन में अहंकार का लेश भी नहीं है, आस्तिकता भी इन में भरपूर है, विषय समझने की भी अच्छी योग्यता है। हठ करने का भी इनका बिल्कुल स्वभाव नहीं है। ये सारे दोष तो हम में ही थे। यह विदित नहीं कि अन्दर गया हुआ स्वांस फिर बाहर आवेगा या नहीं, परन्तु भगवान तो बने ही बैठे थे। "ब्रह्म मैं हूँ" "वह मैं हूँ" इस प्रकार तोते के समान रट-रटकर सारी जिन्दगी बितायी परन्तु हमारी थोथी बुद्धि में यह एक दिन भी नहीं आया कि यदि मैं ब्रह्म होता तो खूनी बवासीर से पीड़ित क्यों होना पड़ता ? इस बवासीर से दुखित होकर इसके छुडाने के लिये मैंने क्या-क्या नहीं प्रयत्न किया परन्तु इसकी बला से छुटकारा नही मिला। जब इस रोग का कोप होता है तो सेरों खून गिर जाता है। अत्यन्त असक्त हो जाया करता हूँ इस प्रकार भयंकर कर्म दण्ड को भोगता हुआ एक मनुष्य खुद अपने को भगवान कहा करे और परवश अनेक दुःखों को भोगते हुए दूसरे जीवों को भी "तुम अपने को भगवान मानो" यह मिथ्या उपदेश किया, यह कितनी बड़ी भूल की बात है। देशिक जी ! हठ तो हम में बहुत था। अपने कहने के सिवाय दूसरे का कहा भी सुनने का अभ्यास नही था। हमारे शिष्य लोग कही दूसरी जगह सुनने गये थे यह बात भी यदि मैं सुन पाता था तो अन्दर ही अन्दर मारे क्रोध के जल मरता था। परन्तु आज न जाने अनायास इस प्रकार स्वभाव में परिवर्तन क्यों हो गया। सो कुछ समझ में नही आ रहा है। विचार करने पर यही मालूम पड़ता है कि खरे मुमुक्षु, परम शुद्ध हृदय वाले इस महात्मा ओंकारदासजी के सत्संग से ही इस प्रकार की हमारी शुद्ध बुद्धि हुई। अब आप कृपा कर के उन श्रुति वाक्यों का भावार्थ समझा दीजिए।

अहंकार रहित उनका वचन सुनकर आचार्यजी उनको भी इस ब्रह्म विषय के श्रवण का सच्चा अधिकारी मान कर बडे प्रेम से उस विषय को आरम्भ किये।

"अहं ब्रह्मास्मि" इसका यथार्थ अर्थ यह है कि "अहं ब्रह्मात्म को स्मीत्यर्थः"। खुलासा भाव इसका यह भया कि अहं पद वाची जो जीव है इसके भीतर अतर्यामी रूप से परमात्मा

विराजते हैं। "अहं ब्रह्मास्मि" का अर्थ "मैं परमात्मा हूं" यह नहीं है क्यों कि सब चेतनों के हित करने के लिए परमात्मा के द्वारा प्रगट कराये गये जो वेद वाक्य हैं उनके द्वारा मिथ्या अर्थों का उपदेश कभी हो ही नहीं सकता। मैं ब्रह्म हूँ याने परमात्मा हूँ ऐसा जो अर्थ करना है वह बिल्कुल ही मिथ्या है। हठ और बात है तथा यथार्थ और बात है। कोई भी समझदार कह सकता है कि जीव को परमात्मा बताना बिल्कुल नासमझपने की बात है। वेद का प्रादुर्भाव तो चेतनों के कल्याण करने के लिए हुआ है न कि मिथ्या बात बताकर इसको डुबाने के लिए। और अनादि से संसार चक्र में पड़कर परवश जन्म मरणादि अनेक दुःखों को भोगता हुआ जो यह जीव है इसको यदि "तुम परमात्मा हो" इस प्रकार की बात वेद भी उपदेश करे तो इसी का नाम अनर्थ में डालना है या डूबोना है। जो बात है ही नहीं उसको कहना मिथ्या ज्ञान कहाता है। अनादि माया बद्ध इस जीव को परमात्मा बताना, इससे बढ़कर और मिथ्या क्या हो सकता है। इससे "अहंब्रह्मास्मि" इसका यही अर्थ यथार्थ है जो उपर कह आया हूं। इसमें प्रमाण भी है कि 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मान नियमयति य मात्मा न वेदः" इसका अर्थ यह भया कि जो परमात्मा आत्मा के अन्दर विराजते हुए इस जीवात्मा को नियमन करते हैं और भली-भाति जिनको यह आत्मा नहीं जान पाता है। इस श्रुति वाक्य से यही सिद्ध भया कि 'अह' शब्द वाच्य जो मैं जीव हूं हमारे अन्दर हमारे कल्याण के उद्देश्य से, अन्तर्यामी रूप से परमात्मा सदा विराजे हुए हैं। याने मैं सदा उनके परतन्त्र हूँ, उन्हीं के अनुग्रह से हमारा कल्याण हो सकता है। इस प्रकार से चेतन का परतन्त्र स्वरूप बताकर वेद भगवान कहते हैं कि 'त्वमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' जो परमात्मा इस चेतन के कल्याण के लिए कृपा करके इसके अन्दर अन्तर्यामी रूप से विराजे हुए हैं, उसी परमात्मा को जानकर, उनकी उपासना कर यह जीव संसार चक्र से पार हो सकता है। इस चेतन के कल्याण के लिए उस परमात्मा के भजन, उपासना, शरणागति के अतिरिक्त और दूसरा मार्ग नहीं है।

इसी प्रकार "तत्त्वमसि" इस वाक्य का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। "तत्त्वमसि" इस वाक्य का भी वह तुम हो यह अर्थ नहीं है 'तत्त्वमसि" याने 'तदात्मकोसि' ऐसा अर्थ जानना चाहिए। इसका भी खुलासा अर्थ यही हुआ कि "तत्" शब्द वाच्य जो परमात्मा है, तुम्हारे

आत्मा का भी आत्मा है ऐसा समझो। याने वह भगवान सदा तुम्हारे अन्दर अन्तर्यामी रूप से विराजते हैं, सदा तुम उनके परतन्त्र हो, ऐसा निश्चय रखो। इस श्रुति वाक्य से भी जीव का परमात्मा होना तात्पर्य नही है। जो "अहंब्रह्मास्मि का भाव है "तत्त्वमसि" का भी वही मतलब समझना चाहिए।

इसी प्रकार "सोहमस्मि" इस वाक्य की भी सगति लगाना चाहिए। "अहं तदात्मको स्मीत्यर्थः" अर्थात् अन्तर्यामी रूप से परमात्मा सदा हमारे अन्दर रहते हैं। इस वाक्य का भी भाव जीव को परमात्मा बताने में नहीं है।

'जीवो ब्रह्मः' इस वचन का भी पूर्ववत् ही अर्थ जानना चाहिये। 'जीवो ब्रह्मात्मक इति भावः'। याने जीव का आत्मा ब्रह्म है। जीव के अन्दर अन्तर्यामी रूप से भगवान सदा स्थिर रहते हैं। इसी प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इसका भी भावार्थ जानिये। 'इदं दृश्यमान सर्वं अपि ब्रह्म ब्रह्मात्मकमित्यर्थः "याने जो कुछ यह दिखाई पड़ता है इन सभी के भीतर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजते हैं। इस श्रुति मन्त्र का भी यही यथार्थ भाव है। क्योंकि उपनिषदों में खुलासा यह कहा हुआ है कि :—

"यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपिवा
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः"।

इसका अर्थ यह भया कि इस जगत मे जो कुछ देखा सुना जाता है उन सभों के भीतर श्री नारायण व्याप्त होकर विराजते हैं याने अन्तर्यामी रूप से रहते हैं।

ओंकारदासजी! एक बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये वह यह है कि तत्व तीन हैं— ईश्वर, जीव, और माया। ईश्वर स्वतन्त्र हैं, लक्ष्मीपति हैं, दिव्य गुणों के समुद्र हैं, कृपा सागर हैं, अनन्त ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं; अघटन घटना समर्थ हैं, उनके ऊपर कोई मालिक नहीं है, एक हैं, अनेक रूप धारण करके चेतनों की रक्षा किया करते हैं जीवों के समान परवश उनका जन्म-मृत्यु नहीं, अपनी इच्छा से ही वे प्रगट होते हैं और आश्रितों का काय करके श्री विग्रह के साथ अन्तर्ध्यान हो जाया करते हैं। सच्चे दिल से सहारा चाहने वालों

को सहारा देते हैं। यदि कोई चेतन संसार की भयानकता से घबड़ा कर उससे छूटने के लिए उनके शरण होना चाहता है तो उसे अपने शरण में लेकर संसार सिन्धु से पार करके सदा के लिए जन्म-मरणादि चक्र से छुड़ाकर अपने परमधाम के सुख का भागी भी बना देते हैं। वे सदा सुख स्वरूप हैं, आश्रितों के दुःख से दुःखी भी हुआ करते हैं, क्षमा सागर है, शरण आये चेतनों का अनेक अभीष्ट पूरा करते हैं, सब देव उनकी आज्ञानुसार अपनी-अपनी ड्यूटी बजाया करते हैं। श्रियःपति, भगवान, ब्रह्म, परमात्मा, लक्ष्मीपति, सर्वेश्वर, विष्णु, वासुदेव, श्रीनाथ, मुक्तिनाथ, रघुनाथ, गोपीनाथ, वैकुण्ठ विहारी, वृन्दावन विहारी, साकेत विहारी आदि शब्दों से, वेदादि सद्-शास्त्रों में गाये जाते हैं।

जीव अनेक हैं, परतन्त्र हैं, अजर अमर हैं, अनादि हैं अदाह्य हैं। न यह बीच में बने हुए हैं न कभी जीवपने का नाश होता है। भगवत्कृपा से माया से छूट जाने पर याने मुक्त हो जाने पर भी यह जीव के जीव ही रहते हैं। जीवों के तीन भेद हैं—नित्य, मुक्त, बद्ध। जो अनादि से परमात्मा के साथ में ही रह कर उनकी सेवा में निरत हैं उन्हें नित्य जीव कहते हैं। जैसे—श्रीजी, शेषजी, शंख-चक्रजी, विष्वकसेनजी इत्यादि। ये लोग अनादि से भगवत्पार्षद हैं। जैसे भगवान अनादि से सुखी हैं। उसी प्रकार अनादि से ये लोग भी उनकी सेवानुभव से सुखी हैं। सदा ये परमधाम में विराजते हैं। उन लोगों को श्रुतियों में साध्य देव भी कहते हैं। जैसे "यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवाः' इस श्रुति में कहा है। उन नित्य जीवों को सूरि भी कहते हैं। जैसे—"तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः"। उन्हें नित्य सूरि भी कहा करते हैं। जहां-जहां जब-जब भगवान अवतार लेते हैं वे लोग भी उनके साथ सेवा के लिए पधारते हैं। जैसे भगवान का कर्म परतन्त्रता से जन्म आदिक नहीं है उसी प्रकार उन लोगों का भी कर्म परतन्त्रता लेकर जन्म आदि नहीं होता है।

सद्गुरुओं की कृपा से भगवत्कृपा का अवलम्ब करके, प्रभुकृपाका अवलम्ब पकड़ाने वाले सद्गुरुओं के चरणों में दृढ़ विश्वास रखते, यथा शक्ति उनकी सेवा करते हुए, सदाचार से रहकर, अहंकार ममकार को त्यागकर सबसे मीठा व्यवहार पूर्वक इस संसार में समय बिताकर अन्त में अन्तर्यामी भगवान के अनुग्रह से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा इस प्राकृत शरीर को त्यागकर

अर्चिरादि मार्ग द्वारा, सब देवों से सत्कार प्राप्त कर, ब्रह्म लोक तक जाकर फिर भगवत्कृपा से सुगमतया सप्तावरण का उलघन करके, श्री विरजा नदी स्नान से सूक्ष्म शरीर की वासना रेणु के साथ परित्याग करके नित्य सूरियों के समान, भगवत्सेवा के लायक सुन्दर शरीर पा कर जो वड़भागी जीव उस दिव्य परमपद में जाय सदा अपने प्राण प्यारे परमात्मा का श्रीजी के साथ सेवा करते हुए, सदाके लिए आवागमन से रहित हो कर आनन्दपूर्वक समय विताता है उसे "मुक्तजीव" कहते हैं। जो वडभागी जीव मुक्त हो जाते हैं वे संसार चक्र में फिर कभी नहीं आते। वे प्यारे परमात्मा के तरफ से इस जन्म-मरणादि के भयंकर वला से छुड़ा दिये जाते हैं। वेदान्त का अन्तिम "अनावृत्तिः शब्दात्" यही सूत्र है। इसका यही अर्थ है कि मुक्त जीव फिर कभी संसार में नहीं आते हैं। श्री रामायण में कहा है कि "श्री जटायुजी, श्री शवरीजी, श्री सरभंग मुनिजी" ये लोग मुक्त पदवी पाये हैं।

श्री विरजा नदी के इस पार चौदह लोकों में रहने वाले जितने जीव हैं इन सब की "वद्ध" संज्ञा है। ये सब प्राकृत शरीर वाले हैं याने अपने अपने कर्मों के विवश होकर माया के फंदे में पडे हुए हैं। इन वद्ध जीवों में भी तीन प्रकार के भेद हैं 'वद्ध, केवल और मुमुक्षु'।

जो लोग हरवक्त भगवान से विमुख होकर रहते हैं, स्वप्न में भी सत्संग जिन्हें भाता नहीं, जो शास्त्र मर्यादा को विल्कुल पसंद नहीं करते, किसी प्रकार न्याय अन्याय से धन कमाकर शरीर का पोपण करना ही जिनका परम उद्देश्य है, जो शास्त्र को मिथ्या वताते हैं, शास्त्र के मुताविक चलने वालों से वैर करके रहते हैं भगवान के भजन, कीर्त्तन, स्मरण आदि उन्हें विल्कुल नहीं भाता है, मिथ्या तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, निन्दा स्तुति आदि में, पराये के सताने में ही जिनका समय वीतता है ऐसे जीव "वद्ध" कहे जाते हैं।

प्रकृति से परे है, पच्चीसवाँ तत्व है, नित्य है, ज्ञान और आनन्द का आश्रय है, अनादि है, अजर अमर है, इस प्रकार जो लोग सिर्फ अपने आत्म स्वरुप का ही अनुभव किया करते हैं और शरीर छूटने के वाद भी जिसे 'कैवल्य' नामक लोक में सिफ अपने आत्मा का ही अनुभव प्राप्त होता है, उसी को चाहते भी हैं ऐसों को 'केवल' नामक जीव कहते हैं। इन

केवल नामक जीवों को न तो जीते जिन्दगी प्यारे परमात्मा के अनुभव सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है, न प्रकृति से छुटने के बाद कैवल्य नामक लोक में जाने पर ही भगवान की सेवा कैंकर्य अनुभवादि का सुख मिलता है क्योंकि न साधन दशा मे यह लोग परमात्मा का अनुभव करते हैं न आगे भी। इसलिए परमात्म सुख से सदा के लिए वञ्चित रहते हैं ससार से छुटकारा तो इनका भी हो जाता है परन्तु असीम सुख का स्थल जो दिव्य परम धाम है वह नहीं प्राप्त होता हैं। केवल नामक जीवों के लिये पद्मपुराण में एक वचन है।

"बिरजा परम व्योम्नो रन्तरा केवलं स्मृतम्।
तदिच्छन्त्यल्प मतयो मोक्ष सुख बिवर्जितम्॥"

इसका यह अर्थ है कि विरजा नदी और सर्वोत्कृष्ट परमधाम इसके बीच में एक किसी तरफ "केवल" नामक लोक है। परमात्मा का अनुभव कैंकर्य वहाँ नहीं होने के कारण सुख बिवर्जित मोक्ष का स्थान उसे कहते है। उसको अल्प बुद्धि लोग चाहते हैं।

बद्ध जीवों में जो तीन भेद बताये उनमें दो का प्रसंग हो चुका। इनमें तीसरे जो मुमुक्षु हैं उनका लक्षण आगे कह रहा हूँ। जिन लोगों को इस संसार का स्वरूप अत्यन्त भयानक मालूम पडता है, गर्भ की दुर्दशा, जन्म समय की आपत्ति, बाल्यावस्था में अनेक कष्टों का अनुभव, तारुण्य में इच्छा विना भी परवश मरे हुए प्रिय वर्गों का असह्य शोक, आगे आने वाली भयङ्कर मृत्यु की बला इत्यादि बातों का स्मरण करके जिन लोगों का चित्त संसार से घबड़ाया करता है, सद्गुरु के आश्रय हुए बिना इस चेतन का किसी प्रकार भी कल्याण नहीं है। भगवत्कृपापात्र महात्माओं के सत्सग द्वारा इस बात का निश्चय जिसको हो चुका है, प्यारे परमात्मा के कृपापात्र अनन्य सद्गुरु के द्वारा, श्रीहरि के समाश्रित होकर, शास्त्र विरुद्ध बातों को त्यागकर, शास्त्र-अनुकूल विषय को आदर करता हुआ, अहकार-ममकार को जड़ी-मूल से त्याग कर, सबसे नम्रता, दीनता पूर्वक व्यवहार करता हुआ, यथा शक्ति सबके साथ उपकार करता, श्रद्धा पूर्वक भगवान की, उनके दासों की, भगवत भागवतों में प्रेम बढाने वाले सद्गुरुओं की यथा शक्ति सेवा करता हुआ, ससार से उदासीनता पूर्वक रहता हुआ, वह दिन कब आयगा जिस रोज इस प्राकृत शरीर को छुडा कर, प्रभु परमपद में ले जाकर अपनी

सेवा स्वीकार करेंगे, इस बात की प्रतीक्षा करते हुए जो लोग समय बिताते हैं उन्हें मुमुक्षु कहते हैं।

आचार्यजी कहते हैं—संक्षेप में ईश्वर तथा जीव का स्वरूप वर्णन किया। अब माया का स्वरूप वर्णन करते हैं सो ध्यान देकर सुनिए :—

माया जड़ है, परमात्मा के परतंत्र है, परमात्मा की इच्छा से घटती बढ़ती है। इसकी कार्य दशा याने स्थूल दशा अनित्य है। इसकी कारण दशा याने सूक्ष्मावस्था नित्य है। यह कारण दशा में एक होने पर भी भगवत इच्छा से कार्य दशा में अनेक रूपवाली होती है। इसको शास्त्र में प्रकृति भी कहा है। जैसे परमात्मा तथा जीवों को वेदादि सच्छास्त्रों में अनादि बताया है उसी प्रकार प्रकृति याने माया को भी अनादि कहा है। परमात्मा के अनादिपना के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है क्योंकि इसको सब प्रायः जानते हैं। जीव और माया इन दोनों को अनादि बताने में जो अनेक प्रमाण हैं, उनमें से एक दो कहते हैं, ध्यान देकर सुनिये। गीता मे भगवान श्री कृष्णजी अपने प्यारे भक्त श्री अर्जुनजी से कहते हैं कि—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्द्युयनादीउभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान् ॥"

याने हे अर्जुन! प्रकृति नाम माया को और पुरुष नाम जीव को अनादि समझो। याने जीव और माया दोनों अनादि हैं। न तो जीव ही बीच में भया है न माया ही। ये दोनों अनादि सिद्ध हैं। और भी माया की नित्यता में उपनिषदों में इस प्रकार के वचन हैं। "अजामेकां लोहित शुक्ल वर्णाम्" इत्यादि। इस वाक्य में माया को अजा याने अजन्मा कहा है इसका यह भाव भया कि जैसे परमात्मा तथा जीव का स्वरूप अनादि है इसी प्रकार माया का भी स्वरूप है। यह तीनों तत्व अनादि हैं इस बात को कभी न भूलिए। इस बात को याद रखेंगे तो आगे किसी भी वेद मन्त्रों की संगति सुनते समय इशारेमात्र से भ्रम दूर होता रहेगा। जितने नाशवान पदार्थ हैं सब माया कृत याने माया

के स्वरूप हैं। उसके भीतर रहकर जो भोगने वाला है वही जीव है। जीव की जाति एक है परन्तु हैं अनेक। इन सभी जीवों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजते हैं। जैसे श्री गीता जी में भगवान कहे हैं :—

"इश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति"।

अर्थात् हे अर्जुन! जितने जीव मात्र हैं उन सबों के हृदय मे ईश्वर याने परमात्मा अन्तर्यामी रूप से विराजते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तीनों तत्व नित्य हैं, अनादि हैं, और पृथक् पृथक् हैं। और भी गीताजी में भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! दो प्रकार के जीव हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर याने एक बद्ध दूसरे मुक्त। माया के परवश जो जीव हैं उन्हें क्षर कहते हैं और माया से छुटे हुए जीवो को अक्षर कहत हैं। इन दो प्रकार के जीवों से परमात्मा भिन्न हैं। उन्हें उत्तम पुरुष कहते हैं। वे तीन लोक में अन्तर्यामी रूप से रहकर सबका धारण पोषण करते हैं। सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से रहते हुए भी निर्विकार ही रहते हैं क्योंकि वे इश्वर हैं अघटन घटना समर्थ हैं।

अर्जुनजी पूछे "आप कौन हैं" सो कृपाकर के बताइये। भगवान कहे मैं तो क्षर और अक्षर इन दोनों से भिन्न हूँ। उत्तम हूँ, इससे लोक और वेद में भी पुरुषोत्तम याने परमात्मा करके प्रसिद्ध हूँ।

इस प्रसंग से भी यही सिद्ध हुआ कि व्यवहार दशा में तथा परमार्थ दशा में जीव, ईश्वर सदा पृथक ही रहते हैं। ईश्वर और जीव न कभी एक थे न एक होंगे, उपर लिखे प्रसंग में निम्न लिखित श्लोक प्रमाण हैं :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्ययमीश्वरः॥

सेवा स्वीकार करेंगे, इस बात की प्रतीक्षा करते हुए जो लोग समय बिताते हैं उन्हें मुमुक्षु कहते हैं।

आचार्यजी कहते हैं—संक्षेप में ईश्वर तथा जीव का स्वरूप वर्णन किया। अब माया का स्वरूप वर्णन करते हैं सो ध्यान देकर सुनिए :—

माया जड़ है, परमात्मा के परतंत्र है, परमात्मा की इच्छा से घटती बढ़ती है। इसकी कार्य दशा याने स्थूल दशा अनित्य है। इसकी कारण दशा याने सूक्ष्मावस्था नित्य है। यह कारण दशा में एक होने पर भी भगवत इच्छा से कार्य दशा में अनेक रूपवाली होती है। इसको शास्त्र में प्रकृति भी कहा है। जैसे परमात्मा तथा जीवों को वेदादि सच्छास्त्रों में अनादि बताया है उसी प्रकार प्रकृति याने माया को भी अनादि कहा है। परमात्मा के अनादिपना के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है क्योंकि इसको सब प्रायः जानते हैं। जीव और माया इन दोनों को अनादि बताने में जो अनेक प्रमाण हैं, उनमें से एक दो कहते हैं, ध्यान देकर सुनिये। गीता मे भगवान श्री कृष्णजी अपने प्यारे भक्त श्री अर्जुनजी से कहते हैं कि—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्द्युयनादीउभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विध्दि प्रकृति सम्भवान्॥"

याने हे अर्जुन! प्रकृति नाम माया को और पुरुष नाम जीव को अनादि समझो। याने जीव और माया दोनों अनादि हैं। न तो जीव ही बीच में भया है न माया ही। ये दोनों अनादि सिद्ध हैं। और भी माया की नित्यता में उपनिषदों में इस प्रकार के वचन हैं। "अजामेकां लोहित शुक्ल वर्णाम्" इत्यादि। इस वाक्य में माया को अजा याने अजन्मा कहा है इसका यह भाव भया कि जैसे परमात्मा तथा जीव का स्वरूप अनादि है इसी प्रकार माया का भी स्वरूप है। यह तीनों तत्व अनादि हैं इस बात को कभी न भूलिए। इस बात को याद रखेंगे तो आगे किसी भी वेद मन्त्रों की संगति सुनते समय इशारेमात्र से भ्रम दूर होता रहेगा। जितने नाशवान पदार्थ हैं सब माया कृत याने माया

के स्वरूप हैं। उसके भीतर रहकर जो भोगने वाला है वही जीव है। जीव की जाति एक है परन्तु हैं अनेक। इन सभी जीवों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजते हैं। तभी श्री गीता जी में भगवान कहे हैं :—

"इश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति"।

अर्थात् हे अर्जुन! जितने जीव मात्र हैं उन सर्वों के हृदय में ईश्वर याने परमात्मा अन्तर्यामी रूप से विराजते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तीनों तत्त्व नित्य हैं, अनादि हैं, और पृथक् पृथक् हैं। और भी गीताजी में भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! दो प्रकार के जीव हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर याने एक बद्ध दूसरे मुक्त। माया के परवश जो जीव हैं उन्हें क्षर कहते हैं और माया से छुटे हुए जीवो को अक्षर कहत हैं। इन दो प्रकार के [illegible] परमात्मा भिन्न हैं। उन्हें उत्तम पुरुष कहते हैं। वे तीन लोक में अन्तर्यामी [illegible] सबका धारण पोषण करते हैं। सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से रहते हुए भी निर्विकार हैं [illegible] क्योंकि वे इश्वर हैं अघटन घटना समर्थ हैं।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

आगे के श्लोक में भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! इस प्रकार सब जीवों से न्यारा, सब जीवों का नियमन तथा धारण पोषण करने वाला पुरुषोत्तम परमात्मा करके मुझे जो जानता है वह सर्वज्ञ है और वही हमें सब प्रकार से भजता है। जीव के लिए और भी भगवान गीता में आज्ञा किये हैं कि "अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो। न हन्यते हन्यमाने शरीरे"। इस श्लोक में भी भगवान ने जीव को शाश्वत याने अनादि बताया। महाप्रलय के अन्त में सृष्टि करने के समय भी भगवान कहते हैं "आत्मना जीवेन अनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" याने आत्मा जो जीव है उसके भीतर प्रवेश करके उसका नाम रूप जाहिर करें। आदि सृष्टि में भी जीव शब्द फरक आया मुक्त दशा में भी "सदा पश्यन्ति सूरयः" यह पद आया है। इस मन्त्र में मुक्त जीवों के लिए बहुवचन आया है "सूरि" नाम आया है और परमात्मा के स्थान को सदा देखते हैं यह भी आया है।

ओंकार दासजी ! संक्षेप में तीनों तत्व का स्वरूप इसलिए वर्णन किया कि इतना मालूम रहने से वेद मन्त्रों की संगति आसानी से समझ पड़ेगी।

देशिक भगवान कहते हैं कि इस बात को कभी भूलना नहीं कि ईश्वर, जीव, माया ये तीनों तत्व नित्य हैं और अनादि हैं।

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान"

इस श्रुति मन्त्र में भी जीवों के लिए बहुवचन ही आया है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आदि सृष्टि में भी जीव शब्द था और अनेक जीव थे। इससे पूर्वोक्त भगवान के श्रीमुख वाणी के द्वारा तथा इन श्रुति मन्त्रों के द्वारा यह निर्णय हुआ कि जीव अनेक हैं और अनादि हैं। अब यह नहीं कह सकते हैं कि व्यवहार दशा ही में जीव नाम पड़ा है। क्योंकि जिस समय जीवों को शरीर ही नहीं मिला था उस वक्त तो व्यवहार दशा थी ही नहीं और उस वक्त भी श्रुतियों में जीव शब्द का वर्णन आया है। इससे यह समझ रहना चाहिए कि ये

जीव अनादि और अनन्त हैं तथा इन सबों का इनके प्रारब्धानुसार परमात्मा हीं नियमन करने वाले है।

इसकी स्थूल दशा अनित्य है सूक्ष्म दशा नित्य है। इस पूर्वोक्त प्रसंग से यह खुलासा निश्चय हो गया कि प्रकृति और पुरुष याने जीव और माया ये दोनों तत्व अनादि हैं और नित्य हैं। न तो ये बीच में बने हुए हैं न इनके स्वरूप का कभी नाश ही होता है। सृष्टि के आदि में तो जीव शब्द और जीवों के बाबत अनन्तता श्रुतियों के द्वारा अभी निर्णय कर ही चुके हैं। अब मुक्त दशा में भी जिस प्रकार जीवों के बाबत बहुवचन का और अस्तित्व का वर्णन आया है उसको अति संक्षेप से वर्णन करता हूँ। श्रुति में कहा है कि :—

तद्विष्णो परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः

इस श्रुति मन्त्र का यही अर्थ भया कि श्री विष्णु भगवान का जो परमधाम है उसको सूरि लोग अर्थात् उस परमधाम में रहने वाले सूरि शब्द से प्रसिद्ध जो नित्य-मुक्त जीव हैं वे लोग देखते हैं। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि गुरू भगवान की कृपा से माया की उपाधि से छूटकर प्रकृति से परे जो परमात्मा का परमधाम है वहां पर जाकर सदा के लिए आवागमन से रहित होकर रहने वाले जो बड़ भागी चेतन हैं वे उस मुक्त दशा में भी अनेक रहते हैं और सदा पृथक् रहते हैं याने माया की उपाधि छूट जाने पर भी कोई भी परमात्मा नहीं बनते। क्योंकि माया की उपाधि से छूटे हुए उन मुक्त जीवों के लिए भी इस पूर्वोक्त मंत्र में "पश्यन्ति" और 'सूरयः' पद आया है और ये दोनों पद बहुवचन हैं और इसका अर्थ भी यही है कि उस प्यारे परमात्मा के परमधाम को सूरि लोग ही देखते हैं तो माया की उपाधि से छूटकर मुक्त सज्ञा को प्राप्त उस परमपद निवासी भगवत् पार्षदों के वास्ते जब देखना शब्द आता है और सूरि उनका नाम आता है तो फिर यह कैसे मान सकते हैं कि माया की उपाधि से छूटा हुआ जीव परमात्मा बन जाता है।

आचार्यजी कह रहे हैं कि हे मुमुक्षु महात्माओं! आदि सृष्टि के पहिले जैसे जीव अनन्त थे, परमात्मा से पृथक् थे, जीव उनका नाम था ये सारी बात हम आप सब को प्रमाणों के

द्वारा बता चुके हैं और माया की उपाधि से छूटकर परमधाम में रहने वाले मुक्त जीवों के लिए भी श्रुति मन्त्र के द्वारा परमात्मा से पृथक रहना और परमात्मा के दर्शन करना और सूरि उन लोगों के नाम इत्यादि प्रसग भली-भांति संक्षेप में समझा चुके। इस प्रसंग से इस बात का निर्णय हुआ कि जीव अनादि से जीव ही है और आदि सृष्टि मे भी जीव ही रहता है और भगवान की कृपा से जब माया की उपाधि से मुक्त होकर परमधाम चला जाता है वहां भी जीव ही रहता है। न तो आदि सृष्टि में यह परमात्मा था न माया की उपाधि से मुक्त होने पर कभी परमात्मा बनता। इतना फरक अवश्य होता है कि भगवान से विमुख रहने के कारण जब तक ये माया की उपाधि में पड़ा रहता है तब तक अनेक प्रकार के दुःख इसको भोगने पड़ते हैं और भगवान की कृपा से, भगवान के शरणागत होकर भगवान के अनुग्रह से भगवान के द्वारा माया से छुड़ाकर जो परमधाम पहुँचा दिया जाता है। वहां उसको अनन्त प्रकार का सुख मिलता है और दुःख का लेश भी नहीं रहता है। बाकी जीव सदा जीव ही रहता है। न कभी यह परमात्मा था न परमात्मा होता है और यह जो श्रुतियो में आता है कि :—

ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति

याने ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है इसका मतलब यदि ज्यों का त्यो ही माने तो किसी तरह भी संगति लगती ही नहीं है। क्यों कि माया उपाधि से छूटकर परमपद में गये हुए जो मुक्त जीव लोग हैं वे सभी तो ब्रह्म के जानने ही वाले थे तभी तो परमात्मा के धाम पहुँचाये गये परन्तु वहां जाकर कोई भी ब्रह्म नहीं हुआ है।

इस से ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म हो जाता है। इस श्रुति का ऐसा अर्थ समझना चाहिए कि ब्रह्म को जानने वाला याने परमात्मा को जानकर, परमात्मा के शरणागत होकर परमात्मा के अनुग्रह से, माया बन्धन से छुटकारा पाकर परमात्मा की कृपा से परमधाम में जाकर परमात्मा के समान सुन्दर विग्रह पाता है और परमात्मा के समान सुखी हो जाता है। जैसे ब्रह्मज्ञानियों में शिरोमणि श्री जटायुजी महाराज हो गये।

श्री जटायुजी महाराज से श्री रामजी आज्ञा किये कि :—

चौ०—तनु तजि तात जाहु मम धामा।
देउँ काह तुम पूरण कामा॥

हे भक्त शिरोमणि श्री जटायुजी! इस प्राकृत शरीरको त्याग कर आवा-गमन से रहित सदा सुखमय जो हमारा दिव्य धाम है वहाँ पर आप जाइए। इसके बाद यह पद आया कि—

चौ०—गीध देह तजि धरि हरि रुपा। भूषण बहु पटपीत अनूपा।
श्याम गात बिशाल भुज चारी। अस्तुति करत नयन भरि वारी॥

दो०—अविरल भक्ति मांगि वर, गीध गयो परधाम।
तेहि कर क्रिया यथोचित, निजकर किन्हे राम॥

श्री जटायुजी के समान ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्म को जानने वाले भी माया की उपाधि से छूटने पर यदि ब्रह्म न हो सके तो उनसे बढ़कर दूसरा ऐसा कौन है कि माया की उपाधि छूटने पर ब्रह्म हो सकेगा। इससे जहा कहीं भी ऐसा प्रसग आवे कि माया की उपाधि से छूटने पर ब्रह्म हो जाता है वहा ऐसा ही समझना चाहिए कि ब्रह्म के समान उसको शरीर प्राप्त हो जाता है।

जैसे श्री जटायुजी को हुआ था। जब उन्होंने अपना प्राकृत शरीर छोडा तो उन्हें श्री हरि का रूप मिल गया। अनुपम भूषण वस्त्रों के साथ सुन्दर श्याम विग्रह विशाल मनोहर चार बाहुओं से युक्त सुन्दर श्री हरि के समान स्वरूप हो गया। श्री हरि के समान रूप मिलने पर भी श्री हरिका सुन्दर स्तोत्र किया और परमधाम में सदा आपकी सेवा करता रहूँ ऐसा वर मागकर परमधाम प्राप्त किया।

इस प्रसग को अच्छी तरह ध्यान मे रखने से किसी प्रकरण में भ्रम नहीं होगा। श्री देशिक भगवान कहते हैं कि महात्माओं! हमें ज्यादा टाइम नहीं है जल्दी श्री साकेत नगर को जाना है इस लिए इतने ही में आप सब बहुत कुछ समझ जाइए। आदि सृष्टि में भी

जीव जीव ही था और माया से छूटकर मुक्त अवस्था में भी जीव जीव ही रहता है। इन दो बातों का जो अच्छी तरह स्मरण बना रहेगा तो कैसा भी भ्रमकारक वाक्य सुनने पर उसी के अनुसार पढ़ा लिखा मनुष्य संगति लगा लेगा। अब हमें आप लोग साकेत नगर जाने के लिये आज्ञा दीजिए।

श्रीधर शर्मा का यह वचन सुनकर ओंकारदास जी तथा वे ब्रह्म ज्ञानी महात्मा आखों में आंसू लेकर हाथ जोड़कर बोले कि आचार्यजी महाराज! आप को तो कहीं भी किसी जीव का कल्याण ही करना है इससे हम दोनों का संशय भ्रम निवारण करके ही आगे पधारने का निश्चय रखिये। इन श्रुति मन्त्रों मे इतने परस्पर वाक्य भेद है कि अहंकार ममकार रहित भगवत के कृपा पात्र किसी विद्वान महात्मा के विना इसकी संगति लग ही नहीं सकती आप जब से यहां पधारे हैं और अपना वचनामृत सुनाने लगे हैं तब से हम लोगों को बड़ी शान्ति मिल रही है।

नम्रता भरी उन दोनों मुमुक्षुओं की प्रार्थना सुनकर प्रसन्न हो देशिक भगवान बोले कि आप दोनों में कोई भी एक मूर्ति प्रश्न करना आरम्भ कर दीजिए तो जल्दी से इस प्रसंग का निपटारा हो जावेगा। आचार्यजी का वचन सुनकर ब्रह्मज्ञानी महात्मा बोले कि अपना संदेह मिटाने के लिए प्रधान-प्रधान कुछ श्रुति वाक्यों का भाव मैं पूछता हूँ उसको आप कृपा करके स्पष्ट करके समझा दीजिए। यह तो मैं महान् मुमुक्षु महात्मा ओंकार दासजी के अनुग्रह से तथा आपके वचनामृत द्वारा अच्छी तरह से समझ ही गया हूँ कि तीनों तत्व नित्य हैं। आदि सृष्टि में भी जीव था और माया की उपाधि मिटने पर मुक्तावस्था में भी जीव जीव ही रहता है। जब कि :—

'प्रकृतिं पुरुषं चापि विद्ध्यनादी उभावपि॥
अजो नित्यः सास्वतोऽयं पुराणो'—
उत्तमः पुरुष स्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः॥ इत्यादि

खुद भगवान के श्रीमुख वचनों में यह स्पष्ट आया है कि जीव तत्व अनादि है और नित्य है शाश्वत है। तो फिर इस बात को किस तरह मान सकते हैं कि बीच में जीव पैदा हुआ

है और आखिर में जीवत्व का नाश हो जाता है। किसी तरह से भी परमात्मा का जीव होना और वाक्य ज्ञान के द्वारा जीवत्व से छुटकारा पाना यह वात जमही नही रही है। परमात्मा के जीव होने में और वाक्य ज्ञान के द्वारा जीवत्व से छुटकारा पाने मे जितने प्रमाण और युक्तियाँ हैं ये बिलकुल असंगत हैं।

क्योंकि सदा सुख स्वरूप भगवान अनेक कूकर शूकरादिक जीव वनकर अनेक प्रकार का दुख भोगें यह कभी हो ही नहीं सकता। जिनके स्मरण से माया वन्धन से छूटकर चेतन मुक्ति को पाता है, जिसके नाम स्मरण से लाखो कोस दूर माया भागती है उस सर्व-शक्ति-मान परमात्मा को जबरदस्ती माया जीव बनाकर अनेक प्रकार का दुःख भोगावे यह सर्वथा असम्भव है।

जिसके ध्यान स्मरण मात्र से अनेक प्रकार का भ्रम दूर होता है। वह सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा माया के भ्रम में पड़कर जीव बन जावें और परवश में पडकर जन्म-मरण चक्र को सहे और परवश नरकादिक दुःखों को भोगे यह भी किसी तरह संगत नही है। हाँ शास्त्रो के जरिये यह सुनने में आता है कि भगवान भी लीला करने के लिए कितनी वार प्राकृत जीवों के समान शरीर धारण किये और दूसरों के पुत्र कहाये।

जैसे ब्रज में अवतार लेकर नन्दनन्दन वसुदेवनन्दन कहाये। श्री अवध में अवतार लेकर श्री कौशलकुमार, कौशल्यानन्दन, श्री दशरथ राजकुमार आदि अनेक श्री नामों से प्रसिद्ध भये। यद्यपि प्राकृत जीवों के समान ही रहते थे तो भी उनका परब्रह्मपना नहीं छिपा। प्राकृत जीवों के समान परवश गर्भवास का दुःख नही भोगे दोनों अवतारों में प्राकृत बालकों के समान नहीं जन्मे।

निज आयुध भुज चारी
चतुर्भुजं शंख गदार्युदायुधम्

इस प्रकार अनेक भूषण वस्त्रों से युक्त मनोहर किशोरमूर्ति चतुर्भुज होकर दर्शन दिये। अपने संकल्पानुसार जितने दिन इस भूतल पर साक्षात् विराजे उतने दिन तक परवश होकर

उन्हें किसी प्रकार भी दुःख का सामना नहीं करना पड़ा। अन्तिम यात्रा भी उनकी प्राकृत जीवों के समान नहीं भई उसी श्रीविग्रह के साथ अन्तर्ध्यान हो गये। अवतार के प्रथम देवताओं ने स्तुति की अन्त समय में भी देवताओं ने आकर विनती की। अतः वह जरूर भगवान थे। आज भी उनके चरित्र गाकर लाखों जीव संसार सागर से पार होते हैं। उनके जितने चरित्र हैं सब अप्राकृत हैं। सारांश कहने का यह हुआ कि किसी भी प्रकार से परमात्मा का जीव होना और माया के परवश होकर अनेक प्रकार के दुःख भोगना और वाक्य ज्ञान द्वारा माया से मुक्त होकर परमात्मा बनना यह असंगत बात किसी तरह से हो ही नहीं सकती है। हाँ, शास्त्रों में ऐसे अनेक प्रकार के भ्रम कारक वचन आते हैं कि जो महात्मा ओंकारदास जी के समान संशय भ्रम रहित भगवत्कृपा पात्रों का सत्संग जिन लोगों को नहीं हुआ है उन लोगों का भ्रम में पड़जाना कोई बडी बात नहीं है। जैसे कि आज तक हम भ्रम में पड़े हुए थे।

इन महात्मा ओंकारदास जी का परमात्मा भला करे कि जिनके सत्संग से हमारी भी मति ठिकाने आई। आपकी सेवा मे दस-बीस श्रुति मन्त्रों को उपस्थित करता हूं कृपा करके उनकी संगति लगा दीजिए। ब्रह्म ज्ञानीजी का वचन सुनकर देशिक भगवान बोले कि आप लोग तो महान मुमुक्षु हैं और भगवान के परम कृपापात्र हैं और आपकी सभी संगति लगी हुई है वचनों से प्रतीत होता है कि आप सब में बिलकुल संशय-भ्रम नहीं है। यह आप सब की कृपा है कि हमारा भी कुछ समय ब्रह्म विचार में लग रहा है।

इस प्रकार देशिक भगवान का नम्रता भरा वचन सुनकर ब्रह्म ज्ञानीजी बोले कि आचार्य जी! ये सब दिव्यगुण तो महात्मा ओंकार दासजी में हैं। हमारा भी संशय भ्रम इन्हीं की कृपा से दूर भया है और श्रुतियों में जो संदेह है सो आप की कृपा कटाक्ष पर निर्भर है। इतना कह के ब्रह्म ज्ञानी महात्मा बोले कि :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

इसका क्या भाव है। आचार्यजी बोले कि इस श्रुति का भाव तो पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ और भी आप सुनना चाहते हैं तो श्रवण कीजिए। मैं आप को पहिले ही कह चुका

हूँ कि ईश्वर, जीव, माया ये तीनों तत्व नित्य हैं और जहां भी जो कुछ भी दीखता है सभी जगह तीनों तत्व मौजूद हैं। जो स्थूल तत्व है वह माया है। उसके भीतर रहकर सुख दुःख जो भोगने वाला है वह जीव है, इन दोनों का जो नियमन करने वाला है वह जीव के भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले परमात्मा हैं बस इसी के अनुसार इस श्रुतिका अर्थ लगा लीजिए। ये सब जो कुछ नेत्रगोचर हो रहा है इन सबों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजे हुए हैं। ये जो कुछ दृश्यमान जगत दीख रहा है ये सब ब्रह्मात्मक है याने इन हरेक चीजों के अन्दर अन्तर्यामी होकर भगवान विराजे हुए हैं। सारे ब्रह्माण्ड में इन तीनो तत्वो के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

'सर्वं खल्विद ब्रह्म' यदि इसका अर्थ ऐसा करें कि जो कुछ दीखता है सब ब्रह्म ही है याने ईश्वर ही है ईश्वर के सिवा दृश्यमान जगत में दूसरा कुछ है ही नही तो इससे शास्त्रों की संगति नहीं लगती। क्यों कि दृश्यमान जगत में जो नाशवान पदार्थ है वह ईश्वर हो ही नही सकता। नाशवान् वस्तु को माया तत्व कहना पडेगा और इसके भीतर रहकर परवश दुःख तथा सुख को भोगने वाला भी ईश्वर नहीं है। क्यों कि खुद ईश्वर माया के परवश होकर दुःख-सुख भोगें यह बात बनती नहीं। माया ईश्वर के तावे में रहने वाली ईश्वर के पराधीन है, ईश्वर से सदा डरनेवाली वह जबरदस्ती सर्वस्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, परमात्मा को दबाकर परवश बनाकर सकट भोगावे यह कभी सम्भव नहीं है।

यदि कहें कि सब जीव ब्रह्म ही ब्रह्म है याने भगवान ही भगवान हैं, लीला करके विपत्ति भोग रहे हैं तो इस बात को भी कोई नहीं मान सकता है। क्योंकि एक मनुष्य भूख के मारे घबडा रहा है, चिल्ला रहा है और कह रहा है कि बहुत जल्दी हमें खाने को दो नहीं तो मर जाऊँगा। उसको दूसरा मनुष्य खाने को न देकर कहे कि तुम परमात्मा हो, तुम लीला करके भूख भूख चिल्ला रहे हो यथार्थ में तुम्हें भूख नहीं लगी है भूख से घबड़ाये हुए मनुष्य को अन्न न देकर इस प्रकार कहनेवाले को कोई भी ज्ञानी नहीं कहेगा। किन्तु उल्टा निर्दयी बतायेगा। एक को हैजे की बिमारी भई है और भयकर कष्ट भोग रहा है दूसरा कहे कि इसको कोई दुःख नहीं है। लीला कर रहा है। इस बात को सुनकर वैद्य डाक्टर

कहेंगे कि इस पागल को कान पकड़ कर हटाओ। यह मर रहा है और यह लीला बता रहा है।

इससे एक ईश्वर ही अनेक जीव होकर लीला करके दुःख-सुख भोग रहे हैं इस प्रकार से अर्थ करने से किसी तरह से भी संगति नहीं लगती है। क्योंकि यह अर्थ बिलकुल असंगत है याने मिथ्या है। यदि ऐसा अर्थ करें कि प्रथम कुछ भी नही था, ईश्वर ही माया चक्र में पड़कर अनेक जीव बन गये तथा जगत रूप से हो गये हैं। माया की उपाधि में पडने से अनेक प्रकार के सुख दुख नरक स्वर्ग परवश भोग रहे हैं। वाक्य ज्ञान से व्यवहार दशा मिटने पर परमार्थ दशा में फिर ईश्वर हो जायंगे। ओर यह श्रुति परमार्थ दशा को ध्यान से कह रही है कि :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"

याने व्यवहार दशा में भले ही जीव जगत दीख रहा है किन्तु वास्तव में परमार्थतः एक ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं याने सब ईश्वर ही ईश्वर है। आचार्य जी कहते हैं कि यदि इस श्रुति का इस तरह पूर्वोक्त अर्थ करें तो किसो तरह यह अर्थ सिद्ध नहीं होता क्योंकि भगवान का श्री मुख वचन है कि—

"प्रकृतिं पुरुषं चापि विद्धयनादी उभावपि"।

याने माया और जीव ये दोनों अनादि हैं। फिर भगवान कहते हैं कि—

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो"-इत्यादि याने जीव तत्व नित्य है, शाश्वत है और सृष्टि के आदि में जब भगवान का संकल्प है—

"आत्माना जीवेन अनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि"

याने जीव के अन्तर्यामी होकर शरीर प्रदान करके जीवों का नाम रूप जाहिर करूँ। इस प्रकार सृष्टि के आदि में भी जब जीवों का वर्णन है और खुद भगवान का श्रीमुख वचन है कि माया और जीव अनादि हैं। और

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्यु उदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥"
"यस्मात्क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपिचोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥"

आचार्य जी कहते हैं कि ! जब खुद भगवान श्री मुख से आज्ञा करते हैं कि—क्षर माने बद्ध, अक्षर माने मुक्त—इन दो प्रकार के जीवों से परमात्मा अलग हैं। उनका नाम उत्तम पुरुष है। वेदादि शास्त्रों में परमात्मा शब्द से वह कहे जाते हैं। वही प्रकृति पुरुषात्मक जो तीन लोक है उसमें प्रवेश करके खुद निर्विकार रहते हुए, इसका धारण, पोषण-पालन करते हैं। वह मैं ही हूँ। लोक और वेद में पुरुषोत्तम शब्द से कहाने वाला दोनों प्रकार के जीवों से पृथक् हमको समझो। सृष्टि के आदि में भी जीव तत्व का अस्तित्व आता है और खुद भगवान अपने श्रीमुख से प्रकृति और पुरुष, याने माया और जीव को नित्य बताते हैं और अनादि कहते हैं तथा परमात्मा को दोनों प्रकार के जीवों से न्यारा बताते हैं और मुक्त दशा के श्रुतियों में भी ईश्वर से पृथक् मुक्त जीवों का वर्णन आ रहा है जैसा कि पीछे भी कह चुका हूं।

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"

और श्री शबरीजी का माया उपाधि से छूटकर परमपद जाने का जब प्रसंग आता है तो यह नहीं आता कि व्यवहार दशा के जीवत्व से छूटकर भगवान हो गईं। किन्तु ऐसा आता है कि :—

"गमिष्याम्यक्षयान् लोकान् त्वत्प्रसादादरिंदम"

याने शबरीजी कहतीं हैं कि हे रघुनाथजी ! आपके प्रसाद से याने आपके अनुग्रह से मैं परमधाम को जाऊँगी। इसके बाद आता है कि :—

"यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः
तत्पुण्यं शबरीस्थानं जगामेत्यादि—"

इसका भाव यह भया कि जिस परमधाम में श्री शबरीजी के गुरुवर्य महर्षि लोग परमात्मा के साथ अनेक क्रीड़ा-सुख का अनुभव करते थे माया से परे आनागमन से रहित उसी दिव्य धाम को श्री शबरीजी गईं। तो जब इतने उच्चकोटि के ज्ञान वाली श्री शबरीजी के बाबत यह प्रसग नहीं आया कि व्यवहार दशा से छूटकर परमार्थ दशा मे परमात्मा हो गईं तो (सर्वं खल्विद ब्रह्म) इस श्रुति का पूर्वोक्त अर्थ अच्छी तरह शास्त्रों को जानने वाला कोई समझदार पुरुष कैसे मान सकता है।

और श्री जटायुजी के प्रसंग में भी भगवान के समान शरीर पाकर भगवान श्रीरामजी से अविचल भक्ति का वरदान मांगकर परमधाम में गये ऐसा ही वर्णन आता है। तो जब कि श्री जटायुजी के समान परमात्मा के परम प्यारे भक्त को भी माया उपाधि से छूट जाने पर जीवत्व से छूटकर परमात्मा हो जाना ये नहीं आता है। तो फिर उनसे बढ़कर कौन ऐसा ज्ञानी होगा जो जीवत्व से छूटकर परमात्मा हो जावेगा। इन प्रसंगों को पीछे कह चुका हूँ अतः विशेष बढ़ाना ठीक नहीं है।

इन प्रसंगों से परमात्मा का व्यवहार दशा मे जीव और जगत रूप से हो जाना तथा परमार्थ दशा में जीवत्व मिटकर फिर ईश्वर हो जाना। इस प्रकार जो उन्मादियों के समान खींच खांचकर श्रुतियों का अर्थ करना है सो बिल्कुल वैदिक सिद्धान्त के खिलाफ है। इससे (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) इसका वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यही यथार्थ अर्थ है कि जो कुछ स्थूल तत्व दीख रहा है यह सब माया है याने प्रकृति का स्वरूप है। इसके अन्दर रहके सुख दुःख भोगने वाले जो हैं वे जीव है और इन दोनों तत्त्वों के अन्दर रह करके इन दोनों का नियमन करने वाला इन दोनो से पृथक् सर्वशक्तिमान परमात्मा है। इस दृश्यमान जगत में इन तीन तत्वों के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है।

भ्रम रहित तो यही अर्थ है और इसी अर्थ को करने से अच्छी तरह से पूर्व पर की संगति मिलती है। देशिक भगवान के मुख से इस श्रुति का ऐसा भ्रम रहित अर्थ सुनकर गद्गद हो आंसू लेकर ब्रह्म ज्ञानी महात्मा बोले कि आचार्यजी महाराज! हमें भी यही अर्थ यथार्थ जच रहा है। भगवान के माया का प्राबल्य क्या कहें कहां तक कहें जो लोग ये अर्थ कर बैठते

हैं कि यह सब परमात्मा ही हैं परमात्मा के सिवा जगत में दूसरा कुछ है ही नही ; उन लोगों को यह क्यों नहीं सूझता है कि नाशवान जगत, ईश्वर कैसे हो सकता है और परवश दुःख सुखों को भोगने वाला जीव भी परमात्मा कैसे हो सकता है। प्रकृति पुरुष और परमात्मा ये तीनों हरेक जगह रहते हैं। चींटी से लेकर ब्रह्मा तक, अणु से लेकर सुमेरू तक और पाताल से लेकर ब्रह्म लोक तक जब कि सर्वत्र ही तीनों तत्व ओत प्रोत हैं और हरेक जगह ईश्वर, जीव, माया ये तीनों तत्व मौजूद हैं। शास्त्र कहता है कि तीनों तत्व अनादि हैं और नित्य हैं। तो किसी श्रुति का भी ये किस तरह अर्थ किया जा सकता है कि सब ईश्वर ही ईश्वर हैं ईश्वर के अतिरिक्त और वस्तु कुछ है ही नहीं।

इससे आप ने जो अभी भ्रम रहित अर्थ किया है इसी अर्थ से संगति ठीक लगती है। जैसे इस श्रुति का अर्थ कृपया किए वैसे [अहं ब्रह्मास्मि] इस श्रुति का भी अर्थ कृपा करके समझा दीजिए। उनका वचन सुनकर देशिक भगवान बोले कि आपको स्मरण न होगा इस श्रुति का अर्थ तो हम पहिले ही कर आये हैं। अच्छा फिर भी श्रवण करिए।

सारा ब्रह्माण्ड प्रकृति पुरुषात्मक है। स्थूल तत्व माया है। अपने अपने कर्मों के अनुसार परवश दुःख सुख भोगने वाला जीव तत्व है और इन जीवों के कर्मानुसार नियमन करने वाले परमात्मा हैं। वह हर-एक जीवों के अन्तर्यामी होकर साक्षी रूप से सदा विराजते हैं। व्यवहार दशा में या परमार्थ दशा में सदा सुखमय सर्व शक्तिमान परमात्मा परवश सुख दुःख भोगने वाला जीव होते ही नहीं हैं। अनादि से भगवद्विमुख होकर माया चक्र में फँसकर अपने कर्मों के अनुसार परवश अनेक सकटों को भोगने वाला महा अपराधी जीव व्यवहार दशा मे या परमार्थ दशा में याने बद्धावस्था में या मुक्तावस्था में, किसी हालत में कभी भी परमात्मा बन नहीं सकता है। सदा से जीव जीव ही है और जीव ही रहता है और सदा से परमात्मा परमात्मा ही हैं और हर एक हालत में परमात्मा परमात्मा ही रहते हैं।

अपने अपराधों को कबूल करके परमात्मा के शरण होकर, भगवान की कृपा का भरोसा रखता हुआ स्वरूप विरुद्ध वस्तुओं के त्याग पूर्वक, भगवान की उपासना करता हुआ जो जीव रहता है उसको कृपा सागर भगवान माया बन्धन से छुटकारा देकर माया से परे अपने दिव्य

धाम में पहुँचाकर कौस्तुभ और श्री जी के विना जगत का सृष्टि, स्थिति, संहार का अधिकार रहित अपने समान रूप देकर सव दुःखों से रहित हो करके सदा श्री लक्ष्मणजी के समान सेवा का भागी आवागमन से रहित मुक्त वना देते हैं। जैसे श्री शवरीजी को श्री जटायुजी को वना दिये।

'अहं ब्रह्मास्मि'

इसका भाव यह भया कि 'अहं ब्रह्मात्मकोस्मि' अहं शब्द वाची जो मैं जीव सो ब्रह्मात्मक हूँ, ब्रह्म जो परमात्मा-सो हमारे आत्मा के अन्दर अन्तर्यामी होकर विराजते हैं और हमारे कर्मों के अनुसार हमारा नियमन करते हैं मैं सदा उनके अधीन हूं। वस! इस श्रुति का वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यही यथार्थ अर्थ है।

श्रुति का अर्थ सुनकर प्रसन्न होय ब्रह्मज्ञानी महात्मा वोले कि इस श्रुति का भी वहुत सुन्दर अर्थ भया भगवान ने गीता में इसी अर्थ की पुष्टि की है जैसे :—

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

उपनिषदों ने भी इसी अर्थ की पुष्टि की है जैसे :—

'यः आत्मनितिष्ठन् आत्मानं नियमयति यमात्मान वेद्।'

इसका भाव यह भया कि अन्तर्यामि होकर सव जीवों के भीतर परमात्मा विराजमान होकर आत्मा के कर्मों के अनुसार सवों का नियमन करते हैं।

अव कृपा कर "तत्त्वमसि" इस श्रुति का अर्थ समझा दीजिए। देशिक भगवान वोले कि "अहं ब्रह्मास्मि" के समान ही इस श्रुति का भी अर्थ है। "त्वंतत्असि" "तदात्मकोसीत्यर्थः" श्वेत केतु नामक एक जिज्ञासु था। उसने अपने गुरु से पूछा कि मैं कौन हूँ सो वताइए। गुरु भगवान ने उत्तर दिया कि "तत्त्वमसि" 'त्वं तत् असि' "तदात्मकोसीत्यर्थः" याने त्वं शब्द वाची जो तुम जीव हो और तत् शब्द वाची जो परमात्मा हैं वह तुम्हारे भीतर अन्त-

र्यामी रूप से सदा विराजते हैं और तुम्हारे कर्मों के अनुसार तुम्हारा नियमन करते हुए हरेक प्रकार से तुम्हारा संरक्षण करते हैं। तुम उनके सदा परवश रहने वाले हो वह सदा स्वतन्त्र है जैसे—

परवश जीव स्ववश भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्री कन्ता॥

खुलासा इस श्रुति का यह भाव भया कि हे श्वेतकेतु! कृपा मूर्ति परमात्मा तुम्हारे आत्मा के भीतर सदा अन्तर्यामी रूप से विराज कर रहते हैं। उनके तुम सदा परतंत्र हो। उनसे विमुख होने के कारण तुम माया बन्धन में पडे हुए हो। उनके शरण होवोगे याने उनकी कृपा का अवलम्ब पकड़ते हुए उनकी उपासना करोगे तो उनके अनुग्रह से माया बन्धन से छुटकारा पाकर मुक्त कहा कर परमपद में जाकर सदा के लिए सुखी हो जाओगे। जो तुम्हारे अन्तर्यामी होकर विराजते हैं उस प्यारे परमात्मा के अनुग्रह के विना दुरत्यया माया से किसी प्रकार भी यह जीव छुटकारा नहीं पा सकता है।

इससे आलस्य को छोडकर, अहकार ममकार रहित होकर कैंकर्य भावना से सदा उनकी उपासना करो। आचार्यजी कहते हैं कि इस श्रुति का वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यही यथार्थ अर्थ है। इतना सुनकर प्रसन्न होकर ब्रह्मज्ञानी महात्मा बोले कि अब कृपा करके 'सोहमस्मि' इस वाक्य का अर्थ समझाइए। आचार्यजी कहते हैं कि 'अह ब्रह्मास्मि' इस श्रुति का जो अर्थ है वही अर्थ 'सोहमस्मि' इस श्रुति का भी है याने परमात्मा हमारे अन्तर्यामी हो करके रहते है। जैसे एक वाक्य है "गगायांघोषः" पद के अनुसार तो यही अर्थ दीखता है कि गगा के भीतर अहीर का मकान है। परन्तु अच्छी तरह विचारने से यह निश्चय किया जाता है कि गंगा में किसो तरह भी अहीर का मकान नही हो सकता है। अतः इस वाक्य का तटस्थ लक्षणा पण्डित लोग किया करते हैं। "गंगायाः तटे घोषः इत्यर्थः" याने गंगा के किनारे पर अहीर का मकान है। जैसे इस तरह इसका अर्थ करने से संगति लगती है, इस को पण्डित लोग जानते हैं। उसी प्रकार "अहं ब्रह्मास्मि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" "सोहमस्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" "जीवो ब्रह्म" इन श्रुति वाक्यों का एक

बार ऊपरी अर्थ तो यही जान पड़ता है कि जो कुछ है सो ब्रह्म ही ब्रह्म है। जगत् तत्व भी परमात्मा ही है। जीव तत्व भी परमात्मा ही है। परमात्मा के सिवा और कुछ कहीं नहीं है।

परन्तु सूक्ष्म विचार से जब देखा जाता है तो (गंगायां घोषः) इस पद के समान इन श्रुति वाक्यों का इस तरह से अर्थ करने से श्रुति सिद्धान्त की संगति लगती नहीं है। क्यों कि जब हरेक उपनिषद वाक्यों को लेकर और लोक की परिस्थिति से मिलान करके इस अर्थ का मिलान करने लगते हैं तो किसी प्रकार भी इस अर्थ की संगति बैठती नहीं। आकाश में जब फूल होता ही नहीं है तो उसके रंग के लिये कोई क्या निर्णय कर सकता है। उसी तरह लोक और वेद से जगत में और जीव में किसी प्रकार एक भी परमात्मा का लक्षण मिलता ही नहीं हैं। तो समझदार पुरुष इस बात को किस तरह कबूल कर सकता है कि जीव ब्रह्म है।

सृष्टि के आदि मे भी जीव तत्त्व का वर्णन आता है और हरेक जीवों को उनके कर्मों के आधीन भिन्न भिन्न शरीर मिलने का प्रसंग वर्णन आता है। जैसे कि छान्दोग्योपनिषद् में आता है कि—

"ये रमणीयाचरणास्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ।
ये कपूयाचरणा दुरात्मानो ते श्वान योनिं शूकर योनिमापद्येरन् ।

इसका अर्थ ये भया कि जो जीव अच्छे आचरण वाले थे उनको अच्छी योनि प्राप्त भई और जो खराब आचरण करने वाले दुरात्मा लोग थे उनको कुत्ते सूअर आदि पशुओं की योनि प्राप्त भई। सृष्टि के आदि में जब भगवान ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया तो उनको आज्ञा दिया कि—

प्रजाः सृज यथा पूर्वं याश्चमय्यनुशेरते ।

हे ब्रह्मा जी ! महाप्रलय होते समय अपने-अपने सूक्ष्म कर्म वासनाओं को लेकर जो जीव गण हमारे में सोये हुए हैं याने बिना करण कलेवर को पडे हुए हैं उनके पूर्व वासनाओं के

अनुसार उनकी सृष्टि करिये याने जिन-जिन जीवों का जैसा-जैसा शरीर पाने योग्य कर्म है। उसी के अनुसार पूर्व सृष्टि के समान हमारी दी हुई शक्ति से शरीर प्रदान कीजिए।

इन प्रसगों से यही सिद्ध होता है कि प्रलय के अन्त में भी जीव जीव ही रहा। आदि सृष्टि में भी अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही जीवों ने अपना-अपना शरीर पाया। माया से छूटने पर मुक्तावस्था में भी जीव जीव ही रहता है। खुद परवश होकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा कभी दुःख भोग ही नहीं सकते हैं। उनके अधिकार में रहने वाली माया की इतनी ताकत नहीं हैं कि सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ परब्रह्म परमात्मा को अशक्त और अज्ञजीव बनाकर परवश दुःख भोगा सके। तो जब किसी तरह भी परमात्मा का जीव होना साबित ही नहीं होता है तो किस तरह कह सकते हैं कि परमात्मा के सिवा ब्रह्माण्ड में दूसरा कुछ है ही नहीं। जब कि वेद शास्त्रों के द्वारा माया तत्त्व और जीव तत्त्व ये दोनों हरेक अवस्था में नित्य याने नाश रहित साबित होते हैं। जैसे श्री भगवान का श्रीमुख वचन है कि—

प्रकृतिं पुरुषं चापि विध्द्यानादी उभावपि
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो इत्यादि
अजामेकां लोहित शुक्ल वर्णां इत्यादि

इन सब श्रुति वाक्यों के प्रमाणों से यही निश्चय होता है कि सभी दशा में सभी काल में माया तत्व और जीव तत्व का अस्तित्व बना ही रहता है। इसके सिवा सृष्टि का विधान और शास्त्रों की सगति किसी भी प्रकार कोई लगा ही नहीं सकता है। इससे प्रकृति पुरुषात्मक जो ब्रह्माण्ड है उसमें अन्तर्यामी रूप से विराजकर परमात्मा सबका नियमन करते हैं यही अर्थ यथार्थ है।

"अयमात्मा ब्रह्म—" "जीवो ब्रह्म"

इन श्रुतियों का भी अयमात्मा ब्रह्मात्मकः—जीवो ब्रह्मात्मक याने इस आत्मा के इस जीव के अन्दर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजते हैं। इन जीवों के कर्मों के अनुसार इन सबों

का नियमन किया करते हैं। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इन श्रुतियों का ऐसा ही अर्थ वोधायन आदि महर्पियों ने किया है। जैसे कि—

अन्तस्थः सर्व भूतानां महा योगेश्वरो हरिः।

इसका वही अर्थ है जो पहिले कह आये हैं।

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्—' आत्मैवेदं सर्वम्

इन दोनों श्रुति वाक्यों का भी (सर्वं खल्विद ब्रह्म) इस पूर्वोक्त श्रुति के अर्थ के समान ही भावार्थ समझ लेना चाहिए।

"इद दृश्यमानं सर्वं ब्रह्म एव" याने "ब्रह्मात्मक मेव" ये जो कुछ सामने दीख रहा है ये सव ब्रह्मात्मक हैं याने जो प्रकृति पुरुप मय जगत है इसके भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजकर परमात्मा इन सवों के कर्मों के अनुसार नियमन करते हैं।

"इदं सर्वं आत्मा एव"

ये जो सव जगत दीख रहा है ये सव आत्मा ही है याने उत्तम पुरुप कहानेवाला जो परमात्मा हैं सो इन सवों में प्रवेश करके इन सवों का धारण पोपण करते हैं। जैसे गीता मे भगवान का श्री मुख वचन है कि—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्ययईश्वरः॥

हे अर्जुन! इन जीवों से उत्तम पुरुप भिन्न ही हैं। लोक वेद मे वह परमात्मा शब्द से प्रसिद्ध हैं। वही तीन लोक में प्रवेश करके धारण पोपण करते हैं। भगवान के इस श्रीमुख वचन के अनुसार पूर्वोक्त श्रुतियों का सवके अन्तर्यामी होकर भगवान का नियमन करने में ही तात्पर्य है।

"एकोऽहं वहुस्याम्"

इस श्रुति का यह भाव है कि सृष्टि के आदि में भगवान संकल्प करते हैं कि जब जीवों को कर्मों के अनुसार इन सबों को शरीर प्रदान करके इनके नाम रूप का विभाग करूँ। तो अन्तर्यामी रूप से अनेक होकर इनके कर्मानुसार इनका नियमन करने के लिए सदा इनके अन्दर विराजमान होकर रहूँ। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार यही यथार्थ अर्थ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं अज्ञानी होकर माया के परवश रहनेवाले अनेक जीव होकर अनेक प्रकार के संकट भोगूँ। क्योंकि इस वाक्य की संगति किसी तरह से भी लगती नहीं है।

"एकोवा ऽद्वितीयम्"

इस श्रुति का ऐसा अर्थ जानिए कि रामदासजी नृसिंहदासजी से कहते कि श्री साकेत नगर में राममिश्र शास्त्री अद्वितीय एक ही विद्वान् हैं। रामदासजी के बचन में राममिश्र शास्त्री जी के बाबत "अद्वितीय" और "एक" दोनों शब्द आये हुए हैं। इसका अर्थ यह नहीं हो सकता है कि राममिश्र शास्त्री जी के सिवा और कोई विद्वान नही है। किन्तु उनके कहने का तात्पर्य यही है कि प्रबल विद्वान वही हैं। उसी प्रकार (एक मेवा ऽद्वितीयम्) इस श्रुति का अर्थ समझना चाहिए कि ब्रह्माण्ड मण्डल में अद्वितीय एक ब्रह्म ही हैं याने उनके समान प्रबल स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान दूसरा कोई तत्व नहीं है। इससे यह मतलब नहीं हुआ कि जगत में कोई तद्‌भिन्न तत्व नहीं है। जीव तत्व और माया तत्व है परन्तु प्रबल तत्व एक परमात्मा ही है जीव तथा माया उनके ताबे में है। इस अर्थ से यथार्थ इसकी संगति लगती है और यह जो श्रुति है कि—

मृत्योः समृत्युमाप्नोति यः स नानेव पश्यति।

इसका ऊपर से अर्थ तो ऐसा ही दीखता है कि जो नाना के समान याने एक ब्रह्म के सिवा जो दूसरा कुछ देखता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है याने उसका ससार चक्र से छूटना मुश्किल है। परन्तु ऐसा अर्थ करने से पूर्व पर की सगति नहीं मिलती है क्योंकि जब तीनों तत्वों से सर्वत्र सदा ब्रह्माण्ड-मण्डल भरपूर है और तीनों तत्व वेदादि शास्त्रों के द्वारा अनादि और अनेक, नित्य और शाश्वत कभी स्थूल कभी सूक्ष्म रूप से सदा त्रिकाल वर्ती साबित है तो यह

कैसे अर्थ सिद्ध हो सकता है कि एक ब्रह्म के सिवा ब्रह्माण्ड में कुछ है ही नहीं। हाँ! मुमुक्षुओं का यह कर्तव्य हो सकता है कि जैसे हड्डी के फोटो उतारने का जो यन्त्र है वह सिर्फ हड्डी का ही फोटो उतार लेता है। शरीर में अनेक चीजें हैं परन्तु उस यन्त्र को सिवा हड्डी के और कुछ दीखता ही नहीं है। इतना साफ हड्डी का फोटो वह यन्त्र उतार लेता है कि उस फोटो के देखने वाले चकित हो जाते हैं।

उसी प्रकार सच्चे मुमुक्षुओं को अपना हृदय बनाकर रहना चाहिये। तीनों तत्व मिलकर जगत की रचना है परन्तु भगवत्तत्व देखने का इतना अभ्यास करना चाहिये कि हरेक जगह तीनों तत्व रहते हुए भी अन्तर्यामी रूप से दोनों के भीतर विराजमान जो किरीट मुकुट पीताम्बर धारी किशोरावस्था सम्पन्न भगवान श्री श्यामसुन्दर हैं सर्वत्र उन्हीं-उन्हीं की झांकी देखे। जैसे किसी का वचन है कि "जित देखो तित श्याम मयी है" जैसे महात्मा श्री प्रह्लादजी का हृदय हो गया था। हरेक जगह माया तत्व, जीवतत्व, ईश्वर तत्व रहते भी उनका दोनों तत्वों के तरफ ध्यान न जमकर केवल ईश्वर तत्व के ही तरफ ध्यान रहता था। इसीसे वे कहा करते थे कि "हम में तुम में खड्ग खम्भ में घट-घट व्याप्यो राम"।

इस तरह का अभ्यासी मुमुक्षु यदि यह कहे कि ब्रह्माण्ड में हमें और कुछ न दीखकर सर्वत्र हमारा प्यारा श्री रघुवंश दुलारा ही नजर आता है तो इसको अवश्य मान सकते हैं। परन्तु इस बात में भी यह नही कह सकते हैं कि ब्रह्माण्ड मण्डल में दूसरा तत्व है ही नहीं। परन्तु पूर्वोक्त यन्त्र के समान उस मुमुक्षु के अभ्यास का यह गुण है कि और तत्व होता हुआ भी उसकी दृष्टि में सदा सर्वत्र प्यारे परब्रह्म की ही झाकी हुआ करती है।

इस पूर्वोक्त तरीके के अनुसार पूर्वोक्त श्रुति का यदि ऐसा अर्थ किया जाय कि भले ही त्रिकालवर्ती संसार में अनेक तत्व हैं परन्तु मुमुक्षु उन सबों का धारक पोषक निर्वाहक जो ईश्वर तत्व है उसका ध्यान स्मरण छोडकर इतर तत्वों में ही मन को रमा रखेगा उसका संसार चक्र से छूटना मुश्किल है। तो यह अर्थ संगत है।

"द्वितीया द्वै भयं भवति"

इस श्रुति का श्रुति सिद्धान्त को भली-भांति नहीं समझने वाले कोई-कोई विद्वान ऐसा अर्थ करते हैं कि जगत में ब्रह्म तत्व के सिवा जो दूसरे तत्त्व का निरुपण करता है उसको संसार चक्र का भय बना ही रहता है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने से यथार्थ रूप से पूर्व पर की संगति नहीं मिलती है। क्योंकि जब प्रत्येक जगह जीव, माया और ईश्वर ये तीनों तत्त्व मौजूद हैं और शास्त्रों के द्वारा तीनों तत्व अनादि सिद्ध हैं शास्त्र वेत्ता तीनों तत्वो का अनादि से निरुपण करते चले आ रहे हैं तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि पूर्वोक्त अर्थ शास्त्र सम्मत हैं। इससे इस श्रुति का यह अर्थ समझना चाहिए कि यद्यपि सारे ब्रह्माण्ड मण्डल में तीनो तत्व ओत-प्रोत हैं तो भी मुमुक्षुओं को चाहिए कि अपने आत्मा के कल्याण के लिए प्यारे परमात्मा के ही शरण होकर रहें, उन्हीं का उपासना करें, उन्हीं के दिव्य मगल विग्रह के दर्शनों की इच्छा करें जैसे श्रुतियों में कहा हैं कि :—

"त्वमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते"

उसी परमात्मा को भली भाँति जानकर उनके शरण होकर स्वरूपानुरूप उनका भजन, कीर्त्तन, स्मरण, ध्यान, वन्दन, पूजन आदि करके ही मुमुक्षु ससार बन्धन से छूट सकता है। परमात्मा की शरणागति उपासना के सिवा यदि अन्य मार्ग को पकड़ेगा तो किसी तरह भी इसका कल्याण न होगा।

उनके सिवा दूसरे की उपासना करेगा तो उसको ससार चक्र से भय बना ही रहेगा। इसका ऐसा ही अर्थ समझना चाहिए।

ब्रह्मज्ञानी महात्मा गद्गद् होकर आचार्य जी से प्राथना करते हैं कि श्रीमद्भागवत छठवाँ अध्याय पाचवाँ श्लोक में आता है कि—

"घटे भिन्ने यथाऽकाशः आकाशः स्याद्यथा पुरा।
एवं देहे मृते जीवो ब्रह्म संपद्यते पुनः" ॥

श्लोक ११ वाँ

'अहं ब्रह्म परंधाम ब्रह्माहं परमंपदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले" ॥

ये दोनों श्लोक श्री सुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित जी से कहे हैं। इसका भाव ऐसा प्रतीत हो रहा है कि घड़ा फूट जाने पर जैसे घडे का आकाश महाकाश में मिल जाता है उसी प्रकार देह के मर जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है।

सुकदेव जी कहते हैं कि हे राजन्! में ब्रह्म हूं "इस बात को तुम अनुसन्धान करो। इन वचनों से तो ऐसा मालूम होता है कि इस शरीर के छूट जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। इन बातों को किस तरह से सगति लगानी चाहिए सो कृपा करके समझा दीजिए।

आचार्यजी बोले कि जैसा आप अर्थ कहे वैसा प्रतीत भले ही होता हो परन्तु वास्तव में उसका ऐसा भाव नहीं है; वहाँ की संगति के अनुसार जिस तरह इन वचनों का अर्थ है सो मैं स्पष्ट वर्णन करता हूँ आप ध्यान देकर श्रवण करिये।

मुनि जी कहते हैं कि हे राजन्! आपको काटने के लिए जो आने वाला सर्प है उससे आप बिलकुल डरिये मत। अब तो आज आपका सातवाँ दिन है। आपके इस प्राकृत शरीर के छूट जाने का भी घड़ी आध घड़ी का ही समय है। अब तो थोड़ी ही देर में आपको प्यारे परमात्मा की प्राप्ति होने वाली है। आप सरीखे भगवत्कृपा पात्र मुमुक्षु महात्माओं के लिए शास्त्रों का निर्णय है कि घड़ा फूट जाने पर जैसे घड़े का आकाश महाकाश को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार भगवत्कृपा पात्र आप सदृश मुमुक्षुओं को इस प्राकृत शरीर के छूट जाने के बाद अवश्य प्यारे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। इससे आप अपने को ऐसा अनुसन्धान करिए कि मैं परमात्मा के रहने का श्रेष्ठ स्थान हूं। ब्रह्मात्मक हूँ याने मेरे आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से भगवान विराजते हैं। इस प्रकार परमात्मा को अपने आत्मा के भीतर अनुसन्धान करिये।

"एवमात्मानमात्मस्थमात्मनैवामृश प्रभो ।
बुद्ध्यानुमान गर्भिण्या वासुदेवानुचिन्तया" ॥

श्लोक ६ वाँ

सदा वासुदेव का चिन्तन करने वाली जो आपकी बुद्धि है उससे अपने आत्मा के भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजे हुए प्यारे परमात्मा का ध्यान करिये। इस प्रकार परमात्मा के ध्यान में गाढ़तर अपना मन आप लगा देंगे तो सर्प के काटने का दुःख बिलकुल आपको मालूम ही नहीं पड़ेगा। जिसको भगवान के ध्यान की समाधि लगाने का हद से ज्यादा अभ्यास हो जाता है उसको शारीरिक दुःख का भान ही नही रह जाता है।

इस प्रकार मुनि जी का अमृतमय उपदेश श्रवण करके कृतकृत्य होते हुए हाथ जोड़कर महाराज परीक्षित् जी बोले कि आपके उपदेशामृत से हमारा सारा अज्ञान दूर हो गया। आपकी कृपा से हमें सर्पादिक का बिलकुल भय नहीं रह गया।

'अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्य धोक्षजे,

कृपा करके हमें अब आज्ञा दीजिए कि भगवान की प्रार्थना ध्यान करता हुआ इस शरीर को त्याग करूँ। इस प्रकार मुनि जी के चरणों में नम्रता पूर्वक प्रार्थना करके अति प्रेम से साष्टाङ्ग दण्डवत पूर्वक उनकी पूजा किये। मुनि जी भी उनसे पूजित होकर आशीर्वाद देकर महात्माओं के साथ चले गये।

देशिक भगवान कहते हैं कि राजा परीक्षित जी के इतिहास के प्रसग में न तो कहीं जीव का परमात्मा होने की कथा है न जीव कभी ब्रह्म होता है न कभी ब्रह्म था। उपनिषद्-इतिहास-पुराणों में तीन प्रकार की शैली है। कहीं ऐसा वाक्य आता है कि अमुक महात्मा शरीर छोडकर परमपद को गये। जैसे—

"तुलसिदास रघुबीर भजन करि को न परमपद पायो"।

कहीं ऐसा आता है कि अमुक भक्त शरीर छोड के वैकुण्ठ को गये। जैसे शरभग मुनि के अन्तिम यात्रा के समय श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि—

"अस कहि योग अग्नि तनु जारा। राम कृपा वैकुण्ठ सिधारा"॥

कहीं पर ऐसा भी आया कि अमुक मरा तो उसकी आत्मा परमात्मा में मिल गई। कहीं आता है कि अमुक आदमी मरा तो उसकी ज्योति परमात्मा में मिल गई। कहीं आया कि जीवत्व से छूटकर ब्रह्म हो जाता है।

भगवान की कृपा से माया बन्धन से छूटकर परमपद को गये हुए अथवा परमपद को जाने वाले मुमुक्षुओं के बाबत शास्त्रों में ऐसे अनेक प्रकार के वाक्य आते हैं। पूर्व पर की संगति लगाने पर इन सबों का यही भाव होता है कि भगवत्कृपा पात्र जीव भगवत्कृपा से प्राकृत शरीर के छूट जाने पर परमपद में जाकर मुक्त संज्ञा पाकर भगवान के स्वरूप रूप, गुण विभव को भली भाँति अनुभव करता हुआ अनन्तकाल तक यावदात्मभावि भगवान की सेवा निरत होकर रहता है जैसे कि महात्मा श्री जटायु जी हुए थे। इन शास्त्रों की शैली के अनुसार कहीं भी यदि ऐसा वाक्य आ जाय कि माया उपाधि के मिटने के बाद जीव ब्रह्म हो जाता है या आत्मा भगवान में मिल जाता है। तो ऐसे वाक्यों का भूल कर के भी ऐसा भाव नहीं समझना चाहिए कि जीव परमात्मा हो गया या जीव कभी परमात्मा हो जाता है। इस तरह से कहने को कहीं-कहीं केवल शास्त्रों की शैली मात्र है। जैसा कि पीछे भी कई जगह बता चुका हूँ। परन्तु न यह जीव कभी परमात्मा था न त्रिकाल में भी कभी परमात्मा हो सकता है। जैसे शिशुपाल दन्तवक्र के मरते समय यह बात आई है कि—

चैद्य देहोत्थितंज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्य बधेनृपम्॥

देखने से तो इन दोनों श्लोकों का थोड़ी देर के लिए यही भाव मालूम होता है कि शिशुपाल और दन्तवक्र की आत्मा देह से निकल कर परमात्मा श्री कृष्णजी में प्रवेश कर गई याने घड़े की उपाधि मिट जाने पर जैसे उस घडे का आकाश महाकाश में मिल जाता है। उसी प्रकार उन दोनों का माया उपाधि से निर्मित जो शरीर था उसके नष्ट हो जाने पर घड़े के आकाश के समान जो उनकी आत्म ज्योति थी सो महाकाश के समान जो श्री कृष्ण

भगवान थे उनमें मिल गई याने उनकी आत्मा परमात्मा में मिलकर परमात्मा बन गयी। परन्तु पूर्व पर इतिहास की जब संगति मिलाते हैं तो यह पूर्वोक्त एक भी बात सिद्ध नहीं होती है। ज्योति में ज्योति मिल जाने का यही भाव होता है कि भगवान के समान चतुर्भुज रूप पाकर उन दोनों के जीवात्मा वैकुण्ठ में जाकर अपने प्यारे परमात्मा की सेवा में निरत हुए। इसका इतिहास इस तरह से है कि सातवें स्कन्ध में नारदजी युधिष्ठिरजी से कहते हैं कि एक बार सनकादिक मुनि भगवान के दर्शन को श्री विष्णु लोक को गये जय विजय नामक भगवत्पार्षद उन्हें जाने से रोके। उन लोगों ने जय विजय को श्राप दिया कि तुम दोनों तीन जन्म तक आसुरी योनि में जावो, तीसरे जन्म में फिर भगवान के पार्षद हो करके वैकुण्ठ द्वार पर आजावोगे। प्रथम जन्म में वे दोनों हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु हुए, दूसरे जन्म में रावण और कुम्भकरण, तीसरे जन्म में शिशुपाल और दन्तवक्र हुए और भगवान के चक्र के द्वारा मारे गये।

नारदजी कहते हैं कि हे युधिष्ठिरजी!

'अधुनाशापनिर्मुक्तौ कृष्ण चक्र हतौतुह्रौ।
नीतौ पुर्नहरेः पार्श्वं जग्मतु विष्णुपार्षदौ'॥

इस तीसरे जन्म में भगवान के चक्र से प्राकृत शरीर को छोड़कर फिर भगवान के समीप जाकर भगवान के पार्षद हो गये।

आचार्यजी कहते हैं कि ज्योति में ज्योति मिली। न घटाकाश महाकाश में मिलने के समान दोनों की आत्मा परमात्मा में मिली, किन्तु दोनों की आत्मा भगवत्पार्षद होकर भगवत् लोक में जाकर भगवान की सेवा में संलग्न हुए।

इससे जहां कहीं भी ज्योति में ज्योति मिल जाने का, परमात्मा में आत्मा मिलने का, जीवत्व से छूटकर ब्रह्म हो जाने का प्रसंग आवे; वहां-वहां शिशुपाल, दन्तवक्र के इतिहास के समान, भगवान का पार्षद हो गया भगवत् लोक में चला गया यही समझना चाहिये।

इतना सुनकर ब्रह्मज्ञानीजी बोले कि इस तरह भगवत्पार्षद हो जाने में घटाकाश महाकाश

में मिल जाने के समान उपमा का मिलान हमारे समझ से नहीं हो रहा है। क्योंकि घटाकाश महाकाश दोनों तो एक ही हैं और इस उपमा से जीवत्व से छूटकर ब्रह्म हो जाना चाहिए। और जीव जब अनादि से परमात्मा है नहीं, नित्य है शाश्वत है तो इसके माया उपाधि मिटने पर भी ब्रह्म नहीं होना यह भी ठीक है और प्रमाण तो बहुत देखे परन्तु एक से भी जीव का जीवत्व छूटकर परमात्मा हो जाना किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो रहा है। और घडे का आकाश महाकाश में मिल जाने के समान माया की उपाधि मिट जाने पर जीव के ब्रह्म हो जाने का साधारण विचार वालों के लिये भ्रम में डालने वाली यह उपमा बैठी ही हुई है; तो क्या उपमा का उपमेय में कुछ ही अंश ग्रहण किया जाता है कि सर्वांश लेना उचित है ? इसको कृपा करके खुलासा वर्णन कीजिए।

देशिक भगवान बोले कि किसी भी उपमा का उपमेय में सर्वांश का मिलान नहीं किया जाता है। न ऐसा मिलान हो ही सकता है। जैसे एक किसी ने किसी से कहा कि इस बालक का चन्द्र के समान मुख है। तो मुख को चन्द्र के समान उपमा देने से चन्द्रमा के सब लक्षणों का मिलान मुख से नहीं किया जाता है। यहां चन्द्रमा उपमा है और मुख उपमेय है। चन्द्रमा सफेद है मुख सफेद नही हैं और भगवान न करें कि किसी का मुख सफेद हो। चन्द्रमा लाखों कोश दूर आकाश में है मुख लाखों कोश दूर नही है। चन्द्रमा कभी टेढ़े होते हैं कभी सीधे होते हैं और किसी का भी मुख कभी सीधा कभी टेढ़ा नहीं होता है। चन्द्रमा के ऊपर जब जब ग्रहण लगता है तब तब लोग पुण्य नदियों में स्नान करने के लिये जाया करते हैं ऐसा किसी के मुख पर कभी नहीं लगता है। इसलिये उपमा जो चन्द्रमा हैं उसमें का पूर्वोक्त लक्षण एक भी न लेकर सिर्फ चन्द्रमा का एक आह्लादकत्व मात्र लक्षण उपमेय जो मुख है उसमें लिया जाता है। याने अमुक का मुख चन्द्रमा के समान है। इसका इतना ही मात्र भाव लेना पडेगा कि जैसे चन्द्रमा को देखने से मन प्रसन्न होता है उसी प्रकार इसका मुख देखने से मन प्रसन्न होता है। बस उसी प्रकार घटाकाश और महाकाश की जो उपमा है इसका सब लक्षण उपमेय जो जीव है उसमे नही मिलाना चाहिये। क्योंकि घडे का आकाश और महाकाश दोनों जड हैं और जीव चेतन है परमात्मा परम चेतन हैं। घटाकाश और महाकाश ये दोनों अनित्य तत्व हैं, जीव तथा परमात्मा अनादि से

नित्य हैं और सदा नित्य रहेंगे। आकाश के पीछे कुछ भोगने भोगाने का बखेड़ा नहीं है और जीव के पीछे अनेक प्रकार के विधि निषेध की बला बैठी हुई है और परमात्मा को जीवों के कर्मानुसार अनेक प्रकार का दुःख सुख भोगाना पड़ता है। घटाकाश को घडे के फूट जाने पर जहाँ के तहां ही रह जाना पडता है और जीव को भगवत्कृपा पात्र हो जाने के बाद माया की उपाधि मिट जाने पर याने शरीर छूट जाने के बाद लीला विभूति को छोड़कर त्रिपाद्विभूति में जाना पड़ता है। घटाकाश उपाधि मिट जाने पर महाकाश में मिल जाता है। इस उपमा से इतने ही मात्र यहां ले सकते हैं कि जीव भी शुद्ध स्वरूप है और परमात्मा भी महान् शुद्ध स्वरूप हैं। भगवान से विमुख होने के कारण इसको माया ने अनेक कर्मवासनाओं में जकड रखा है। यह जब पछतावा मानकर बार बार ग्लानि पूर्वक श्री भगवान के शरणागत हो जाता है, तो भगवान की कृपा से माया कृत जो इसका प्राकृत शरीर था वही घटाकाश में घड़े की उपाधि के समान था। भगवत्कृपा से उस शरीर के नाश हो जाने के बाद भगवान की दया से भगवान के समान शुद्ध अप्राकृत शरीर पाकर परम शुद्ध स्वरूप असीम आनन्द के सिन्धु जो परमात्मा है उनके समीप जाकर त्रिपाद्विभूति में उनकी सेवा को पाकर सदा के लिए सुखी हो जाता है और घडा फूट जाने पर घडे के भीतर का आकाश जैसे महाकाश में मिल जाता है उसी प्रकार शरीर छूट जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। या परमात्मा में मिल जाता है या मरने पर ज्योति में ज्योति मिल जाती है इत्यादि प्रकार से कहीं-कहीं पर कहने की शैली ही मात्र है। वास्तव में तो जीव न कभी परमात्मा था न किसी वक्त भी यह परमात्मा होता है। इस विषय में शिशुपाल दन्तवक्र श्री शबरीजी जटायु जी आदिक अनेक भगवत्कृपा पात्रों की पहिले नजीर दे चुके हैं। समझदार सज्जनों के लिए इतना ही मात्र बस है।

और जिन लोगों का हठीला स्वभाव पड़ गया है, परमात्मा के शरणागति उपासना से विमुख रहने के कारण माया ने जिन लोगों की विचार शक्ति को हरण कर रखा है। उनके हिस्से में मिथ्या अभिमान दे दिया है, वे लोग परवश अपने जन्म-मरणादिक चक्रको भूल कर या अपने को परमात्मा कहे या परमात्मा से भी बढ़कर बतावे उनके लिए न हमें कुछ कहना है न सुनना है। ये सब परामर्श तो संसार के भयंकरपना से घबड़ाकर यथार्थ अपने उद्धार के मार्ग

की खोज में लगे हुए वाद विवाद रहित तर्क वितर्क शून्य अहंकार ममकार से दूर रहने वाले जो सच्चे मुमुक्षु लोग हैं उन लोगों के लिए ही हैं।

इतना सुनकर गद्गद् होकर अति नम्रता पूर्वक हाथ जोड़कर वह ब्रह्मज्ञानी महात्मा बोले कि आचार्य जी ! आपने बहुत कृपा की। इतने गहन विषय को इस तरह सरल रीति से समझाया है कि थोड़ी भी समझ शक्ति जिसमे होगी वह भगवत्कृपापात्र मुमुक्षु तो इससे बहुत कुछ लाभ ले सकेगा। और आपके पूर्वोक्त दृष्टान्त से हरेक श्रुति वाक्यों का अच्छी तरह से सगति लगालेगा। और जिनको दूसरे का कहा हुआ उत्तम से उत्तम भी अपने कल्याण का उपदेश सुनना ही नहीं है उनके लिए हम और आप क्या कर सकेंगे और भगवान भी क्या कर सकेंगे। आपने कृपा करके पूर्वा पर की संगति मिला कर जितना विषय समझाया है; भगवत्कृपापात्र समझदार के लिये उतने ही मात्र से हरेक श्रुतियों की सगति लगा लेना अब अत्यन्त सहज बात है।

क्यों कि ब्रह्म विचार के बाबत प्रायः सभी शकाओं का समाधान हो चुका है। इससे समझदार के लिए कुछ प्रश्न तथा उत्तर रही न गया। बहुत सी सकाएँ तो महात्मा ओंकारदासजी के कृपामय वचनों के द्वारा ही निवृत्त हो गई थी और "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के अर्थों में जो उलझन थी सो आपने कृपा करके पूर्वपर का संपूर्ण विरोध मिटाकर सुलझा दिया। परमात्मा आपका भला करें। हम दीन अकिंचनों के लिए आपने जो निर्हेतुक कृपा की है इसके बदले सदा हम आपके आभारी हैं याने ऋणी हैं। अब आपको तकलीफ तो हम नहीं देते। परन्तु इन श्रुति वाक्यो की इस तरह से झंझटमय उलझन है कि बिना भगवत्कृपा पात्र विद्वान महापुरुषों के यह किसी तरह सुलझ ही नही सकती। क्यों कि जगत को और माया बद्धजीवों को ब्रह्म कहके पुकार देना यह प्रायः हरेक जगह श्रुति वाक्यों की सहज सी शैली दीख पडती है। जैसे कि :—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

इस वाक्य में स्रुवा को, हविष्य को, अग्नि को, होम करने वाले को सभी को ब्रह्म ही ब्रह्म करके वर्णन कर दिया और एक बार ऊपरी विचार से ऐसा ही अर्थ दीखता है कि जीव या माया सभी ब्रह्म ही ब्रह्म है। परन्तु जब ब्रह्म का लक्षण मिलाने लगते हैं तो सिवा एक श्रीपति के किसी में भी ब्रह्म का लक्षण मिलता ही नहीं है। सब ब्रह्म ही ब्रह्म हैं। थोडी देर के लिए इस बात को कहने-सुनने में तो बहुत अच्छा मालूम पडता है। परन्तु जब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म है तो परवश विपत्ति क्यों भोग रहा है? इस प्रश्न का संतोष जनक उत्तर न तो किसी शास्त्र द्वारा मिलता है न किसी ब्रह्मज्ञानी के ही द्वारा।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज सरक्षित विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमासा का तृतीय खण्ड समाप्त

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

शरणागति मीमांसा

(चतुर्थ खण्ड)

जो इस ससार का स्वभाव अत्यन्त भयानक है ऐसा समझ जाते हैं उनका दिल किसी भी कार्य में प्रसन्नता से नही लगता है। ससार भयावन लगने लगता है। जब गर्भ का दुःख स्मरण आता है और किसी मनुष्य को परवश चिल्लाते हुए मरते देखते हैं उस समय इसके दिल में अनेक विचार उठने लगते हैं। यह सोचने लगता है कि मल मूत्र का स्थान, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त गर्भस्थली है उसमें ९ महीने हमको भी रहना पडा था। वहाँ किसी प्रकार भी आराम नहीं है उसके स्मरण मात्र से ग्लानि और भय हो रहा है वहाँ मुझको किस तरह रहना पडा होगा? फिर ऐसी दुर्दशा की जगह में हमारी जिसने रक्षा की वह विपत्ति का मित्र कहाँ है? उसका नाम क्या है? ऐसा कौन सा सीधा और सच्चा अचूक उपाय है कि जिसके करने से फिर उस गर्भ रूप नरक में न आना पडे।

यह ससार तथा इसका सम्बन्ध सब नाशवान हैं और क्षणिक हैं। किसी दूसरे के हाथ में हैं और किसी दूसरे ही के जुटाने से जुटे हुए हैं और दूसरे ही के वियोग कराने से क्षण भर में छूट जाते हैं। किसी न किसी दिन यह दुर्दशा हमारी भी होने वाली है। अब तो यह खुलासा मालूम हो रहा है कि परवश गर्भ में ९ मास का रहना और वहां का भयानक दुःख भोगना यह बडी बला है और कुटुम्बों को रोते चिल्लाते उन्हें छोड़कर खुद भी रोते हुए अत्यन्त मेहनत से कमाई हुई सारी सम्पत्ति को छोड़कर इच्छा के बिना मर जाना यह भी भयङ्कर बला है और इस संसार में आये हुए कोई भी मनुष्य इनसे किसी प्रकार भी नही बचा है। गर्भ का भयानक दुःख सब के सब भोगे ही हैं। मृत्यु का भी कष्ट सब के मस्तिष्क पर सवार ही है वह

आज हो या १० रोज बाद अब यह जल्दी विचार करना चाहिए कि इस जन्म-मरण रूप भयानक आपत्ति में फिर कभी आना न पडे और ऐसी कोई दिव्य जगह हो कि जहाँ जाने पर सदा के लिए यह जीव सुखी हो जावे। इसके लिए सच्चा, सीधा और सबके लायक कौनसा उपाय है सो जरूर किसी जानकार से इसका पता लगाना चाहिए। यह ससारी सुख आज या दस रोज में परवश छूट जाने वाला है। जो आज भाई, बन्धु, कुटुम्ब, महल, मकान, नाम, धाम, जाति तुम्हारे सामने दीख रहे हैं, जिनको पाकर तुम अपने को धन्य मान रहे हो ये सब सब दिन के लिये नहीं हैं। शास्त्र सदा समझाता ही है कि संसार का जितना ऐश आराम है अनित्य है, परवश है, क्षण मात्र में इच्छा न रहते हुए भी छूट जाने वाला है। अनुभव करने वाले अनेक महात्मा भी यही बताते आ रहे हैं। तुम भी इस बात को भली भांति बहुबार अनुभव कर ही चुके हो कि ससार का जुटान धोखेला है। शरीर के जितने सम्बन्धी हैं सदा के लिये अपने नही है। न ये गर्भ में अपने साथ थे न दुःख-सुख भोगने में। न मरते वक्त मरने वालों के साथ मरकर जाते हैं! हरि बाबू बिमार थे तो कितने डाक्टर वैद्य लगे थे परन्तु परिणाम कुछ न निकला। हजारों उनसे मिलने आते थे। हर वक्त कुटुम्ब घेरे रहते थे। अन्त में कोई उनके साथ नहीं गया। पचासों हजार का मकान बनवाया था, अभी ३० वर्ष की उम्र थी, दूसरे विवाह की औरत भी थी जहां-तहा जमीन में गुप्त धन भी रखा था। परन्तु बेचारे का एक भी मनोरथ पूरा न होने पाया, न अपने दिल की बात किसी से कह पाये। किसी के दिल में इस बात का खौफ भी न था कि आज ही ये बात बन जायगी। इतने परिश्रम से जमाया स्टेट भगवान जाने कौन उपयोग करेगा। आज उनकी आत्मा कहां होगी इसको भी भगवान ही जाने। उनको किस रूप से कौन सहाय पहुँचाता होगा। इस अदृष्ट बात को भी भगवान के विना कौन जान सकता है। हजारों की यही दशा हो रही है। साराश इसका यह हुआ कि जिन को अपना समझते हो, ये तुम्हारे नहीं है। जिस मकान को अपना समझते हो वह अपना नहीं है। जिस शरीर को पाकर अपने को कृतकृत्य मान रहे हो, वह भी किसी दिन चार मन लडकी के ऊपर जलता हुआ तुम्हारे इष्ट मित्रों के अनुभव में आयगा। गर्भ में जिसने तुमको सम्हाला था, वैसे गदूद जगह में भी जिसने संरक्षण किया था वही सच्चा पिता है, वही सच्चा कुटुम्ब है। जब वही मिलेंगे तभी

तुम सच्चे कृत्य-कृत्य कहाओगे। वही सदा जहाँ बिराजते है वही जगह जब तुमको मिलेगी तब तुम मकान वाले कहाओगे। उनकी जब तक प्राप्ति न होगी, जन्म मरणादिक बला मिटाना असम्भव है।

देखो! वह गर्भ का मित्र कहा रहते हैं, उनका रूप कैसा है, वह कैसे स्वभाव वाले हैं, उनके मिलने का सच्चा और सीधा रास्ता कौनसा है। इन बातों को जानने वाले कौन हैं इसका भी पता लगाना चाहिये। जिसमें अति परिश्रम से देव दुर्लभ जो मनुष्य शरीर मिला है उसकी सफलता हो जाय।

कई बार तुमको समझा ही चुका हूँ कि सच्चा उपकारी, गर्भ का मित्र जो परमात्मा हैं उन्हीं के मिलने के बाद तुम सच्चे भाग्यवान कहा सकोगे। उसी गर्भ के मित्र से मिलने के लिए यदि तुम दिल इमान से कोशिश करोगे तो सच्चे बुद्धिमान कहे जाओगे। उसी गर्भ के सच्चे मित्र परमात्मा का जब साक्षात्कार होगा तभी तुम सच्चे धनवान समझे जाओगे। क्यो कि बड़ों का बचन है :—

"धनं मदीयं तव पाद् पंकजम्
कदानु साक्षात् करवाणि चक्षुषा।"

याने हे भगवान! आपका चरण कमल ही हमारा धन है। उसको नेत्र से कब देखूँगा।

दुनियां में जितने अच्छे-अच्छे समझदार, ज्ञानी महात्मा लोग हुए हैं उन सबों का यही कहना है कि जब तक इस जीव को भगवान नहीं मिलेंगे तब तक किसी प्रकार भी यह सुखी नही हो सकता है। कृपा करके भगवान मनुष्य का शरीर दिए हैं और सत्सग के द्वारा नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान भी करा दिए हैं। इस संसार का सुख अनित्य है। नाशवान है, कभी न कभी अवश्य छूट जाने वाला है इस बात को भली-भांति तुम जान ही गये हो और ये भी तुम्हें मालूम ही है कि तुम्हारे कितने साथी तुम्हारे सामने, तुम्हारे देखते देखते इच्छा नही रखते हुए भी मृत्यु के गाल में चले गये हैं। बस यही हालत तुम्हारी भी होने वाली है। लाख बातों की एक ही बात है कि सच्चे माता-पिता, सच्चा भाई-बन्धु, सच्चा कुटुम्ब भगवान ही हैं।

जिस दिन वह मिल जाँय उसी दिन इस जीव का बेड़ा पार है। सच्चा सुखी उसी दीन यह जीव होगा जिस दिन परमपिता परमात्मा इनको मिलेंगे। वह भगवान कैसे मिलेंगे? उनके मिलने का अचूक उपाय क्या है? उसको बताने वाले कौन महात्मा हैं? इस बात का पता आलस्य छोडकर लगा लेना चाहिए और उस पर परिस्थिति कर लेना चाहिए। क्योंकि न जाने इस शरीर में से आत्मा किस क्षण निकल पड़ेगा। इससे चित्त लगाकर इस बात को खोजकर तुम्हें जरूर निश्चित हो जाना चाहिये। एक महात्मा का दृष्टान्त तुम्हें बतला रहा हूँ ध्यान देकर सुनो। इसी दृष्टान्त से तुम्हें सारी बातें मालूम पड जाएँगी।

"एक महात्मा थे उनका नाम रघुवीर दास रहा, उनको अचानक बैठे-बैठे इस बात का विचार उत्पन्न हुआ कि इस ससार को किसन बनाया है और किस लिए बनाया है। इसमें लाखों जीव कोई सुखी कोई दुखी नजर आरहा है। इसका कारण क्या ह? इसका रचने वाला इसको चित्र विचित्रित क्यों बनाया? एक सुखी, एक दुखी, एक रोगी, एक निरोग, एक पण्डित, एक मूर्ख, एक धनी, एक दरिद्र, कोई विधवा, कोई सधवा, कोई रो रहा है तो कोई गा रहा है, किसी के यहा बधाई बज रही है किसी के यहाँ मरण से चिल्लाहट छूट रही है, कही चन्द्रमा दीख रहा है, कहीं सूर्य अस्त हो रहा है। कही तारे चमक रहे हैं, कही कोई लड रहा है कही कोई मर रहा है ये सब बातें क्या हैं? ये किस की रचना है। कोई कमा रहा है, कोई कमाई हुई सम्पति छोडकर मृतक घाट जा रहा है। क्या कहें! यह ससार क्या है? क्यों बना है? इसका मालिक कौन है? वह कहाँ रहता? ये जीव कहाँ से शरीरधारी होकर आ जाते हैं और क्यों मर जाते हैं तथा मरकर कहां चले जाते हैं? ये जो लोक दीख रहा है इसके अलावा और भी कोई लोक है या यही है। गर्भ जैसे भयङ्कर स्थल में इस पिण्ड को कौन बनाता है? क्यो बनाता है? क्यों मर जाता है? क्या एक ही बार गर्भ में आता है कि बार बार इसको आना पडता है? यदि बार-बार आना पडता हो तब तो यह बडी विपत्ति है, बड़ी बला है। किसके हुक्म से सूर्य, चन्द्र रोज उगते हैं और अस्त होते हैं। कितनी मेहनत से यह शरीर तैयार होता है, कितनी मेहनत से विद्या पढी जाती है, कितने परिश्रम से महल, मकान, स्टेट जमाया जाता है और वो कौन है कि क्षणभर में सब छुडा देता है। थोड़ी देर के लिए यह ससार तो सुहावना मालूम होता है परन्तु इस गर्भ में

का उल्टा लटकना, बडे-बडे भाग्यवानों को भयकर रोगों के द्वारा हड्डी-हड्डी सूखकर उर्ध्वस्वांस के साथ रोते हुए कुटुम्बों को परवश छोडकर, खुद भी रोते हुए परवश मरजाना और पता नहीं कि कहाँ जाना और अमीरी रीति से पोषा पाला हुआ शरीर का बुरी हालत से जलना और सडना इत्यादि बातों के स्मरण से तो यह ससार महा भयावन समझ पड रहा है। उसकी याद से कलेजा कँप जाता है। ऐसा अनेक प्रकार विचार करके इसका पता लगाने के लिए किसी जानकार को ढूढने के लिये चले। उनका चित्त उद्विग्न रहता था किसी काम में दिल नहीं लगता था। सुख पूर्वक उन्हें नींद नहीं आती थी। थोडी नींद आकर के भी झट उचट जाती थी। उनका दिल बहुत उचाट खा गयो था, चार महीना पहिले उनका एक साथी एक भयकर रोग के द्वारा मर गया था। उसकी याद और उसका भयंकर रोग से मरना उनको चैन नहीं लेने देता था। मन में सोचा करते थे कि ऐसा गुरु कहां मिले जो हमारे सशयो को दूर करके हम को शान्ति प्रदान करें। इस प्रकार सोचते हुए एक जगल की तरफ चले जा रहे थे। उस रास्ते के थोडी दूर पर एक पेड के नीचे दस-बीस मनुष्य दिखाई पडे। यह क्यो भीड़ हुई है इस बात को जानने के लिए उसी तरफ चले। इतने में वहा से एक आदमी आया उन से पूछे कि उस पेड के नीचे क्यों भीड हुई है। वह बोला कि आज दस रोज से एक औरत वहा पडी है। उसको बच्चा होने वाला है, बच्चे का आधा धड निकला हुआ है आधा धड भीतर है। इसी तरह से उस औरत को आज दस रोज हो गये। औरत दर्द से बेहोश है, बुलाने से कुछ बोल नही पाती है। किसकी है कहां से आई है कुछ पता नहीं चलता है। लडका भी जिन्दा है परन्तु अटक गया है। निकल नहीं पाता है। उसीको देखने के लिए लोग इकट्ठे हुए हैं।

उस आदमी के मुख से यह बात सुनकर उसको देखने को रघुवीरदास भी वहां चले गये। वहाँ जाकर उस औरत और उस बच्चे को भयकर सकट में पडे देखकर रघुवीरदास घबडा गये। इस प्रकार जन्म समय की भयकर घटना को देखकर उसके निवारण में अपने को असमर्थ जानकर वहा से हटकर बहुत दूर जगल में जाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। पहले से उद्विग्न थे ही। भयकर रोग से हड्डी-हड्डी सूखकर मरते हुए अपने साथी को जो देखे थे उससे पहले ही व्यग्र थे। इधर उस बेहोश औरत के पेट में दस दिन से लटके हुए, भयकर दुर्दशा भोगते

उस वच्चे को देखकर और भी उनका दिल घवडाहट में पड गया। वार-वार साथी की मृत्यु और उस वच्चे का लटकन स्मरण आने लगा। मन ही मन कहने लगे कि हाय! इसी दुर्दशा से मैं भी गर्भ से निकला होऊँगा और उसी साथी के समान हमें भी किसी भयंकर रोग के जरिये जरूर मरना होगा। किसी तरह से भी नहीं वच सकूँगा। क्या कहे। इस जन्म-मरण की तो वला वहुत गजव है। कौन उपाय करूँ कि फिर इस जन्म-मरण के चक्र में न आना पडे। जव तक इस जन्म-मरण की वला वनी रहेगी, तव तक सारा सुख मिट्टी के समान मालूम पडेगा। इस प्रकार सोचते हुए रघुवीरदास उसी पेडके नीचे उदास होकर लेट गये। लेटे-लेटे विचार कर रहे थे कि हे परमात्मा! इस जन्म-मरण की वला याद करने से मेरा चित्त घवडाता है। हमारा जो साथी था उसके ऊपर भयानक रोग का आक्रमण हुआ। उसकी वहुत इच्छा थी कि संसार में कुछ दिन और रहें। इसके लिए उसने वहुत प्रयत्न भी किया। हम लोगों ने भी उसके रोग छूटने के निमित्त वहुत कुछ इलाज किया परन्तु एक का भी कुछ वश नहीं चला। रोग वढता ही गया। इच्छा के विना भी उस वेचारे को वुरी हालत से मरना पडा। साथी का परवश मरना और जंगल में वच्चे की लटकने की घटना ये दोनों दृश्य हमारे हृदय से उतरते नहीं है। मैं कहाँ जाऊँ। फिर भी हमें कभी जन्म-मरण के चक्र में न आना पडे, इसके लिए कौन सा उपाय करूँ। चारों तरफ अधेरा ही अन्धेरा नजर आ रहा है। इस जन्म-मरण की वात स्मरण कर दिमाग चक्कर खाता है। किसी काम में दिल लगता नही है। सव अङ्ग शिथिल पड रहा है, कुछ काम धधा करने चलता हूँ तो उसी साथी की मौत की घटना की याद आ जाती है फिर मेरे से कुछ भी नही सुधरता है। न तो कुछ करने की चेष्टा होती है। वार-वार यही मन में होता है कि वहुत परिश्रम से कमाया हुआ महल, मकान, स्टेट उस साथी को एक नही काम दिया। आज वही साथी हमारा कहा गया, उसका पता नहीं है। अपने सुख आराम के लिए वह कमाया था सो उसके कुछ भी काम नही आया। उसी प्रकार एक दिन हमको भी चल देना है। हे परमात्मा! इन्ही वातों को याद कर चित्त वेठिकाने हो रहा है। जन्म-मरण छूटने के लिए उपाय जव तक न कर लूँगा तव तक किसी कार्य में दिल नही लगेगा, अपने प्यारे निर्हेतुक कृपा करने वाले किसी सद्गुरू का दर्शन

कराइये जिससे भवसागर से मैं तर जाऊँ। हे नाथ! अब आप ही का भरोसा है। इस प्रकार उद्वेग में पड़कर भगवान से प्रार्थना करके वह सच्चे मुमुक्षु रघुवीरदास रोने लगे। जहाँ रघुवीरदास लेट थे उसके नजदीक ही एक बावड़ी रही। वहाँ पहिले से एक सज्जन पानी पीकर बैठे थे। वह इनका रोना देखकर इनके पास आये और पूछने लगे कि आप कौन हैं? आपको क्या दुःख है? बहुत देर से आप यहां पडे हुए हैं। आपका मुँह सूखा हुआ है, आपके नेत्र से आंसू बह रहा है। यदि आप उचित समझते हों तो कृपा कर हम से कहिए।

इतना सुनकर जिस बात से उनको दुःख था वह सारी कथा उनसे कह सुनाये और कहे कि महाराज! न जाने मेरा हृदय कैसा हो रहा है। साथी की भयंकर मृत्यु और जंगल में बेहोश पड़ी हुई औरत के पेट से आधा लटका हुआ उस लड़के का दृश्य हमारे मन पर बहुत असर किया है। हर वक्त यही मन में आता है कि हम भी तो इसी दुर्दशा के साथ गर्भ से निकले होंगे? इसी दुख से व्याकुल हूँ। इस जन्म-मरण की बुरी बला से छूटने का उपाय क्या है? इस बात को बतानेवाले गुरु की खोज में हूँ। दुर्भाग्य वश अभीतक कोई नहीं मिला। यदि आप को ऐसा किसी सद्गुरु का पता हो तो दया करके बताइये और आप कहां रहते हैं, यहां कैसे आये हैं आपका शुभ नाम क्या है? वह बोले कि महाराज मैं गोविन्द गढ़ का रहनेवाला हू, मेरा नाम दामोदर है। मैं भी बहुत दुखिया हूं? ससार से बहुत घबड़ाया हुआ हूँ। मेरा भी दिल कहीं नहीं लगता है। भाई रघुवीरदास! अपनी दुःख की कथा मैं कहां तक कहूँ। मेरे भाई का व्याह था। एक नदी के पार बारात जाने वाली थी। सब हमारे घर वाले नाव पर चढ़े सिर्फ बच्चे और स्त्रियां घर में थीं बाकी सब घर वाले नाव ही पर थे। निमन्त्रण में आये हुए दस पांच सम्बन्धी भी उसी नाव पर थे। वह नाव केवट के बहुत समालने पर भी नदी में डूब गई। उसमें से दैव योग से एक दो आदमी तो जीते निकले बाकी सब के सब डूब गये। क्या मनोरथ करके तो सब निकले और क्या का क्या हो गया। घर में बहुत लोग थ जिनमें मर्दों में मैं ही बचा हूं। जमीन जायदाद बहुत कुछ है परन्तु जहां का तहा नष्ट-भ्रष्ट हो रहा है। व्याह के बाद पिताजी सबका अलग-अलग बँटवारा करने वाले थे सो ईश्वर को मजूर नहीं हुआ। मेरी औरत मुझे बहुत समझाती है

परन्तु फिर भी कुछ ज्ञान नहीं आता है। हमें भी यह संसार बहुत भयानक प्रतीत हो रहा है। मेरा भी किसी काम में दिल नहीं लगता है। छः महीना पहले हमारा घर कितना भरा हुआ था। आज सब सून्य हो गया। दो-चार बच्चे तथा अनाथ स्त्रियां पड़ी हैं, जिनका दुःख देखकर छाती फटती है। इस ससार में फिर कभी न आना पडे, इस नरक रूपी गर्भ मे न लटकना पडे, पुनः-पुनः मृत्यु के वश न होना पड़े। इसके लिये कौन सा उपाय है? मेरा भी आत्मा इसी बात को बार-बार खोज कर रही है। भाई रघुवीरदास! ऐसा कोई गुरु मिले तो हमको भी खबर देना। इतना कह कर अपने मृत कुटुम्बों को याद कर बहुत घबडा गये और बोले कि रघुवीरदास जी यह क्या संसार है? यह क्या जुटान है? ऐसा मोहका बाजार क्यों लगा? जब किसी का कोई नहीं है, तो फिर किस सूत्र पर ठहरा हुआ है? हमें तो इस संसार का भयानकपना देखकर दिमाग में चक्कर आता है।

इतना सुनकर रघुवीर दास बोले कि भाई दामोदर! तुमने खूब संसार का स्वभाव अनुभव किया है। सचमुच यह संसार महा भयावन है। चलो दोनों मिलकर कोई ऐसा गुरू ढूंढ़ें कि इस जन्म-मरण के चक्र से छूटने का सच्चा और सीधा उपाय बतावे। वे दोनों फिर वहां से आगे बढ़े कुछ दूर जाने के बाद एक मनोहर गांव नजर आया उसके पश्चिम तरफ एक बगीचा था। वहाँ एक विशाल बरगद का वृक्ष था। उसके नीचे सौ-दो सौ मूर्ति बैठे थे। वहां एक महात्मा श्री रामायणजी की कथा कह रहे थे। श्रोतागण बडे प्रेम से श्रवण कर रहे थे। उन्हीं श्रोताओं के बीच में ये दोनों भी जाकर बैठ गये। उस वक्त रावण के दिग्विजय का प्रसंग चल रहा था। जिस तरह रावण ने सब देवों को जीतकर अपने वश किया इस कथा को वे दोनों मूर्ति श्रवण किये। फिर जिस प्रकार राक्षसों के अत्याचार से घबड़ाकर पृथ्वी ब्रह्माजी के शरण गई और पृथ्वीका भार उतारने के लिये ब्रह्माजी से विनती करी, यह कथा सुने बिना परमात्मा के इस काम को कौन कर सकता है ऐसा कहकर शिवजी के साथ जिस प्रकार ब्रह्माजी क्षीर समुद्र के निकट जाकर परमात्मा को सब देवों के साथ पुकारे और जिस प्रकार देवताओं को अभय करने के लिए आकाशवाणी हुई, जिस प्रकार आकाशवाणी सुनकर अभय होकर देवतागण अपने-अपने लोक को गये। इस कथा को दोनों श्रवण किए बाद कथा समाप्त हुई। श्रोता लोग प्रणाम करके अपने अपने घर

सुनाने वाले महात्माजी भी संध्यावन्दन को गये। रघुवीरदास और दामोदरदास ये दोनो मुमुक्षु भी कथा भाग को परस्पर मनन करते व्यासासन को हाथ जोड कर आगे चले। कुछ दूर जाने के बाद एक पुष्करणी के निकट एक धर्मशाला पाकर कुछ भोजन कर विश्राम किये। तीन-चार घण्टे बाद पांच सात शिष्यों के साथ एक विद्वान भी वहाँ आये। उसी धर्मशाला में एक तरफ वह भी अपना विस्तर लगाये। रात्रि बीती ; भगवान का स्मरण करते हुए सब जगे। शौचादिक से निपट कर कुछ नित्य नियम करने लगे। रघुवीरदास व दामोदर दास ये दोनों उस विद्वान को अच्छे प्रतिभाशाली देखकर अपने संशय मिटाने का अच्छा अवसर समझे। दोनों ने पूछा—"महाराजजी ! आप कहाँ रहते हैं ? कहाँ जा रहे हैं ? आप का शुभ नाम क्या है ?

वह बोले कि मैं रामनगर में रहता हूँ। सब शास्त्रों का विद्वान हूँ। नारायणदत्त मेरा नाम है। राम किला पर मेरी बुलाहट है वहीं जाने वाला हूँ। इतने में एक शिष्य के तरफ इनकी दृष्टि पड़ी। रघुवीरदास जी हाथ जोडकर पूछे—आप क्या श्री नारायणदत्त जी के शिष्य हैं ?

वह बोले—जी हाँ।

फिर रघुवीरदास जी ने पूछा—यह काहे का पाठ कह रहे हैं ?

वह बोले महाभारत का।

फिर पूछे—कौन प्रसंग चल रहा है ?

शिष्य बोले—इस वक्त यह प्रसंग चल रहा है कि एक घंटाकर्ण नाम का शिवजी का अनन्य भक्त था। उसकी भक्ति से शिवजी प्रसन्न होकर वरदान देने को तैयार भये। उसने मोक्ष माँगा। तब शिवजी बोले कि श्री गोविन्द के सिवाय और कोई देव मोक्ष नहीं दे सकता है। यदि तुम्हें मोक्ष की जरूरत है तो श्री गोविन्द को ढूँढ़ो और उन्हीं से मोक्ष मागो।

दूसरे शिष्य से पूछे—महाराज जी ! आप क्या पाठ कर रहे हैं ?

वह बोले "सब वेदों का सार पुरुष सूक्त है।"

दामोदर जी बोले—कृपा कर के एक मंत्र तो सुनाइए।

वह बोले—"श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ"।

दामोदर बोले कि इसका अर्थ कृपा कर के सुना दीजिए।

दूसरे शिष्य बोले कि "परमात्मा की पत्नी श्री लक्ष्मी जी हैं" इसका यही अर्थ है। विद्वान नारायणदत्त जी कहे कि आप दोनों सज्जन बड़े प्रेमी जान पड़ते हैं। आप लोग कहाँ जा रहे हैं। उनका वचन सुनकर ये दोनों जिस निमित्त चले थे वह अपनी सारी कथा उनको सुनाये और हाथ जोड़कर बोले कि महाराज! हम लोग सद्गुरु ढूँढने को चले हैं। इस भयानक जन्म-मरण की बला से छूटने के लिए अचूक और सरल और सबके लायक सीधा और सच्चा कौन सा उपाय है? यदि आप जानते हो तो कृपा कर के हम लोगों पर अनुग्रह कीजिए। इस अंश में हम लोग बड़े दीन हैं। हम लोगों के उद्वेग को मिटा देने से आपका बहुत कल्याण होगा।

इतना सुनकर नारायणदत्त जी बोले कि हमें इतना तो टाइम नहीं है क्योंकि हम लोगों को जल्दी रामकिले को जाना है। परन्तु आप लोगों के संतोष के लिए अवश्य कुछ निवेदन करूँगा सो ध्यान देकर सुनिए। लाखों उपदेश का एक ही उपदेश है कि—

'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति! नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते।"

इसका अर्थ यह है कि उसी परमात्मा को जानकर उनकी उपासना करके यह जीव जन्म मरण चक्र से अवश्य छूट सकता है। तो भैया आप सब भी ऐसा ही करिये। गद्गद् होकर रघुवीरदास जी बोले कि भले ही भगवान आपको मिलाये। हम लोग बिल्कुल अज्ञानी हैं। हमारे दुर्भाग्यवश आजतक सत्संग हम लोगों को प्राप्त नहीं हुआ। हम लोगों के हृदय में कुछ छल कपट नहीं है हम लोग कुछ आप से पूछें उसको कृपा कर के समझाइये। आपने कहा कि भगवान को जानकर उपासना करने से जन्म-मरण बला से जीव छूट जाता है। अब यह कृपा कर के बतलाइए कि परमात्मा किसको कहते हैं? कैसे जाने जा सकते हैं? उनकी

उपासना का स्वरूप क्या है ? उनकी उपासना से कब जन्म-मरण चक्र छूटता है। इतना सुनकर विद्वान नारायणदत्त जी बोले कि मन्त्रों में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म बताया है। जैसे—

नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामः

इसका अर्थ यह हुआ कि वायु ही परमात्मा हैं चाहे इनकी उपासना करो। सूर्य को भी परमात्मा बताया है चाहे उनकी उपासना करो। शिवजी को भी परमात्मा बताया है चाहे उनकी उपासना करो। चाहे ब्रह्मा को ब्रह्म बताया है उनकी उपासना करो।

इतना सुनकर मुमुक्षु दामोदरदास जी हाथ जोड़कर बोले कि महाराज जी ! आपके आशीर्वाद से कल दो घंटे तक श्री रामायण सुनने का सौभाग्य हुआ था। उसमें रावण ने सब देवों को जीत लिया था और वे देव लोग उसका कुछ नहीं कर सके। फिर घबडा कर भार उतारने के लिए पृथ्वी ने ब्रह्मादिक देवों से बहुत विनती करी परन्तु कोई भी पृथ्वी का भार न उतार सका। फिर उन लोगों को हम परमात्मा कसे निश्चय कर सकें ? सरकार के सामने ही अभी थोडी देर पहले आपके शिष्य पं० सत्यनारायण जी ने महाभारत का प्रसग सुनाया था। उसमें बताया कि घंटाकर्ण से खुलासा शिवजी महाराज बोले कि "हम लोग मोक्ष नहीं दे सकते हैं। इस लिए मोक्ष लेना हो तो गोबिन्द के पास जावो"। तो जिसके हाथ में मोक्ष ही नहीं उसको परमात्मा कैसे समझें और मोक्ष के लिए उनकी उपासना करने की कैसे हिम्मत पडे। अभी आपके दूसरे शिष्य पं० पुरुषोत्तम जी ने आपके सामने ही कहा था कि परमात्मा की पत्नी श्री लक्ष्मीजी हैं। इसके लिए परमात्मा कौन हैं और उनकी उपासना का स्वरूप क्या है ? और उसके करने से कितने दिन में मोक्ष मिलेगा सो कृपा करके समझा दीजिए।

जिज्ञासु दामोदर दासजी की विनती सुनकर पण्डितजी बोले कि आपका कहना भी मुनासिब है। यदि आप झगटों से जल्दी छुटना चाहते हैं तो "जीवो ब्रह्म" "अहं ब्रह्म" इस मन्त्र को निरतर जपिए और इसका अर्थ समझकर आप अपने स्वरूप का साक्षात् करिए।

इतना सुनकर मुमुक्षु दामोदरदासजी हाथ जोड़ कर बोले कि महाराजजी ! इन मन्त्रों का अर्थ क्या है ?

वह बोले "सब वेदों का सार पुरुष सूक्त है।"

दामोदर जी बोले—कृपा कर के एक मंत्र तो सुनाइए।

वह बोले—"श्रीश्च लक्ष्मीश्च ते पत्न्यौ"।

दामोदर बोले कि इसका अर्थ कृपा कर के सुना दीजिए।

दूसरे शिष्य बोले कि "परमात्मा की पत्नी श्री लक्ष्मी जी है" इसका यही अर्थ है। विद्वान नारायणदत्त जी कहे कि आप दोनों सज्जन बडे प्रेमी जान पडते है। आप लोग कहाँ जा रहे हैं। उनका वचन सुनकर ये दोनों जिस निमित्त चले थे वह अपनी सारी कथा उनको सुनाये और हाथ जोडकर बोले कि महाराज! हम लोग सद्गुरु ढूँढने को चले हैं। इस भयानक जन्म-मरण की वला से छूटने के लिए अचूक और सरल और सबके लायक सीधा और सच्चा कौन सा उपाय है? यदि आप जानते हो तो कृपा कर के हम लोगों पर अनुग्रह कीजिए। इस अंश मे हम लोग वडे दीन है। हम लोगों के उद्वेग को मिटा देने से आपका वहुत कल्याण होगा।

इतना सुनकर नारायणदत्त जी बोले कि हमे इतना तो टाइम नहीं है क्योंकि हम लोगों को जल्दी रामकिले को जाना है। परन्तु आप लोगों के संतोष के लिए अवश्य कुछ निवेदन करूँगा सो ध्यान देकर सुनिए। लाखों उपदेश का एक ही उपदेश है कि—

'तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति। नान्यः पन्थाः अयनाय विद्यते!"

इसका अर्थ यह है कि उसी परमात्मा को जानकर उनकी उपासना करके यह जीव जन्म मरण चक्र से अवश्य छूट सकता है। तो भैया आप सब भी ऐसा ही करिये। गद्गद् होकर रघुवीरदास जी बोले कि भले ही भगवान आपको मिलाये। हम लोग बिल्कुल अज्ञानी हैं। हमारे दुर्भाग्यवश आजतक सत्संग हम लोगों को प्राप्त नहीं हुआ। हम लोगो के हृदय में कुछ छल कपट नहीं है हम लोग कुछ आप से पूछें उसको कृपा कर के समझाइये। आपने कहा कि भगवान को जानकर उपासना करने से जन्म-मरण वला से जीव छूट जाता है। अब यह कृपा कर के बतलाइए कि परमात्मा किसको कहते हैं? कैसे जाने जा सकते हैं? उनकी

उपासना का स्वरूप क्या है ? उनकी उपासना से कब जन्म-मरण चक्र छूटता है। इतना सुनकर विद्वान नारायणदत्त जी बोले कि मन्त्रों में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म बताया है। जैसे—

नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म बदिष्यामः

इसका अर्थ यह हुआ कि वायु ही परमात्मा हैं चाहे इनकी उपासना करो। सूर्य को भी परमात्मा बताया है चाहे उनकी उपासना करो। शिवजी को भी परमात्मा बताया है चाहे उनकी उपासना करो। चाहे ब्रह्मा को ब्रह्म बताया है उनकी उपासना करो।

इतना सुनकर मुमुक्षु दामोदरदास जी हाथ जोड़कर बोले कि महाराज जी ! आपके आशीर्वाद से कल दो घटे तक श्री रामायण सुनने का सौभाग्य हुआ था। उसमें रावण ने सब देवों को जीत लिया था और वे देव लोग उसका कुछ नहीं कर सके। फिर घवड़ा कर भार उतारने के लिए पृथ्वी ने ब्रह्मादिक देवों से बहुत विनती करी परन्तु कोई भी पृथ्वी का भार न उतार सका। फिर उन लोगों को हम परमात्मा कसे निश्चय कर सकें ? सरकार के सामने ही अभी थोड़ी देर पहले आपके शिष्य पं० सत्यनारायण जी ने महाभारत का प्रसंग सुनाया था। उसमें बताया कि घंटाकर्ण से खुलासा शिवजी महाराज बोले कि "हम लोग मोक्ष नहीं दे सकते हैं। इस लिए मोक्ष लेना हो तो गोबिन्द के पास जावो"। तो जिसके हाथ में मोक्ष ही नहीं उसको परमात्मा कैसे समझें और मोक्ष के लिए उनकी उपासना करने की कैसे हिम्मत पडे। अभी आपके दूसरे शिष्य पं० पुरुषोत्तम जी ने आपके सामने ही कहा था कि परमात्मा की पत्नी श्री लक्ष्मीजी हैं। इसके लिए परमात्मा कौन हैं और उनकी उपासना का स्वरूप क्या है ? और उसके करने से कितने दिन में मोक्ष मिलेगा सो कृपा करके समझा दीजिए।

जिज्ञासु दामोदर दासजी की विनती सुनकर पण्डितजी बोले कि आपका कहना भी मुनासिब है। यदि आप झंझटों से जल्दी छुटना चाहते हैं तो "जीवो ब्रह्म" "अहं ब्रह्म" इस मन्त्र को निरतर जपिए और इसका अर्थ समझकर आप अपने स्वरूप का साक्षात् करिए।

इतना सुनकर मुमुक्षु दामोदरदामजी हाथ जोड़ कर बोले कि महाराजजी ! इन मन्त्रों का अर्थ क्या है ?

पण्डितजी बोले कि यह जीव ही ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं, यही इसका अर्थ है। दामोदरजी बोले कि ब्रह्म किसको कहते हैं। पण्डितजी बोले कि परमात्मा को। फिर चकित होकर आश्चर्य में पड़कर पण्डितजी से कहे कि क्या इसी का नाम स्वरूप का समझना है ? पण्डितजी महाराज! सब जीव परमात्मा हैं ? पण्डितजी बोले कि हां। बाद रघुबीरदास बोले कि क्या जो भयकर रोग से मरा वह मेरा साथी भी भगवान ही था और दस दिन गर्भ के बाहर आधा शिर लटका हुआ जो लड़का था और बेहोश पड़ी हुई कँहरती हुई जो औरत थी जो जल्दी बच्चा न होने के कारण बेचैन थी, वह भी क्या भगवान ही थी। दामोदरदासजी बोले कि नदी में नाव डूबने से जो लोग परवश मर गये वे क्या परमात्मा ही थे ?

उन दोनों की बात सुनकर पण्डितजी बोले कि भाई! एक दो की क्या बात है। "सर्व खल्विद ब्रह्म" जो कुछ दीख रहा है सो सब के सब परमतमा है। दामोदरजी बोले कि क्या परमात्मा भी परवश भयंकर रोगों से मरते हैं ? क्या परमात्मा भी दस-दस दिन गर्भ के बाहर लटकते हैं ? क्या नाव डूबने पर परमात्मा भी नदी में डूबकर मर जाते हैं ? यदि यह जीव ब्रह्म है तो फिर अनेक प्रकार की दुर्दशा क्यों भोग रहा है ? इतना सुनकर पण्डितजी बोले कि भाई! वही परमात्मा अपने असली स्वरूप को भूल कर माया में पड़कर जीव बन गये हैं। इसीसे जन्म मरण दुर्दशा को भोग रहे हैं। इस बात को सुनकर दोनों मुमुक्षु घबडा गये और बोले कि महाराजजी! थोड़ी देर पहले जब हम लोगों ने आप से पूछा था कि जन्म मरण के बला से छूटने का कौन उपाय है ? तो आपने कहा था कि परमात्मा को जानकर उनकी उपासना करने से जीव जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है। यहां आप कह रहे हैं कि परमात्मा अपना स्वरूप भूलकर माया के चक्र में पड़ गये हैं और जीव बनकर अनेक दुर्दशा भोग रहे हैं। कहिए महाराजजी! जिसके उपासना से जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है वह सर्व समर्थ, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्द, परमात्मा अज्ञानी बनकर अपना स्वरूप भूलकर माया के परवश होकर जन्म-मरण चक्र की दुर्दशाओं को क्यों और कैसे भोग सकते हैं ? जिनके उपासना से जीव भव सागर से पार हो जाता है, जिसके भजन से यह चेतन माया से तर जाता है वह मायापति अपना स्वरूप कैसे भूल सकता है। उसको माया किस तरह फँसा सकती है। हम लोग तो विपत्ति भोगते-भोगते घबड़ा कर उससे छूटने के लिये सद्गुरु

ढूँढ़ने चले, किसी योग से आप मिले भी तो आप कहते हैं कि अपनी उपासना करो। और मैं परमात्मा हूँ इस बात का अभ्यास करो। महाराजजी! यदि हम परमात्मा ही होते तो इतनी दुर्दशा क्यों भोगते? आप ही खुद विचार के कहिए कि परमात्माजीव बनकर कभी गर्भ में लटक सकते हैं?

पण्डितजी बोले कि क्या करें भाई! हमने जो कुछ सुना है सो आप लोगों से बताया है। इतना सुनकर दामोदर बोले कि जिस मन्त्र से आपने जीव को परमात्मा बताया है, उसका कुछ और अर्थ होगा। आप इसके ऊपर पूरा ख्याल न किये हों। इतना सुनकर नारायणदत्तजी बोले कि भाई दामोदर! आपका कहना भी उचित ही है। जैसे आप लोग सब कामों को छोड़कर इसकी खोज में निकले हैं, इस प्रकार मैंने कभी इस बात पर गौर नहीं किया है। पढ़ने पढाने में ही समय बीता है। मैं भली भांति समझ गया कि आप लोगों को हरेक आदमी नहीं समझा सकता है। आप लोगों को समझाने लायक़ और आप लोगों के आत्मा को शान्ति देने वाला श्री रंगनगर में एक महात्मा हैं। बहुत दिनों तक गुरु की सेवा करके गुरु महाराज के कृपा कटाक्ष को खूब सम्पादन किए हुए हैं। उनकी सारी जिन्दगी इन्हीं सब बातों के बिचार में निकली है। अनुभवी भी बहुत अच्छे हैं। यह भी सुना है कि कईबार स्वप्न में, तन्द्रा में, रुपान्तरों से भगवान का साक्षात्कार भी उनको हुआ है। मेरे को तो मौका नहीं मिला परन्तु सुना है कि उनके उपदेशों से बहुतों को शान्ति मिली है। हमारे समझ से उन्हीं के नजदीक जाने से आप लोगों के संशय दूर होंगे। सो आप लोग कहीं न जाकर सीधे वहाँ ही चले जाइए। इतना सुनकर वे दोनों बड़े खुशी हुए और हाथ जोडकर पण्डित से कहे कि आपके दर्शन से हम लोगों को बहुत लाभ हुए। श्रीमान् आशिर्वाद दीजिए कि जल्दी श्री सद्गुरु महाराज का दर्शन हो और हम लोगों के संशय दूर हों। इस भयंकर ससार सिन्धु से हम लोग पार हो जायँ। फिर भी इस भयंकर जन्म-मरण चक्र में न आना पडे। उन लोगों की विनती सुनकर नारायणदत्तजी प्रसन्न होकर बोले कि भाई! सच्चे दिल से जो जिसका खोज करता है वह अवश्य उसको प्राप्त होता है। कहा भी है कि :—

जापर जाकर सत्य सनेहू । मिले न ताहि कछुक संदेहू ॥

आप लोग मुमुक्षु महात्मा हैं आप लोगों का मनोरथ जरूर सिद्ध होगा, ऐसा हमें मालूम होता है। इतना सुनकर ये दोनों श्री रगनगर को चले। पण्डितजी शिष्यों के साथ राम टीला को रवाना हुए। दोनों मुमुक्षु अनेक तीर्थ, ग्राम, नगरों को देखते हुए कुछ दिनों बाद श्री रगनगर का दर्शन किए। श्री रंगनगर के दर्शन से बहुत शान्ति मिली। गद्गद होकर प्रणाम किया फिर कावेरी में स्नानकर नित्यनियम से निवृत्त होकर इक्ष्वाकुकुलदैवत भगवान श्री रंगनाथ का श्री लक्ष्मीजी के साथ दर्शन किए। तीर्थ प्रसाद लेकर चन्द्रपुष्करणी के तरफ गये। वहाँ एक विशाल पुन्नाग वृक्ष के समीप देखे कि सैकड़ों मुमुक्षु महात्मा हाथ जोड़े बैठे हुए हैं। एक महापुरुष परमशान्त मूर्ति कुछ उपदेश करने के लिए एक उच्चासन पर विराजे हुए हैं। ये दोनों भी मुमुक्षु महात्माओं की गोष्ठी से थोड़ी दूर पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद वह उपदेश देने वाले आचार्यजी हाथ जोड़कर गुरु परम्परा का स्मरण करने लगे। फिर जितने वहां महात्मा लोग श्रवण करने के लिए विराजे थे वे सब उठकर लम्बी साष्टांग प्रणाम करने लगे। इनके साथ ये दोनों मुमुक्षु भी साष्टांग प्रणाम करके सबों के साथ पूर्ववत अपने आसन पर बैठ गये। बाद वह उपदेश देने वाले गुरुजी गुरु परम्परा स्मरण के बाद रघुकुल तिलक श्री रंगनाथ भगवान का गद्गद कण्ठ से स्मरण पूर्वक अपने उपदेश-अमृत को शुरू किये।

हे महात्माओं! अपार करुणा का महोदधि, अनन्त कल्याण गुणसागर भगवान श्रीपति को अनेक धन्यवाद है कि हम लोगों को ऐसा सुअवसर कृपा करके दिए हैं श्री भगवान की असीम कृपा से मिला हुआ इस अवसर को हम लोग व्यर्थ नहीं जाने दें। श्री भगवान हम लोगों को मनुष्य बनाये हैं। देवता लोग इस भरतखण्ड में मनुष्य देह मिलने के लिए श्री भगवान से प्रार्थना किया करते हैं। इस शरीर को पाने का परम फल क्या है इसको भली-भांति समझ लेना चाहिए। श्री भगवान जो अमूल्य टाईम दिए हैं इसकी कदर करनी चाहिये। अनेक शास्त्र हैं, बहुत विद्यायें हैं और समय बहुत थोडा है। विघ्न बहुत है। इसलिए शास्त्रों का जो सारभूत विषय है उसीको ग्रहण करना चाहिए। दश सेर जल में एक तोला दूध डाल

दिया जाता है तो परम सार ग्राही हंस दूध लेलेता है और पानी छोड देता है। उसी प्रकार हम लोगों को भी वेद-वेदान्त, इतिहास पुराणों में से जो साराश भाग है उसको लेकर दृढ विश्वास पूर्वक उसपर परिस्थिति करके आत्मा का कल्याण करना चाहिए। वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्क में टाइम नहीं खोना चाहिए। जिन श्री भगवत् कृपा पात्र जीवों को इस संसार का अति भयंकर स्वरूप मालूम हो जाता है, गर्भ रूप नरक में असह्य दुर्दशा भोगते हुए दस महिनें उल्टे लटकाये गये थे इस बात का ज्ञान जब हो जाता है, अति परिश्रम से कमाई हुई सारी सम्पति को क्षणमात्र में छोड़कर भयंकर रोगों से परवश मृत्यु होने का स्मरण जब आता है तो जी बहुत घबड़ाता है। इस जन्म-मरण की बुरी बला से छूटनेके लिए बहुत व्याकुल होता है वही चेतन बड़भागी है। जो मनुष्य देह में आकर यदि भवसागर से नहीं तरा तो उसके सरिखा अभागा कोई नहीं है। चाहे किमी जात में जन्म लिया हो चाहे कुछ भी न पढा हो, परन्तु नरदेह पाकर जिसको मोक्ष मिल गया वह चेतन भाग्यवान है। हम लोगों को उसी ज्ञान की कदर करनी चाहिये जिससे इसी जन्म के अन्त में परमपिता श्री भगवान की प्राप्ति हो जाय। जहां वाद-विवाद तर्क-वितर्क का प्रसग होता हो वहा सच्चे मुमुक्षुओं को नहीं बैठना चाहिए। मुमुक्षओं को तीन ही बात जानने की आवश्य कता है :—

स्वज्ञानं प्रापकज्ञानं प्राप्यज्ञानं मुमुक्षुभिः।
ज्ञानत्रय मुपादेयमेतदन्यं न किञ्चन॥

इसका अर्थ यह भया कि मैं कौन हूं, सबसे बडा फल हमारा क्या है, उस फल के मिलने के लिए अचूक, सबके लायक ओर परतन्त्र स्वरूप के अनुरूप सीधा उपाय क्या है। दो बात और है जिसको जानने की आवश्यकता है। इस अनन्त ब्रह्माण्ड के मालिक परमपिता परमात्मा का स्वरूप क्या है और विरोधी स्वरूप क्या है ? जैमा शास्त्रों में कहा है :—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं, प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं चेति तथा प्राप्ति विरोधिनः॥

वदन्ति सकलावेदाः सेतिहास-पुराणकाः ।
मुनयश्चमहात्मानो वेदवेदान्तपारगाः ॥

इसका अर्थ यह है कि वेद इतिहास पुराण तथा मुनि लोग पाँच ही चीज का वर्णन किया करते हैं। कहीं प्राप्य परमात्मा के स्वरूप को, कहीं प्राप्ता जीवात्मा के स्वरूप को, कहीं प्राप्ति के उपाय स्वरूप को, कहीं फल स्वरूप को, कही विरोधी स्वरूप को, इसी का नाम अर्थ पंचक है। अब शास्त्रों का साराश यह है कि जिन मुमुक्षुओं को अर्थ—पचक का ज्ञान हो जाता है उन्हें कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता है। इस लिए सब से पहिले अर्थ पंचक ज्ञान होना चाहिए यह पूर्वोक्त पाँच अर्थ है। सब शास्त्रों का निचोड भाग है। अर्थ पंचक ज्ञान के बाद सभी सशय जड-मूल से छूट जाते हैं। अर्थ पचक ज्ञान के बिना शंका संदेह हृदय से कभी जाता नहीं है। इसको जानने के बाद बडी शान्ति मिलती है। कितने शास्त्रों को पढ़ा हो और अर्थ पंचक ज्ञान न हो तो उसका भ्रम नहीं छूटता। ज्यादा टाइम नहीं है जल्दी में कहने से बराबर समझ में नहीं आयेगा इस लिए इस प्रसग को आज यहाँ ही रहने देते हैं। इतना कह कर उपदेशक महात्मा गुरु परम्परा स्मरण पूर्वक श्री भगवत् स्मरण करते हुए उठे। सब महात्माओं ने लम्बी साष्टांग की और उस प्रसंग का अनुसन्धान करते हुए अपने-अपने आसन पर गये। वे जो दो मुमुक्षु नारायणदास जी के भेजे हुए आये थे वे भी साष्टांग-दण्डवत् करके एक धर्मशाला में जाकर नित्य नियम से निपट कर कुछ भोजन करके आपस में कुछ कहते हुए बैठे थे। रघुबीरदास बोले क्यों भाई दामोदर! हमें तो आज का उपदेश बहुत ही प्रिय लगा। यह जो उपदेश देने वाले महात्मा जी हैं बड़े एकान्ती मालूम हो रहे हैं। तुम अपनी कहो। दामोदरदास बोले भाई! हमे भी बहुत शान्ति मिली। क्या नारायणदत्त जी ने जिसको बताया था ये वही महात्मा हैं या दूसरे हैं यह समझ में नहीं आता। इतने में उन श्रोताओं में से दो मूर्ति अनायास वहाँ आ गये। दोनों महात्माओं को दामोदरजी ने आदरपूर्वक प्रणाम करके आसन पर बैठाया और हाथ जोडकर पूछा आप लोग कौन हैं, शुभनाम क्या है, निवासस्थान कहाँ है? कृपा करके हमलोगों को दर्शन दिये पुन्नाग-वृक्ष के नीचे जहाँ सत्संग हो रहा था वहाँ भी आप सब का दर्शन हुआ था। यहाँ कैसे

पधारना हुआ हमारे लायक सेवा कुछ हो तो कृपा करके आज्ञा दीजिए। इस प्रकार दामोदर जी का प्रीतपूर्वक शिष्टता का व्यवहार देख कर वे दोनों बडे प्रसन्न हुए। उन दोनों में से एक महात्मा बोले भैया! आपके अलौकिक स्वभाव से हमलोग बडे प्रसन्न हैं। हम दोनों रंगपट्टन के रहनेवाले हैं। मेरा नाम हरिराम है और दूसरे सज्जन का धनीराम है। एक विद्वान्, महान् अनुभवी, बड़े एकान्ती महापुरुष यहाँ विराजते हैं। उनका उपदेश चल रहा है, उसको श्रवण करने के लिए रगपट्टन से आये हैं। और भी जहाँ-तहाँ से अनेक सज्जन पधारे हुए हैं। कुछ दिन उपदेश लाभ लेने के लिए यहाँ ठहरने का विचार है। जगह की तलाश में यहाँ आये हैं। कृपाकर आप अपना परिचय बताइए कि आप दोनों कौन हैं? कहाँ के रहनेवाले हैं? शुभ नाम क्या है? किस निमित्त यहाँ आये हुए हैं?

दामोदरजी जिस निमित्त श्री रगनगर में आये हुए थे। सारी कथा हरिरामजी को सुनाये। जिस ग्राम के रहनेवाले थे; जो इन दोनों का शुभनाम था सो सब जनाये बाद रघुवीरदास बोले कि भाई दामोदर! हमलोगों का बड़ा भाग्य है कि आज इन दो भाइयों के दर्शन का लाभ हुआ। इनके जरिये नारयणदत्तजी के बताये हुए सद्गुरु महाराज का भी शायद पता लग जाय। इतना सुनकर दामोदरजी बोले—हाँ भाई! ये दोनों सज्जन बड़े सन्त मालूम पडते हैं क्योंकि घरों का सारा काम काज छोड़कर कुछ टाइम उपदेश सुनने के लिए, प्रवास के अनेक कष्टों को ध्यान में नहीं लेते हुए यहाँ पधारे हुए हैं। श्री हरि की बडी कृपा हमलोगों पर है। क्योंकि—"बिन हरि कृपा मिलै नहिं सन्ता" इतना बोलकर हाथ जोडकर धनीरामजी से दामोदरजी बोले—आपसे हम कुछ पूछना चाहते हैं! यदि आज्ञा दें तो पूछें। हमलोग श्री रगनगर में पहले ही आये हैं। यहाँ की बातों से बिलकुल अनभिज्ञ हैं। जिस निमित्त यहाँ आये हैं वह सारी बात तो आप से निवेदन करही चुके हैं। जिस महापुरुष का उपदेश श्रवण करने के लिए आप सब आये हैं उनका कुछ परिचय जानना चाहते हैं। आपके नगर में भी विद्वान् होंगे। फिर वहाँ क्यों नहीं उपदेश श्रवण किये। और विद्वानों की उपेक्षा यहाँ वाले महापुरुष में क्या विशेषता है तथा इनका शुभनाम क्या है सो कृपाकरके कहिए। आपको तकलीफ तो होगी परन्तु हमलोगों का संशय दूर हो जायगा श्री भगवान आपलोगों का भला करें।

इस प्रकार दामोदरजी का वचन सुनकर धनीरामजी बोले भाई दामोदरजी ! सावधान चित्त से सुनिए। मैं कोमटी वैश्य का बालक हूँ। आपकी कृपा से घर में लाखों का व्यापार होता है। ३० वर्ष की मेरी उम्र है। घर में १५ २० मूर्त्ति थे। अचानक गाँव में इन्फ्लेञ्जा रोग का दौरा हुआ। दो-तीन को छोड़कर बाकी सब को बीमारी होगई। डाक्टर और वैद्यों मे बहुत रुपये खर्च हुए। परन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। सारा काम धाम जिसके ऊपर निर्भर था, अभी ३५ की उम्र थी, मेरे बड़े भाई थे उनका शरीर अचानक छूट गया। हमलोगों को मालूम नहीं था। यह अचानक भयकर विपत्ति आ पड़ेगी। बहुत से धन गुप्त रूप से जहाँ-तहाँ वो रखे हुये थे, परन्तु हमलोगों से न तो कह पाये और न हमहीं उनसे पूछ पाये। सारा धन जहाँ का तहाँ रह गया। एक रोज के बाद हमारे बड़े बाप की मृत्यु हो गई। तीसरे दिन उस बडे भाई का एक लड़का था वह भी चल दिया। उसी दिन शाम को मेरी औरत का भी मरण हो गया। मैं क्या कहूँ भाई दामोदर ! पाँच-सात रोज के अन्दर मुर्दे फेंकते-फेंकते टाइम कुटाइम ठंढे जल से बार-बर नदियों में नहाते-नहाते उन प्रिय बन्धुओं के वियोग में रोते-रोते, बार-बार उन मरे हुए कुटुम्बों के पीछे उपवास करते-करते मैं भी इन्फ्लेञ्जा में आ गया। घर में दो-तीन बँचे थे, उन लोगों का भी जीने का कुछ ठिकाना नहीं दीखता था। मकान बिलकुल शून्य हो गया। घर में इस प्रकार की भयकर घटना को देखकर सब नौकर चाकर कहाँ के कहाँ चल दिये। मैं बिलकुल अनाथ होकर इन्फ्लुएञ्जा में पड़ा हुआ था। कोई भी हमें पूछने वाला नहीं था। गांव में बिमारी का जोर था ही। हमारे घर में पांच-सात दिन के अन्दर जो बहुत लोग मर गये इस डर से कोई भी वहां आता नहीं था। अचानक बहुत कुटुम्बियों के भयकर शोक एकदम हृदय पर आ जाने के कारण मेरा हृदय भी बहुत कमजोर हो गया। टाइम पर पथ्य वगैरह का भली भाति इन्तजाम न होने के कारण मुझे सन्निपात हो गया। उसी बेहोशी में मैं बाहर निकल पड़ा। एक भौजाई और मेरी बड़ी माँ एक मेरे छोटे बालक को लेकर उसी भयंकर कालकोठरी के समान शून्य घर में रह गई। कुटुम्ब के वियोग में वे लोग पहले से महा दुखी थे ही फिर हमारी ये दशा देख कर उन लोगों को जो सकट भोगना पड़ा उसकी याद से कठोर से कठोर हृदय विदीर्ण हो जाता है। दूसरे गांव में मेरे बड़े बाप के एक आसामी थे। दयाल

भाई उनका नाम था। उन्होंने किसी के जरिये मेरे घरकी हालत सुनकर अपने खातिरी के दो चार बन्धुओं को लेकर घर पर आकर कृपापूर्वक बहुत कुछ सम्भाला और इन्तजाम किया। बड़ी माँ तथा भौजाई को बहुत धीरज दिया। हमें सन्निपात में जहाँ-तहाँ घूमते अनेक विपत्ति भोगते जानकर मेरे सुधार का बहुत कुछ प्रयत्न किया। उनके अनेक प्रयत्न करने पर भी जब मेरा उन्माद न जा सका तो दयापूर्वक कोशिश करके समन्व्यवहार से हमें पकड़वाकर खान-पान के अच्छे इन्तजाम के साथ एक हवादार कमरे में अपने विश्वासी एक मित्र की निगरानी में रखकर हमारे आराम करने की चेष्टा में किसी अच्छे वैद्य की तलाश करने के लिये चिह्नपट्टम को गये। इधर हमें पागल जानकर, घर को अनाथ समझ झूठे बन्धु कहाने वाले लोग लूटने का तथा कब्जा करने का अच्छा मौका जानकर आक्रमण किया। यह बात किसी के द्वारा दयाल भाई को चिह्नपट्टम में मालूम पड़ी। वह वहाँ से बहुत जल्दी आकर अनेक प्रयत्नों से उन लुटेरे मिथ्या बन्धुओं को वहां से भगा कर जिसमें हमारा धन सुरक्षित रहे इसके लिए इन्तजाम के लिए राजपुरुषों को नियुक्त किया। बाद उनके प्रयत्न से धीरे-धीरे हमारा उन्माद शान्त पड़ गया। कुछ दिनों बाद लोगों के समझाने से वैदिक मर्यादा को मानकर मृत बन्धुओं का सक्षेप से मैंने श्राद्ध कर्म कराया। बाद बहुत कोशिश करने पर भी घर के काम धाम में, व्यापार-धन्धा में, घर को सम्भालने में, बाल बच्चों में बिलकुल दिल नहीं लगता था। इतना उचाट बढ़ गया कि मैं जहां जाता रहा, वहीं सारा जगत शून्य नज़र आता था। किसी से कुछ बोलना या कुछ सुनना जहर के समान मालूम पड़ता था। मुझे क्या करना चाहिए यह कुछ मालूम नहीं पड़ता था। जब घर के कुछ काम करने का कुछ विचार होता था तो उसी वक्त जी घबड़ाता था और बड़े भाई की याद आजाती थी। बस यही विचार उठने लगता था कि उन्होंने तो अपने सुख के लिए बहुत कुछ किया और कमाया था। परन्तु ये सारी कमाई उनके कुछ भी काम न आ सकी। यदि दयाल भाई की मेहरबानगी न होती तो झूठे भाई-बन्धु नातेदार कहाने वाले लुटेरों के द्वारा सारा धन लुट गया होता। जब इसी तरह परवश इच्छा न होने पर भी सारी कमाई को और सारे कुटुम्ब को छोड़कर बुरी हालत से मर जाना है तो इतना परिश्रम करने से फायदा ही क्या है। यदि कहीं बाहर जाने का विचार होता था तो भी कहाँ जाऊँ क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता

था। उचाटन के कारण घबड़ाकर बहुत दूर एक जंगल में चला गया और एक पेड़ के नीचे लेट गया। ज्यों ही नेत्र मीचा न जाने क्या की क्या भावनायें मन में उठने लगो। एक दिन यह था कि बड़े आदमी कहाने वाले भी मेरे से सहज ही नही मिल पाते थे। हाय! ईश्वर! वह मेरा कैसा दिन आया था। मेरे को सन्निपात में जानकर लूटने के लिये तो बहुत से भाई बन्धु बन बैठे। परन्तु उस भयकर विपत्ति मे जब पड़ा था तो एक भी भाई बन्धु नजर नहीं आये। उस वक्त नौकरों ने भी साथ नही दिया। सच कहा है कि बुरा वक्त आने पर एक ईश्वर ही सहायक होते हैं। अब तुम्हें क्या करना चाहिए, कुछ तो निश्चय करो। क्या घर के व्यापार धन्धों मे लगोगे? क्या करोगे धन्धा व्यापार करके? लाखों पड़ा है जिसको कोई खाने वाला नही है, न कोई सम्हालने वाला जब उसी तरह से बुरी हालत से परवश अनाथ होकर मृत्यु के गाल में चले जाना है तो किसके लिए फिजूल मेहनत करोगे, देखो घनीराम! तुम्हे सासारिक व्यवहार मे अब नहीं लगना चाहिये क्योंकि तुम तो भयंकर सन्निपात में पड़ गये थे। मानो कि संसार से तुम्हारी भी विदाई हो चुकी थी परन्तु न जाने कौनसी शक्ति ने किस काम के लिए रख लिया। हे भगवान! यह क्या संसार है? आज वे बड़े भाई वगैरह कहा हैं? इस ससार का जुटान क्यो होता है और क्यों छूट जाता है। घर में जाऊँ तो दिल नहीं लगता; बाहर जाऊँ तो कहां जाऊँ। कुछ देर तक इसी तरह क्या का क्या बकता हुआ निर्जन वन में लेटा हुआ था। चित्त में बडो अशान्ति थी इतने में एक मूर्ति ओर आ गये। मैंने पूछा—भाई! कहां जा रहे हो? वह बोले कि तीर्थ यात्रा को। उनके साथ मैं भी चल दिया। दर्भशयन नाम वाला एक तीर्थ था। वहा ये एक दो दिन निवास किये। वहां एक स्थान था। वहा बहुत से महात्मा रहते थे। मेरा चित्त कुछ सत्संग पाकर वहां कुछ रमा। पांच सात रोज के बाद एक सज्जन आये ओर उन महात्माओं का कुछ सत्कार किये। उनके जाने के बाद स्थान के मालिक जो महात्मा थे वे आये। उन महात्माओं पर बहुत क्रुद्ध हुए, क्रोध का कारण भगवान जाने। उस वक्त से वहाँ ईर्ष्या, वैर का फैलाव देखकर हम लोग रामनगर में गये। वहां विद्वानों की एक सभा थी। कुछ देर जाकर बैठे। बाद में उठकर खड़ा हुआ हाथ जोड़कर अपनी सारी कथा सुनाकर शान्ति का उपाय पूछा। एक विद्वान हमें समझाने के लिये उठे। तुम्हें क्या मालूम है? तुम क्या

समझा सकोगे ? ऐसा कह करके दूसरे विद्वान उठे। तीसरे पण्डित ने उन्हें डांटकर बैठा दिया। इतने में मैं कहूँगा, मैं समझाऊँगा, आपस में ऐसा कहकह कर उन लोगों में बहुत कलह फैला। मैं घबड़ा कर सबसे हाथ जोड़कर बोला कि "आप लोग न कष्ट उठाइये। मेरा दुर्भाग्य ही ऐसा है" ऐसा कहकर वहां से रवाना होकर मन्दिर में राम सखे भगवान का दर्शन करके लक्ष्मणगढ़ को गये सोते वक्त विचार करने लगा कि मैं कहा रहूँ। आयु के दिन किस तरह किस ठौर पूरा करूँ। क्या मेरे लिए दुनियां में कोई ठौर ही नहीं है ? घर में तथा घर के कार्य में तो दिल ही नहीं लगता है। क्योंकि हमारे लिये ससार भयावन हो गया है। यदि घर छोड़कर मठों में रहना चाहूँ तो वहां ईर्ष्या वैर से जी घबडाता है। शान्ति पाने के लिए विद्वानों के पास जाता हूँ तो वहां खुद ही अशान्ति फैली हुई नजर आती है। जहां खुद ही अहकार-अशान्ति घर कर रहा है। वहां मुझे कैसे शान्ति मिल सकेगी। इस प्रकार विचारते-विचारते घबड़ा गया। नेत्रों से आँसू आने लगे। यह मालूम पडने लगा कि इस ससार भर में सुख शान्ति का कहीं भी ठौर नहीं है। मालूम पडता है कि सुख और शान्ति का कोई दूसरा ही स्थान है। वह कहां है उसको जानने वाला कौन है ? उसके मिलने का उपाय क्या है ? इसका पता लगाना चाहिए। ऐसा बिचार कर रहा था कि इतने में ईश्वर की दया से अचानक बड़े दर्शनीय एक मूर्त्ति आ गये। कृपा करके उन्होंने हमारी सारी कथा पूछी और बड़े प्रेम से श्रवण करी। कुछ देर मौन रह कर बोले कि भाई धनीरामजी ! तुम्हारे पर परमात्मा की असीम दया उमड़ पड़ी है तब तुम्हें संसार भयावन लगने लगा है। जब संसार से ही जी उचट जाता है तभी सच्चा सुख प्राप्त होता है। भाई धनीरामजी ! बिपत्ति में अनेक दोष हैं परन्तु एक गुण भी बडा भारी है। वह यही है कि परमात्मा की तरफ चेतन को तुरन्त झुका देता है। भाई धनीराम ! व्यर्थ दुनियाँ में भटक रहे हो। जहाँ मैं बताता हूँ वहाँ हीं आप चले जाइये। आपका सारा भ्रम दूर हो जायगा। आपको अच्छी शान्ति मिलेगी। जहां देखो वहा अहकार ममकार की अग्नि में सब जगत जल रहा है। सच्चे मार्ग को बताने वाला बडा दुर्लभ है। यदि आप सच्चा सुख और शान्ति चाहते हो तो श्री रंगनगर में देवराज गुरु नाम के एक महा पुरुष हैं, उनके पास जाइये। अनेकों का भ्रम उनके उपदेश से दूर हुआ है। अनकों को उनकी कृपा से दिव्य धाम की प्राप्ति हुई। भाई दामोदर जी ! उस

सज्जन के उपदेश से मैं श्री रंगनगर आया। श्री देवराज गुरु का दर्शन किया। अपना सारा दुःख निवेदन किया। उनके पास कुछ दिन निवास किया। सचमुच मेरा सारा दुःख उनके उपदेश द्वारा दूर हो गया। उस महा पुरुष के श्री चरण सम्बन्ध से हमें अपार शान्ति मिली। घर में रहता हूँ तो भी उनकी कृपा से अब सांसारिक दुख सुख प्रायः असर नहीं करता है उसी वक्त से जब-जब यहां उनका उपदेश होता है तब तब सारे काम काजों को छोड़कर उपदेश श्रवण के लिए आ जाया करता हूँ। जबतक उपदेश होता है तब तक यहां श्रीरंगनगर में रहता हूँ। बाद उनकी आज्ञा लेकर घर जाकर उनके उपदेश के अनुसार भगवत् आज्ञा कैंकर्य मानकर घरका कार्य करता हूँ। इस महापुरुष के विषय में जो परिचय आप पूछ रहे हैं उसको सक्षेप से आगे बताता हूँ। उनका एक मित्र है उनके जरिये कुछ मालूम हुआ था और खुद हमें भी जितना मालूम हो चुका है सो आपकी सेवा में निवेदन करता हूँ।

"रामपुरी के नजदीक मुकुन्द महल के वे निवासी हैं। उन्हें बाल्यावस्था से परमात्मा के प्रगट मिलने की बहुत उत्कण्ठा उठी सत्रह वर्ष तक जो कुछ पढने लिखने की जरूरत थी सो पढ लिख लिए। बाद परमात्मा की खोज में ही उनका सारा समय व्यतीत हुआ। इस बात की ठौर-ठौर चर्चा भी फैली हुई है कि कई बार उन्हें प्रगट परमात्मा का दर्शन भी भया है। ज्यादातर वे एकान्त में ही रहा करते हैं किसी से मिलना जुलना पसन्द नहीं करते खुद किसी के यहाँ आते जाते भी नहीं हैं। जिसको समझते हैं कि यह सच्चा मुमुक्षु सच्चा प्रेमी है, उसके बहुत हठ करने पर उसके यहाँ जाते हैं। संसार से छूटकर जिस प्रकार यह जीव अवश्य इसी जन्म के अन्त में परमधाम को चला जाय उन सब शास्त्रों के निचोड सारांश विषय को ही बारम्बार उपदेश किया करते हैं। उनके पास भगवान के मिलने के अतिरिक्त दूसरी चर्चा नही है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के मनुष्यों से वह दूर रहा करते हैं। बहुत आग्रह से बुलाने पर भी किसी सभा व्याख्यान वगैरह में नहीं जाते। प्रायः तीर्थों मेलों में मनुष्यों के भीडस्थलों में जाने में उन्हें बहुत नफरत है। विशेषतर टीले, एकान्त, नदी तट, जंगलों में ही मिला करते हैं। पहिले तो उनका उपदेश भी हुआ करता था अब तो उपदेश देना भी बन्द कर दिये हैं यह बात सुना है और मेरा अनुभव भी है कि उनके ऊपर सच्चा स्नेह जिसका होता है और जिनके ऊपर उनकी सच्ची कृपा हो जाती है उस बडभागी चेतन

को किसी न किसी रूप में भगवत का जरूर साक्षात्कार हो जाता है इस बात की तो प्रसिद्धि है। कपट छोड़कर सच्चे दिल से मान अपमान को न देखकर जो लोग इस बात के लिए उनसे हठ किया है ऐसे बहुतेरे लोगों को तो एक दो रोज ही के सत्संग से बहुत कुछ लाभ हुआ है। कुछ दिन पहले इस बात की प्रसिद्धि के कारण उनके नजदीक बहुत भीड होने लगी थी। उससे बचने के लिये बालकों के समान कुछ ऐसी बात कर देते थे जिसमें जनता तग न करे। सचमुच वह आज के संसार में एक ही महात्मा हैं। उनका जब उपदेश होने लगता है उस समय तो यही मालूम होता है कि उनके पास साक्षात श्री भगवान विराजे हुए हैं और कई बार बहुतों को दर्शन भी हो गये हैं न तो वाद-विवाद उन्हें भाता है न वाद-विवाद वालों को अपने पास आने देते हैं। न मत-मतान्तरों का विषय वह खुद कभी चलाना चाहते हैं, न मत-मतान्तरों के झगडे वालों को अपने नजदीक आने देते हैं। जो सच्चा मुमुक्षु और जिज्ञासु उनके ध्यान में जॅच जाता है अपने नजदीक उसे ही बैठने देते हैं। भाई दामोदरजी ! हमें तो पहले यही मालूम पड़ा था कि अब हमें शान्ति मिलने का कोई ठौर ही नहीं है। परन्तु उस महापुरुष का जब से दर्शन हुआ तब से हम में मनुष्यपना आगया। अब हम में किसी प्रकार की शंका न रही। पहले अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उठा करते थे। कुटुम्ब मोह तो हम में पशुओं से बढ़कर था। उसी कारण मेरा चित्त उचाट खा गया परन्तु जब से उनके उपदेश का लाभ होने लगा तब से सब मोह-भ्रम न जाने कहाँ चला गया। हमें तो दुनिया भर में संशय भ्रम रहित श्री हरि के ऊपर दृढ़ विश्वास वाला सच्चे दिल से हमारे जैसे दुखिया चेतनों को सब शास्त्रों का निचोड़ सारांश आत्मा के सच्चे कल्याण का मार्ग बताकर हित चाहने वाला आज तक कोई नहीं नजर आया। भाई दामोदर ! भगवान ही खुद जिसके वश होकर रहते हैं, इच्छा मुजब दर्शन देते हैं। उनके गुणों का वर्णन हमारे जैसे अल्पज्ञ क्या कर सकते हैं। जिसका जरा भी कृपा लेश हो जाने पर भगवत का स्पर्श प्राप्त हो जाता है, ऐसे महापुरुष की महिमा जितनी कही जाय वह सब थोड़ी है।

घनीरामजी के मुख से देवराज गुरु की महिमा सुनकर दामोदरजी रघुबीरदास से बोले कि भाई रघुबीरदास जी हमलोगों को उस जंगल में पण्डित नारायणदत्तजी ने जिसको बताया था वह यही महापुरुष हैं। अब इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं है। रामटीले को जाते

समय आशीर्वाद देकर उन्होंने कहा था कि आप लोगों का सारा संशय-भ्रम दूर करने वाला, सच्चे मोक्ष मार्ग को बताने वाला, शम दमादि दिव्य गुण सम्पन्न गुरु की असीम कृपा से सब शास्त्रों का सारांश बताकर जीवों का कल्याण करने वाला, सद्गुरु श्री रंगनगर में अवश्य मिलेंगे। क्योंकि— जापर जाकर सत्य सनेहू। मिलै न ताहि कछुक सन्देहू ॥ उस महापुरुषका आशीर्वाद हम लोगों के लिए फलीभूत हो गया। भाई धनीरामजी के मिलने से हम लोगों को महान लाभ हुआ। जैसे मृतकको अमृत मिल जाय, जन्म दरिद्र को पारस मिल जाय, जन्म अन्धे को नेत्र की प्राप्ति हो जाय, ऐसा सुख हम लोगों को आज प्राप्त भया। ऐसा कहकर वे दोनों नेत्र में आँसू लेकर गद्गद कण्ठ होकर धनीरामजी का पैर पकड़ कर पूर्व दुखों को याद कर उन दुखों से घबड़ाकर जिस शान्ति के लिए बहुत दिनों से खोज में परिश्रम उठा रहे थे आज उस परम शान्ति को प्राप्ति कराने वाला, सद्गुरु के प्राप्त का सुन्दर सुअवसर जान कर ऐसे भगवत्स्वरूप दिव्य गुरु का परिचय कराने वाला, मानो भगवान ही का भेजा हुआ महान भागवत धनीरामजी को पाकर अत्यन्त आनन्द में मग्न होकर कुछ देर पड़े रहे।

श्रीहरि का प्यारा, सद्गुरु का परम कृपा पात्र, धनीरामजी ने उन दोनों को परम कृतज्ञता के साथ गद्गद कण्ठ होते अपने चरणों पर पडे देखकर अत्यन्त संकुचित होकर हाथ जोड़ अत्यन्त नम्रता के साथ प्रार्थना पूर्वक अपने चरण से अलग करके कहा कि भाई दामोदर जी! आप लोगों के इस व्यवहार से मैं बहुत लज्जित हो रहा हूँ। मैं तो संसार-चक्र में पडा हुआ आप सज्जनों का कृपापात्र एक तुच्छ चेतन हूँ। हम में इतनी योग्यता नहीं है कि दूसरे से पैर छुआऊँ। आप लोगों की कृपा हम पर बनी रहे इतना ही मात्र काफी है। आप दोनों के दर्शन से मैं भी आज अपने को धन्य मानता हूँ। क्योंकि आप लोगों में बिल्कुल अहंकार ममकार नहीं दीख रहा है पूज्यपाद श्री देवराज गुरु के मुखसे कई बार सुन चुका हूँ कि जिन चेतनों में कृतज्ञता गुण हो और अहकार ममकार न हो वे ही खरे मुमुक्षु हैं। भाई दामोदर जी! अभी तो आप लोगों की हम से कुछ भी सेवा नहीं हुई है सिर्फ माहाराज जी का परिचय मात्र जनाया है। इतने ही पर आप सब हमारा बहुत कुछ उपकार मान रहे हैं। आप लोगों में तो आश्चर्यजनक नम्रता है। अहंकार ममकार तो लाखों कोस मानो दूर चला गया है। श्रीदेवराज गुरु के श्रीमुख से कई बार इस प्रसंग को

श्रवण करने का काम पड़ा है कि अहंकार ममकार रहित जीव जरूर संसार बंधन से छूटने के योग्य होते हैं। अहंकार ममकार से ही अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। जो अच्छे पहुँचे हुए कहे जाते हैं उन्हें भी अहकर ममकार मार डालता है। श्री स्वामी जी महाराज के सत्संग में बारम्भार यह प्रसंग आता है।

धनीरामजी के मुख से बारम्बार अपनी प्रशंसा सुनकर चकित होकर दोनों मूर्ति गद्गद् हो हाथ जोड़कर बोले—हम लोगों को तो कभी सत्संग मिला ही नहीं, आज तक हाय-हाय करने में ही दिन बीते हैं और सोने में रात बीती है। दुर्भाग्यवश कभी शान्त चित्त वाले महापुरुष मुमुक्षुओं के सत्सग का आज तक योग ही नहीं प्राप्त हुआ है। श्री रगनगर आते समय एक जगह दो घड़ी एक सत्सग में बैठने का काम पड़ा था। वहाँ दो चार बातें सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक दो बातें याद हैं सो आपकी सेवा में निवेदन करते हैं। एक कोई श्री हरि के प्यारे महात्मा कुछ प्रवचन कर रहे थे। कुछ लोग बडे प्रेम से श्रवण कर रहे थे। यहाँ क्या हो रहा है इस बात को जानने के लिए हम दोनों भी वहाँ जा बैठे। उस समय यह प्रसंग निकला कि सच्चे, भगवत् के प्यारे सद्गुरु के प्राप्त होने के बाद संसार बन्धन से छूटजाना, भगवत् को प्राप्त कर लेना, मोक्ष मिलने का अधिकारी हो जाना यह कोई बड़ी बात नहीं है। इस दुनियाँ में संशय भ्रम से छुड़ा देने वाला, दिव्य धाम के सच्चे मार्ग को बताकर उस पर दृढता करा देने वाला, सद्गुरु का मिलना बडा दुर्लभ है। जब तक इस जीव को सच्चे सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती है तब तक किसी भी उपाय से संसार सागर से यह जीव तर ही नहीं सकता। महात्माओं का निर्णय है कि—"गुरु बिन भवनिधि तरे न कोई। जो विरञ्चि शंकर सम होई॥" याने सच्चे मार्ग को बताने वाले सद्गुरु के बिना चाहे ब्रह्मा शकर के समान क्यों न हो परन्तु संसार सागर से पार नहीं हो सकता। गुरु भी अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु जो भली भाँति जीव का स्वरूप, ससार का भयावन पना, चौदह लोकों के सुखों की अनित्यता तथा परमपद का नित्यपना समझाकर ससार से छुड़ाकर परमपद देने वाले परमात्मा ही हैं। इस प्रकार ये ज्ञान देकर, उस परमात्मा में दृढता जमाकर, उस परमपद के मिलने के योग्य अधिकारी बना दे। उसके अतिरिक्त संशय भ्रम अपने ज्ञानोपदेश द्वारा कृपा करके दूर कर दे, वही सब से बड़े सद्गुरु कहे जाते हैं। ऐसे सत्गुरु को

कृपा कर के जो भाई प्राप्ति करा दे, अच्छे समझदार लोग ता जिन्दगी उनमें भी गुरु के समान ही निष्ठा रखते हैं और गुरु के समान ही वर्ताव भी करते हैं। तो भाई धनीरामजी! हमलोग तो ताजिन्दगी आपके उपकारों को नहीं भूलेंगे। जिस सद्गुरु के मिलने पर चेतन संसार बन्धन से छूट जाता है, परमपद प्राप्ति के योग्य बन जाता है, ऐसे सद्गुरू को बता देने वाले जो कृपासागर सज्जन हैं उनके बरावर दुनियाँ में अपना कौन उपकारी हो सकता है? और ऐसे महापुरुषों के यदि चरण स्पर्श करने में जीव तर्क वितर्क करेगा उसके समान कृतघ्न जगत में दूसरा कौन हो सकता है? आप सद्गुरु के परम प्रिय हैं, परम कृपापात्र हैं, संशय भ्रम रहित हैं, बहुत दिनोंतक सद्गुरु के द्वारा सब शास्त्रों का साराश भाग भली-भाँति समझे हुए हैं, श्री स्वामीजी महाराज की कृपा संपादन किये हैं, संशय भ्रम आप में बिल्कुल नहीं हैं। गुरुचरणों का वर्णन करते-करते अप गद्गद् हो रहे हैं। नेत्रों में बार बार आपके आँसू आ रहा है। पुनः पुनः आपके रोम खड़े हो रहे हैं। इस प्रकार आपके समान सत्पुरुष जगत के अलंकार रूप हैं। जो अमूल्य चीज हमलोग ढूँढने के लिए देश विदेशों से भरमते-भरमते आ रहे हैं सो आपके द्वारा अनायास आज प्राप्त होने का सुअवसर आगया है। हमलोगों को तो यह बात संदेह रहित जच रही है कि जिस निमित्त हमलोग आये हैं वह सारा कार्य पूरा करने में आप ही समर्थ हैं। आत्मा का उद्धार करने के लिए श्रीदेवराज गुरु के निकट में जितने विषय हैं, प्रायः आप से एक भी अज्ञात नहीं है। आप कृपा करके इसी धर्मशाला में निवास करिये। आपके समीप रहने से, आपके सत्सङ्ग से हमलोगों का जीवन सफल होगा। आप तो सब प्रकार से बडे हैं, समर्थ हैं, सब लायक हैं, तो भी हमलोगों के लायक जो कुछ आपकी सेवा होगी, सो करेंगे। दामोदरजी की सौजन्य भरो बातें सुनकर धनीरामजी भी वैसा ही निश्चय करके अपना सब सामान उसी धर्मशाला के एक विशाल कमरे में मँगवाकर रखवा दिये। बाद वे सभी लोग नित्य क्रिया से निवृत्त होकर आराधन कराकर भगवान के अर्पण के बाद भोजन करके थोडी देर आराम कर गये। इतने में किसी ने पुकारा। धनीरामजी बोले कौन है भाई। पुकारने वाले बोले मैं हूँ बेंकट बाबू धनीरामजी बोलें—किसकी तलाश में आये हैं। वे बोले—रंगपट्टन वाले धनीरामजी हैं क्या? वह बोले—उन्हें आप क्यों ढूँढ रहे हैं? बेंकट बाबू बोले—कि श्री रंगबाग में व्यासासन

पर श्री देवराज गुरु विराजे हुए हैं। महात्मा धनीरामजी के बिना कालक्षेप प्रारम्भ नहीं हो रहा है। पता लगा है कि धनीराजी इसी धर्मशाला में आये हैं। उन्हीं को बुलाने के लिए महात्माओं ने हमें भेजा है। धनीरामजी बड़े प्रेम से मस्तक नवाकर, हाथ जोड़कर बेंकट बाबू को प्रणाम कर पूछा कि वहां कितने श्रोता उपस्थित हैं? बेंकट बाबू बोले—अन्दाजन एक हजार। इतना सुनकर धनीरामजी ने सच्चे जिज्ञासु महान् मुमुक्षु श्री दामोदर जी से कहा—आपलोग भी चलिए। स्वामीजी महराज के प्रवचन का समय हो गया है। मुमुक्षु श्रोतागण उपस्थित हो चुके हैं। इस दास पर स्वामीजी महाराज की असीम कृपा है। दास के लिए बुलाहट आचुकी है। नीचे श्रीमान् बेंकट बाबू खड़े हैं। इतना दामोदरजी से कहकर बेंकट बाबू से कहे कि आपको बुलाने के लिए यहाँ कष्ट करना पड़ा। आप चलिए। स्वामीजी महाराज से हमारा अपराध क्षमा कराकर, बहुत-बहुत साष्टांग प्रणाम निवेदन करके प्रार्थना करिये कि अभी श्रीचरणों का सेवक धनीराम आ रहा है। इस दास ही का नाम धनीराम है। आज प्रथम दिन होने के कारण जल्दी उपस्थित न हो सका। यह बड़ा अपराध हुआ कि आपको बुलाने के लिए यहाँ कष्ट करना पड़ा। इतना सुनकर बेंकट बाबू श्रीरंगबाग को जाकर उपदेश के आसन पर विराजे हुए श्री स्वामीजी महाराज से धनीरामजी के आने का शुभ समाचार कह ही रहे थे, इतने में दोनों मुमुक्षुओं के साथ महात्मा धनीरामजी आकर श्री स्वामीजी के श्री विग्रह का दर्शन करते प्रेमाश्रु बहाते अति प्रेमपूर्वक इन मुमुक्षुओं के साथ प्रेमपूर्वक साष्टांग प्रणाम करके स्वामीजी महाराज की आज्ञा पाकर आगे बैठ गये। उस वक्त उस कालक्षेप गोष्ठी की अपूर्व शोभा थी। वहाँ बैठने वाले सब के सब सच्चे मुमुक्षु थे। जिस प्रकार मुनियों के बीच में व्यासासन पर विराजे हुए शुकदेवजी की शोभा हुई थी, उसी प्रकार हजारों सच्चे मुमुक्षुओं के बीच में उपदेश के उच्च आसन पर श्री देवराज गुरु सुशोभित हो रहे थे। उनके दर्शन मात्र से मुमुक्षु दामोदरजी को तथा रघुवीरदासजी को यह प्रतीत होता था कि यह श्री देवराज गुरु के रूप से दुखित चेतनों को भवसागर से पार करने के लिए खुद मानो परमात्मा हीं उपदेश द्वारा समझाने के लिए अवतार लिए हैं। धनीरामजी ने श्री देवराज गुरु के जितने गुण वर्णन किये थे वे दर्शन मात्र से हीं मुमुक्षु दामोदरजी को साक्षात् हो गये। वहाँ सब श्रोता लोग बिलकुल

मौन थे। सब के सब कमलासन से हाथ जोड़कर विराजे हुए थे। हजारों श्रोता थे तो भी बिलकुल शब्द नहीं होता था। सब के सब श्री देवराज गुरू के श्री मुख की तरफ ही देख रहे थे। कुछ ही देर बाद श्री गुरुदेव की आज्ञा से मंगल कीर्त्तन प्रारम्भ किये। शास्त्र की आज्ञानुसार गुरूराज आपका मंगल हो। गुरूदेव आपका मंगल हो। हरिदेव आपका मंगल हो॥ थोड़ी देर इस मगल कीर्त्तन को करके—गोदामहाराणी मगल हो। रंगी पटरानी मंगल हो। श्री जनकदुलारी मंगल हो। रघुवीर पियारी मगल हो। वृषभानु किशोरी मंगल हो। साँवल की गोरी मङ्गल हो। श्री रंग आपका मङ्गल हो। भव भंग आपका मङ्गल हो। श्रीमन्नारायण मङ्गल हो। आश्रित उद्धारण मङ्गल हो। रघुवंश विभूषण मङ्गल हो। पूतना पय चूषण मङ्गल हो। श्री कृष्ण कन्हैया मङ्गल हो। वृजरास रचैया मङ्गल हो। इस प्रकार प्रथम गुरुका, अनन्तर श्रीजी का, बाद श्री हरि का, मङ्गल संकीर्त्तन करके ज्योंही श्रोतागण चुप हुये त्योंही श्री देवराज गुरु हाथ जोड़ कर नेत्र मींचकर प्रवचन के प्रथम अपने गुरु को, गुरु के गुरु को स्मरण करके एक ही श्लोक में सब गुरु परम्परा का गद्गद कण्ठ से स्पष्ट उच्चारण करके अपने उपदेश अमृत को प्रारम्भ किए। श्री रंगनाथ भगवान को, उनकी निर्हेतुक कृपा को, अनेकबार धन्यवाद है कि हम लोगों को आज यह सत्संग का सुन्दर अवसर दिया है। जगत में जीवों की सख्या नहीं है कि कितने हैं उनमें मनुष्यों की संख्या कम है। मनुष्यों में भी बहुत गर्भ ही में मर जाते हैं। अनेकों का जन्म-समय ही अन्त हो जाता है। बहुत से पाँच वर्ष के अन्दर ही काल के गाल में चले जाते हैं। सकड़ों दश वर्ष के भीतर मृत्यु के वश हो जाते हैं। हजारों मनुष्य जन्म का असली फल प्राप्त किये बिना जवानी उम्र में ही अन्तकाल कर जाते हैं। पाँचवाँ स्कन्ध श्रीमद्भागवत में लिखा है कि देवता लोग भी इस भरत खण्ड में मनुष्य होने के लिए इच्छा करते हैं। यह आगे का श्लोक है :—

यद्य त्रनः स्वर्ग सुखा व शेषितम् इत्यादि—

भगवान ने हमलोगों पर अपार अनुग्रह करके देव दुर्लभ इस भरत खण्ड में सुन्दर नेत्र, जीभ, कान, नासिका, मुख, हाथ, पग आदि के साथ अच्छे कुल में दीर्घायुष्य के साथ रोग

रहित, विचार सहित, अन्न-वस्त्र, गृह, कुटुम्ब, मठ, मन्दिर, भृत्य के इन्तजाम पूर्वक दर्शनीय सुन्दर मनुष्य का शरीर दे रखा है। अनेक सुखों को छोड़कर देवलोक के सब भोगों को त्याग कर जिस भरत खण्ड में मनुष्य जन्म के लिए देवता लोग तरसते हैं। बारम्बार चाहना करते हैं। आज वह मनुष्य देह हम लोगों को अपार करुणा के सागर परमात्मा ने स्वयं कृपा कर दिया है। भगवान श्रीपति की असीम कृपा से मिला हुआ देव दुर्लभ जो हम लोगों का यह शरीर है इसको सब योनियों में अनायास अनिच्छित प्राप्त होनेवाला तुच्छ जो संसारिक सुख है उसी में लगाकर प्रभू की निर्हेतुक कृपा से प्राप्त जो यह अमूल्य समय है इसको व्यर्थ नही खो देना चाहिए ? मनुष्य देह पाने का सब से ऊँचा फल क्या है ? इस देह में कौन सी विशेषता है कि जिसके लिए अति परिश्रम से प्राप्त देवलोक के सुखों को छोडकर देवता लोग मनुष्य होना चाहते हैं। इस बात को गौरव के साथ चित्त देकर सूक्ष्म बुद्धि से भलीभाँति विचार करना चाहिए। मन मुजब अच्छी तरह से भी मिले हुए शारीरिक सुख को देने वाले महल, मकान, मन्दिर, अन्न, धन, वस्त्र, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बन्धु, मान मर्यादा से ही हमलोगों को अपने को कृतकृत्य नहीं मानना चाहिए। न इन क्षणिक अनित्य लौकिक चीजों को पाकर कभी अहंकार करना चाहिए न इन लौकिक वस्तुओं के ऊपर ममकार करना चाहिए। क्योंकि ये सब न हम लोगों के गर्भ के साथी हैं न मरने के बाद ये कभी साथ देने वाले हैं। प्रारब्ध के अनुसार इन सबों का बीच में जुटान भया है और इच्छा बिना ही परवश बीच में ही यह जुटान छूट जाने वाला है। संसार की अनित्यता के बाबत हमें ज्यादा समय नहीं लेना है। क्योंकि इस बात को प्रायः सभी जानते हैं कि इस ससार का सुख क्षणिक है परवश है, अनित्य है, नाशवान है। न कोई पढा हुआ काल से बच सकता है, न ऊँचे महल मकानवाला। साराश यह है कि धनी, गरीब, पण्डित, मूर्ख, राजा, रक कोई भी क्यों न हो मृत्यु के गाल में आज या दस दिन बाद सबको परवश जाना है। इस ससार मे प्राप्त जितने कुटुम्ब हैं सो एक न एक दिन इच्छा बिना भी रोते रुलाते संग छोड़ देने वाले है। इससे इन अनित्य परवश छूट जाने वाले हम लोगों के प्रारब्ध वश एकत्र हुवे इन धोखले याने अचानक धोखा देनेवाले कुटुम्ब मित्रों से सदा सम्भलकर वैराग्य के साथ जल में कमल के पत्तो के समान संसार मे मुमुक्षुओं को निवास करना चाहिए। देह, महल, मकान,

पुत्र, कलत्र, मित्र, शिष्य, मठ, मन्दिर आदिक अनित्य चीजों में अति प्रेम करके नहीं रहना चाहिए। ये सब बीच ही में हुए हैं और बीच ही में छूट जाने वाले है। इस बात को जानकर, अहंकार ममकार को छोड़कर अन्तःकरण से इन सबों से उदासीन रहना चाहिए क्योंकि किसी न किसी दिन ये सब धोखा देने वाले है। इन सबों में से जो सज्जन प्रेम हटा-कर रहते हैं उन्हें मौके पर याने वियोग होने पर हृदय मे चोट ज्यादा नही लगती है। उन्हें ज्यादातर शोक नहीं सताता है। पुत्र होते हुए भी मैं पुत्रवान हूँ ऐसा समझदार लोग नही मानते हैं उन्हें इस बात का भीतर से खौफ बना ही रहता है कि न जाने किस दिन वियोग हो जाय इसका कुछ ठिकाना नही। क्योंकि वशिष्ठजी महाराज के १०० पुत्र थे, वे सभी जवान थे बहुत विद्वान थे परन्तु सबके सब एक ही दिन में मृत्यु के मुख मे चले गये। पाण्डवों के बीच एक ही लड़का अभिमन्यु था उसको भी अचानक मृत्यु मुखमे ले लिया। श्रीवसुदेवजी के ६ लड़कों को कंस ने मार डाला था यह प्रसिद्ध ही है। श्री द्रौपदी के ५ लडकों को अश्व-थामा ने मार डाला, इत्यादिक प्रसगों को समझने वाला पुरुष पुत्रवान होता हुआ भी कभी अपने को हृदय से पुत्रवान नही मानता। सत्संग किया हुआ पुरुष धनवान होता हुआ भी अन्तः-करण से धन का अभिमान अपने मे नहीं रखता है। क्योंकि बहुत से धनवान लोग व्यापार सम्बन्ध में या अन्य कारण वश गरीब होते नजर आ रहे हैं। हरिश्चन्द्र राजा थे, एक दिन श्मशान भूमि पर नौकरी करनी पड़ी। पाण्डव लोग किसी दिन सम्राट थे। किसी दिन जंगल में दुर्दशा भोगते थे। विराट राजा के यहाँ दुःख के साथ गुजारा करते थे इत्यादि बातों को समझ कर समझदार लोग धन पाकरभी उसका गुमान नहीं करते। सरल स्वभाव से नम्रता के साथ सबसे मधुरता से व्यवहार करते हैं। यथा शक्ति परोपकार करते, बड़ो के साथ नम्रता, छोटों के साथ दयापूर्वक दुलार करते समय बिताते हैं, समझते हैं कि यह तो अनित्य वस्तु है। जब बड़ों बड़ों को राजासे रंक होते देरी नही लगी तो हम किस गिनती में हैं। इसी प्रकार समझदार पढ़े-लिखे लोग भी जो मनुष्य देह की कीमत जानते हैं वे विद्या के भण्डार होते हुए भी बिलकुल अभिमान नहीं करते, विचारते हैं कि हमने बहुत परिश्रम से विद्या पाई। फजूल वाद विवाद में समय बिताया, दूसरे का आदर बहुमान देखकर ईर्ष्या वैर किया, विद्या का फल भगवान का मिलन है, सो तो हुआ नहीं। दस रोज में श्मशान भूमि पर जलना है,

ऐसा समझकर नम्रता पूर्वक मुमुक्षु विद्वान लोग कालक्षेप करते हैं। समझदार मुमुक्षु स्त्री लोग सौभाग्यवती होती हुई भी अन्तःकरण से उस सौभाग्य का पूरा पूरा भरोसा नहीं रखतीं है। हजारों बिधवाओं की दशा उनके सामने है। और जब उत्तरा की, श्री सुमित्रा की, कुन्तीजी की कथा सुनती हैं तब सोचती हैं कि इस क्षणिक सौभाग्य का क्या ठिकाना। जब ऐसी ऐसी बड़ी-बड़ी स्त्रियों को इस क्षणिक अनित्य संसारी सौभाग्य ने धोखा दिया तो हमारा क्या ठिकाना। इस प्रकार बिचार करती हुई अभिमान को छोड़कर गरीब स्त्रियों के साथ नम्रता पूर्वक मीठे पने से व्यवहार करती हुईं यथा शक्ति दुखित स्त्रियों का अन्न द्रव्य वस्त्रादिक से सत्कार करती हुई समय बिताती हैं! जो मुमुक्षु समझदार बिधवा हैं वह यह सोचती हैं कि यह सांसारिक क्षणिक दुर्गन्धमय जो विषय सुख है, इसके लिए क्या चिन्ता करना, क्या उदास होना। यह दुर्गन्धमय क्षणिक अनित्य सुख तो पशुओं को भी प्राप्त है। मनुष्य जीवन का प्रधान फल तो परमात्मा की प्राप्ति है। उसी की तरफ झुकना चाहिए। दुनियाँ में "मीरा" जी भी तो स्त्री ही थीं परन्तु राज्य महल पति सब को त्यागकर श्री भगवान को प्राप्त हो गईं। कच्चे सौभाग्य को छोड़कर सदा के लिये सौभाग्यवती बन गईं। आज उनकी कीर्त्ति दिगन्त में छा रही है। श्री शबरीजी श्री भगवान के भजन करने के कारण श्री रामायण का भूषण बन रही हैं। मनुष्य जीवन का फल भगवत्प्राप्ति ही है ऐसा विचार कर विषयों से उदासीन होकर इस अंश में श्री भगवान का महाउपकार मानकर श्री भगवान की सेवा में सानन्द समय बिताती हैं। स्वरूप को और फल को सत्संग द्वारा भली भाँति समझे हुए महात्मा लोग भली भाँति सयम नियम सदाचार के साथ रहकर सब प्रकार से एकान्ती होते हुए भी बिलकुल अभिमान को छोड़कर सब से छोटा बन कर साधारण से साधारण हरि भक्तों को तथा अन्य जीवों को भली भाँति आदर करते हुए, हर एक को अपनी तरफ से मान देते हुए, स्वयं अपने को तृण से भी नीचा मानते हुए इस संसार में समय बिताते हैं। सोचते हैं कि माला, तिलक, मुद्रा, पाठ, पूजन, भजन, कीर्त्तन, ध्यान, स्मरण, तीर्थ व्रत सबका फल श्री भगवत्साक्षात्कार है, सो हुआ नहीं, फिर अभिमान किस बात का करें। मरने ही पर श्री भगवत्प्राप्ति जब जमी हुई है तब हम में कौनसी वैष्णवता है। जब कि भगवान सर्वत्र हैं, वात्सल्य गुण सागर हैं, सब प्रकार से सम्बन्धी भी हैं। श्री गोदाजी को

साक्षात् हुए यह सुनता ही हूँ। राजा कुलशेखरजी को कलि में ही दर्शन दिये यह भी जानता हूँ, और परम फल श्री भगवान ही हैं यह भी समझता हूं, फिर मेरे वज्र हृदय में उनके मिलने के लिये, उनको साक्षात् देखने के लिए कभी भी सची चाह, सच्ची द्रवन, सच्ची घबडाहट, सच्ची बेचयनी जब होती नहीं है, उस प्यारे के इच्छा मुजब देखे बिना भी जब अन्न खाता हूं, सुख पूर्वक नीद लेता हूं, उनके लिए न कभी नींद उचटती है, न उनके मिले बिना कभी मूर्च्छा आती है फिर थोथे हमारे प्रेम नेम में क्या रखा है। दुनियाँ चाहे हमको जो कुछ कहे परन्तु हम तो हमारा जानते हैं। ऐसा सोच-सोच कर उद्विग्न होते हैं और हृदय से बार-बार अपने को धिक्कारते हैं और उदास होकर एकान्त में कहा करते हैं कि जब अनित्य पदार्थों से व्यामोह जाता नहीं, सामान्य २ बातों में भी क्रोध आ जाता है, सामान्य रूप देखकर विपरीत भावना हो जाती है, जाति अभिमान, विद्याभिमान, बडप्पन का मिथ्या अभिमान आत्माभिमान हम में है। हमारा हम जानते हैं। फिर संसार मे मनुष्य देह पाकर आज तक लाभ क्या उठाया ? अभी तक न तो स्वप्न में, न तन्द्रा में, न रूपान्तरों से, न साक्षात् प्रभु का कभी दर्शन हो पाया है, न उनके मिलने के लिए जिन्दगी भर में महीना दो महीना पन्द्रह रोज भी बेचयनी हुई है, फिर हम में महत्त्व की कौनसी बात है। इतनी उम्र बीत गई परन्तु प्यारे परमात्मा के प्रगट देखने के लिए सच्चे दिल से प्रबल इच्छा भी नहीं हुई, न हो रही है। सर्वत्र स्वरूप, रूप दोनों से भी रहते हुए सौलभ्य सीमा भूमि वात्सल्य गुण सागर आश्रित वात्सल्यैक जलधि श्री भगवान हैं तो भी जब मरने ही पर मिलेंगे ऐसी धीरता बनी हुई है, फिर हम में कौनसी आस्तिकता है सिर्फ अभी तो वेष मात्र ही प्राप्त हुआ है इतने ही में क्या फूलना है और क्या अभिमान करना है। आखिर सब का फल तो परब्रह्म प्यारे से रुबरू साक्षात् मिलना ही है, सो तो मुझे कभी स्वप्न में भी आज तक हुआ नहीं। केवल अब गुरु कृपा का ही एक सहारा है। इस प्रकार एकान्त में सोचते विचारते, सामान्य से सामान्य जीवों को भी आदर बहुमान भाव से देखते, सबसे अपने को छोटा मानते, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, ईर्ष्या वैर, मत-मतान्तरों के झगडे इत्यादिकों से कोसों दूर रहते हुए, सच्चे समझदार मुमुक्षु लोग अपना समय बिताते हैं। किसी के अत्यन्त आदर करने पर भी हृदय से प्रफुल्लित नहीं होते हैं, सोचते हैं कि यह शरीर तो मृतक है, जो कुछ इसमें है सो

स्वाँस है। स्वाँस गया कि मृतक बना। इसका कितना भी बहुमान हो तो क्या है मानो मृतक का श्रृङ्गार है। सच्चा बहुमान तो तब है जब कि प्रीतम प्यारे परमात्मा इन नयनों के सामने प्रत्यक्ष दिख जावें। निषादराज के समान छाती से लगा लेवें। सच्चे मुमुक्षु लोग बहुत कुछ धन लाभ होने पर भी सच्चे दिल से अपने को कृतकृत्य नहीं मानते हैं। सोचते हैं कि असली धन तो भगवान का चरणारविन्द है सो उसका अभी साक्षात्कार नहीं हो रहा है। फिर अनित्य धन पाकर क्या कृत-कृत्य होना है। सत्संग करने वाले मुमुक्षुओं का अचानक यदि धन जनका वियोग होता है तो भी वे अति शोकाक्रान्त नहीं होते। इस बात को भलीभाँति वे समझते हैं कि यह तो बीच में हुआ था, कभी न कभी जानेवाला था, सो दस दिन पहले चला गया। जिसकी चीज थी उसने ले ली। ऐसा विचार कर वैराग्य के साथ श्री भगवान का भजन करते हुए कालक्षेप करते हैं। ज्ञानी सत्सगी मुमुक्षु गृहस्थ लोग भी पुत्र प्रकट होने पर ज्यादातर खुशियाली नहीं मनाते हैं। सोचते हैं कि अनित्य यह चीज है, परवश है अल्पायु है या दीर्घायु है, सुपात्र होगा या कुपात्र, मुझे सुख देने वाला होगा या दुख देने वाला, जब यह बात मालूम ही नहीं है फिर इसका क्या उत्सव करना है। उत्सव तो जब होता कि हमें भगवान का साक्षात् दर्शन होता। अथवा उत्सव उसको कह सकते हैं जो श्री भगवान और गुरु के अवतार दिन में मनाया जाय बाकी तो सब ठीक ही है। ऐसा समझ कर ससार से उदासोन रहते हैं। किसी प्रिय बन्धु के अचानक असमय मर जाने पर भी सच्चे मुमुक्ष लोग ज्यादातर शोक नहीं करते, सोचते हैं कि ये तो बीच ही में मिले थे। कभी न कभी तो वियोग होने ही वाला था। मरण जीवन किसी के हाथ में नहीं है। सब चेतनों का प्रारब्ध के आधीन जीवन-मरण परमात्मा ने सकल्प कर रखा है, उसीके अनुसार जिसको जितने दिन जीना है वह उतने दिन जिएगा। जिसकी उम्र जब पूर जायगी तब मर जायगा। यह तो मोह का बाजार है। बीच में ही इकट्ठा भया है, बीच में ही मिट जाने वाला है। मरजाने वाले के लिए चाहे रोते रोते प्राण भी दे दो तो वह मिलने वाला नहीं है। फिर शोक करने में फायदा ही क्या है। आँसू गिराना और रोना तो तब ही सफल है जब श्री भगवान के लिये होय। क्षणिक, अनित्य, बीच में मिले हुए बन्धुओं के वियोग में आँसू डालना, ज्यादातर शोक करना समझदार के लिए नहीं है। यदि सत्संग

करने वाला भी मनुष्य बेसमझ होकर मरे हुए बन्धुओं के पीछे बार-बार शोक मोह ही किया करेगा तो पशुओं में और उस मे भेद ही क्या है ? सत्सग करने का तो यही फल है कि मौके पर संभल कर रहे, धैर्य धारण करे इत्यादि बातों को विचार कर अनित्य बन्धुओं से मोह हटाकर सच्चे माता-पिता, सच्चे बन्धु जो श्रीपति हैं उनके चरणों में चित्त देकर, उनके पाठ, पूजन, भजन, स्मरण में समय बिताते हैं।

उपस्थित महानुभावो ! पहले ही कह चुका हूँ कि हमलोगों को कृपासागर भगवान निर्हेतुक कृपाकरके देव दुर्लभ मनुष्य देह दिए हैं। इस मनुष्य देह की कीमत समझें। इसको अनित्य कार्यों में ही नहीं बिताना चाहिए। जो कम समझ हैं उनको ऐसा ही जँचता है कि जिसको दो-चार लड़के हो गये, अच्छी स्त्री मिल गई, अच्छा महल मकान मिल गया, धन होगया, दुनियाँ में अच्छी मान प्रतिष्ठा हो गई, अच्छी सवारियाँ मिल गई वही भाग्यवान है, परन्तु जो पहुँचे हुए महापुरुष हो चुके हैं उन लोगों का यह कहना है कि ये सारी चीजें तो पशु योनि में भी प्राप्त होती है। जो वस्तु पशु शरीर मे भी अनायास बिना माँगे स्वय दैव योग से ही प्राप्त हो जाय, वही चीज यदि देव दुर्लभ मनुष्य देह में भी मिले उसमें कौन सी भाग्य की बात है ? पुत्रवान होने से ही मनुष्य देह की सफलता नही है क्यों कि बाल बच्चे तो कुत्ते बन्दरों के भी रहते हैं परन्तु उनको भाग्यवान कोई नहीं कहता। तुच्छ विषय सुख पशुओं को भी मिलता है परन्तु उनकी कहीं प्रशसा नहीं होती। अतः विषय सुख से ही मनुष्य का बड़प्पन नहीं है। खाना, सोना, बाल-बच्चों मे मोह करना, ये सब तो पशुओं में भी है। इन्हीं बातों में यदि मनुष्य का भी समय बीतता हो तो पशु में और मनुष्य में क्या फर्क है। सारांश यह हुआ कि शारीरिक आराम मिलना ही मनुष्य देह पाने का परमफल नहीं है यदि स्त्री, पुत्र, धन, महल, मकान मिलना ही मनुष्य देह पाने का फल होता तो देवताओ के पास तो सारे सुख की सामग्रियाँ भरपूर प्राप्त हैं, उनको किसी बात की कमी नही है फिर भी वे बार-बार मनुष्य देह पाने के लिये चाहना करते हैं। इससे यह मालूम होता है कि मनुष्य शरीर पाने का इन चीजों से बढकर कोई अवश्य दूसरा ही फल है, इसी कारण शास्त्रों द्वारा हम मनुष्यों को बार-बार चेतावनी दी जाती है कि भाई श्री भगवान की कृपा से तुम्हें देव दुर्लभ यह शरीर मिला हुआ है। आहार, निद्रा, मैथुन, शोक, मोह, ईर्ष्या,

वैर में ही शरीर को बिताकर इस मिले हुए शुभ अवसर को अपने हाथ से मत बर्बाद करो। पशुओं से बढ़कर एक अमूल्य रत्न परमात्मा ने हम लोगों को दे रखा है उसका नाम है ज्ञान। सुन्दर ज्ञान युक्त मनुष्य देह से हम लोग यदि चाहें तो सद्गुरु के द्वारा क्या छोड़ना, क्या ग्रहण करना, सबसे ऊँचा दुःख रहित सुख क्या है और कहाँ है तथा कैसे मिलता है, इस बात को भली भांति समझ कर देव दुर्लभ स्थान को भी प्राप्त कर सकते हैं। जो बडे महात्मा हो चुके हैं वे यही कह गये कि भाई! परमात्मा ने यदि तुम्हें मनुष्य देह दिया है तो खूब सोच समझ कर समय बिताओ और इस बात को भूल न जाओ कि मल-मूत्र का भण्डार, दुर्गन्ध का प्रधान, उत्पत्ति स्थान जो गर्भस्थली है उसमें ९ महीने तक बुरी तरह दुर्दशा भोगनी पड़ी थी और बाल्यावस्था में भी अनेक कष्ट भोगने पड़े थे, जवानी में अनेक प्रिय जनों के वियोग हो जाने के कारण अनेक बार शोक ने भलीभांति सताया और अभी भी किसके-किसके वियोग में कितनी बार परवश रोना पडेगा इसका कोई निश्चय नहीं। अभी एक भारी मृत्यु की बला माथे पर बैठी हुई है, वह न जाने किस दिन घर में, जंगल में कौनसी बिमारी से परवश मार डालेगी। भयंकर गर्भ का दुःख बाल्यावस्था के अनेक कष्ट, परवश अनेक कुटुम्बियों के वियोग का शोक और इच्छा बिना भी जन्म पर्यन्त के अति परिश्रम से कमाई हुई सारी सम्पत्ति और सभी कुटुम्बों को रोते हुये छोड़ कर, स्वयं रोते हुए मृत्यु के गाल में चले जाना यह क्या बात है? हम जीवों को यह दुर्दशा क्यों भोगनी पडती है? यह क्या ससार है? इस दुःख से छुड़ाने वाला कोई है कि नहीं? यदि है तो कौन है? इस प्रकार उद्वेग पाकर किसी सच्चे मार्ग बताने वाले सद्गुरु के पास जाकर सच्चा सुख मिलने के लिये अवश्य कोशिश करना और इस बात को जरूर समझे रहना, इसको कभी भी भूलना नहीं कि जिस मकान को हम मकान समझ रहे हैं यह हमारा सच्चा मकान नहीं है, जिसको हम अपना माँ-बाप समझ रहे हैं, ये हमारे सच्चे माँ-बाप नहीं हैं, जिन को हम अपना करके मान रहे हैं ये कोई भी हमारे नहीं हैं, जिस धन को पाकर अपने को हम कृतकृत्य मानते हैं यह सच्चा धन नहीं है, जिस देह के लिये अनेकों से ईर्ष्या, वैर करते हैं, जिसको पोषते हैं, दुलारते हैं यह हमारा सदा के लिये नित्य शरीर नहीं है, जिस जाति में रहकर अभिमान में मरे जाते हैं यह हमारी सच्ची जाति नहीं है, हमारे प्रारब्ध के अनुसार

बीच में हुआ है और सब बीच ही में रह जाने वाला है। हम लोग जब गर्भ में थे उस वक्त ये लोग हमारा कोई भी साथ नहीं दिये और जिस दिन मरकर आत्मा चलेगा उस दिन ये कोई साथ न देंगे, न काम आयेंगे। सब अनित्य है, क्षणिक हैं, स्वार्थ के साथी हैं। सम्पत्ति में हांजी-हांजी करने वाले हैं और विपत्ति पड़ने पर कोई काम आने वाले नहीं हैं। यह सारा संसार पालिश भरा हुआ है। जैसे एक डब्बे में ५० आदमी बैठे हुए हैं, सब के टिकट न्यारे न्यारे हैं, कुछ देर के लिए इकट्ठे हुए हैं परन्तु सब जहाँ-तहाँ स्टेशनो पर अपने-अपने टिकट के अनुसार उतर जाने वाले हैं। उसी प्रकार मकान है दस-पाच मनुष्य निवास करते हैं, कोई भाई है, कोई बाप कहाता है, कोई काका होता है, कोई मालिक है, कोई जीव औरत बना है, कोई चेतन माता कहाता है, कोई धनी, कोई लडका, कोई नौकर, कोई बहू, कोई बेटी इत्यादि अनेक नाम से सब कहे जाते हैं। सबों का कर्म अलग २ है, सबों का आयुष्य फर्क-फर्क है। कितने दिन तक कौन जिएगा, किस रोग से कब कौन मरेगा इस बात का किसी को परिज्ञान नहीं है। इन सबो को कर्म के अनुसार परमात्मा ने सबको उम्र फर्क-फर्क नियत कर रखी है और काल को समझा रखा है कि जब जिसकी उम्र पूरी हो जाय उसको जरूर मार डालना। उसी नियम के अनुसार काल अपना कार्य कर लेता है याने मार डालता है। इससे इन सबों से जितना प्रेम मोह कम करके रहेंगे उतना ही सुख से रहेंगे और जितनी प्रीत करेंगे उतना ही मरण के बाद शोक मोह सतायेगा। इन अनित्य बन्धुओं पर अनित्य संसारी वस्तुओं पर ममता करके, अपनापन करके, इन लोगों के जरिये हमें सुख होगा ऐसा बेसमझपने का भरोसा करके, आज तक न किसी ने सुख भोगा है न भोग सकेगा। जब इनका मरण जीवन अपने हाथ में ही नहीं है फिर इन लोगों के ही लिये देव दुर्लभ मनुष्य देह का सारा समय खो देना कितनी भूल की बात है। इससे अब तो इन बातों को भली-भाँति समझ कर सच्चा और मिथ्या बन्धु कौन है? गर्भ में रक्षा करने वाला सच्चा माँ-बाप कौन है? जब यह जीव सब को छोडकर मृत्यु के मुख में चला जाता है, सब छूट जाने की हालत में उसे सम्भालने वाला सच्चा प्रिय बन्धु कौन है? तथा कहां रहता है? फिर भी हमें उस नरक रूपी गर्भ में न आना पड़े और बुरी हालत से फिर मृत्यु की बला न भोगनी पड़े तथा वह नित्य सुख का लोक कहां है? इन बातों को

सद्गुरुओं के द्वारा जरूर से जरूर तलाश करना और जिस तरह से इस भवसागर से तरण हो इसको अवश्य करना चाहिये। क्यों कि बडों का बचन है कि :—

दो०—जो न तरै भवसागर हीं नर समाज असपाय।
ते कृत निन्दक मन्दमति आतम हन गति जाय॥
सो परत्र दुःख पावई सिर धुनि-धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महि ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय॥

इसका अर्थ यह भया कि भगवान की निर्हेतुक कृपा से देवदुर्लभ इस मनुष्य शरीर को प्राप्त कर श्री भगवान के परम प्यारे सद्गुरु के उपदेश द्वारा नित्य अनित्य का विवेक कर चौदह लोकों के सुखों को अनित्य, नाशवान समझकर, परमपद के सुखों को नित्य और नाश रहित जानकर, श्री भगवान की शरण होकर जो चेतन इस भवसागर से नहीं तर जाता है वह कृतघ्न है और मंद मति है। उसने अपना आत्मघात किया। आत्मघातियों की जो दुर्गति होती है वही उसकी भी होती है। देव दुर्लभ मनुष्य देह में मिला हुआ भगवान की सेवा सत्संग के लायक इस अमूल्य टाइम को पाकर, सच्चे बन्धु परमात्मा की शरण जाकर परम धाम को नहीं प्राप्त कर लेता है और फिजूल, क्षणिक अनित्य, तुच्छ ऐश-मौज में समय खो देता है, फिर जब आगे उसकी भयंकर दुर्गति होती है तो खूब दुख पाता है, शिर धुन-धुन कर पछताता है और काल को कर्म को परमात्मा को व्यर्थ ही दोष लगाता है। क्योंकि खुद तो उस से करते न बना, अमूल्य समय को व्यर्थ खो दिया और दुर्गति का काम किया। श्री भगवान तो सदा कृपालु हैं। कृपा करके हम लोगों को देव दुर्लभ अमूल्य हाथ, पैर, कान, आँख, नाक, बुद्धि, मन, विचार के साथ मनुष्य का देह दिये हैं। उन शास्त्रों के द्वारा वार वार समझा दिये हैं और मुनियों के द्वारा शास्त्रों का प्रवर्त्तन करा कर बता दिया है कि मनुष्य देह मिलने का प्रधान फल श्री भगवान की प्राप्ति है। इससे हे जीवो! इस सुन्दर शरीर को फिजूल अनित्य वस्तुओं के लिए ही मत बिता दो। किन्तु इसको भगवान के भजन, कीर्त्तन, श्रवण, स्मरण में ही लगावो। इस मन से श्री हरि का ध्यान किया करो। फिर भला-बुरा, नित्य-अनित्य वस्तुओं का विवेक करा कर परमपद मिले जिन

यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता है। उस परमपद मिलने के लिए शास्त्रों द्वारा निश्चय की हुई श्रीहरि की कृपा ही एक अचूक उपाय है। अनेक झंझटों से भरे हुए जो इतर उपाय है उनको जड़ मूल से छोड़कर श्री हरि की एक कृपा ही का दृढ़ अवलम्ब पकड़ो। इस प्रकार निचोड़ तत्वों को समझाने वाले सद्गुरुओं को भी हमलोगों को देकर प्रभु ने महान अनुग्रह किया है। इतने पर भी हमलोग अपनी मूर्खता वश अच्छी संगति को न करके कुसंगति में समय बिताकर यदि बार-बार संसार चक्र में भ्रमण किया करें तो फिर इस में श्री भगवान क्या करें और उनका क्या दोष है। जैसे किसी महापुरुष का कहा हुआ एक श्लोक है—

शास्त्रं भूरि निज स्वरूप मतये स्वाराधनार्थं वपुः।
स्वाध्यानाय मनस्तु शुद्धि ममलां लब्धुश्च तीर्थादिकान्॥
तत्त्वान्यप्युपदेष्टुमुत्तम गुरुन् दत्त्वानुगृह्णाति नः।
संसारे तदपि भ्रमेम यदि किं कुर्वीत सर्वेश्वरः॥

इस श्लोक का अर्थ पहले ही लिख चुके हैं। हे महानुभावो ! इस प्रकार से शास्त्रों में हम जीवों के कल्याण के लिए बार-बार समझाया हुआ है और संसार में अच्छे-अच्छे पहुँचे हुए जो महात्मा लोग हो गये हैं उन लोगों ने भी हम लोगों को बहुत कुछ चेतावनी दी हैं कि मनुष्य देह पाना उसी जीव का सफल माना जा सकता है कि जिसने मोक्ष पा लिया। इससे हमलोगों को सब से पहिले यही निश्चय कर लेना चाहिए कि परमपद कैसे मिलेगा। परमपद पाने वाले मुमुक्षुओं को कौनसी बात छोड़नी चाहिए और कोनसी बात ग्रहण करनी चाहिए। क्योंकि बार-बार संसार चक्र में भ्रमण करने वाले जो जो बद्ध जीव हैं वे तो चाहे जसे रहें, परन्तु जिन लोगों को इस संसार का भली-भाँति स्वरूप मालूम हो गया है, संसार भयंकर मालूम पड़ता हैं और फिर गर्भ मे आने से जीव घबड़ाता है। बाल्यावस्था के दुःख स्मरण से कलेजे में कंपकंपी हो जाती है। परवश आने वाली मृत्यु की बला तथा मरण समय के भयंकर दुःख की याद आने से जिसका मन संसार से उचाट खाता है और यह बात जी में बार-बार उठती है कि बिना परमपद मिले किसी प्रकार कभी इस आत्मा को

सुख और शान्ति मिल ही नहीं सकती है। इस प्रकार संसार दुखों से घवडाये हुए जो मुमुक्षु लोग हैं उनको तो बिलकुल सम्भल करके ही ससार में रहना चाहिए और बिलकुल फिजूल टाइम नहीं खोना चाहिये। हमें संसार में किस तरह रहना चाहिये, क्या छोडना चाहिए, क्या ग्रहण करना चाहिए इस बात को जरूर जान लेना चाहिए। सच्चे मुमुक्षुओं के जानने के लिये दो-चार बातें हैं। उनको जिस प्रकार शास्त्रों में समझाया है उसको क्रमशः मैं निवेदन करूँगा। आप लोग एकाग्र चित्त से श्रवण करिये। जो ना समझ हैं उनके लिये तो हमें कुछ कहना ही नहीं है। जो मिथ्या तर्क-बितर्क ही में समय बिता कर मनुष्य देह की कीमत नहीं जानने वाले हैं उनसे कोई मतलब नहीं है। हमें सिर्फ संसार से घवड़ाए हुए मुमुक्षुओं के लिये ही कुछ कहना सुनना है।

मुमुक्षओं को चाहिये कि श्री भगवान के ऊपर स्वप्न में भी कभी दोषारोपण न करे। पहले तो भूल कर मी अन्याय के कार्य में जावे ही नहीं। कदाचित शरीर के सम्बन्ध के कारण भूल-चूक से कुछ बन जाय तो उसमें बहुत पछताना चाहिए और आगे फिर कभी वैसा न हो सके इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए और उसमें अपने को ही पूरा-पूरा दोषी मानना चाहिए। यह कभी नहीं कहना चाहिए कि श्री भगवान ही की ऐसी इच्छा थी तो हम से यह अन्याय हुआ याने श्री भगवान ने प्रेरणा करके ही हम से यह अन्याय कराया। क्योंकि श्री भगवान ने श्री गीताजी में मुमुक्षुओं के लिए खुले शब्दों में कृपा करके समझाया है कि :—

बलं बलवतां चाहं कामराग विर्विजतम्।
धर्मा विरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ॥

इसका अथ यह भया कि हे अर्जुन! बलवानों में जो वल है वह मैं ही हूँ याने मेरा दिया हुआ है परन्तु जिस प्रीति और वल से यह चेतन अन्याय करता है वह वल प्रेम हमारा दिया हुआ नहीं है। याने वह हमारे सम्मति से नहीं है। उसका प्रेरक मैं नहीं हूँ। याने जिस वल से धर्म विरुद्ध झगडा, टंटा, वखेडा और शास्त्र विरुद्ध इन्द्रियों की परवशता इत्यादि उटपटांग कार्य जो यह चेतन करता है इन सवों में मेरी प्रेरणा नहीं है। उसका कर्त्ता वह

खुद ही है तथा उस अन्याय का बुरा फल उसको ही भोगना पड़ता है। इससे मुमुक्षुओं को चाहिए कि कभी भी शास्त्र विरुद्ध कामों को न तो करें, न प्रमाद से वासना वश हो जाने पर उसको श्री भगवान से कराया हुआ समझे। और श्री महा पुरुषों के वचन हैं कि :—

दो०—सुखी जो सीताराम सो दुखी जो निज करतूत।
तुलसी ऐसे सन्त को सकै न कलियुग धूत॥

याने जो किसी प्रकार का दुःख आने पर अपने कर्मों का फल मानते हैं याने दुःख विपत देने वाले श्री भगवान को स्वप्न में भी न कहते हैं, न समझते हैं। यह विपत दुःख हमारे प्रारब्ध के अनुसार मिला है, श्री भगवान तो चेतनों का सदा भला ही करते हैं। वह तो कभी किसी का बुरा करते ही नहीं। दुःख पड़ने पर भी श्री हरि में दोषारोपण नही करते और उल्टा यह कहते हैं कि हमारे कर्म में तो बहुत दुःख भोगना लिखा था परन्तु परम दयालु श्री परमात्मा फाँसी का दुःख काँटे में कृपा करके भोगवा दिए हैं। इस प्रकार शुद्ध विचार पूर्वक श्री परमात्मा में दिन दूना रात चौगुना प्रेम बढ़ाते, परम धन जो आस्तिकता है उसका खूब रक्षण करते हुए, भली भाँति धैर्य पूर्वक दुःख में सम्भल कर रहते हैं और किसी प्रकार सुख प्राप्त होने पर उसको श्री सीतारामजी की कृपा ही का फल मानते हैं, ऐसा कहते हैं कि हमारे कर्मों में सुख कहाँ बदा था, हमारे कर्म में आराम कहां लिखा था ये तो श्री भगवान की कृपा ही से मिला है। कुछ भी आमदनी हो, किसी मुमुक्षु महात्माओं का दर्शन हो, घरमें बढती हो, शरीर मे निरोगता हो, कही भी मान मर्यादा हो इन सब मे जो लोग श्री भगवान ही की कृपा का अनुसन्धान करते हैं याने दुःख को कर्म का फल मानते हैं और सुखको श्रीहरि की कृपा का फल मानते हैं वे सच्चे समझदार हैं। ऐसे मुमुक्षु सन्तों का कलियुग कुछ भी नहीं बिगाड सकता है। और भी बडों का वचन है कि—

चौ०-गुण तुम्हार समुझहिं निज दोषू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू॥
जिनहि राम तुम प्राण पियारे। तिनके उर शुभ सदन तुम्हारे॥

याने जो लोग अच्छी बात होने पर उसको श्रीहरि की कृपा का फल मानते हैं और जो

कुछ दोष हो जाय उसको हम से हुआ, ऐसा मानते हैं याने दुःखों को कर्मों का फल मानते हैं ऐसे सच्चे समझदार मुमुक्षुओं के हृदय में श्री रघुनाथ जी का जरूर निवास होता है। हे महानुभावो! शास्त्र तथा महात्माओं के कहने का साराश यही है कि मुमुक्षओं को चाहिए कि कभी स्वप्न में भी किसी बात में भी श्री भगवान पर भूल करके भी दोष न लगावे। ता जिन्दगी इस व्रत का जो पालन करेगा उसका अवश्य वेड़ा पार होगा। हे सज्जनो! आप लोग इस बात को सोचिए बिचारिये कि परम पवित्र हरेक हालत में हम लोगों को सम्भालने वाले परम हितैषी परमात्मा कभी भी क्या किसी का बुरा कर सकते हैं? कदापि नहीं। जो लोग बेसमझ हैं, सत्सग रहित हैं वे लोग तो अपने अज्ञान वश उल्टा ही समझते हैं। उनके लिए तो हमें कुछ कहना सुनना नहीं है। पत्थर के सूक्ष्म कणों के समान ज्ञान हीन जडवत् अकर्मण्य होकर, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, शून्य, न जाने यह जीव कहां पडा हुआ था। जिसको परम कृपालु श्री भगवान ने निर्हेतुक कृपा पूर्वक कर्णकलेवर प्रदान किया। अपने बुरे कर्मों के कारण चौरासी लक्ष योनियो में अनेक कष्ट भोगते हुए इसको देखकर इन कष्टों से छूटकर यह परमपद को प्राप्त हो जाय, इस विचार से असीम दया के परवश होकर सुन्दर इन्द्रिय वर्गों के साथ, देव दुर्लभ पूर्ण आयुष्य के साथ मनुष्य का सुन्दर शरीर दे रखा है। इस शरीर से चाहे तो सत्सग द्वारा स्वरूप उपाय पुरुषार्थ का भलीभाति सद्गुरु के द्वारा ज्ञान करके विरोधी को त्याग कर अचूक उपाय के ऊपर परिस्थिति करके अवश्य दिव्य धाम को यह चेतन ले सकता है। परमधाम के लेने के योग्य श्री परमात्माने निर्हेतुक कृपा से जो ऐसा अमूल्य मनुष्य का शरीर दिया है इसके बावत उस परम कृपालु श्री भगवान का उपकार मानना तो दूर गया किन्तु अपने किसी बुरे कर्मों का ही फल स्वरूप जो दुःख है उसको आने पर जो बेसमझ लोग हैं वे परमात्मा के ऊपर व्यर्थ दोष लगाते हैं। जैसे किसी महात्मा का बचन है कि—

श्लोक—जीवानां दशदामिवत्व मिषतां दिव्यापवर्ग प्रदं।
देहंदत्तवति श्रियः प्रियतमे नैवोपकार स्मृतिः॥
दुःखे जातु चिदागते स्वकलिता दुष्कर्मणः पक्त्रिमा
न्नाथे हन्त निरागसि व्यसनिभि नैर्घृण्य मारोप्यते॥

इस श्लोक का भाव पहले ही कह चुके हैं। जब वेदान्त सूत्रों का अकाट्य सिद्धान्त है कि "वैषम्य नैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्"। इस सूत्र का यह भाव है कि चेतन तो अपने बुरे कर्मों के ही कारण से दुःख भोगता है। उसमें परमात्मा किसी प्रकार दोषी नहीं कहा सकते हैं। क्योंकि चेतनों के बुरे कर्मों के अनुसार ही उन्हें कष्ट भोगना पडता है। उसमें भी वह वहाँ तक फाँसी का दुःख काँटों के समान थोडे ही में भोगवा कर छुटकारा दिलवा देते हैं। जैसे किसी महापुरुष का वचन है कि—

चौ०—दुख न ए रघुपति की दाया। कर्मभोगाय छुड़ावहिं माया।

समझदार मुमुक्षुओं का तो यह अनुभव है कि दुःख में ही पूरा-पूरा स्वरूप ज्ञान होता है, नम्रता आती है। समझदार मुमुक्षु तो ऐसा कहा करते हैं कि दुःख नहीं हैं किन्तु यह श्री रघुनाथजी की दया है। क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का फल तो अवश्य भोगना ही पडता है। भोगे बिना तो छुटकारा है ही नहीं। तो कृपा करके जल्दी ही भोगवा देते हैं यह तो श्री रघुवर का महान उपकार है बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँचे हुए मुमुक्षु महात्माओं का तो महान से महान कष्ट भोगते समय में भी बारम्बार श्री भगवत्कृपा का ही अनुसन्धान हुआ करता है। महापुरुषों का वचन है कि :—

"कस्मिश्चिद्दुखेसति कर्म फलं कृपा फलंवा इति अनुसन्दधीत।"

इस सूत्र का यह भाव भया कि मुमुक्षु महात्माओं को चाहिए कि किसी भी प्रकार का दुख आने पर उसको चाहे अपने पूर्व कर्मों का फल मान ले अथवा श्री भगवान की कृपा का फल। सारांश यह कि श्री भगवान पर कभी किसी प्रकार भी दोष न लगावे। यदि दुख आने पर अपने बेसमझपना से श्री भगवान पर दोष लगायेगा तो इसका फल बहुत बुरा होगा। क्योंकि न जाने कि कौनसे दुष्कर्म का फल उदय भया है कि पहिले ही दुःख आ पड़ा है। और फिर यदि परम हितैषी सच्चिदानन्द स्वरूप हर हालत में सहारा देने वाले, अपना उपकार ही करने वाले, निर्हेतुक कृपा करके पूर्ण आयुष्य के साथ अपने को मनुष्य देह देने वाले, ऐसे महोपकारी प्यारे श्री परमात्मा में भी अपने बेसमझपना से दोष लगाएगा तो फिर न जाने कि और भी कौनसी महा विपत्ति का सामना करना पडेगा। खुद ही

तो अपने बुरे कर्मों का फल दुःख-भोग रहा है और अपनी अज्ञानता वशगर्भ के मित्र, सबके छोड़ने पर सहारा देने वाले, अपने को भव सागर से पार करने वाले, परमात्मा के ऊपर व्यर्थ दोष लगाता है फिर उसका कल्याण कैसे होगा। इससे मुमुक्षु महात्माओं को चाहिये कि किसी दुःख के आने पर न तो परमात्मा को दोष देवे, न तो श्री हरि के सेवा, भजन, कीर्त्तन, पाठ, पूजन, स्मरण, ध्यान से भूल कर भी उदासीन होवे। कैसा भी दुःख आने पर गुरु से, श्री भगवान से, हरि भक्तों से जो अपनी निष्ठा नहीं हटाता है और पूर्ववत् श्रद्धा बनाये रखता है, उसी को शास्त्रों ने सच्चा समझदार मुमुक्षु कहा है। सारे कुटुम्ब, सारी सम्पत्ति के छूट जाने पर या दैववश अचानक नाश हो जाने पर भी जिन लोगों ने श्री भगवान में ज्यों का त्यों पूर्ववत् श्रद्धा भाव बनाये रखा और धैर्य को नहीं छोडा, उसे अपने पूर्व कर्मों का फल माना, उन्हीं धर्म धुरन्धर महानुभावों के नाम आज इतिहासों में गाये जाते हैं। जैसे राजा हरिश्चन्द्र। प्रायः सच्चे मुमुक्षुओं का यही स्वभाव देखने सुनने में आता है। किसी भी कष्ट के पड़ने पर श्री भगवान पर तो दोष लगावेंगे ही क्यों, किसी दूसरे पर भी दोष नहीं लगाते हैं। मुमुक्ष महात्माओं का जगत से विलक्षण ही चरित्र हुआ करता है। लोक को आचरण सिखाने के लिये श्री भगवान भी जब मनुष्य का अवतार धारण करते हैं, शान्ति सुख चाहने वाले सच्चे मुमुक्षुओं के लिए यही बात सिखाते हैं कि किसी प्रकार भी विपत्ति आने पर अपने प्रारब्ध को ही दोष देना चाहिए दूसरे को नहीं। जैसे बन यात्रा के समय श्री रघुनाथ जी लक्ष्मण जी से कहे कि हे भैया लक्ष्मण! राज्य न होकर जो हमें वन जाना पड़ रहा है, इसमें कैकेई अम्बा का जरा भी दोष मत समझो। यह सब हमारे प्रारब्ध के विपरीत होने से ही उन्होंने ऐसा किया है। जब किसी का प्रारब्ध उल्टा होता है तो मित्र भी शत्रु बन जाता है। वो यह श्लोक है :—

श्लोक—न लक्ष्मणास्मिन् खलु कर्म विघ्ने।
माता यवीयस्यति शंक नीया॥
दैवाभिपन्नाहि बदत्यनिष्टं।
जानासि दैवं तु तथा प्रभावम्॥

इसका अर्थ पहले ही कह चुके हैं हे महानुभावो ! श्री रघुनाथजी तो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। वहां प्रारब्ध की क्या कथा है। यह सब मुमुक्षुओं के लिए हैं जिसमें उनकी शान्ति भंग न होने पावे, उसके लिए एक प्रकार की शिक्षा है। चित्रकूट में भी श्री रघुनाथजी का वचन है कि :—

चौ०—दोष देहिं जननी जड़ तेई। जे गुरु साधु सभा नहिं सेई ॥

इसका अर्थ यह भया कि चित्रकूट में श्री भरतजी से श्री रघुनाथजी कह रहे हैं कि हे भैया भरत ! जिसने कभी गुरु द्वारा या सन्ता के मुख से उपदेश नहो सुना है वे ही लोग कैकेयी अम्बा को दोष देवेंगे। क्योंकि सत्संग नहो करने के कारण उन लोगों में विवेक नहीं है। वास्तव में कैकेयी अम्बा का बिलकुल दोष नहो है। अपने आचरण द्वारा जगत को शिक्षा देकर कल्याण करने के लिये श्री जी ने जब श्री जानकी रूप से अवतार धारण किया तो उन्हों ने भी मुमुक्षु स्त्री पुरुषों को यही शिक्षा बताई कि किसी भी कष्ट के पडने पर दूसरे को दोष न देकर अपने प्रारब्ध को ही दोष देना चाहिये। रावण के मर जाने पर श्री रघुनाथजी के भेजे हुए शुभ समाचार कहने को श्री जानकीजी के समीप जब हनुमानजी गये तो वहाँ श्री जानकी जी को बारह महीने तक जो बुरी हालत मे कष्ट पहुँचाई थी उन राक्षसियो पर हनुमान जी की नजर पड़ी। हनुमानजी ने मन में सोचा कि इन राक्षसियों को तो कुछ भी नहीं दण्ड मिला, इन्हें जरूर कुछ न कुछ उग्र दण्ड देना चाहिए। बाद श्री जी से रावण के मरने का शुभ समाचार सुनाये। अनन्तर श्री जी बोली कि बेटा हनुमन्तलाल ! कुछ वर माँगो। प्रसन्न होकर हनुमान जी बोले कि श्री चरणो की इतनी कृपा जब दास के ऊपर है तो अब कौनसा वर बाकी रह गया। फिर भी जब वर मांगने के लिए माताजो ने बार-म्बार आग्रह किया तब अच्छा मौका समझकर हनुमानजी ने कहा कि हे माता जी ! जब आपकी ऐसी ही प्रबल इच्छा है कि इस दास को अवश्य ही कुछ वर देना चाहिए, तो यही वर मिले कि बिना अपराध आपको बारम्बार सतानेवाली इन राक्षसियों को मैं अपनी इच्छानुसार खूब मारूँ पीटूँ। इन पापिनियों को दण्ड देने का अच्छा मौका मिला है। यही श्रीमुख से आज्ञा हो जाय कि इनसे खूब बदला लेऊँ।

इतना सुनकर कुछ देर मौन रहकर श्रीजी बोलीं बेटा ! इनका क्या दोष है। हमारे ही प्रारब्ध में कुछ दुःख भोगना था। इसी से ये सब आज तक घटनायें हुईं। अब प्रारब्ध अनुकूल हो गया है, सब दुःखकी घटनायें भी कहाँ की कहाँ चली गईं। वे ही राक्षसियाँ ये हैं कि अब कुछ भी नहीं कष्ट दे रही हैं। अतः व्यर्थ इन लोगों को दोषी बनाकर दण्ड दिलाने में क्या लाभ होगा। दयामय श्रीजी का वचन सुनकर हाथ जोड़कर आँसू के साथ हनुमान जी बोले कि हे माता जी ! सरकार कृपा सागर हैं। इन राक्षसियों को बचाने के लिए दया करके इस प्रकार दोष अपने में बता रही हैं। नहीं तो शुद्ध मूर्ति साक्षात् श्री जी आप हैं आप में प्रारब्ध दोष कहाँ हो सकता है। समझदार लोग इस बात को कैसे मान सकते हैं ?

इतना सुनकर श्री जी बोलीं कि बेटा हनुमान ! ऐसा नहीं है। यह लीला विभूति प्रारब्धमय है। याने इस संसार में जो कोई आता है, वह दोष से नहीं बॅचता। किसी न किसी तरह ससार में रहने वाले शरीर धारी मात्र से कुछ न कुछ अपराध तो बन ही जाता है। इस दुनिया में कौन है जिससे अपराध न बने।

न कश्चिन्नापराध्यति।

जब कि यह अटल बात है तो समझदार होकर मैं दूसरे को कैसे दोष दे सकूँ। बेटा ! बुरा मत मानना। इस प्रकार हनुमान जी को समझाकर आशीर्वाद देकर श्री रघुनाथ जी के पास जाने के लिए उन्हें आज्ञा करीं। श्री जानकी महाराणी के अपूर्व अलौकिक इस उपदेश से दंग होकर, उनके श्री चरणों का ध्यान करते हुए, श्री हनुमान जी भी श्री रघुनाथ जी के पास आकर, श्री जी के अत्यन्त दर्शन लालसा को प्रणाम कर निवेदन किए।

महानुभावो ! साक्षात् श्रीजी में प्रारब्ध दोष कहा से आ सकता है परन्तु मनुष्यों में जब अवतार धारण करीं तब कष्ट पडने पर मुमुक्षुओं के शिक्षा के निमित्त खुद आप भी उस कष्ट भोग का कारण दूसरे को न बताकर अपने ही कर्मों का फल मानीं। इन पूर्वोक्त प्रसंगों से मुमुक्षुओं को यही सार लेना चाहिए कि किसी प्रकार की भी विपत्ति पड़ने पर भूल कर भी न कभी परमात्मा को दोष देवें, न दूसरे को। यह सारा कष्ट हमारे ही प्रारब्ध से आया है

ऐसा समझे। कष्ट आने पर यदि अपने को कोई सहायता न पहुँचावे तो उनसे मुमुक्षुओं को भूलकर भी विरोध नहीं मानना चाहिए। बल्कि यह समझना चाहिए कि संसार का यह अकाट्य नियम है कि जिसका प्रारब्ध अनुकूल होता है उसका शत्रु भी मित्र बन जाता है और जब प्रारब्ध उल्टा होता है तब मित्र भी शत्रु बन बैठता है। इस प्रकार महापुरुषों के माने हुए सिद्धान्त के ऊपर धैर्य पूर्वक रहकर विपत्ति के समय अपने को सबसे नीचा मानकर नम्रता पूर्वक सबसे मीठा व्यवहार करना चाहिए। ऊँचे पहुँचे हुए मुमुक्षुओं का तो यही कहना है कि—

> विपदः सन्तु नः शश्वत तत्र तत्र जगद्गुरो।
> भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम्॥

यह श्री कुन्ती जी की श्रीकृष्ण भगवान से प्रार्थना है कि हे भगवान श्रीकृष्णजी। मैं आपसे यही मांगती हूँ कि हमारे पर किसी न किसी प्रकारकी विपत्तियां हर वक्त बनी ही रहें। हमें इस बात का खूब अनुभव है कि परमपद गये बिना तो यह जीव सुखी हो ही नहीं सकता है और परमपद तभी जायगा जबकि आपका दर्शन हुआ करे आपके चरणों में चित्त बना रहे। मेरा तो यही अनुभव है कि जब मैं विपत्ति में थी तब एक क्षण भी आपका चरण कमल हमें नहीं भूलता था और आप भी हमारे विपत्ति के समय में द्वारका छोडकर यहीं विराजा करते थे। जब से विपत्ति से छुटकारा हुआ है तब से न तो हमारा ध्यान उस तरह से रहता है न आप उतने टाइम अब यहाँ रुकते हैं। क्यों महात्माओ! महान् मुमुक्ष श्री कुन्ती जी का कैसा अनूठा हृदय है।

एक समय कुन्ती जी पर बड़ी भारी विपत्ति आ पडी। अपने पुत्र पाण्डवों के साथ, प्यारी बहू द्रौपदी के सहित, भयङ्कर जंगलों में अनेक प्रकार की तकलीफ भोगती हुईं समय बिताती थीं। न तो उनके रहने का कोई स्थान था, न मन मुजब वस्त्र का ठिकाना था, न भोजन की कुछ व्यवस्था थी। एक रोज कहीं बैठी हुईं थीं अचानक श्रीकृष्ण भगवान का स्मरण हो आया। श्री भगवान के स्मरण से उनके नेत्रों में प्रेम का आंसू आ रहा था कि अचानक उसी समय उनके समीप एक महात्मा आये। उनको प्रणाम कर आसन देकर बैठाईं।

अनन्तर उनके नेत्रों में आँसू देखकर वह महात्मा बोले कि आप पर इतनी विपत्ति पड़ी हुई है, इस प्रकार इन जंगलों में आप कुटुम्ब के साथ भयंकर बिपत्ति भोग रही हैं। न जाने आप लोगों की यह दुर्दशा समर्थ होते हुए श्री भगवान द्वारका नाथ से कैसे देखी जाती है। संसार के क्रम को प्रारब्धाधीन, तथा श्री भगवान की दयालुता को सत्संग द्वारा नही सुने हुए उस महात्मा के मुखसे श्री भगवान के ऊपर दोषारोपण के वचन सुनते ही श्री कुन्ती जी बोली—महात्माजी! यद्यपि आप दया के परवश होकर इस शब्द को कहे हैं परन्तु मैं तो यही कहूँगी कि आप को किसी सच्चे सत्सगी मुमुक्षु की सत्संगति नही प्राप्त हुई है नहीं तो आप श्री भगवान ऊपर भूलकर भी दोषा रोपण नहीं करते। परमात्मा किसी हालत में भी चेतन का भला ही करते हैं। इस संसार की सृष्टि तो हम जीवों के प्रारब्धानुसार हुई है। श्री भगवान तो शास्त्रों द्वारा सबको समझा दिये हैं कि शास्त्र विरुद्ध कामों को भूलकर भी नहीं करना। शास्त्र को आज्ञा उल्लंघन करके जो उटपटांग काम करेगा उसको उन कर्मों का फल अवश्य भोगना पडेगा। मनु आदि स्मृतियों में जुआ खेलने को बारम्बार मनाई की है, बार-बार पुकार-पुकार शास्त्र समझाता है। इतने पर भी शास्त्र और श्री भगवान की आज्ञा का उल्लघन करके बुद्धिमान होते हुए भी जुआ का परिणाम बुरा होता है, इस बात को जानते हुए भी, जब पाण्डवों ने नहीं माना और जूआ खेला तब उसका फल उन्हें भोगना ही चाहिए। जब खुद ही हमारे पुत्रों ने जान बूझकर बिपत्ति भोगने का काम किया तो इसमें श्रीभगवान क्या करें। वह परम कृपालु तो इन लोगों की मूर्खता की तरफ ध्यान नहीं देते हुए, फिर भी अपनी दया के परवश होकर हम लोगों के प्रारब्ध भोग में भी मौके मौके पर सहारा करते ही आ रहे हैं। आप लोगों को मालूम ही है कि सभा में यदि वह कृपा सागर निर्हेतुक कृपा कर चीर नहीं बढ़ाते तो बहू द्रौपदी की किस प्रकार बेइज्जती होती जिसका पारावार नहीं। यदि श्री भगवान से हमारी दुर्दशा देखी जाती तो रजस्वला हालत में इस प्रकार कृपा कैसे करते। फिर हम लोगों को लाक्षागृहमें हमारे कर्म बश जब हम सबों के जल जाने का मौका आया उस समय भी उसी दयासागर ने भयंकर अग्नि ज्वाला से बचाया। दुर्वाशा के श्राप से भी उसी करुणा सिन्धु ने बँचाने का अनुग्रह किया। और भी जब जब हम लोगों पर गाढ आपत्ति आया करती हैं तब-तब वह साँवली मूरत ही निवारण कर जाती है। वह

तो सदा करुणा का भण्डार ही हैं। दुःख तो अपने कर्मों का ही फल है और हम चेतनों के प्रारब्ध वश यदि कुछ शास्त्र मर्यादा तथा संसार के क्रम को रखने के लिए आश्रितों को उधर से फाँसी का दर्द काँटा में निकालने के समान कुछ कष्ट देने का अनुग्रह होता है तो उसमें भी कुछ न कुछ हित ही रहता है। अपनी अज्ञानता वश हमलोग समझें या न समझें। जैसे अपने प्यारे पुत्र के मर्मस्थल में खतरनाक फोडिया हो जाती है और हरेक उपाय से जब नहीं आराम होती है तब अपना हृदय कडा करके पुत्र के भविष्य सुख के उद्देश्य से उस प्रिय पुत्र के सद्यः चिल्लाते छटपटाते हुए भी पिता उन फोडियों को तीखे अस्त्र से चीरवा डालता है। उसके इस कर्त्तव्य से समझदार लोग उस हितैषी पिता को दोष नही देते हैं। वस यही दशा आश्रितों के लिए परम कृपालु श्री भगवान की समझिए। जैसे किसी उच्चकोटि के महात्मा का वचन है—

श्लोक—हरि दुःखानि भक्तेभ्यो हित बुद्धया प्रयच्छति।
वृणेशास्त्रादि कर्माणि स्वपुत्रस्य यथापिता॥

इसका अर्थ वही है जो पहले समझा चुका हूँ। इस प्रकार उस महात्मा को समझा कर कुन्ती जी वोलीं कि महात्मा जी! क्षमा करना। बुरा नहीं मानना। किसी भी कष्ट के समय भूलकर भी अपने परम हितैषी परमात्मा के ऊपर दोषारोपण नही करना। इस प्रकार से विपत्त हालत में भी उनके मुख से सच्चा शुद्ध ज्ञान श्रवण करके वह महात्मा गद्‌गद् होकर वोले कि माता जी आपको अनेकों धन्यवाद है कि ऐसी विपत्त में भी इस प्रकार से दिव्य ज्ञान आप में वना हुआ है वस इसी का नाम निष्ठा है। आप ही के समान मुमुक्षु लोग उस दिव्य धाम के अधिकारी हैं। इसी निष्ठा का फल है कि साक्षात् श्रीपति आप लोगों के नातेदार वने हैं। माता जी! सचमुच इस वात का सत्संग आजतक मुझे नहीं हुआ आज मैं भी अपना सुदिन समझता हूँ कि आपका दर्शन प्राप्त हुआ। इतना कहने के वाद वह महात्मा कुन्ती जी से वोले कि अपना दुःख छुड़ाने के लिए श्री भगवान से आप प्रार्थना क्यों नहीं करतीं।

इतना सुनकर कुन्ती जी वोलीं कि महाराज जो सद्‌गुरुओं के मुखसे सत्संग किया होगा

और इस बात को भली भाँति समझा होगा कि इस संसार की रचना चेतनों के प्रारब्धानुसार हुई है। इस संसार में आए हुए चेतन को प्रारब्धानुसार समय-समय पर कष्ट अवश्य भोगना पड़ता है प्रारब्ध भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है। इस चेतन के पूर्व कर्मानुसार प्रथम जो कुछ परमात्मा इसके लिए संकल्प कर चुके हैं वह अवश्य ही होकर रहता है। पहिले का इस चेतन के ऊपर जो कुछ संकल्प हो चुका है उसके पूरा हो जाने के बाद फिर आप ही दिन पलट जाता है। जैसे ज्येष्ठ महीने में बहुत गर्मी पड़ती है, मनुष्य घबड़ा जाते हैं उसके बाद संसार के क्रम के अनुसार बिना कुछ प्रयत्न किए ही स्वयं आषाढ श्रावण में ताप को मिटानेवाली मनोहर ठंढी-ठढी वर्षा की झरी आ जाती है। फिर आश्विन मास में बिना प्रयत्न ही आप ही आप संसार के नियमानुसार गर्मी भी आजाती है।

फिर प्रार्थना बिना हीं कार्तिक अगहन की ठंढी भी आजाती है। इसी प्रकार दुःख के बाद सुख भी आजाता है। समझदार लोग तो शारीरिक दुःख निवारण करने के लिए परमात्मा से कभी भी प्रार्थना नहीं करते हैं। महात्माजी! दिन के पिछे रात, रात के पीछे दिन, प्रातः के बाद मध्यान्ह, मध्यान्ह के बाद सायंकाल जैसे आपही आया जाया करते हैं इसी प्रकार दुःख सुख भी स्वय आया जाया करते हैं। अतः किसी भी बिपत के आनेपर धैर्य धारण करके भोग लेना हीं मुमुक्षुओं का कर्त्तव्य है। परमात्मा जिस वृक्ष को जिस महीने में फूलने फलने का पहले सकल्प कर चुके हैं, उसी महीने में वह फूले फलेगा। उसके पहले कोई उनके फलने फूलने की प्रार्थना करे तो उसको परमात्मा के नियम के विरुद्ध माना जायगा। और उसकी नहीं सुनाई करने के कारण श्री भगवान अशक्त असमर्थ नहीं कहे जायेंगे। जैसे भगवान श्री रामजी ने चौदह वर्ष तक जंगल में रहने का एकबार सकल्प कर लिया। बाद शृङ्गवेरपुर में उनका परम मित्र श्री निषाद राज ने अपने ही नगर में चौदह वर्ष रहने के लिए बहुत कुछ प्रार्थना की, परन्तु पूर्व सकल्प के विरुद्ध होने के कारण स्वीकार नहीं किया गया। श्रीरामजी के परम सुहृद सुग्रीवजी ने भी किष्किन्धा में अपने महलों में निवास करने के लिए बहुत आग्रह किया परन्तु नियम के विरुद्ध होनेके कारण सुनाई नहीं हुई। इसी प्रकार शरणागतों के शिरमुकुट श्री-विभीषणजी ने अपने राज्य के समय में अपने राजमहल में पधारने के लिए श्री रघुनाथजी से बहुत बिनती की परन्तु पूर्व

संकल्प के विरुद्ध होने के कारण उसको स्वीकार नहीं किये। चित्रकूट में महात्मा श्री भरतजी ने श्री रघुनाथजी के पूर्व सकल्प को छोड देने के लिए और श्री अयोध्या में लौटने के लिए, फिर राज्य स्वीकार करने के लिए बहुत कुछ आग्रह किया, परन्तु उस वक्त एक भी काम नहीं दिया। श्री रघुनाथजी की तरफ से यह कहा गया था कि भाई भरत ! पूज्य पिताजी की आज्ञानुसार चौदह वर्ष तक जगल में रहने का पहले ही मैं सकल्प कर चुका हूँ। इससे उस संकल्प के विरुद्ध किसी भी प्रार्थना को नहीं मान सकता। बाद मे भरतजी को बडे कष्ट के साथ तपस्वी वेप से अयोध्यापुरी के बाहर नन्दीग्राम में रहना पडा। परन्तु अयोध्या आने तथा राज्य स्वीकार करने की, प्रार्थना उस समय नहीं सुनी गई। जब ऐसे महापुरुप उनके पूर्व सकल्प के खिलाफ खुद उन्हीं के आराम के लिए प्रार्थना किये और उस पर नहीं ध्यान दिया गया। तो नियम के विरुद्ध दूसरे की किस तरह सुनी जा सकती है। परमात्मा का नाम भी तो सत्यसंकल्प है। उनके सकल्प के विरुद्ध कोई प्रार्थना करे तो उसकी भूल है। पूर्व सकल्प के विरुद्ध किसी की प्रार्थना को यदि परमात्मा पूरा नहीं करें तो उसमें प्रभु का कुछ भी दोप नहीं है। इससे समझदार मुमुक्षुओं को चाहिए कि भयकर से भयकर विपत्ति आनेपर भी अपने शारीरिक कष्ट निवृत्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना न करे न अपने शरीर सम्बन्धी स्त्री पुत्र आदि के लिए। अपने को चाहे अपने सम्बन्धियों को किसी प्रकार की बिमारी या आर्थिक कष्ट हो जावे तो परमात्मा का दिया हुआ अपने में जो बुद्धिबल है उसीके जरिये औपध वगैरह से धीरतापूर्वक फलभाग परमात्मा के पूर्व सकल्प के अनुसार ध्यान रखता हुआ निवारण का प्रयत्न भले ही करे परन्तु उस दुःख को छुडाने के लिए परमात्मा से कभी भूलकर भी प्रार्थना न करे। यदि परमात्मा के पूर्व संकल्पानुसार दुःख छूटना होगा तो समय आने पर सामान्य प्रयत्न से भी छूट जायगा और यदि उसके प्रारब्धानुसार उसका मरनाहीं परमात्मा संकल्प कर चुके होंगे तो एक भी उपाय काम नहीं देगा। शारीरिक कष्ट या आर्थिक कष्ट आने पर भूल कर मनौती न करे, न उस कष्ट के छुड़ाने के लिए किसी प्रकार का अनुष्ठान करावे, न उसके निवारण के लिए किसी प्रकार के यन्त्र-मन्त्र का प्रयोग करावे। न धैर्य को छोड़े। परमात्मा के संकल्प के अनुसार जो बदा होगा वही होगा। इस प्रकार का निश्चय विचार मन में रखता हुआ, दयालु यशस्वी वैद्यों से शुद्ध औपध का

प्रयोग करावें। परमात्मा नातेदार हैं और कृपा भी असीम उनमें है। सारी द्वारिका सोने की पाव मिनट में अपने संकल्प से निर्माण किया ऐसे वह सर्व समर्थ हैं। उनकी बहिन जिसके बेटे से ब्याही है, धर्मराज पुत्र हैं तथा विद्वानों के शिरोमणि त्रिकाल दर्शी सहदेव, उस कुन्ती को भी यदि पूर्व प्रारब्ध के अनुसार दुःख भोगना पडा है। फिर दूसरों के पास कौनसा ऐसा प्रबल प्रयत्न है कि जो प्रारब्ध को मिटाकर सुखी बना सकता है इससे सच्चे समझदार मुमुक्षुओं को चाहिए कि धैर्य धारण करके कर्म फल या कृपा फल मानकर गुपचुप अपने विपत्ति को भोग लेवे। मूर्खता वश यदि किसी की विपत्ति या बिमारी छुडाने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करेगा और उसके पूर्व प्रारब्ध के अनुसार प्रार्थना की परमात्मा सुनाई नहीं करेंगे और बार बार प्रार्थना करने पर भी अपने प्रारब्धानुसार वह बीमार मनुष्य मर जावेगा तो उस प्रार्थना करने वाले के हृदय पर नास्तिकता आजाने का भय है। कारण कि वह अज्ञानी है यह उसको ध्यान नहीं है कि पूर्व संकल्प के विरुद्ध जब श्री भरतजी की प्रार्थना निष्फल गई तो हम चीज ही क्या हैं। बिभीषण जी, सुग्रीवजी, निषादराज, इन लोगों के समान आज हो ही कौन सकता है ? इन लोगों की प्रार्थना जब श्री भगवान-ने नहीं सुनी, फिर भी इन लोगों में से किसी ने राई बराबर भगवान से श्रद्धा कम नहीं किया बल्कि यही सोचा कि भगवान ही का कर्त्तव्य ठीक है। हम लोगों की गल्ती और दुर्भाग्य है। महात्माजी ! एक समय बिदुरजी कृपा करके यहां पधारे थे। उनके ही मुख से यह सारा प्रसंग मैंने श्रवण किया उनका तो बार-बार यही कहना हुआ कि माता जी ! सच्चे सत्संगी और खरे ज्ञान वाले, संसार के क्रम को भली-भांति जानने वाले मुमुक्षु महानुभाव लोग नित्य सेवा के सिवाय याने परमपद में जाकर अनन्तकाल तक श्री पति की सेवा किया करूँ। इसके सिवाय अनित्य नाशवान क्षणिक शारीरिक सुख के लिए परमात्मा से कभी स्वप्न में भूलकर भी प्रार्थना करते ही नहीं। जैसे किसी सच्चे मुमुक्षु के मुख से कहा हुआ एक वचन है :—

श्लोक—मुमुक्षुर्नैव या चेत नित्य सेवां बिना परम्।
शारीरिकं सुखं विष्णोरनित्यं चलमध्रुवम्॥

इस श्लोक का अर्थ पहले ही हो चुका है। यह श्लोक श्री विदुरजी के मुख से, मैं सुनी

थी। श्री कुन्तीजी के मुख से इस प्रकार शुद्ध और सच्चा ज्ञानोपदेश श्रवण करके कुन्तीजी को हाथ जोड़ कर बोले कि माताजी! अब मैं भी ताजिन्दगी परमात्मा की नित्य सेवा के अतिरिक्त कभी किसी चीज की याचना नहीं करूँगा। इस प्रकार से प्रतिज्ञा करके उनसे आज्ञा मांगकर वह व्यक्ति अपने स्थान पर चले गये।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज संरक्षित विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचाय श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमांसा का चतुर्थ खण्ड समाप्त

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

शरणागति मीमांसा

(पञ्चम खण्ड)

श्री देवराज गुरु अपने मुख से ज्ञान सुननेके लिये एकाग्र चित्त से बैठे हुए मुमुक्षु महानुभावों से निवेदन कर रहे हैं कि हे महात्माओ ! ससार में मुमुक्षुओ को कैसे रहना चाहिए यह बात पूर्वोक्त प्रसंगों से भली भांति आप सब अनुभव कर ही लिए। इससे यदि आप लोगों को खरा दृढ मुमुक्षु होकर अन्त में अवश्य परमधाम में जाने का विचार होय तो परमात्मा के श्री चरण कमल से कभी भी श्रद्धा विश्वास नहीं हटाना दिनों दिन निष्ठा बढाते रहना। पूर्वोक्त प्रसगों को सदा ध्यान में रखना। प्रारब्ध भोग के समय परमात्मा को शामिल नहीं करना याने दुख छुड़ाने के लिये भूल कर भी परमात्मा से कभी प्रार्थना नहीं करना। इस प्रारब्ध भोग की बडी कठिन समस्या है। इस संसार का नाम लीला विभूति है। इसमें परमात्मा ने जिसक लिए जो कुछ नियम कर लिया है वैसा, होकर ही रहता है। जब कि साक्षात् जिन लोगों के यहां परमात्मा रहते थे उन्हें भी प्रारब्धानुसार तकलीफ भोगना पडा तो फिर दूसरे की बात ही क्या। इसी पर तो आश्चर्य के साथ भीष्म ने कहा कि अहा !—

श्लोक—यत्र धर्म सुतो राजा गदापाणिर्वृकोदरः।
कृष्णोऽस्त्री गाण्डिवं चापं सुहृत्कृष्णस्ततो विपत् ॥

इसका अर्थ पहले ही समझा चुके हैं। इस लीला विभूति में साक्षात् परमात्मा और श्री जी कृपा पूर्वक मनुष्य अवतार लेकर पधारते हैं। वे भी एक-दो बातों को छोड़कर संसार के एक-एक नियमों को लोक शिक्षार्थ खुद पालन करते हैं।

श्री रघुनाथ जी के बाबत तो नियम पालने का प्रसंग कह ही चुके हैं अब श्री जी का सुनिए। हनुमान जी अशोकवाटिका में जब श्री जी के दर्शन किये तब उनका धैर्य छूट गया और बहुत विलाप किये। रोते हुए कहे कि ऐसी भयंकर विपत्ति यदि श्री जी को भी भोगनी पड़ रही है तो फिर दुनियाँ मे ऐसा कौन है जो विपत्ति से बच सकेगा। जब कि सर्वसमर्थ भूत, भविष्य, वर्त्तमान को जाननेवाले, चाहे तो पाव मिनट मे क्या का क्या कर दें, उनकी भी प्राणप्रिया इस ससार में आने के कारण यदि विपत्ति से नहीं बच सकी तो हम यही कहेंगे कि दुनियां में आनेवाले को कभी न कभी किसी न किसी प्रकार की विपत्ति भोगनी ही पडेगी। साक्षात् श्री जी में कौनसा प्रारब्ध बैठा है। परन्तु इस विभूति मे आनेवाले को अवश्य प्रारब्धानुसार कष्ट भोगना ही पड़ता है। इस बात को संसार को बताने के ही लिए तो यह शिक्षा है। हनुमान जी का वचन—

श्लोक—मान्या गुरु विनीतस्य लक्ष्मणस्य गुरु प्रिया।
यदि सीतापि दुःखार्त्ता कालो हि दुरतिक्रमः॥

इसका भाव कह चुके हैं और श्री दशरथ जी कौशल्या जी तथा श्री सुमित्रा जी के समान इस ब्रह्माण्ड में उपमा देने को कौन है, उनको भी ससार में आने के कारण यदि परमात्मा, के नियमानुसार विपत्ति का सामना करना पडा तो हद्द हो गया। हमारा प्यारा, रघुवंश दुलारा, राजगद्दी पर बैठे और मैं देखकर अपने नयनों को सफल करूँ, यह मनोरथ था, परन्तु वह नहो पूरा हो पाया। साक्षात् श्री भगवान को सुख पहुंचाने का मनोरथ और भक्त-शिरोमणि श्री दशरथ जी महाराज का मनोरथ और उसी घर मे साक्षात् परमात्मा विराजमान फिर भी ऐसे महापुरुषों की इच्छा भग। इच्छा भग ही नहीं किन्तु उसी वक्त काल के कौल में जाना। वडभागिनी श्री कौशल्या जी, श्री सुमित्रा जी का विपत्ति में पडना और वैधव्य का महा कष्ट मत्थे पर आना। ऐसे वड़भागी भक्त शिरोमणि की महल में महीनों लाश रहे, धर्म धुरन्धर चारों पुत्रों में एक का भी नजदीक नही रहना ये सब क्या है ? आप गहरे विचार से सोचिए जब कि ऐसे घरों में भी परमात्मा के पूर्व नियमानुसार जो होना था सो हो करके रहा और किसी का भी कुछ वश नहीं चला। फिर उनसे वढकर दुनियाँ में कौन है जो सकटों से बच

सकेगा। श्री रामायण के आश्रित वर्गों में ऊँचे कोटि के महात्मा श्री जटायु जी थे जिनको श्री भगवान ने यहीं चतुर्भुज करके आवागमन से रहित स्थान जो परमपद है वहाँ कृपा पूर्वक भेज दिया। परन्तु जो उनका प्रारब्ध भोग था उसको तो उन्हें भी भोगना ही पडा। उसी जंगल में साक्षात् श्री भगवान विराजमान थे क्या उनका कष्ट उन्हें ज्ञात नही था ? परन्तु उस अंश में प्राकृत मनुष्यों के समान अनजान होकर मौन ही रहना पड़ा। कहिए महानुभावों ! अपने श्री हस्तों से जिसका खुद संस्कार किया, पिण्डदान किया, बेखबर होकर रोदन किया, ऐसे महान उच्च कोटि के अधिकारी श्री जटायुजी को भी यदि प्रारब्ध भोगना पडा, फिर उनसे बढ़कर दुनियां में और ज्यादा किस में वैष्णवता होगी जो वैष्णवता के बल से प्रारब्ध भोगों से छुटकारा पाने का दिमाग रख सकेगा।

यह बहुत सूक्ष्म विषय है जो लोग सत्संग नही किये होंगे उन लोगों का दिमाग इन बातों से चकरायेगा। परन्तु हमें तो संसार का अति भयावन रूप समझ कर घबडाये हुए सच्चे मुमुक्षु महात्माओं के लिये ही समझाना है और हमारे पास परमपद ही को चाहने वाले मुमुक्षु चेतनों के लिये खास विषय है। जो सत्संग हीन भगवद्विमुख हैं, उन लोगों के लिये न विषय, न फिजूल विषयों के लिये समय है। आप सब जानते ही हैं कि श्री भगवान ने बड-भागी सुग्रीवजी को अपना मित्र बनाया। कहिए उनसे बढ़के दुनियां में किस का भाग्य होगा, जिसको खुद परमात्मा अपना मित्र बनाये और "बालि को मार कर अवश्य रक्षा करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा कर बोले कि चलो बालि को पुकारो, उसको मैं मार डालूँगा, ऐसा कह कर सुग्रीवजी को बालि को पुकारने वास्ते भेजे और आप धनुष बाण लेकर वृक्ष की ओट में छिपकर खडे रहे। सुग्रीवजी ने बालि को पुकारा। बालि आकर बुरी हालत से उनको मारा। जितनी शक्ति थी वहा तक सहे और अपना बचाव किये। जब देखे कि मार से शरीर शिथिल पड रहा है, अब भगे बिना प्राण नहीं बच सकता है तो ऋष्यमूक पर्वत पर भगकर जान बचाये, पश्चात श्री रघुनाथजी भी पर्वत पर गये। सुग्रीवजी ने कहा आप ने तो मेरे साथ बहुत धोखा किया क्योंकि आप ही के कहने से मैं पुकारा और वह आकर हमारी इतनी दुर्दशा किया और आप आंखों से देखते रहे। इतना सुनकर श्री रामजी बोले—मित्र ! आप दोनों का एक समान रूप होने से नहीं पहचानने के कारण उल्टा होने के भय से बाण नहीं छोड़ा।

अब पहचानने के लिये आप के गले में माला देता हूँ। फिर आप चलकर पुकारिये, अब धोखा नहीं होगा। यह कितना गूढ रहस्य है। रघुनाथजी सर्वज्ञ नहीं हैं, इसको कभी कोई मान सकता है? कदापि नहीं। फिर सारी बात जानते हुए भी आँख के सामने सुग्रीवजी एक बार इस तरह बुरी हालत से बालि के द्वारा क्यों पिट गये? असली बात यह है कि सुग्रीवजी ने परमात्मा के नियम से कुछ विरुद्ध काम किया था। उसका भोग उन्हें अवश्य भोगना ही चाहिये था। उसी को कुछ निमित्त करके बालि के द्वारा उन्हें भोगवा दिया। वह यह है कि सुग्रीव के कुल का यह धर्म था कि छोटा भाई मर जाय तो उसके औरत को बडा भाई रख ले याने बैठाले और यदि बडा भाई मर जाय तो उसकी औरत को छोटा भाई परन्तु उसके मरने के बाद ही। और किसी भाई के जिन्दा रहने पर यदि किसी भाई की स्त्री को कोई भाई रख ले तो उसको शास्त्र के नियम मुमार घोर दण्ड मिले। सुग्रीवजी ने इस नियम के खिलाफ काम कर दिया था। वह ऐसा है कि बालि को मारने के लिये किष्किन्धा में रात के समय एक राक्षस आया। बालि के द्वारा मार पडने से भगा। उसको पकडने के लिये उसके पीछे बालि दौड़ा। बालि के साथ साथ पीछे सुग्रीव जी भी दौड़े। वह राक्षस एक पर्वत की विशाल गुफा में घुस गया। सुग्रीवजी से बालि बोला कि गुफा में उसको मारने के लिये मैं जा रहा हूँ। तुम गुफा के दरवाजे पर बैठो। इतना कहकर बालि भीतर घुस गया। सुग्रीव बैठे रहे। एक दिन गुफा से खून की बहुत बडी धारा निकली। फिर सुग्रीव ने यह अनुमान किया कि राक्षस ने बालि को मार डाला और निकल कर मुझे भी मार डालेगा। इस तरह विचार करके उस गुफा के दरवाजे को एक बडी भारी पर्वताकार पत्थर की शिला से बन्द करके किष्किन्धा आ गये। बाद बालि स्थान पर किष्किन्धा के राजा बने। साथ ही साथ तारा को भी बैठा लिए। राज्य सम्भालने में तो कुछ हरकत नहीं परन्तु भाई के पक्के मरने के निश्चय बिना जो तारा को बैठा लिया, यह कुल धर्म के नियम विरुद्ध हुआ। क्यों कि गुफा के दरवाज पर सिर्फ खून की धार ही देखी थी। भाई मरा है या राक्षस, इसको तो नहीं देखा। अतः अनुमान ही मात्र से इतना भारी अनर्थ नहीं करना था। दो चार महीना भी तो इतने अंश के लिये धैर्य धरना था। परन्तु ऐसा नहीं किया। यह उनसे बड़ा भारी अपराध हुआ। उस अपराध का फल कुछ भोगना बाकी रह गया था। उसी को कृपा सागर

श्री रघुनाथजी ने बालि के द्वारा ही भोगवा दिया। बाद बालि को मार कर किष्किन्धा का राज्य और उनके कुल-धर्मानुसार तारा को भी उन्हें देकर सब प्रकार से सुखी किया। उनके दण्ड देने दिलाने में असली बात यह है, बाकी जो रघुनाथजी सरकार कहे वह निमित्त मात्र है। अब यदि यह कहें कि यह कैसे जाना जाय कि इस प्रकार का उनका कुल धर्म था। तो जब श्री रघुनाथजी से बालि ने कहा था कि कौनसे अपराध से आप ने हमको मारा। उसका बचन सुनकर श्री रघुनाथजी बोले कि—

श्लोक—अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे मोहात् स्नुषायां पापकर्म कृत्॥

इसका अर्थ यह है कि बाली! इस जीव में यही दोष है कि अपना दोष इसे दिखता नहीं है। अपना अपराध जब अपन को नजर पडने लगता है तो दूसरे को वह दोषी नहीं समझता है। इस महात्मा सुग्रीव के जीते ही जिन्दगी में इसकी स्त्री रुमा को जबरन तुम बैठा लिया और उसके साथ घोर अनर्थ कर रहा है। सुग्रीव के जीते समय रुमा तुम्हारे स्नुशा के यानि पुत्र बधू के समान लगती है। उसके साथ धर्म मर्यादा का उल्लघन करके बुरा व्यवहार कर रहा है। इसी पाप से तुम्हें ऐसा दण्ड दिया गया है। श्री रघुनाथजी के इस बचन से यह मालूम होता है कि भाई के मर जाने के बाद उसकी स्त्री को बैठा लेना इन लोगों का कुल धर्म था। और भी सम्पाती के मिल जाने के बाद पर्वत पर बैठ कर "अब हम लोगों को क्या करना चाहिये" इस प्रकार हनुमानजी वगैरह विचार कर रहे थे। बाद अगदजी को कहे कि हे अङ्गदजी! आप किष्किन्धा चलिये, सुग्रीवजी धर्मात्मा हैं। आप को वह कुछ नहीं कहेंगे। यद्यपि वह यह प्रतिज्ञा कर चुके हैं कि एक महीना के बाद जो कोई आयेगा और श्री जानकीजी की सुधि नहीं लावेगा वह जरूर मार दिया जावेगा। तो भी आपके ऊपर तो वह प्रेम ही करेंगे क्यों कि धर्मात्मा हैं और आप उनके बडे भाई के पुत्र हैं। इस प्रकार हनुमानजी वगैरह के मुख से सुन कर रोते हुए अङ्गदजी बोले कि हे हनुमानजी! सुग्रीव हम में कैसे प्रेम करेंगे। हमारी माता धर्म से उनकी माता लगती थी। उसको हमारे बाप के जीते ही अनुमान मात्र से बैठा

लिया। ऐसा निन्दित कर्म करने वाले में प्रेम और धर्म कहां से आवेगा। वह निम्नलिखित श्लोक है :—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिर्षीं प्रियाम्।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥

इसका भाव पहले ही कह चुका हूँ। इन दोनों प्रसगों से यह मालूम होता है कि मरा हुआ भाई की स्त्री रखना इनका कुल धर्म था। इसी से बालि के मर जाने पर तारा को बैठा लेने से सुग्रीवजी दोषी नहीं गिने गये। और सुग्रीवजी के जीते जिन्दगी देखते-देखते बालि ने उनकी स्त्री को रख लिया था इसीसे पापी गिना गया और मारा भी गया कहने का सारांश यह हुआ कि प्रारब्ध भोग अति प्रबल है। उसको भोगने से ही छुटकारा मिलता है। जब परमात्मा के मित्र सुग्रीवजी भी प्रारब्ध भोग भोगे बिना छुटकारा नहीं पाये तो दूसरे जीवों की गिनती ही क्या है। और सुनिये महाराज श्री वसुदेवजी से जगत में बड़ा कौन हो सकता है, उन्हें भी प्रारब्ध वश जेल का दुख भोगना पडा, कंस के द्वारा ६ पुत्रों का बुरी हालत से मृत्यु का कष्ट सहना पड़ा। कहिए हद हो गया। क्या बाकी रहा। साक्षात् परमात्मा चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये, पुत्र होकर विराजमान थे। उन महात्माओं को भी प्रारब्धानुसार जब कि दुःख, शोक, विपत्ति से छुटकारा नहीं मिला तो और कौन है जो दुनियाँ में आकर प्रारब्ध भोग से बच सकेगा। महात्मा विदुर को क्या गरीबी का दुख भोगना चाहिए! कौरवों के द्वारा बुरी हालत से सभा में ऐसे शुद्ध महापुरुष का अपमान होना चाहिए! कदपि नहीं। परन्तु संसार का ऐसा ही नियम बनाया गया है कि चाहे कोई भी क्यों न हो प्रारब्ध तो उसे भोगना ही पडेगा। विदुरजी के बराबर श्री भगवान का प्रिय कौन हो सकता है। जगत में अनेक भक्तों के रहते हुए भी परमपद जाते समय याने अन्तर्ध्यान दिव्य धाम पधारते समय आखिरी में प्रभू ने श्री विदुरजी को ही स्मरण किया है। ऐसे परमात्मा के परम प्यारे भक्त को भी यदि प्रारब्धानुसार भोग का सामना करना पड़ा तो हद हो गया।

और सुनिये। इसी द्रविड़ देश शेषावतार श्री लक्ष्मणमुनिजी के एक शिष्य थे।

उनका नाम अनन्ताल्वान स्वामी था। वह श्री वेंकटाचलगिरि पर्वत पर बगीचा लगाकर भगवान श्री वेंकटेशजी का नित्य तुलसी, पुष्प, माला से सेवा किया करते थे। इतिहासों में पढ़ा हूँ कि उनके पास साक्षात् श्री भगवान आया जाया करते थे। एक बार उन्हें वात रोग हुआ सो तीन वर्ष तक बहुत तकलीफ दिया। स्वामीजी के आश्रम पर आकर श्री वेंकटेशजी नित्य कुशल प्रश्न पूछ जाते थे। ऐसे महात्मा पुरुष को भी प्रारब्धानुसार शारीरिक दण्ड भोगना ही पड़ा। परन्तु विशेष बात यह है कि वह ज्ञानी महात्माओं में शिर मुकुट थे। इतनी विपत्ति पडने पर भी और इस प्रकार श्री भगवान के साक्षात् होते भी उस विपत्ति को छुडाने के लिए न तो स्वप्न में भी श्री भगवान से प्रार्थना किये, न श्री भगवान के ऊपर भूलकर भी कभी दोषारोपण किये। एक रोज की बात है कि स्वामीजी से उस वात रोग के कारण उठा नही जाता था। उसी वक्त भगवान श्री वेंकटेशजी स्वामीजी की खबर लेने आये। स्वामीजी सिर्फ हाथ मात्र जोड़कर प्रेमाश्रु से गद्गद कण्ठ होकर विराजने की प्रार्थना की। श्री भगवान भी उनकी दशा देखकर दुखित हुए कुछ देर और वहाँ विराजकर स्वामीजी के हृदय को आनन्द दिये। बाद जब श्री मन्दिर को पधार गये तब जिन वैष्णवों ने यह चरित्र देखा था उन लोगों ने आकर पूछा कि स्वामीजी महाराज श्री भगवान जब आपसे इस तरह हिले मिले रहते हैं तो इस दुःख को छुड़ा क्यों नहीं देते। न तो आप प्रार्थना ही करते हैं न वह खुद आराम कर देते हैं। इसका रहस्य हमलोगों को कुछ समझ नहीं आरहा हैं। इतना सुनकर अनन्ताल्वान स्वामी कुछ देर तो मौन रहे बाद श्री भगवान के स्मरण में गद्गद हुए, अनन्तर उन महात्माओं से बोले कि हे महानुभावो! आप लोग तो ऐसी बात पूछ रहे हैं कि मानो कभी सत्संग ही न किया हो। आप लोगों ने क्या यह विषय कभी नहीं सुना है कि सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि परमपद में जाकर मैं सदा के लिए आपकी नित्य सेवा करूँ, इस बात को छोड़कर भूलकर स्वप्न में भी परमात्मा से कभी कुछ भी नहीं माँगे। प्रारब्ध भोग आने पर उसे फाँसी का दुख काँटा में मानकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक अवश्य भोक्तव्य मानकर उसे भोग लेना चाहिए, उपायान्तर त्यागने के बाद ही श्री भगवान उपाय होते हैं यह सक्त नियम है। जो मुमुक्षु उपायान्तर नहीं छोडेगा वह शरणागत भले ही कहावे, उसका उपाय भगवान हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार जिन

लिया। ऐसा निन्दित कर्म करने वाले में प्रेम और धर्म कहां से आवेगा। वह निम्नलिखित श्लोक है :—

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥

इसका भाव पहले ही कह चुका हूँ। इन दोनों प्रसगों से यह मालूम होता है कि मरा हुआ भाई की स्त्री रखना इनका कुल धर्म था। इसी से बालि के मर जाने पर तारा को बैठा लेने से सुग्रीवजी दोषी नहीं गिने गये। और सुग्रीवजी के जीते जिन्दगी देखते-देखते बालि ने उनकी स्त्री को रख लिया था इसीसे पापी गिना गया और मारा भी गया कहने का सारांश यह हुआ कि प्रारब्ध भोग अति प्रबल है। उसको भोगने से ही छुटकारा मिलता है। जब परमात्मा के मित्र सुग्रीवजी भी प्रारब्ध भोग भोगे बिना छुटकारा नहीं पाये तो दूसरे जीवों की गिनती ही क्या है। और सुनिये महाराज श्री वसुदेवजी से जगत में बडा कौन हो सकता है, उन्हें भी प्रारब्ध वश जेल का दुख भोगना पडा, कंस के द्वारा ६ पुत्रों का बुरी हालत से मृत्यु का कष्ट सहना पडा। कहिए हद्द हो गया। क्या बाकी रहा। साक्षात् परमात्मा चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये, पुत्र होकर विराजमान थे। उन महात्माओं को भी प्रारब्धानुसार जब कि दुःख, शोक, विपत्ति से छुटकारा नही मिला तो और कौन है जो दुनियाँ में आकर प्रारब्ध भोग से बच सकेगा। महात्मा विदुर को क्या गरीबी का दुख भोगना चाहिए! कौरवों के द्वारा बुरी हालत से सभा में ऐसे शुद्ध महापुरुष का अपमान होना चाहिए! कदपि नहीं। परन्तु संसार का ऐसा ही नियम बनाया गया है कि चाहे कोई भी क्यों न हो प्रारब्ध तो उसे भोगना ही पडेगा। विदुरजी के बराबर श्री भगवान का प्रिय कौन हो सकता है। जगत में अनेक भक्तों के रहते हुए भी परमपद जाते समय याने अन्तर्ध्यान दिव्य धाम पधारते समय आखिरी में प्रभू ने श्री विदुरजी को ही स्मरण किया है। ऐसे परमात्मा के परम प्यारे भक्त को भी यदि प्रारब्धानुसार भोग का सामना करना पड़ा तो हद हो गया।

और सुनिये! इसी द्रविड़ देश शेषावतार श्री लक्ष्मणमुनिजी के एक शिष्य थे।

उनका नाम अनन्ताल्वान स्वामी था। वह श्री वेंकटाचलगिरि पर्वत पर बगीचा लगाकर भगवान श्री वेंकटेशजी का नित्य तुलसी, पुष्प, माला से सेवा किया करते थे। इतिहासों में पढ़ा हूँ कि उनके पास साक्षात् श्री भगवान आया जाया करते थे। एक बार उन्हें वात रोग हुआ सो तीन वर्ष तक बहुत तकलीफ दिया। स्वामीजी के आश्रम पर आकर श्री वेंकटेशजी नित्य कुशल प्रश्न पूछ जाते थे। ऐसे महात्मा पुरुष को भी प्रारब्धानुसार शारीरिक दण्ड भोगना ही पडा। परन्तु विशेष बात यह है कि वह ज्ञानी महात्माओं में शिर मुकुट थे। इतनी विपत्ति पडने पर भी और इस प्रकार श्री भगवान के साक्षात् होते भी उस विपत्ति को छुडाने के लिए न तो स्वप्न में भी श्री भगवान से प्रार्थना किये, न श्री भगवान के ऊपर भूलकर भी कभी दोषारोपण किये। एक रोज की बात है कि स्वामीजी से उस वात रोग के कारण उठा नहीं जाता था। उसी वक्त भगवान श्री वेंकटेशजी स्वामीजी की खबर लेने आये। स्वामीजी सिर्फ हाथ मात्र जोड़कर प्रेमाश्रु से गद्गद कण्ठ होकर विराजने की प्रार्थना की। श्री भगवान भी उनकी दशा देखकर दुखित हुए कुछ देर और वहाँ विराजकर स्वामीजी के हृदय को आनन्द दिये। बाद जब श्री मन्दिर को पधार गये तब जिन वैष्णवों ने यह चरित्र देखा था उन लोगों ने आकर पूछा कि स्वामीजी महाराज श्री भगवान जब आपसे इस तरह हिले मिले रहते हैं तो इस दुःख को छुडा क्यों नहीं देते। न तो आप प्रार्थना ही करते हैं न वह खुद आराम कर देते हैं। इसका रहस्य हमलोगों को कुछ समझ नहीं आरहा है। इतना सुनकर अनन्ताल्वान स्वामी कुछ देर तो मौन रहे बाद श्री भगवान के स्मरण में गद्गद हुए, अनन्तर उन महात्माओं से बोले कि हे महानुभावो! आप लोग तो ऐसी बात पूछ रहे हैं कि मानो कभी सत्संग ही न किया हो। आप लोगों ने क्या यह विषय कभी नहीं सुना है कि सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि परमपद में जाकर मैं सदा के लिए आपकी नित्य सेवा करूँ, इस बात को छोड़कर भूलकर स्वप्न में भी परमात्मा से कभी कुछ भी नहीं माँगे। प्रारब्ध भोग आने पर उसे फाँसी का दुख काँटा में मानकर अत्यन्त धैर्यपूर्वक अवश्य भोक्तव्य मानकर उसे भोग लेना चाहिए, उपायान्तर त्यागने के बाद ही श्री भगवान उपाय होते हैं यह सख्त नियम है। जो मुमुक्षु उपायान्तर नहीं छोड़ेगा वह शरणागत भले ही कहावे, उसका उपाय भगवान हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार जिन

मुमुक्षुओं का उपायान्तर नहीं छूटेगा उनको परमपद मिलना असम्भव ही है। जैसे उपायान्तर त्यागे बिना श्री भगवान उपाय नहीं होते उसी प्रकार उपायान्तर त्यागे बिना विरजा के पार दिव्य परमपद मिलता नहीं इसी का नाम द्वयानुसन्धान है। इस शरीर का आज, चाहे सौ वर्ष में किसी न किसी दिन अवश्य पतन होता है। प्रारब्ध के अनुसार इसकी सृष्टि है। जो कोई दुनियां में जन्म लेगा उसे अवश्य सुख दुख भोगना पड़ेगा। संसार के कुछ तो नियम ऐसे हैं कि महात्मा तो क्या परमात्मा भी मनुष्यावतार धारण करके लोक शिक्षणार्थ इस जगत में पधारते हैं; उन्हें भी लोक शिक्षणार्थ उन नियमों को अवश्य पालन करना पडता है। अशोकवाटिका का लोक शिक्षणार्थ श्री जी का प्रसंग क्या आप लोग भूल गये? पाण्डवों का प्रसंग, श्री वसुदेवजी का प्रसंग, श्री दशरथजी, श्रीसुमित्राजी वगैरह का प्रसंग क्या कभी सुनने को नही मिला? महात्माओं! श्री यामुनाचार्यजी से बढ़कर परमात्मा का प्यारा कौन होगा जगत में। कई महीना तक ऐसे महापुरुष को भी फोडिया का कष्ट भोगना पडा था जो सर्व समर्थ थे। फिर प्रारब्ध भोग से छुटकारा कौन पा सकता है। जैसे भूख, प्यास नींद चाहना किये बिना हो समय समय पर आ जाता है। इसी प्रकार दुःख भी अपने सच्चे वक्त पर आ जाता है और समय पर चला भी जाता है। महात्माओ! इसी जन्म के अन्त में अवश्य परमपद को प्राप्त होने वाले मुमुक्षुओं का अनुष्ठान विचार इन आलौकिक जीवों से कुछ निराला ही हुआ करता है। वास्तव मे तो इस शारीरिक दुख सुख को सत्संग सच्चे शरणागत मुमुक्ष लोग सुख दुख मानते ही नही है। श्री भगवान से मिलने को ह तो सुख समझते हैं और श्री भगवान नही मिले तो उसी को दुख समझते हैं। जितनी घड़ी श्री भगवान और उनके प्यारे भागवत और इस आत्मा के महाउपकारी गुरुदेव, इन लोगों की सेवा दर्शन सत्संग का लाभ हो उसी को तो सुख मानते हैं और ये न हो तो दुख मानते हैं। इससे जिन जीवों को संसार सिन्धु से पार होकर और इसी जन्म के अन्त में अवश्य परमधाम को जाने की प्रबल इच्छा हो वह भूल करके स्वप्न में भी इन चौदह लोकों की चीजों को श्री भगवान से कभी भी प्रार्थना न करे, बडों के मुख से सुना है कि मुमुक्षुओं के लिये सकाम भाव हद से ज्यादा खतरनाक है। यहां तक है कि स्वरूपज्ञानी सच्चे मुमुक्षु लोग सकाम भाव वाले चेतनों के नजदीक तक खड़े होने में भयभीत होते हैं। आप लो

को क्या मालूम नहीं है ? एक बुड्ढी श्री रंगनाथ भगवान के दर्शन करते समय नेत्रों से बहुत आँसू बहा रही थी। उसी समय श्री यामुनाचार्यजी महाराज श्री भगवान के मंगलाशासन को पधारे। इतने में उस बुड्ढी ने श्री भगवान से कुछ संसारी सुख के लिये याचना किया। ज्यों स्वामीजी के कान में पड़ा त्यों हीं उसकी हवा अपने अङ्ग में लगना स्वरुप का नाशक समझ कर बहुत जल्दी से मन्दिर के बाहर चले गये। वहाँ बैठकर पछता रहे थे कि आज कैसा समय आ पड़ा कि ऐसे के नजदीक खड़ा रहने का मौका पड़ा। मैं तो उसे निष्काम भाविक समझ कर वहाँ खड़ा हुआ। यदि जानता कि उसका वैसा हृदय है तो वहां जाता ही नहीं। अनन्ताल्वान स्वामी कहते हैं कि कहिये महात्माओं यह कैसा अनुष्ठान है। ऐसे ही लोग उस दिव्यधाम के परम अधिकारी हैं। इससे सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिये कि चाहे जितनी विपत्ति आवे उसे धीरतापूर्वक भोग ले। परन्तु परमात्मा से कभी भूल कर भी उसको छुडाने की प्रार्थना न करे और जो आप लोगों ने कहा कि "श्री भगवान खुद क्यों नहीं आराम कर देते हैं तथा बिपत्ति छुडा देते हैं ?" तो आप लोगों को क्या मालूम है कि भगवान के कर्त्तव्यों में कौनसा अनूठा रहस्य भरा हुआ है ? श्री भगवान तो हरेक हालत में अपने आश्रितों का भला ही करते हैं। प्रारब्धानुसार आश्रित यदि दुख भोगता है उसमें भी कुछ न कुछ उसके भला का याने हित का रहस्य भरा हुआ है। इसको वह परमात्मा ही जानते हैं और बहुत दिन के सत्संग किये हुए उनके प्यारे महात्मा लोग जानते हैं। श्री भगवान तो फासी का दुख काँटा में ही कृपा कर भोगाते हैं। कम से कम तीन करोड़ जन्मों तक भी भोगने से जिस भोग से छुटकारा नहीं हो पाता था उन भोगों को वह परम कृपासागर तीन ही वर्ष के वात रोग से इतना जल्दी कृपाकर छुटकारा दे दिया है। इतने बड़े होकर इस तरह नित्य कृपा कर जाते हैं। इस दया का कहीं पारावार है ? यदि इस मनुष्य जीवन को तथा अपनी अनन्यता को, जिन्दगी भर किये हुए सत्संग को सफल बनाना है और अवश्य संसार सिन्धु से पार होकर इसी जन्म के अन्त में परमप्यारे परमात्मा के नित्य धाम में जाकर नित्य मुक्तों के समान सदा के लिए आवागमन से रहित होकर श्रीयःकान्त की नित्य सेवा का आनन्द लेना है तो न कभी विपत्ति में घबड़ाना, न विपत्ति छुड़ाने को भूल कर भी स्वप्न में प्रार्थना करना, न उस गर्भ के मित्र, सबके छोड़े हालत में सहारा देने

वाले प्यारे परमात्मा के ऊपर भूलकर भी कभी दोषारोपण न करना। इस प्रकार स्वरूप ज्ञानियों के शिर मुकुटमणि श्री अनन्ताल्वान स्वामीजी महाराज के मुखारविन्द से दिव्य सच्चा स्वरूपानुरूप मुमुक्षुओं के लायक उपदेश श्रवण करके महात्माओं ने गद्-गद् होकर उन्हें लम्बी साष्टांग किया और अपने को कृत्य-कृत्य माना और उसी प्रकार वर्ताव करने को जन्म तक के लिए प्रतिज्ञा किया। स्वामीजी महाराज भी उन लोगों के इस वर्ताव से बहुत सन्तुष्ट हुए। अब श्री देवराज गुरु कहते हैं कि कहिये महात्माओं! सच्चे महात्माओं का वर्ताव कैसा लोक विलक्षण होता है। किसी भी कष्ट के समय श्री अनन्ताल्वान स्वामीजी महाराज के समान हीं सच्चे मुमुक्षुओं को वर्ताव रखना चाहिए। शास्त्र प्रत्येक अधिकारी के लिये उनके अधिकार के अनुसार साधन और फलों का उपदेश किया करते हैं। इससे मुमुक्षुओं को अपने अधिकार के अनुगुण स्वरूपानुरूप ही साधन और फल को खूब छान बीन कर ग्रहण करना चाहिये। शास्त्र में लिखे होने के कारण दूसरे अधिकारियों के विषय की तरफ मुमुक्षुओं का कभी भी झुकाव नहीं होना चाहिए। शास्त्रों में मन्द अधिकारियों के लिये सकाम भाव से याचना करने के लिये भी प्रमाणों की कमी नही है। वेद इतिहास पुराण आदि में जहाँ देखो वहाँ सकाम प्रसंग की भरमार है। परन्तु वह मुमुक्षुओं के काम का नहीं है। जैसे वैद्यक ग्रंथों में अभक्ष वस्तुओं का भी रोगियो के लिये प्रयोग करने का बहुत जगह लिखा है। परन्तु वे सब फलाहारियों के काम के नहीं हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ ऐहिक पदार्थों की याचना करने को प्रार्थना किया है वह बिल्कुल सत्संग हीन अपने स्वरूप को नही समझने वाले अर्थ पञ्चक ज्ञान विहीन सामान्य अधिकारियो के लिये ही है। मुमुक्षुओं के लिए तो श्री मद्भागवत एकादश स्कन्ध में खुले शब्दों में सकाम भावना को त्याग करने के लिये ही खुद श्री भगवान ने श्री मुख से आज्ञा की है वह यह श्लोक है :—

श्लोक—फल श्रुति रियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्।
श्रेयो विवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्य रोचनम्॥

इसका भाव यह हुआ कि भगवान श्रीकृष्णजी उद्धवजी से कहते हैं कि हे उद्धवजी! वेदादिक शास्त्रों में जो फल श्रुति है याने परमात्मा के मिलने के अतिरिक्त जो और फल देने के

लिए सामान्य चेतनों को जो प्रलोभन दिया गया है वह भाव वास्तव में कल्याण करने वाला नहीं है। सिर्फ इसके लिए है कि सामान्य अधिकारी लोग कुछ भी फल के प्रलोभन दिये विना श्री भगवान की तरफ झुक नहीं सकते हैं। इतना ही मात्र उसका उद्देश्य है। जैसे रोग निवृत्ति के लिए कड़वी औषधि बालकों को देने लगते हैं और वे अपनी अज्ञानतावश नहीं लेना चाहते हैं तो कुछ भी उनके मन के अनुकूल चीज देने का लोभ दिखाया जाता है तब बच्चे कड़वी से कड़वी भी औषधि ले लेते हैं। जैसे यह श्लोक है कि—

लड्डुकं ते प्रदास्यामि गुरुच्चिं पिव पुत्रक।

इसका भाव पिता ने लड़के को किसी रोग छूटने के लिए गुरुच का अर्क पिला रहा था। परन्तु लडका अपने अज्ञानतावश किसी तरह पिता के समझाने पर भी जब गुरुच का रस नहीं पी रहा था तो पिता ने कहा बेटा! तुझे मैं लड्डू देऊँगा इस रसको जरूर पी लो। इस बात को सुनते ही लड़के ने लड्डू के लोभ से तुरन्त ही गुरुच के अर्क को पी लिया। बाद एक दिन एक लड्डू भी दिया। इसका मतलब यह था कि इसे बहुत बार कड़ुई औषधि खिलानी है यदि एक बार भी लड्डू नहीं देऊँगा तो आगे हमारे प्रलोभन को झूठा समझकर फिर औषधि नहीं लेगा। श्री भगवान कहते हैं कि हे उद्धव जी! बस यही दशा शास्त्रों में फल भाग की समझिए। शास्त्रों में जो यह कहा है कि भगवान का भजन करो तो तुम्हें बेटा मिलेगा धन मिलेगा, नाती मिलेगा, औरत मिलेगी। इस तरह से सत्संग हीन सामान्य अधिकारी लोग जब सुनते हैं तो उस लोभ में पडकर इच्छा न होने पर भी श्री भगवान के भजन, कीर्त्तन स्मरण, दर्शन, ध्यान, पूजन वगैरह में लग जाते हैं। कभी-कभी उनका दिल बढ़ाने के लिए शास्त्रों में विश्वास और आस्तिकता बने रहने के लिए कुछ फल भी दे दिया जाता है। परन्तु वास्तव में नाशवान पदार्थ देना शास्त्रों का असली तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी तरह यह जीव श्री भगवान में लग जावे और शास्त्रों में इसका विश्वास जम जावे। फिर महात्माओं के सत्सग में जब बैठने लगेगा, सत्संग में रुचि बढ जावेगी तो कभी यह भी उसे हो जायगा कि श्री भगवान से नाशवान पदार्थ क्या मागना? यह माँगना चाहिए कि ...गर से पार करके विरजा नहवाय कर नित्य मुक्तों के समान कृपा करके अपनी नित्य

सेवा स्वीकार करिये। इसी उद्देश्य से शास्त्रों में सामान्य अधिकारियों के लिए किसी प्रकार ऐहिक पदार्थों का प्रलोभन देकर श्री भगवान में लगाने के लिए फल श्रुति का उपदेश किया। असली उद्देश्य शास्त्रों का फल देने में नहीं है। जैसे बच्चे को लड्डू का प्रलोभन देने में या लड्डू दे देने में हृदय से पिता का उद्देश्य नहीं है प्रधान भाव तो उसका यह है कि किसी प्रकार यह लडका गुरुच का रस पी जाय और उसकी हड्डी से बुखार निकल जाय और वह निरोग रहता हुआ चिरजीवी रहे। हे उद्धवजी! यह फल भाग स्वरूप को समझने वाले सच्चे मुमुक्षुओं के लिए नहीं है। सच्चे मुमुक्ष को तो मैं खुद भी सांसारिक पदार्थ देना चाहूँ तो वह नहीं स्वीकार करते हैं और घबडाते हैं। जैसे महाराज पृथु को मैं बहुत कुछ मांगने को कहा परन्तु उन्होंने किसी प्रकार भी कहने पर मेरी सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मांगा। इसी तरह भक्त प्रह्लाद को मांगने के लिए बहुत आग्रह किया परन्तु हमारी सेवा के अतिरिक्त कुछ भी नही मांगा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओं! इस कारण मुमुक्षुओं को परमात्मा से नाशवान पदार्थ की भूल कर भी याचना नहीं करनी चाहिए। यही सच्चे मुमुक्षुओं का लक्षण है। और भी ध्यान करके सुनिए। सच्चे मुमुक्षुको इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये कि, चौदह लोकों के पदार्थ न श्री भगवान से कभी मागे न चौदह लोकों में जाने की स्वप्न मे इच्छा करे, न चौदह लोकों के साधन की तरफ कभी झुके, न चौदह लोकों के मिलने का साधन बताने वाले शास्त्रों को कभी देखें न सुनें; क्योंकि खुद श्री भगवान गीताजी में श्री मुख से अर्जुनजी से आज्ञा किये हैं कि अर्जुन! ब्रह्मा के लोक तक जितने लोक हैं इन लोकों में जो जीव आते हैं उन्हें आवा-गमन बना ही रहता है। सच्चा सुख उन लोगों को प्राप्त नहीं होता न उन लोगों का जन्मना मरना छूटता है। याने पाताल से लेकर ब्रह्म लोक तक ये सब कर्म भोग भोगने के स्थल हैं। जिस चेतन की इच्छा होय कि हम जन्म मरण के बला से छूट जावें, सदा के लिये इस माया चक्र से छुटकारा पा जावें। फिर महा नरक रूप इस गर्भ-स्थली में न आना पडे। वे तो हमारे ही मिलने की कोशिश करें क्योंकि हम जिसको प्राप्त हो जायेंगे उस चेतन को फिर अनेक दुःखों का घर

इस भयावन संसार में कभी भी जन्म नहीं मिलेगा, सदा के लिये वह मुक्त हो जायगा। यह श्लोक है :—

आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

हे मुमुक्षु महात्माओं! जैसे अनन्य मुमुक्षुओं के लिये परमात्मा के सिवाय इतर देवतान्तरों में लगना या इतर देवतान्तरों में रहने वाले जीवों का सहवास करना, उनके अनन्यता का भञ्जक होता है और जैसे श्री लक्ष्मीकान्त के सिर्फ निर्हेतुक कृपा ही के भरोसे संसार सागर से पार होने का भरोसा करके रहने वाले जो मुमुक्षु हैं उन लोगों को श्री भगवान के अतिरिक्त इतर साधनरूप से कर्म, ज्ञान, भक्ति में पड़ना या मन से भी श्री हरी की कृपा के अतिरिक्त इतर साधनों का चिन्तन करना या भगवत्कृपा के अतिरिक्त इतर साधन वालों का सहवास करना उनके उपाय का भञ्जक बनता है। उसी प्रकार इसी जन्म के अन्त में दिव्य धाम में जाकर नित्य मुक्तों के समान श्री परमपद नाथ भगवान की सदा के लिए नित्य सेवा मुझे अवश्य मिल जाय, इस बात को जो लोग श्री भगवान के भरोसे अवश्य निश्चय कर चुके हैं उनको इन चौदह लोकों में जाने की चेष्टा करने वाले लोगों का सहवास करना या इन चौदह लोकों के मिलने के लिए साधन बताने वाले शास्त्रों को देखना सुनना, ये सब इसी जन्म के अन्त में परमपद मिलने की जो आशा है उसको नष्ट कर देने वाले हैं याने इतर उपायान्तर छोड़ देने ही पर श्री भगवान उपाय बनते हैं। जरा मन से भी दूसरे उपायों की तरफ यदि चेतन झुकेगा तो मैं शरणागत हूँ ऐसा भले ही जिन्दगी भर पुकारा करे परन्तु श्री भगवान कभी भी उपाय न हो सकेंगे; क्योंकि यह सख्त नियम है कि उपायान्तर में प्रवृत्ति शरणागति को भञ्जक हो जाती है। उसी प्रकार उपायान्तर याने फलान्तर छोडने ही पर नित्य कैंकर्य तथा श्री भगवान फल होते हैं। जैसे उपायान्तर के तरफ प्रवृत्ति वाले को श्री भगवान उपाय नहीं हो सकते याने भगवान को अपना उपाय जिसको मानना है उसको सबसे पहिले सदा के लिए उपायान्तर को छोड देना हीं होगा। उसी प्रकार जिसको इसी जन्म के अन्त में ससार सिन्धु से पार होकर श्री विरजा नहाकर, परमपद में जाकर, श्री

भगवान की नित्य सेवा मे जाना ही है उन मुमुक्षु महात्माओं को तो चौदह लोकों की चीजों की अथवा चौदह लोकों में जाने की जड मूल से चाहना त्यागनी ही होगी। यदि अपनी अज्ञता वश इस बात पर ध्यान नहीं जावेगा तो इस जन्म के अन्त मे ही परमपद मिलने का मनोरथ स्वप्न मे भी पूरा न हो सकेगा यह सब शास्त्रों से सिद्ध है। बारम्बार हम लोगों के लिए पहुँचे हुए बडे-बडे मुमुक्षु महापुरुषों के द्वारा पुनः-पुनः चेतावनी दी गई है। इस पूर्वोक्त प्रसंग को सच्चे मुमुक्षुओं को कभी भी भूलना नहीं चाहिए सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि चाहे भयंकर से भयंकर भी अपने को रोग हो जाय, या अपनी स्त्री को अपने प्यारे पुत्र शिष्य को रोग हो जाय, या किसी प्रिय बन्धुओं को या शरीर के किसी सम्बन्धियों को कैसा भी कष्ट क्यों न हो जाय, उस कष्ट के छुडाने के लिये परमात्मा से कभी भी प्रार्थना न करे, क्यों कि क्षणिक अनित्य नाशवन्त जो है उसके लिये नित्य चीज मे बाधा पहुँचाना इस शरीर का तथा शरीर सम्बन्धियों का आज या सौ वर्ष मे कभी न कभी तो वियोग होने ही वाला है। लाख भी कोई प्रयत्न करेगा परन्तु जो चीज नाशवान है वह नाश होकर ही रहेगी। जब कि श्री भगवान भी मनुष्य शरीर को धरकर आते हैं और अपने नियम के खिलाफ एक दिन भी ज्यादा उस रूप से साक्षात् होकर नहीं विराजते हैं। जैसे कि भगवान श्रीकृष्णावतार में सवा सौ वर्ष ही इस लीला विभूति मे साक्षात् होकर रहने का सकल्प किये थे। अपने नियम के अनुसार स्वतन्त्र सर्व समर्थ होते हुए भी एक दिन भी ज्यादा नहीं रहे, श्रीरामावतार में भी जितने दिन नियम करके आये उसके पश्चात् एक दिन भी ज्यादा नही विराजे। जब कि परमात्मा भी इस मृत्यु लोक मे इस प्रकार मर्यादा रखते हैं तो दूसरा ऐसा कौन है कि मरे विना बच सकेगा। जब कि परमपद के अतिरिक्त कुछ भी याचना करना अपने परम फल का विरोधी है ऐसा बार-बार बडे लोग समझा गये हैं, उसके लिए प्रार्थना समझदार मुमुक्षु कैसे कर सकते हैं। बहुत रोग बढ जायगा तो मृत्यु हो जावेगी इसके सिवा और क्या हो सकता है। यह तो कभी न कभी होकर ही रहने वाला है। इससे मुमुक्षुओं को कभी भी कायर नहीं होना चाहिए। मृत्यु से कभी भी खौफ न खाना चाहिए। मृत्यु के दिन तो मानो मुमुक्षुओं के लिए साम्राज्य दिवस है। मृत्यु से तो पापी लोग डरते हैं क्योंकि उन्हें मरकर भयंकर नरकों में जाना होता है। परन्तु जो लोग सद्गुरु के द्वारा अपने आत्मा को सदा के लिए

प्यारे परमात्मा के चरणों में अर्पण कर चुके हैं उन्हें तो यह मलमूत्र कफ, रुधिर, मज्जा, चर्म हड्डी आदि से बना हुआ जो प्राकृत शरीर है, इसको छोड़ते ही श्री भगवान के समान अत्यन्त मनोहर सदा के लिए किशोरावस्थावाला, अनेक गुण सम्पन्न, सुन्दर, सुखमय नित्य सदा परमात्मा की सेवा लायक दिव्य शरीर मिल जाता है और सदा के लिए भयंकर संसार के जन्म मरण चक्रों से छूटकर आवागमन से रहित होकर, जहाँ आनन्द की सीमा नहीं है ऐसा जो परमधाम है वहां सदा के लिए चला जाता है। सद्गुरु के सच्चे कृपा पात्र मुमुक्षुओं का तो मृत्यु का जो दिन है वह अत्यन्त शुभ दिन है। इसी से सच्चे मुमुक्षु जो लोग हैं वे तो अत्यन्त प्रिय बन्धुओं के समान मृत्यु की प्रतीक्षा किया करते हैं। जैसे :—

प्रायशः पाप कारित्वान्मृत्योरुद्विजतेजनः।
कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम्॥

इसका भाव पहले ही कह चुके हैं। जब कि सच्चे मुमुक्षुओं के लिये मृत्यु का दिन शुभ दिन है तो समझदार मुमुक्ष रोग छुड़ाने के लिए श्री भगवान से प्रार्थना कैसे कर सकता है। इससे सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि किसी के भी कष्ट छुडाने के लिए न तो प्रार्थना करे न घबड़ाय; समयानुसार जो कुछ आवे उसको धीरता से सह लेवे। बिरजा पार का एक परमपद ही है जो सदा के लिए नित्य है। वहां गये बिना यह आत्मा कभी सुखी नहीं हो सकता। वहा ही रहनेवाले महाप्रलय से बचते हैं बाकी चौदह लोक महाप्रलय में नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं उसमें रहनेवाले चेतन भी महा बिपत भोगते हैं। इससे कालान्तर में नष्ट-भ्रष्ट होजाने वाले इन चौदह लोकों के सुखों की चाहना न करे। कभी भी चौदह लोक की तो वात ही क्या है बिरजा नदी के वाद और परमपद के बहुत नीचे एक तरफ कैवल्य नामक लोक है जहाँ सिर्फ जीवात्मा के स्वरूप को साक्षात्कार चाहने वाले ही लोग भेजे जाते हैं। वे भी फिर कभी ससार में नहीं आते हैं परन्तु वहाँ सिर्फ आत्मा मात्र का ही अनुभव उन लोगों को होता है। वहा रहनेवालों के लिए एक महादोप यह है कि कभी भी परमपद में वे नहीं जा सकते। न उस लोक में साक्षात् रूप से कभी श्री भगवान ही जाते हैं। न कैवल्य में रहने वालों को उस दिव्य धाम में ही जाने लायक सामर्थ्य मिलता है। शास्त्रों के

द्वारा सुख निर्जित मोक्ष उस स्थान को बताया गया है। यद्यपि उस लोक में भी जाने वाले जीव आवागमन से रहित हो जाते है परन्तु वहाँ परमात्म सुख का अनुभव नहीं मिलने के कारण प्रिय परमात्मा के सेवा सौभाग्य से सदा के लिए वञ्चित रह जाने के कारण ये भाग्य हीन गिने जाते हैं, अपने प्राण प्रिय परमात्मा के कैंकर्य ही को परम फल परम शास्त्रों द्वारा समझने वाले सद्गुरु के कृपा पात्र महाभाग्यशाली सच्चे मुमुक्षु उस कैवल्य मोक्ष को भगवद् अनुभव से रहित होने के कारण महानरक तुल्य मानकर उसे नहीं चाहते है। किन्तु अल्प मति वाले ही चाहते है जैसे—

विरजा परमं व्योम्नो ऽन्तर केवलंस्मृतम्।
तदिच्छंत्यल्प मतयो मोक्ष सुख विवर्जितम्॥

भाव यह हुआ कि विरजा नदी और परमपद के बीच मे किसी एक तरफ कैवल्य नामक एक लोक है उसको अल्पबुद्धि लोग इच्छा करते है। वह कैवल्य स्थान प्यारे परमात्मा के अनुभव से जो अपार सुखका आकर है उससे निर्जित है। महात्माओ! जब कि पहुँचे हुए मुमुक्षु परमात्मा की सेवा से रहित होने के कारण कैवल्य को नहीं देखना चाहते है तो महाप्रलय के अग्नि में जलकर नष्ट भ्रष्ट हो जानेवाले चौदह लोक की चाहना कैसे करेंगे। भारत में लिखा है कि—

एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः।

भाव यह भया कि "आर्ष्टिसेन" नाम वाले किसी मुमुक्षु से एक कोई मुनिराज कह रहे हैं कि जहां साक्षात् होकर अपने नित्य परिकरों के साथ परमात्मा सदा विराजते है, जहाँ महा-प्रलय कभी नही पहुँचता है, जहाँ के रहने वाले बडभागी चेतन कभी भी संसार दुःख को भोगने नही आते हैं, जहाँ रहने वाले चेतनों को परमात्मा की सेवा का, अनुभव का अपार सुख प्राप्त होता है, उसी दिव्यधाम का नाम परमपद है। वह श्री विरजा नदी के उस पार है। उसी को त्रिपाद्विभूति कहते हैं। वह इतना रमणीय और मनोहर है कि उस दिव्यधाम के सामने यह चौदह लोक और चौदहलोकों का सुख नरक के समान है। इससे अधिक मैं

ज्यादा नहीं कह सकता। उस परमपद में पहुँचने वाले चेतन सदा के लिए सुखी हो जाते हैं। उन्हें फिर भी संसार में या संसार के जन्म मरण चक्र में कभी भी आना नहीं पड़ता। वहाँ गये बिना यह जीव कभी सुखी हो ही नहीं सकता। इससे सच्चे समझदार मुमुक्षु लोग परमात्मा से उसी को चाहा करते हैं। सच्चे मुमुक्षु तो बिरजा के नीचे के ब्रह्माण्ड में रहने वाला जो वैकुण्ठ है उसको भी परमात्मा से नहीं चाहना करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में रहने वाला जो वैकुण्ठ है इसमें तो कोई मुनि, श्री भगवान के दर्शन के निमित्त चले भी जाते हैं संसार में आभी जाते हैं। जसे सनकादिक मुनि श्री भगवान के दर्शन को गये थे और फिर भी दर्शन करके आगये। भृगु मुनि गये थे अपना कार्य करके आगये। यह वैकुण्ठ प्रकृति मंडल के अन्तर्गत है। स्वर्गादि लोक से विशेष जरूर है कि महा प्रलय के समय नष्ट-भ्रष्ट नहीं होता। श्री भगवान के इच्छा से श्री भगवान के श्री बिग्रह के समान अन्तर्ध्यान हो जाता है। जैसे भगवान श्री राम, कृष्ण रूप से प्रकृति मण्डल में आते हैं तो भी प्राकृत मनुष्यों के समान गर्भ में यथार्थतः नहीं रहते हैं, न प्राकृत लड़कों के समान उनका जन्म होता है किन्तु दिव्य किशोर मूर्ति प्रगट हो जाते हैं फिर लोक दिखाऊ बालक हो जाते हैं। अन्त में भी प्राकृत मनुष्यों के समान उनका जाना नहीं होता है। ब्रह्मादिक देव आकर स्तुति करते हैं, फूलों की बर्षा बर्षाते हैं, फिर भगवान उसी श्री बिग्रह से अन्तर्ध्यान हो जाते हैं और जहाँ कहीं भी सामान्य रूप से प्रादुर्भाव और प्राकृत मनुष्यों के समान अन्तिम प्रसंग लिखा हो, वह अच्छे समझदार मुमुक्षुओं के लिए मान्य नहीं है। उसको भगवत विमुख ही आसुरी प्रकृतिवाले जीवों को व्यामोह डालने के लिए ही जानना चाहिए। जैसे प्रकृतिमण्डल में आने पर भी श्री भगवान के पूर्णावतारों का प्राकृत जीवों के समान जन्म मरणादिक न होकर आविर्भाव तिरोभाव ही होता है, उसी प्रकार प्रकृति मण्डल में रहने पर भी श्री वैकुण्ठ लोक का आविर्भाव तिरोभाव ही होता है। इस प्रकृति मण्डल का जो श्री वैकुण्ठ लोक है उसकी रचना ब्रह्मा के द्वारा नहीं होती। जब ये ब्रह्माण्ड तैयार किया जाता है तो ब्रह्मलोक से ऊपर बहुतदूर ऊँचे पर परमात्मा अपने इच्छा मात्र से श्री वैकुण्ठ लोक को प्रगट कर देते हैं और उसी में अपने नित्य पार्षदों के साथ एक रूप से वहां विराजते हैं। जब महाप्रलय का वक्त आता है तो जैसे आप अन्तर्ध्यान हो जाते हैं उसी तरह अपने इच्छा

से उस श्री वैकुण्ठलोक को भी अन्तर्ध्यान करा देते हैं। बाकी चौदह लोक महाप्रलय में नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि ये सब चेतनों की कर्माधीन प्रकृति से रचे जाते हैं। प्रलय के समय में देवों के साथ ये सब लोक नष्ट हो जाते हैं। क्यों कि देव योनि भी कर्मों का ही फल है। जैसे श्रीमद्भागवत चतुर्थस्कन्ध में प्राचेतसों से शिवजी का बचन है :—

स्वधर्म निष्ठः शत जन्मभिः पुमान् विरिञ्चितामेति ततः परं हिमाम् ॥

याने सौ जन्म पर्यन्त जो अविछिन्न ब्रह्मचर्य धर्म को निवाह देता है वह ब्रह्मा होता है। उससे भी और ज्यादा धर्म निवाहता है तो शिव पदवी को पाता है और जो कोई सौ अश्वमेघ को पूरा कर लेता है वह इन्द्र पदवी को पाता है। इस ब्रह्माण्ड में भी बहुत सृष्टि हैं। कोई रज-बीर्ज से होती है, कोई अत्यन्त गर्मी पड़ने से उष्णता के अंश मात्र ही से होती है, कोई अण्डे से होती है, कोई पृथ्वी से होती है। चाहे जिस तरह से भी इस चौदह लोक में प्रगट हो वह स्थूल या सूक्ष्म प्रकृति से ही शरीर पाता है। श्रीभगवत्संकल्पानुकूल एक परमात्मा के अतिरिक्त चौदह लोक के महाप्रलय में कोई चीज़ नष्ट हुए बिना बॅचती नहीं। कहने का साराश यह हुआ कि ब्रह्मलोक के उपर जो श्री वैकुण्ठ है इसमें तो इस प्राकृत शरीर से भी कोई-कोई चले जाते हैं। इस वैकुण्ठ को भी आविर्भाव तिरोभाव हो जाने के कारण नित्य वैकुण्ठ नहीं कह सकते हैं। नित्य तो वही परम धाम है जो श्री विरजा नदी के पार है वहां वही जाता है कि जो सद्गुरु के परम अनुग्रह का पात्र होकर सत्संग के द्वारा इस संसार का महा भद्दा स्वरूप समझ कर और चौदह लोकों के सुखों को नाशवन्त समझ कर कब इससे छूट जाऊँ, ऐसी घबड़ाहट में पड़कर बाकी उपायों को अनेक झंझटों से भरा जान कर उस दिव्य धाम में जाकर नित्य श्री भगवान की सेवा मिलने के लिये भगवत्कृपा के सिवा सीधा और सच्चा कोई भी दूसरा उपाय नहीं है। यह सद्गुरु के द्वारा खूब समझ कर इस बात पर दृढ़ाध्यवसाय पूर्वक उपायान्तरों को त्याग कर, जिन्दगी भर श्री हरी की श्री कृपा के भरोसे समय बिता कर, सब शास्त्रों का निचोड़ जो श्री भगवान की कृपा है, उसको खूब समझा कर उस परिस्थि करा देने वाले तथा उपायान्तरों को समझा कर उसको अति पारतन्त्र रूप जो स्वस्वरूप है उससे विरुद्ध तथा अत्यन्त कठिन बताकर उससे चित्त हटा देने वाले अचूक उपाय

जो श्री हरी की निर्हेतुक कृपा है उस पर दृढ परिस्थिति करा देने वाले सद्गुरु के परम उपकारों को स्मरण करता हुआ, निष्कपट शक्ति अनुसार उनकी सेवा करता हुआ, अन्त तक समय बिता कर भगवान अन्तर्यामी के अनुग्रह से प्रकाशित सुषुम्ना नाड़ी द्वारा निकल कर, स्थूल शरीर को त्याग कर, अर्चिरादि मार्ग में रहने वाले देवों के द्वारा सन्मानित होकर, भगवत्कृपा स आसानी से ब्रह्माण्ड मंडल को भेदन करके श्री बिरजा नदी के स्नान से सूक्ष्म वासनाओं के साथ सूक्ष्म शरीर को लीला पूर्वक परित्याग करके, अमानव भगवान का कर स्पर्श पाने के बाद नित्य सेवा के योग्य नित्य मुक्तो के समान जो दिव्य शरीर पाता है, वही उस दिव्य धाम में जाता है और सदा के लिये ससार चक्र से मुक्त हो जाता है। वहा जो कोई जायगा इसी पूर्वोक्त क्रम से ही जायगा। इस क्रम के अतिरिक्त शास्त्रों में वहा जाने का इतर विधान ही नहीं है। वहां कोई भी प्राकृत शरीर से नहीं जा सकता। शास्त्रों का यह पक्का सिद्धान्त है कि :—

श्लोक—यद्ब्रह्मरुद्र पुरहूत मुखैर्दुरापं।
नित्यं निवृत्त निरतैः सनकादिभिर्वा।
सायुज्य मुज्वल मुशंति यदा परोक्ष्यं।
यस्मात्परं न पदमंचित मस्ति किञ्चित॥

इसका यह भाव है कि प्रकृति मण्डल के ऊपर श्री बिरजा नदी के उस पार साक्षात् परमात्मा के विराजने का जो परमधाम है वह ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवों को भी दुराप है याने वे लोग भी इस शरीर से वहां नहीं जा पाते हैं तथा सदा निवृत्ति धर्म में निरत जो सनकादि मुनि हैं वे भी इस शरीर से वहां नहीं जा सकते हैं। वह दिव्यधाम बिरजा नहाने के बाद ही श्री हरी के निर्हेतुक कृपा पात्रों को प्राप्त होता है। उस धाम से बढ़कर और कोई दुःख रहित सुख का स्थान ही नहीं है। हे महात्माओं। यह सब कहने का सारांश यह भया कि सच्चे मुमुक्षु लोग नाशवन्त जो ब्रह्मांड मडल के सुख हैं इसकी प्राप्ती के लिये कभी भी परमात्मा से प्रार्थना नहीं करते हैं। जहां जाकर फिर कभी नहीं आया जाता है बस वहां ही जाकर मैं नित्य सेवा करूँ, इसके अतिरिक्त परमात्मा से कभी ऐहिक सुख माँगते ही

नहीं। बस यही सच्चे मुमुक्षुओं का परम लक्षण है। सत्संग हीन बेसमझ मनुष्यों का कहना है कि जो हमसे कुछ अन्याय हो जाता है उसमें परमात्मा ही का दोष है क्योंकि यदि वह इन्द्रिय वर्ग नहीं दिये होते तो हम अन्याय करते ही कैसे ? किन्तु इस प्रकार कहने वाले बिलकुल अज्ञानी हैं। क्योंकि परम उपकारी, परम हितैषी, गर्भ का मित्र सदा दोष रहित अपने सच्चे माता-पिता सच्चिदानन्द स्वरूप सदा निर्दोष जो प्यारे परमात्मा हैं, उनके किये हुए उपकारों को याद कर गद्गद् न होकर उल्टा उनके ऊपर दोष लगाते हैं, ऐसे लोगों की न जाने कौनसी दुर्गति होगी। इसको श्री भगवान हीं जानें। देखिये महात्माओं ! भगवान कृपा करके मनुष्य का देह दिये इस देह में सुन्दर नेत्र दिये और शास्त्रों द्वारा समझा दिये कि इन नेत्रों से वाद-विवाद तर्क वितर्क आदि से रहित परमात्मा के प्यारे महात्माओं का दर्शन करना, भगवान के श्री अर्चा विग्रह का अति श्रद्धा पूर्वक दर्शन करना, इन नेत्रों से अपने स्वरूप को जनाने वाले ग्रन्थो का याने श्री गीता आदि का पाठ करना। इससे तुम्हारा कल्याण होगा। बाद यह भी समझा दिये कि किसी की बेटी-बहनों को बुरी भावना से नहीं देखना। जब कभी देखना तो अपनी बेटी-बहिन के समान देखना। एक अपनी स्त्री के सिवा बाकी स्त्रियों को माता के समान देखना। यदि इस उपदेश के विरुद्ध चलोगे तो इसमें तुम्हीं दोषी गिने जाओगे और उस दुर्भावना का फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। लम्बी चौड़ी चित्र चित्र विचित्र परमात्मा की सृष्टि है इसमें जिन चीजो को नहीं देखने का तुम्हें विधान बताया गया है उसको नही देखना चाहिये। जो चीज देखने को शास्त्रों द्वारा तुम्हें आर्डर दिया गया है। उसी को देखना चाहिए। ऐसा नेत्र पाकर यदि परमात्मा के दर्शन वगैरह का लाभ नहीं लेवोगे और इससे उल्टा मनमानी शास्त्र विरुद्ध विषयों को देखोगे तो अवश्य दंड भोगना पड़ेगा। पीछे पछताने से कुछ फायदा न हो सकेगा। हे महात्माओ ! इस प्रकार कृपासागर परमात्मा ने शास्त्रों द्वारा चेतावनी चेतनों के लिए करा दी है। अब इतनी चेतावनी देने पर भी यदि कोई उटपटांग काम करेगा तो इसमें कृपासागर भगवान कैसे दोषी कहे जायेंगे। भगवान ने कृपा कर सुन्दर हाथ दे रक्खा है और शास्त्रों द्वारा समझवा दिया है कि इस हाथ से भगवान की पूजा करना, सुगन्धदार सुन्दर पुष्पों की माला बना कर भगवान को प्रेम पूर्वक धारण कराना,

सुन्दर चन्दन रगड़ कर गर्मी के समय भगवान के श्री विग्रह में लगाना। भगवान के अर्चा विग्रह को तेल उबटन केशर आदिक से मुलायमपना से मालिश करके समयानुसार शीत उष्ण जल से स्नान कराना, भगवान को सुन्दर तिलक करना समयानुसार श्री वस्त्र पहनाना, श्री मुकुट, श्री कुन्डल, श्री तिलक आदि से श्री विग्रह को सुशोभित कराना, भगवान की सेवास्थल में प्रेम से झाड़ू लगा कर सदा स्वच्छ राखना। भगवान के प्यारे अनन्य महात्माओं की सेवा करना। परमात्मा के तरफ दृढ़ाध्यवसाय कराने वाले सद्‌गुरुओ के श्री चरणों की सेवा करना। अपने बड़ो की सेवा करना, भगवत्भागवतो के सामने नम्रतापूर्वक हाथ जोडना। अपनी स्त्री के अतिरिक्त दूसरो की वेटी बहनो पर बुरी भावना से कभी हाथ नहीं लगाना। पूज्य वर्गों पर तथा अपने बड़ों के ऊपर कभी हाथ नहीं चलाना। इस हाथ से कभी किसी की चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक प्रकार से परमात्मा ने चेतनों के लिए चेतावनी करा दिया है। जिन-जिन कर्मों को इस हाथ से त्यागने का हुक्म दिया है उनको त्यागता हुआ और जिन-जिन कर्मों को करने की आज्ञा दिया है उनको करता हुआ जो कोई रहेगा उसका शास्त्र के अनुसार जरूर कल्याण होगा। अव इन उपदेशों को भूल कर जो अपने बेसमझपना से इन हाथो से उटपटाग काम करेगा उसका फल उसे ही भोगना पडेगा। हाथ देने के कारण उसमें परमात्मा कभी भी दाषी नहीं गिने जावंगे क्योंकि हाथ दिये तो शास्त्रो द्वारा भला-बुरा का ज्ञान भी करा दिया है। इतने पर भी यदि परमात्मा को कोई दोष देगा तो उसका क्या बुरा फल होगा उसको परमातमा ही जानें। इसी प्रकार परमात्मा ने कृपा करके हम चेतनों के लिये जीभ दिया है। जीभ देकर बडों के द्वारा शास्त्रानुसार चेतावनी करा दिया है कि इस जीह्वा से परमात्मा का गुणानुवाद कीर्त्तन करना, परमात्मा की स्तुति करना, परमात्मा का नाम लेना, सबसे मधुर वचन बोलना इससे तुम्हारा कल्याण होगा। इस जीभ से किसी की बुराई न करना, किसी का दोष वर्णन नहीं करना, किसी की कभी निन्दा नहीं करना, रुक्ष-भाषण नहीं करना, जो किसी के सुनने में अत्यन्त बुरा मालूम पडता हो ऐसा सत्य भी बात होय तो दाव कर रखना कभी किसी को गाली नहीं देना। यदि नहीं मानोगे तो इसका फल बहुत बुरा होगा। इस तरह जीभ देकर भगवान ने भला बुरा का ज्ञान करा दिया है। इस तरह से समझाने पर भी कोई उल्टा चलेगा तो उसका दंड उसे अवश्य भोगना

पड़ेगा। जीभ देने के कारण परमात्मा कभी दोषी नहीं गिने जायेंगे। इसी प्रकार परमात्मा ने दया करके कान दिया है और समझा दिया है कि इस कान से हमारा और हमारे प्यारों का गुणानुवाद श्रवण करना इससे कल्याण होगा। इस कान से कभी किसी की निन्दा और बुराई नहीं सुनना। यदि किसी का दोष सुनाओगे तो उसका तुम्हें बुरा फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार समझा देने के बाद भी यदि कोई नहीं मानेगा तो उस पाप का भागी वही बनेगा। परमात्मा किसी प्रकार कभी भी दोषी नहीं कहे जायेंगे। हे मुमुक्षु महात्माओं! परमात्मा तो सब इन्द्रियों के साथ इसे देव दुर्लभ मनुष्य देह इसी उद्देश्य से दिये हैं कि यह सत्संग द्वारा भली-बुरी बातों का ज्ञान करके बुरी बातों को छोड़कर अच्छी बातों की तरफ झुकता हुआ श्री पति के शरण होकर इन इन्द्रिय वर्गों द्वारा भजन, श्रवण, कीर्त्तन करना। श्री भगवान की सेवा का लाभ लेता हुआ अन्त में दिव्य परमपद को चला जाय और आवागमन से रहित होकर सदा के लिये सुखी हो जाय। इस प्रकार इसके कल्याण के उद्देश्य से प्रभु ने इसे देह और इन्द्रियों को प्रदान किया है। अब इस देह इन्द्रिय द्वारा यह यदि अपना कल्याण न करके नरक जाने का काम करे तो इसमें यह चेतन दोषी गिना जायगा। समझदार लोग परमात्मा को कभी दोषी नहीं मान सकेंगे। जैसे किसी ने अपने पुत्र को एक तलवार दिया और यह समझा दिया कि यदि कोई भी शत्रु तुम्हारे पर कभी आक्रमण करे तो इसी तलवार से उसे मार डालना। यह तलवार तुम्हारी रक्षा के लिये मैं दे रहा हूं। बाद में वह लडका अपनी मूर्खता से यदि अपना ही हाथ, शिर, पैर, काट लेवे तो इसमें अपराधी कौन हो सकता है। इसमे पिता का अपराध नहीं गिना जायगा। वह लड़का ही दोषी माना जायेगा जैसे :—

श्लोक—क्लेशत्यागकृतेऽर्पितेन करणव्यूहेन देहेन चेत्।
स्वानर्थं वत जन्तु रार्जयति चेन्मन्तु नियन्तुःकुतः॥

शस्त्रंशत्रु बधाय नैज्यगुरुणा दत्तेय तेनैव चेत्।
पुत्रोहन्ति निजं बपुः कथयरे तत्रापराधी तुकः॥

इसका अर्थ पहले ही कह चुका हूँ। फिर भी संक्षेप में कहता हूँ। ध्यान देकर सुनिए। जन्म मरणादि संसार के भयंकर क्लेशों से छूट जाने के लिए इन्द्रिय वर्गों के साथ देव दुर्लभ मनुष्य का देह कृपा सागर परमात्मा ने दिया है। इस प्रकार परमात्मा की असीम कृपा से दिया हुआ इस देह इन्द्रियों से परमात्मा के भजन कीर्त्तन पूजन स्मरण सेवा आदि का लाभ न लेकर शास्त्र विरुद्ध आचरण करके अपनी अज्ञानता वश यदि कोई चेतन उल्टा अपना अनर्थ करले तो इसमें परमात्मा का दोष क्या है। जसे पिता के द्वारा शत्रु बध के लिये दिये हुए अस्त्र-शस्त्र के द्वारा अपनी मूर्खतावश यदि पुत्र अपने शरीर को बुरी हालत से काट कर नाश कर बैठे इसमें उस पुत्र के सिवाय पिता कैसे दोषी हो सकता है। उसी प्रकार इन्द्रिय वर्ग देने के कारण कभी भी परमात्मा दोषी नहीं हो सकते हैं। इससे शास्त्र विरुद्ध आचरणों से सदा बचना चाहिए। शास्त्रों के मना करने पर भी इन्द्रियों के द्वारा यदि कोई पापों में प्रवृत होगा तो उसका दण्ड उसे ही भोगना पड़ेगा। इससे समझदार मुमुक्षुओं को चाहिये कि न विरुद्ध आचरण में लगे, न परमात्मा पर कभी दोषारोपण करे। बड़ों का कहना है कि "हानि हेतुः कर्म, प्राप्ति हेतुः कृपा" इसका अर्थ यह भया कि किसी वक्त कभी भी जहाँ कही कुछ भी हानि होती है याने दुख कष्ट तकलीफ होता है उसका मूल कारण हम चेतनों का कर्म ही है याने प्रारब्ध ही है। खुद कभी भी किसी प्रकार भी परमात्मा चेतनों को हानि पहुँचाते ही नहीं यह अटल सिद्धान्त है और जो कुछ सुख होता है सो भगवान के अनुग्रह का ही फल है और आश्रितों को जो भगवत्प्राप्ति होगी वह भगवान की निर्हेतुक कृपा से ही होगी। पहुँचे हुए जगत्प्रसिद्ध चिरकाल तक सत्संग किये हुए उच्च कोटि के मुमुक्षु महात्माओं का शास्त्र सिद्ध यही अटल सिद्धान्त है कि जिसको इसी जन्म के अन्त में अवश्य परमधाम चले जाने की इच्छा हो, उन्हें इस पूर्वोक्त सूत्र का भाव सदा के लिये हृदय में वज्र की लकीर के समान अङ्कित कर लेना चाहिए। मैं पहिले ही कह चुका हूं कि यह उपदेश, यह प्रसग ससार से अत्यन्त घवडाये हुए सच्चे मुमुक्षुओं के लिये ही पुनः पुनः कहा जा रहा है। जो लोग तर्क वितर्क, वाद-विवाद, सशय भ्रम, के स्वभाव वाले हैं उनके लिये नहीं है, न उन लोगों के लिये हमारे पास क्षण मात्र का भी समय है। बाल्मीकीय रामायण में खास लक्ष्मणजी का बचन है कि :—

"अदृष्टगुण दोषाणामधृतानां च कर्मणाम् ।
अन्तरेणक्रियां तेषां फलमिष्टं प्रवर्त्तते ॥

इसका अर्थ यह भया कि जब कोई किसी प्रकार का दुख भोगता है, किसी पर साधारण या भयंकर जब भी आफत आ पड़ती है, वह उसके पूर्व कर्मों का ही फल है परन्तु कब के किये हुए और कौनसे बुरे कर्मों का यह दुख रूप फल उदय भया है इस बात को सिवाय परमात्मा के यह चेतन नहीं जान सकता है। इस प्रारब्ध भोग से शरीरधारी कोई बच नहीं सकता है। इन्द्रादिक देवों को भी प्रारब्ध भोग नहीं छोडा है। श्री लक्ष्मणजी के बचन हैं कि कई बार इन्द्र के ऊपर भी आफत आई, और बड़े-बड़े देवता भी बड़े-बड़े मुनि लोग भी इस प्रारब्ध भोग के चक्र से नहीं बचते हैं जैसे श्लोक है :—

महर्षियों वशिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अह्नापुत्र शतं जज्ञे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥

इसका अर्थ यह भया कि महर्षि वशिष्ठजी को एक सौ पुत्र थे। परन्तु उनके प्रारब्ध वश वे सब एक ही दिन में मर गये। कहने का सारांश यह भया कि यह प्रारब्ध भोग की विभूति है। जो इसमें आया वह प्रारब्ध भोग से नहीं बचा। इससे सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि चाहे जैसा भी प्रारब्ध भोग आ पडे उनमें बिलकुल घबड़ावे नहीं, उसको खूब धीरता-पूर्वक भोग लेवें। चाहे अपने को भयकर से भयकर असह्य तकलीफ आ जावे, अपने शरीर सम्बन्धियों को रोग आदि का कष्ट आ जावे, या एक ही रोज में सबके मरण का मौका आ जावे, एक रोज में जन्म भर की कमाई, सम्पति अनेक प्रयत्न करने पर भी चली जावे या बुरी हालत से कोई अपना अपमान कर देवे, ऐसे समय पर भी सच्चे मुमुक्षुओं को न घबड़ाना चाहिए, न धैर्य छोड़ना चाहिए, न प्राण देने की चेष्टा करनी चाहिये, न किसी पर दोपारोपण करना चाहिए, न अत्यन्त शोक के परवश होना चाहिए, न किसी प्रकार की मनौती करनी चाहिए, न किसी प्रकार का अनुष्ठान बैठाना चाहिये, न उन दुखों को छुड़ाने के लिए अपने प्यारे परमात्मा से भूल कर भी किसी प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिए।

अपने मन में यह पक्का समझे कि जब समय आने पर इतने बड़े श्री रामजी के पुरोहित श्री वशिष्ठजी के एक ही रोज में एक सौ जवान पुत्र मर गये, फिर दूसरे की क्या कथा है। आयुष्य पूज जाने पर इतने बडे भक्त श्री अर्जुनजी के प्यारे पुत्र अभिमन्यु भी मृत्यु से नहीं बच सके तो दूसरा कौन बच सकता है। प्रारब्धानुसार परमात्मा का अत्यन्त प्यारे महात्मा श्री विदुरजी को भी दारिद्रय दुख भोगना पड़ा। फिर प्रारब्ध विपरीत होने पर उनसे बढ़ कर और कौन है जो बच सकता है। भगवान के वहां उस काल में विराजते भी ऐसे परम प्यारे भक्त का सभा में दुर्योधन के द्वारा बुरी हालत से अपमान होना यह कैसी बात है। परन्तु वह महान् मुमुक्षु परमज्ञानी श्री विदुरजी उन विपत्तियों को बिपत्ति माने ही नहीं, न उससे कभी घबड़ाये, न अपमान करने वालों का बुरा ही चिन्तन किया, न उन दुःखों से छुड़ाने के लिए कभी अपने प्यारे परमात्मा से प्रार्थना ही किये, न भगवान में से जरा भी श्रद्धा प्रेम हटाये और उल्टा पहले की अपेक्षा परमात्मा में सौगुना प्रेम बढ़ाकर रहते थे। मनुष्य जीवन का प्रधान धन प्रधान फल भगवान का श्री चरण है। उन्हीं के स्मरण में अपना अमूल्य समय एकान्त में रह रहकर बिताते थे और भगवान के श्री चरणों के दर्शन की बार-बार उत्कण्ठा बढाते थे जैसे बड़ों का वचन है कि :—

श्लोक—धनं मदीयं तव पाद पंकजम् कदानुसाक्षात्कारवाणि चक्षुषा।

इसका भाव यह भया कि परमाचार्य जी भगवान से प्रार्थना करते हैं कि मेरे धन तो आपके श्रीचरण कमल हैं। इन नेत्रों से उस दिव्य धन का कब साक्षात् होवे यही निरन्तर अभिलाषा लग रही है। स्वरूप ज्ञानी सच्चे मुमुक्षुओं का यही आचरण है। महात्माओं! आप लोग जानते ही हैं कि सर्व समर्थ परमात्मा पीपल के नीचे साक्षात् विराजे हुए थे और कुटुम्ब कहानेवाले यादव प्रभाम मे परस्पर में लड लडकर मर गये। परन्तु उस समय भगवान उन्हें न बचाये न बचाने का प्रयत्न ही किये। क्यों कि जिसका आदि है उसका अन्त भी है। जब उन लोगों का बिल्कुल अन्त का ही समय आ गया तो एक ही दिन में उन करोड़ों को मरना पडा। यह प्रारब्ध भोग की विभूति है। जब कि भगवान के कुटुम्ब कहानेवाले एक ही दिन में समय आने पर मर गये और साक्षात् भगवान वहाँ विराजे ही थे परन्तु उस

अंश में जो होना था वही हुआ। कहिए महात्माओ! इस बातको जानता हुआ कोई समझदार मुमुक्षु एक ही रोज में दस पांच कुटुम्बियों के मर जाने पर किस प्रकार धीरता को छोड़ सकेगा या कैसे आश्चर्य मानेगा या किस प्रकार परमात्मा को दोष दे सकेगा। जो गर्भ के सच्चे मित्र उस प्यारे परमात्मा से किस प्रकार से श्रद्धा भक्ति हटा सकेगा या परमात्मा से उदासीन हो सकेगा। ये जितनी अनित्य चीजों का जुटान भया है सो बीच में ही भया है और बीच में ही छूट जाने वाला है। न तो ये सब हमारे साथ गर्भ में थे, न मरने के बाद कोई भी साथ में चलने वाले हैं। बारम्बार शास्त्र समझा-समझाकर कहता है कि ये सब क्षणिक हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं, परवश हैं। हम लोगों के प्रारब्धानुसार भगवान के संकल्प मुजब सब एकत्र भये हैं। जितने दिन तक इनका संयोग परमात्मा ने संकल्प कर रखा है उतने ही दिन रहने वाला है।

इन नाशवान चीजों के लिए सच्चा मुमुक्षु परमात्मा का नियम जानता हुआ कैसे प्रार्थना कर सकेगा। अथवा कभी न कभी नाश हो जाने वाले सम्बन्धियों के वियोग हो जाने पर परमात्मा से या गुरु चरणों से या परमात्मा के प्रिय आश्रितों से कैसे श्रद्धा प्रेम हटा सकेगा। महात्माओ! मुमुक्षु कहाना सहज बात नहीं है। महात्मा भागवत वैष्णव वही है जो सर्वदा एक स्थिति से रहे। अचानक भयंकर विपत्ति आ जाय ऐसे मौके पर भी अपने नित्य बन्धु प्राणधन, गर्भ के मित्र प्यारे परमात्मा में पूर्ववत् प्रेम निष्ठा बनी रहे। गुरु चरणों में पहले ही के समान भाव जमा रहे। परमात्मा के प्यारे भागवतों से जरा भी निष्ठा नहीं डिगे। उस चेतन को सच्चा मुमुक्षु महात्मा, निष्ठावान तथा भागवत वैष्णव और सच्चा परमात्मा का आश्रित कह सकते हैं। वही आस्तिक ज्ञानियों की गोष्टी में गिना जाता है ऐसे ही लोग परमधाम में परमात्मा की कौस्तुभ मणि के समान कण्ठ के भूषण बनते हैं और ऐसे महापुरुषों के श्रीचरण के संस्पर्श पाकर यह पृथ्वी थमी रहती है। गीता में ऐसे ही महात्मा को भगवान ने अपना आत्मा माना है। ज्ञानी का उपमा दिया है। भगवान अर्जुन जी से कहते हैं कि हे अर्जुन चार प्रकार के अधिकारी हमारा भजन करते हैं। एक का नाम आर्त्त है दूसरा जिज्ञासु है तीसरा अर्थार्थी तथा चौथे का नाम ज्ञानी है। इन चारों में तीन तो उदार हैं। याने सकाम भाव वाले हैं और जो ज्ञानी हैं वह मेरा आत्मा है। जैसे :—

तेषां ज्ञानी नित्य युक्तः एक भक्ति विशिष्यते ।
प्रियोहि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

इसका अर्थ हे अर्जुन ! उन चार प्रकार के भजन करने वाले अधिकारियो में तीन तो सकाम हैं परन्तु चौथा जो अधिकारी है उसका नाम ज्ञानी है। उसमें भरपूर स्वरूप ज्ञान है। वह संसार के जुटान को प्रारब्धाधीन जाना है, इन चौदह लोकों को नाशवान समझता है। सच्चा प्रिय बन्धु मुझको ही जानता है। मनुष्य देह पाने का फल परमात्मा की नित्य सेवा की प्राप्ति है। इस बात को वह खुब समझा है। नाशवान पदार्थ के लिये प्यारे परमात्मा से स्वप्न में भी याचना नहीं करूँगा। इस बात को मन से दृढ सकल्प किया हुआ है। हमारी सेवा के अतिरिक्त उसके मन में दूसरी चीज की कभी चाहना ही नही होती है। इसी से सदा ही वह हमारा नित्य योग चाहता है। याने हमको देखे बिना हम से मिले बिना उसको चैन नहीं रहती है। एक हमारे में ही उसकी ललक रहती है। सदा हमारी ही सेवा चाहता है। इस लिये यह जो चौथा अधिकारी ज्ञानी है वही सबों का शिर-मौर है क्योंकि उसमें सासारिक कामनायें छू नहीं गई हैं। याने मुझ से और कुछ नही माँगकर मुझको ही माँगता है। उसको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ याने हमारे ऊपर जितना बढ-चढ के उसका प्रेम है उसे मैं भी नहीं बता सकता और मेरा भी वही अत्यन्त प्रिय है। यह जो ज्ञानी है याने मुझ से ऐश्वर्य कैवल्यादिक को भूलकर स्वप्न में भी नहीं चाहना करके मुझ से मुझ को ही चाहता है इससे वह हमारो आत्मा है। याने प्राण के समान है। क्यों कि वह एक मुझ को ही चाहने वाला है। क्यों कि मनुष्य देह पाने का सारे सत्सगों का सब इतिहास पुराण आदि श्रवण का सब से ऊँचा निचोड़ फलों का फल हम को ही, हमारी नित्य सेवा को ही मानकर उमी पर परिस्थिति कर लिया है। हे अर्जुन ! जब अनेक जन्मों की परि समाप्ति हो जाती है। याने फिर इस जन्म मरणादि चक्र में नहीं आना रहता है वही बड़ भागी इस प्रकार के ज्ञान वाला होता है उपायान्तर छोड एक मेरी ही शरणागति करता है यानी ससार चक्र से छूट कर सदा के लिये परमपद में जाकर हमारी नित्य सेवा जो उसका परम फल है उसकी प्राप्ति के लिये स्वरूपानुरूप उपाय जो मैं हूँ। मेरी निर्हेतुक कृपा ही पर दृढाध्यवसाय

करके सदा के लिये रहता है। वही खरा महात्मा है। हे अर्जुन! इस सकाम जगत में मुझ से कभी कुछ अन्य चाहना न करके मुझ से मुझ को ही चाहने वाला अधिकारी महादुर्लभ है। महात्माओं! चार अधिकारियों का प्रसग चला कर भगवान सकामी का फिर नाम तक नहीं लिये और भगवान से भगवान के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहने वाले को ज्ञानी की उपमा दिये, अपनी आत्मा बताये, महात्मा कहे उसी का अन्तिम जन्म बताये। अतः मुमुक्षुओं! जिसको भगवान का आत्मा बनना हो, इसी जन्म के अन्त में परमधाम लेना हो उस मुमुक्षु को चाहिये कि परमात्मा से परमात्मा की नित्य सेवा छोड़ कर स्वप्न में भी कभी कुछ याचना न करे। यद्यपि सकाम भाव का प्रसंग शास्त्रों में है, परन्तु वह सामान्य से सामान्य अधिकारियों के लिये है, खरे मुमुक्षुओं के लिए नहीं है। यदि खरे मुमुक्षओं के लिए होता तो ज्ञानियों में शिरोमणि श्री यामुनाचार्यजी महाराज सकाम भाव वाली बुद्धी के समीप से श्री रंगनाथ भगवान की सन्निधि छोड़कर श्री मन्दिर से बाहर न चले जाते। फिर जब श्री नृसिंह भगवान श्री प्रह्लादजी से कहे कि पुत्र! कुछ हम से मांगो। ऐसी बात सुन कर परम ज्ञानी श्री प्रह्लादजी ने प्रार्थना की कि हे कृपा नाथ! जो श्री चरणों की निर्हेतुक कृपा से प्रयोजनान्तर रहित सद्गुरु के कृपा पात्र स्वरूप ज्ञानी श्री चरणों के आश्रित जन हैं वे लोग प्रभु की नित्य सेवा के अतिरिक्त स्वप्न में भी कभी कुछ मांग सकते हैं! कदापि नहीं यह दास तो श्री चरणों का निष्काम सेवक है। प्रभु तो सदा स कारण रहित कृपालु हुई हैं। हे अनादि के सच्च पिता! प्रभु के श्री चरण कमलों की नित्य सेवा को छोड़ कर जो और कुछ प्रभु की सन्निधि में याचना प्रार्थना करता है, समझदार मुमुक्षुओं की गोष्ठी में वह उच्चकोटि का भगवद्भक्त नहीं गिना जाता है। क्यों कि उसमें स्वरूप ज्ञान नहीं है। इससे अपने नित्य बन्धु जो परमात्मा हैं उन्हें छोड़ कर नाशवान क्षणिक चीजों की याचना करता है। जब कि इस दास के ऊपर इतनी देव दुर्लभ अपार कृपा की वर्षा की जा रही है फिर इससे बढकर और कौनसा बर हो सकता है। दास तो श्री चरणों में बारम्बार यही प्रार्थना करता है कि हमारे हृदय में आपके श्री चरणो की नित्य सेवा के अतिरिक्त स्वप्न में भी कभी दूसरी कामना उत्पन्न ही न हो। इस अनुचर के लिए यही अनुग्रह सदा बनी रहे।

श्लोक—अहंत्वकामस्त्वद्भक्तः त्वं स्वामी ह्यन पाश्रयः।
कामनां हृद्य संरोहो भवतस्तु वृणे वरम्।

इसका भाव पहले ही कह चुके हैं। फिर प्रह्लादजी प्रार्थना करते हैं कि हे मेरे परम-पिता! सामान्य राजा प्रजा के समान ही हमारे और आप में अनित्य सम्बन्ध नहीं है किन्तु आप से और हम से अनादि से अकाट्य पिता पुत्र का सम्बन्ध है। न जाने किस प्रकार की कौनसी हमारे दुर्भाग्य की घटना हो पड़ी है कि प्रभु की नित्य सेवा को छोड़कर इस ससार चक्र में पड़े हुए हैं और नित्य सेवा से तथा सरकार के सदा साक्षात् दर्शन स्पर्शन से वञ्चित हो रहे हैं। हे करुणा सागर! जो बीत गया सो बीत गया अब तो यही अनुग्रह हो कि यह दास सदा सरकार की निष्काम सेवा याने स्वार्थ रहित परार्थ कैंकर्य का भागी बने। सरकार! यह कितनी दुर्भाग्य की बात है कि जो गर्भ का मित्र और सब के छोड़ देने की हालत में सम्हालने वाले हैं उनके तो साक्षात् दर्शन, स्पर्शन, सलाप नित्य सेवा से बञ्चित रहे, और जो बीच ही में मिलते हैं और बीच ही में परवश छूट जानेवाले और अनित्य नाशवन्त हैं और बन्धु कहाने मात्र के हैं परन्तु वास्तव में सच्चा बन्धु कोई नहीं है इन लोगों में हीं सारा समय सारी जिन्दगी बीत जाय। हे हमारे परमपिता! अब तो निर्हेतुक अपने असीम अनुग्रह से यह सेवक नित्य सेवा का भागी बनाया जावे। हे महात्माओ! यह कैसा दिव्य ज्ञान है। बस! खरे मुमुक्षुओं का यही वर्त्ताव है। वह खुद तो प्रभु की नित्य सवा के सिवा अपने प्यारे परमात्मा स कुछ भी याचना काहे को करेगा। परन्तु अपनी नित्य सेवा के अतिरिक्त खुद भगवान भी कुछ देना चाहें तो भी उनसे उनके श्री चरण कैंकर्य के सिवा कुछ भी ऐहिक पदार्थ नहीं लेता है बस इस प्रकार जो निष्काम बड़भागी सच्चे मुमुक्षु लोग हैं उन्हीं को श्री गीताजी में भगवान ने अपना प्राण बताया है। इससे हमलोगों को भी चाहिए कि महा संकट आने पर भी इस ज्ञान को न भूलें न अपने प्यारे परमात्मा से कुछ भी याचना करें। इस प्रकार यदि हमलोग रहेंगे तो देव दुर्लभ मनुष्य जीवन हमलोगों का जरूर सफल होगा। श्री देवराज गुरु के श्रीमुख से यह दिव्य उपदेश श्रवण करके वे मुमुक्षु श्रोता सब गद्गद् हो गये। उस दिन प्रवचन समाप्त किया गया। सबों ने गुरुदेव को धन्यवाद

पूर्वक साष्टांग प्रणाम करके आज्ञा लेकर उन विषयों को मनन करते हुए अपने-अपने आश्रम पर पधारकर नित्य क्रियाओं से निवृत्त होकर भगवान का आराधन कर प्रसाद लेलेकर श्रीदेवराज गुरु के श्री चरणकमल को हृदय में ध्यानकर उन विषयों का मनन करते विश्राम कर गये।

श्री रंगपट्टन वाले सेठी धनीरामजी ब्राह्ममुहूर्त में याने जब दो घड़ी रात रही तब जगे। जगते ही उनके गुरुदेव जो थे उनका ध्यान किये। बाद अस्मद्गुरुभ्यो नमः, अस्मद्परम गुरुभ्यो नमः, अस्मद्सर्वगुरुभ्यो नमः, स्पष्ट उच्चारण किए। बाद एक ही श्लोक में अपनी सारी गुरु परम्परा का अनुसन्धान किये। आसन ही पर पड़े-पड़े श्री देवराज गुरु का मानसिक पूजन किये। उस वक्त तन्मय हो गये। बाद स्वरूप उपाय पुरुपार्थ का चिन्तन करने लगे। इस चेतन का स्वरूप क्या है। इसका कुछ देर विचार किये वो ये है कि यह चेतन और किसी का नहीं होता हुआ सिर्फ एक श्री पति का ही दास है। खरा इस जीवात्मा का यही स्वरूप है। संस्कृत में इसको अनन्यार्ह शेषत्व कहते हैं। इसका वही पूर्वोक्त अर्थ है। यही इसका प्रधान स्वरूप है। इस बात से जिस वक्त यह चेतन विचलित होगा उसका उस वक्त मानो स्वरूप ही नष्ट हो गया। याने अपना सर्वस्व नाश कर चुका। इससे महान मुमुक्षु धनीरामजी अपने मन को शिक्षा देने लगे कि हे मन! अनादि से तुम्हारा समय विपरीत ज्ञान में ही बीता है, अब तुम्हें होश में आ जाना चाहिये। जो तुम्हारा स्वरूप है उस पर भली भाँति परिस्थिति करके शेष समय बिताना चाहिये। तुम्हारा स्वरूप अनन्यार्ह शेष है। इसका भाव ये है कि सब शास्त्रों का आखिरी निश्चय यही है कि यह जीव एक श्रीकान्त का ही दास है। इतर किसी देवतान्तरों का नहीं। बस इस बात को भलीभाँति समझ कर इसी पर सदा के लिये तुम्हें परिस्थिति करके रहना चाहिए। यदि श्री कान्त के अतिरिक्त दूसरे देवतान्तरों का भूल करके भी दास बनोगे तो तुम्हारा स्वरूप नष्ट हो जायगा और ज्ञानियों में फिर तुम नहीं गिने जावोगे। क्योंकि सच्चे मुमुक्षुओं से और देवतान्तरों से तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। श्रियःकान्त के अतिरिक्त इतर देवताओं में तो वे लोग पडते हैं जिन्हें स्वरूपज्ञान नहीं है। मुमुक्षुओं का जिन लोगों ने सहवास नहीं किया, जिन लोगों को अर्थपञ्चक का ज्ञान नहीं है। जो लोग क्षणिक अनित्य नाशवान पदार्थों को ही अपना

भोग्य मान रखे हैं। चौदह लोक और चौदह लोकों का सुख क्षणिक है और नाशवान है। इसमें पड़ने से आवागमन चक्र बन्द नहीं होता है। अनन्य होकर भगवान के शरण होकर उनके अनुग्रह से ससार चक्र से छूटकर परमपद में जाकर भगवान की नित्य सेवा मिले बिना यह आत्मा न आज तक सुखी हुआ है और न कभी सुखी होने की सम्भावना ही है। पहिले तुम सुन हो चुके हो कि चौदह लोक आवागमन की विभूति है। परमपद में जाकर भगवान की प्राप्ति बिना इस जीव का आवागमन कभी छूटता ही नहीं है। हे मन ! इन पूर्वोक्त बातों का जिन जीवों को परिज्ञान नहीं है वे ही लोग देवतान्तरों में प्रवृत्त होते हैं। और स्वरूप ज्ञान नहीं होने के कारण नित्य अनित्य का विवेक नहीं होने से देवतान्तरों के द्वारा अनित्य चीजों की चाहना करते हैं। खरे मुमुक्षुओं का तो शास्त्रों से निर्णय किया हुआ यह अटल सिद्धान्त है कि सुख दुख को देने वाला न तो कोई देवता है, न ग्रह है, न काल है, न कोई चेतन है। जब प्रारब्ध अनुकूल होता है तो सब अनुकूल हो जाते हैं और जब प्रारब्ध प्रतिकूल होता है तो मित्र भी शत्रु बन जाते हैं। चेतन को यह भलीभाँति समझ कर रहना चाहिए। जो सत्संग रहित सामान्य अधिकारी हैं वे ही सुख और दुख के कारण देवों को तथा ग्रहों को और कालादि को समझते हैं। परन्तु जो उच्च कोटि के सत्सग किये-हुए सच्चे मुमुक्षु हैं उन लोगों का तो बारम्बार यही कहना है जो तुम्हें मैं पहिले ही कह चुका हूँ। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में एक मुमुक्षु की कथा है कि उनके स्वरूप को नहीं समझने वाले आसुरी प्रकृति के मनुष्य उन्हें बहुत सताते थे। कोई उन पर थूक देता था, कोई मूत्र कर देता था। इस प्रकार अनेक भाति से उन्हें सताया करते थे। वह महात्मा किसी से कुछ न कह कर मौन होकर अपने आये हुए प्रारब्ध भोग को शान्ति तथा धीरता पूर्वक भोगते हुए अपना समय बिताते थे। एक रोज इस तरह लोगों के सताने पर भी उनकी तरफ बिल्कुल न ख्याल करके शान्ति पूर्वक परमात्मा के स्मरण में बैठे हुए उस महात्मा को देखकर किसी ने पूछा कि महाराज ! आपका कैसा गजब हृदय है और धैर्य है और आप में कैसी आश्चर्यजनक शान्ति है कि आप के ऊपर इतना उपद्रव दुर्जनों के जरिये हो रहा है, परन्तु इस बात को आप बिल्कुल मन में नहीं ले रहे हैं। न तो शान्ति और धैर्य को जरा भी छोड रहे हैं। यह क्या है ? वह महात्मा बोले कि

भाई ! वास्तव में ये लोग हमें दुख पहुँचाने वाले नहीं हैं। न किसी देवता तथा ग्रहों के द्वारा सुख दुःख होता है। बात तो यथार्थ यह है कि प्रारब्ध अनुकूल होने से सब अनुकूल होते हैं और प्रारब्ध प्रतिकूल होने से प्रिय बन्धु वर्ग भी प्रतिकूल हो जाता है। इस प्रकार सद्गुरु के परम अनुग्रह से जिन मुमुक्षु चेतनों को यह बात समझ आ चुकी है। वे लोग कभी दूसरों को दोष लगाते ही नहीं। इस प्रकार जिन्हें परिज्ञान रहता है उनकी शान्ति भंग कभी भी नहीं होती। यह सुख दुःख मानना तो बस एक मन के ऊपर है। अपने मन से जिसको शत्रु कल्पना कर लिये उसको स्मरण कर-कर सत्संग हीन बेसमझ लोग उद्वेग और ईर्ष्या वैर में पड़े रहते हैं और जिसको मन में मित्र कल्पना कर लिए उसका उपकार मानने लगते हैं। परन्तु चिरकाल सत्संग किये हुए उच्च कोटि के मुमुक्षु लोग तो कभी किसी पर दोषारोपण करते ही नहीं।

श्लोक—नायं जनो में सुख दुःख हेतुर्न देवतात्मा ग्रह कर्म काला।
मनः परं कारण मामनन्ति संसार चक्रं परिवर्त्तयेय्यत् ॥

उस मुमुक्षु महात्मा का यही बचन है। इसका अर्थ पहले ही कह चुके हैं। जिन लोगों ने चिर काल तक अच्छे-अच्छे मुमुक्षुओं का सत्संग नही किया वे ही लोग दूसरों को तथा देवों को तथा ग्रहों को सुख दुख का कारण मानते हैं। परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। यदि दुख छुड़ाना और सुख देना देवता तथा ग्रहों के हाथ में होता तो फिर उन लोगों को कभी भी दुःख नहीं होना चाहिये किन्तु ऐसा नही होता है। इतिहासों के द्वारा सुनने में आता है कि सब जीवों के समान देवता तथा ग्रहों के ऊपर भी उन लोगों के प्रारब्ध के अनुसार समय-समय पर दुःख सुख आया जाया करता है। सुनने में आता है कि कई बार इन्द्रादि देवताओं पर भी भयंकर विपत्ति आई और उन लोगों ने भगवान के द्वारा उन विपत्तियों से छुटकारा पाया। ग्रहों की भी यही हालत है। आपस में वे लोग भी कई बार परस्पर संघर्ष करके दुःख भोगा करते हैं। यदि उन्हीं लोगों के हाथ में दुःख छुड़ाना होता तो उनके ऊपर फिर दुःख नहीं आना चाहिए था। परन्तु उन लोगों पर भी दुख आता ही है और उन दुःखों से छूटने के लिये वो लोग परमात्मा के शरण जाकर उन दुःखों

से छुटकारा पाते हैं। यदि उन्हीं के हाथ में सुख देना होता तो प्रभु से सुख मिलने के लिये उनके शरण में क्यों जाते। अतः हम से जो ये लोग' 'उपद्रव मचा रहे' हैं इन लोगों का मैं कुछ भी दोष नहीं समझ रहा हूँ। ये सब हमारे प्रारब्ध का ही कारण है ऐसा विचार करके अपने मन को मैं समझा लेता हूँ। इसी से हमारी शान्ति भंग नहीं होती है। इससे मुमुक्षुओं को चाहिये कि अपना अपमान करने वालों पर इर्ष्या बैर न करे। इस शरीर का कितना भी कोई अपमान करे तो आत्मा की हानि तो कुछ होती ही नहीं। फिर कोई कितना भी अपमान करे हमारा क्या जाता है यदि अपमान करने वालों से प्राकृतों के समान ज्ञानी मुमुक्षु भी ईर्षा बैर करें तो फिर सत्संग करने से उसे लाभ ही क्या मिला। बात बात में ईर्षा बैर तो वे लोग करते हैं जो शरीर को आत्मा समझ रखे हैं। एक महात्मा जड भरत हुए थे। वे खुद अपना अपमान कराने की कोशिश करते थे, फिर मुमुक्ष होता हुआ मैं किसी के अपमान करने से अपनी शान्ति को कैसे छोड़ सकता हूँ। उस मुमुक्षु महात्मा का बचन सुन कर वह पूछने वाला सज्जन दंग होकर रह गया और मन में कहने लगा कि परमात्मा के प्यारे महात्माओं का लोकोत्तर चरित्र होता है। महात्मा धनीरामजी अपने मन को समझा रहे हैं कि हे मन ! मुमुक्षुओं का अनुष्ठान विचार कैसा लोक विलक्षण होता है, सो तो तुम समझ ही गये। इससे जो तुम्हारा स्वरूप है उसकी सदा तुम्हें रक्षा करनी चाहिए। आजन्म कभी भगवान श्रीकान्त के अतिरिक्त किसी भी देवतान्तरों में भूल कर भी नहीं पडना चाहिये। जो लोग सत्संग रहित सामान्य अधिकारी हैं भली भाँति शास्त्रों का रहस्य नही जानते हैं वे ही लोग देवताओं के द्वारा कुछ सुख पाने को कामना से देवताओं में प्रवृत होते हैं। इससे गीता में उन्हें हृतज्ञान बताया है। जैसे—

श्लोक—कामैस्तैस्तै र्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः।

यह भगवान् की श्रीमुख वाणी है। गीता में अर्जुनजी से भगवान कहे हैं कि कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान नष्ट हो जाता है वे ही लोग देवतान्तरों की उपासना करते हैं। आखिरी में देवताओं के द्वारा उन लोगों को जो फल मिलता है वह बिल्कुल नाशवान होता है। वे लोग बिल्कुल अल्प बुद्धि वाले हैं क्यों कि जो फल नाश हो जाने वाला है उसके लिये

स्वरूप विरुद्ध देवतान्तरों कि उपासना करते हैं। यदि कदाचित वे लोग देवताओं के लोक में भी जाते हैं तो कालान्तर में फिर भो उन्हें जन्म मरण चक्र में आना ही पड़ता है। तो यदि बार-बार मृत्यु लोक में आना ही पड़े आवागमन से छुटकारा ही न मिले फिर उस उपासना से ही क्या लाभ इससे जो अच्छे समझदार मुमुक्षु लोग हैं सो तो नाशवन्त फल देने वाली उपासनाओं को त्याग कर हमारी ही शरण लेते हैं और अन्त में सदा के लिये आवागमन से रहित होकर हमारे दिव्यधाम में चले जाते हैं।

श्लोक—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजोयान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

इसका भाव पहले ही कह चुके हैं। मुमुक्षु धनीरामजी अपते मन को समझाते हुए कहते हैं कि क्यों मन! भली भाँति अब तुम समझ गये होवोगे। सच्चे मुमुक्षुओं को स्वप्न में भी देवतान्तरों में नहीं पड़ना चाहिए। इससे अनन्यार्ह शेष जो तुम्हारा स्वरूप है उसका सदा रक्षण करो। फिर दूसरा स्वरूप इस चेतन का अनन्य शरणत्व है। इस चेतन का स्वरूपानुरूप उपाय भगवान श्री निवास ही हैं। इसका मतलब यह हुआ कि श्री पति की कृपा ही को अन्त पयन्त जो बड़ भागी चेतन पकडे रहेगा उसे इस शरीर के अन्त में अवश्य ही मोक्ष हो जावेगा। इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं है। श्री हरि के श्री चरणारविन्दों के भरोसे पर ताजिन्दगी रहने वाले बडभागी पुरुष को फिर इस जन्म मरण चक्र में नहीं आना पड़ेगा। शास्त्रों का तथा ऊच कोटि के पहुँचे हुए महात्माओं का यह अटल सिद्धान्त हे। श्री वेंकट विहारी की निर्हेतुक कृपा के सिवाय समार से तरने के जितने उपाय हैं। वे अनेक विघ्नों से भरे हुए हैं। उन उपायों के भरोसे रहने वालों का संसार बन्धन कब कटेगा इसको कोई भी निश्चय करके नहीं कह सकता है। भगवान की निर्हेतुक कृपा के उपर रहने वाले मुमुक्षुओं को इतर अवलम्ब जड़मूल से त्याग कर रहना चाहिए। श्री कृपा अवलम्बियों के लिये यह भी सक्त नियम है। इसी लिए हे मन! सदा के लिए यह श्रीकान्त की निर्हेतुक कृपा ही के ऊपर स्थिति रक्खो। अब की बार श्री गुरु कृपा से प्राप्त जो भगवान की निर्हेतुक कृपा है उसके जरिये अवश्य ही तुझे विरजा स्थान मिलेगा। इस बात पर निःसन्देह दृढ़ विश्वास

करके रहो। यदि श्री हरि के श्रीचरणों के निर्हेतुक अनुग्रह का भरोसा छोड़ कर संसार से तरने के लिए स्वप्न में भी यदि दूसरा भरोसा मन से पकड़ोगे तो जानो कि देव दुर्लभ मनुष्य देह से कुछ भी लाभ नहीं मिला। अब तीसरा अनन्य भोग्यत्व जो इस चेतन का स्वरूप है, इसको भी पूर्णरूप से भलीभांति समझ कर रहना चाहिए। इसका मतलब यह है कि यह चेतन प्यारे परमात्मा का अनन्य भोग्य है। याने एक श्री हरी का ही कैंकर्य करने का स्वरूपानुरूप परम अधिकार है। श्री लक्ष्मी निवास के सिवा यह आत्मा अन्य किसी का भी भोग्य नहीं है। इसको भगवान श्री रंगनाथ के कैंकर्य के अतिरिक्त अन्य देवतान्तरों में प्रवृत होने का बिल्कुल स्वरूप नहीं है। श्री श्यामसुन्दर की सेवा भी स्वार्थ रहित ही करने का इसका उच्च कोटि का स्वरूप है। इससे तुम्हें श्री हरी ही के कैंकर्य में निरत रहना चाहिए और भगवान श्री नारायण से बारम्बार स्वार्थ रहित उनकी नित्य सेवा मिलने के लिए ही उनसे पुनः पुनः प्रार्थना करते रहना चाहिए। इस चेतन का क्या स्वरूप है सो तुम खूब समझ गये होवोगे। बस ! अनन्याह शेषत्व, अनन्य शरणत्व, अनन्य भोग्हत्व, यही आत्मा के तीन वास्तविक स्वरूप हैं। इसी को आकारत्रय कहते हैं। एक से आत्मा का स्वरूप ज्ञान होता है, दूसरे से आत्मा के स्वरूपानुरूप उपाय का ज्ञान होता है, तीसरे से स्वरूपानुरूप पुरुपार्थ का ज्ञान होता है। याने स्वरूपानुरूप फल मालूम पडता है। यदि इतना समझ में आ गया तो मानो कि सब शास्त्रों का सारांश भाग हस्तामलकवत् हो गया। वस इसी जन्म के अन्त में ससार बन्धन से छूट कर जरूर परमधाम जाने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षुओं को इतने ही मात्र जानने की अति आवश्यकता है। जैसे कहा है कि :—

श्लोक—स्वज्ञानं प्रापक ज्ञानं प्राप्यज्ञानं मुमुक्षु भिः।
ज्ञानत्रयमुपादेयमेतदन्यं न किञ्चन ॥

इसका भाव पहले ही कह चुके हैं बस इतने ही में सारा अर्थ पञ्चक भरा हुआ है। इतना विषय तुम जरूर हृदय मे रखो। इतने को कभी नही भूलो। हमारा उपाय याने साधन, उपेय याने फल भगवान हीं हैं। इन दो बातों का नित्य ही अनुसन्धान किया करो और इन बातों को कृपा कर तुम्हें जिसने समझाया है उस परम हितैपी महा उपकारी कृपा सागर

श्री हरी का प्रत्यक्ष करुणा का अवतार जो श्री देवराज गुरु हैं, उनके श्री चरणों को सदा ध्यान किया करो। उनका मानसिक पूजन किया करो। उस श्री गुरुदेव का हरेक प्रकार से व्यवहार भाव हटाकर सच्चे दिल से उनकी सेवा किया करो। सुबह उठते ही उनका स्मरण करके गद्गद् कण्ठ से उनको साष्टांग कर लिया करो। उनके दर्शनों से कभी तृप्ति न पाओ तथा उनकी सेवा से कभी भी तृप्ति न माना करो। उनकी सेवा के लिये नित्य नई चाहना किया करो। क्यों कि तुम्हें जो लौकिक अथवा पारलौकिक सबही उनके श्री चरणों की कृपा से प्राप्त भया है। तुम्हें मालूम ही है, जब तक उनके श्रीचरण कमल तुम्हें नहीं मिले थे तब तक तुम्हारी क्या दुर्दशा थी और कैसे-कसे संशय भ्रम में तुम पड़े थे। इस लोक का जो सुख तुम्हें मिला है और मिल रहा है यह सब उसी गुरु देव के श्री चरण कमलों के सम्बन्ध का प्रताप है। और आगे जो तुम्हें नित्य कैंकर्य मिलने वाला है वो भी उन्हीं के श्री चरण सम्बन्ध से ही जानो। यदि वह गुरुराज तुम्हें नहीं मिले होते तो तुम्हारी क्या-क्या दुर्दशा बदी थी सो तुम से छिपी नहीं है। इस प्रकार अपने श्री गुरु चरणों का स्मरण करते-करते महान् मुमुक्षु महा कृतज्ञ महात्मा श्री धनी रामजी गद्गद कण्ठ होकर मारे प्रेम के विह्वल हो गये! तदनन्तर नित्य क्रियाओं से निवृत होकर भगवान श्री रंगनाथ का आराधना करके प्रसाद पाकर महात्मा धनीरामजी थोड़ी देर विश्राम कर गये। उधर वे जो दोनों मुमुक्षु थे दामोदरजी तथा रघुवीरदासजी वे लोग भी श्री हरि का पूजन करके भगवान का महाप्रसाद लेकर कुछ देर आराम किये। बाद उठ कर नित्य नियमों से निपट कर कालक्षेप की प्रतिक्षा करते हुए विराजे थे। उधर नित्य के समान उपदेश के समय पर श्री रंगबाग में हजारों मुमुक्षु महात्मा लोग आकर उपस्थित हुए। श्री देवराज गुरु के आगमन की प्रतिक्षा करते हुए सभी विराजे थे। इतने में अपने कुछ शिष्यों के साथ श्री देवराज गुरु का शुभागमन हुआ। सब श्रोता लोग एक दम उठ कर खड़े हो गये। श्री देवराज गुरु भी व्यासासन पर विराज गये। इतने में पूर्वोक्त दोनों मुमुक्षुओं के साथ महात्मा धनीरामजी भी उन श्रोताओं में सम्मिलित हुए। बाद सब श्रोता लोग तुलसी पुष्प माला आदि से श्री देवराज गुरु का पूजन करके लम्बी साष्टांग प्रणाम करके सब विराज गये। बाद एक कण्ठ से श्री देवराज गुरु का सबों ने जय-जयकार किया।

अनन्तर प्रथम के समान मंगल कीर्त्तन हुआ। फिर श्री देवराज गुरु उच्च और मधुर स्वर से गुरु परम्परा का अनुसन्धान करके अपने उपदेशामृत को प्रारम्भ किये। उपदेशारम्भ के पूर्व नेत्र मींचकर हाथ जोड़ कर प्रेमाश्रु के साथ श्री रगनाथ भगवान का स्मरण करके श्री देवराज गुरु गद्गद् हो गये। बाद में सब श्रोताओं की तरफ चारों तरफ एकबार देखे। पूर्वोक्त दोनों मुमुक्षुओं के साथ दूर बैठे हुए महात्मा धनीरामजी को अपने नजदीक आकर बैठने का इशारा किये इस प्रकार उन तीनों मुमुक्षुओं के ऊपर श्री देवराज गुरु की असीम कृपा जानकर सबों ने उन लोगों के भाग्य की सराहना की। बाद में फिर एक बार जय-जय ध्वनि हुई। सब श्रोताओं का एकाग्र चित्त था। सब के सब श्री देवराज गुरु के तरफ ही देखते थे। भीड़ बहुत थी लेकिन कोई किसी से बात नहीं करता था। जितने श्रोता थे सब के सब सच्चे मुमुक्षु थे। इन श्रोताओं में कोई भी संशय भ्रम वाला, तर्क वितर्क वाला नहीं था। इस वक्त वहाँ की जो शोभा थी वह अलौकिक थी। इतने में श्री देवराज गुरु फिर भी अपने गुरुदेव के चरणों का स्मरण करके मधुर स्वर से बोले—हे उपस्थित मुमुक्षु महात्माओ! परमदयालु भगवान श्री लक्ष्मी पति को कोटि-कोटि धन्यवाद है कि हम लोगों के लिए आज ऐसा सुअवसर दे रखा है। पहले ही आप लोगों से कईबार निवेदन कर चुका हूँ कि इस मनुष्य देह प्राप्ति के लिए देवता लोग भी तरसते हैं और बारम्बार परमात्मा से इस भारत खण्ड में मनुष्य देह प्राप्त करने के लिये प्रार्थना भी किया करते हैं। इसका कारण यही है कि यदि चेतन इच्छा करे तो मनुष्य देह से बहुत शीघ्र तथा अवश्य सद्गुरु का कृपा पात्र बन कर आवागमन से रहित हो सकता है। जितनी जल्दी मनुष्य देह में भगवान की प्राप्ति हो सकती है उतनी जल्दी किसी देह में नहीं। जिसके लिये देवता लोग भी प्रार्थना करते हैं वह मनुष्य देह हम लोगों को कृपा सागर भगवान स्वयं कृपा करके दे रखे हैं। अब हम लोगों को यही चाहिये कि इस मनुष्य देह के पाने का प्रधान फल जो परमपद की प्राप्ति है वह अवश्य हो जावे। परमपद मिलने के लिये शास्त्रों में दो प्रकार का उपाय बताया गया है। एक भक्ति दूसरी शरणागति। उन दोनों में भी शरणागति को सुलभ कहा है। याने जिसको इसी जन्म के अन्त मे सदा के लिये आवागमन से रहित हो जाने की इच्छा हो, उसको भगवान के शरणागत होकर रहना चाहिए। साधन भक्ति

कितनी कठिन है और शरणागति कितनी सुलभ है इस बात का भी बिचार पहले बहुत कुछ कर आया हूँ और विस्तार से इसको फिर भी वर्णन करूँगा, शरणागत मुमुक्षुओं को क्या छोड़ना चाहिए, कैसे रहना चाहिए कलके उपदेश में इस बात को कुछ कहा था। उसी प्रसग में से कुछ रह गया है। पहले उसी को निवेदन करके पीछे भक्ति और प्रपत्ति का भलि भांति विवेचन करेंगे। शास्त्रों का बारम्बार यही कहना है कि जिसको संसार चक्र से छूट कर परमपद जाने की जरूरी इच्छा हो उस मुमुक्षु को चाहिए कि सबसे पहले अपने में से अहंकार को समूल नष्ट कर दे। मुमुक्षुओं के लिये अहंकार एक ऐसा बलवान शत्रु है कि भगवान के नजदीक से भी दूर कर देता है। शास्त्रों का कहना भी है और बड़े-बड़े महात्माओं का अनुभव भी है कि भगवान अहंकार वाले चेतन को अपने नजदीक नहीं रखते हैं। देखने सुनने में आता है कि गोपियों के समान कोई नहीं हो सकता। दुनियाँ में जितने आस्तिक मुमुक्षु हैं वे सभी गोपियों के भाग्य की बारम्बार सराहना करते हैं तथा उन गोपियों के गुणों को गा-गा कर अपने आत्मा का कल्याण किया करते हैं। है भी यथार्थ ही। जिन लोगों के साथ परमात्मा साक्षात्कार थे, जिन लोगों के साथ अनेक लीला करते थे उन लोगों के समान जगत में बडभागी कौन हो सकता है। उन्हीं गोपियों के बाबत रास करने के समय एक प्रसग आता है कि :—

"आत्मानं मेनिरेस्त्रीणां वरिष्ठं सर्वथा भुवि ॥"

इसका मतलब यह हुआ कि गोपियों से भगवान जब रास करने को उद्यत हुए तब गोपी लोगों में अहंकार आया। वे सब अपने मन में ऐसा सोचने लगीं कि हम लोग अत्यन्त सुन्दरी हैं। इसी कारण से भगवान हम लोगों पर मोहित होकर राम करते हैं। हम लोगों के समान इस जगत भर में सुन्दरी स्त्रियां नहीं हैं। इस प्रकार का जब उन लोगों में अहंकार आया तब :—

"तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्यमानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

याने उन लोगों का सौन्दर्य का अभिमान देख कर भगवान उसी वक्त अन्तर्ध्यान हो गये याने उन लोगों को छोड़ कर दूर चले गये।

श्री देवराज गुरू कह रहे हैं कि कहिये महात्माओं अहंकार कितना प्रबल शत्रु है जिसने ऐसे उच्चकोटि के महात्मा गोपीगणों से भी भगवान को दूर हटा दिया। और भी अहंकार की प्रबलता आप लोग श्रवण करिये। जब भगवान अन्ध्यान हो गये तो साथ में श्री राधाजी को भी ले गये थे। कुछ देर बाद वही अहंकार श्री राधाजी में भी आ गया। वह यह सोचने लगीं कि मालूम पड़ता है कि सब गोपियों में मैं हीं अत्यन्त सुन्दरी हूं। इसीसे सब गोपियों को छोड़कर मुझे ही एकान्त में लिए फिरते हैं। इस प्रकार मनमें विचार करके अत्यन्त अहंकार में भरकर बोलीं कि मैं अत्यन्त सुकुमारी हूँ इससे ज्यादा चल नहीं सकती। जैसे बने वैसे आप मुझे ले चलिए। इस प्रकार अहंकार भरा बचन सुनकर के आश्चर्य में पडके भगवान बोले कि अच्छा आप से नहीं चला जाता है तो मेरे कन्धे पर सवार हो लीजिए। भगवान के इस व्यग बचन को न समझकर श्री राधिकाजी भगवान के कन्धे पर चढने को ज्यों ही अपने श्रीचरण को उठाईं त्योंही भगवान वहाँ से भी अन्तर्ध्यान हो गए। भगवान के अन्तर्ध्यान होने के बाद उन गोपियों को तथा श्री राधाजी को जितना असह्य कष्ट हुआ उतना वर्णन नहीं कर सकते। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत दशमस्कन्ध उत्तरार्ध में भी लिखा है कि एक बार श्री रुक्मिणीजी को भी कुछ अहंकार आया। उस अहंकार के नाश होने के लिए उनके साथ भगवान को कुछ रुक्षता का व्यवहार करना पड़ा। इन पूर्वोक्त प्रसंगो से यह विदित होता है कि जहाँ अहंकार रहता है वहाँ भगवान का निवास नहीं होता है। गोपियों में श्री राधिकाजी में भी जब कि अहंकार आने पर भगवान को उनसे दूर होजाना पडा तो और मुमुक्षुओं में अहंकार आने पर यदि भगवान उनसे दूर हो जावें तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवान के अन्तर्ध्यान हो जाने के बाद गोपियों ने जब अपने कर्तव्य पर पश्चात्ताप किया तो फिर भगवान भी कृपा करके दर्शन दिये।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! जिसको सच्चा मुमुक्षु बनकर रहना हो और भगवान की कृपा सम्पादन करना हो उसको चाहिए कि सबसे पहिले अहंकार को

त्याग दे। श्री गोपियां, श्री राधिकाजी तथा श्री रुक्मिणीजी आदि जो भगवान के समीपवर्त्ती पार्षद हैं उनलोगों में तो अहंकार आही नहीं सकता है। केवल भगवान इन लोगों को निमित्त करके बाकी मुमुक्षुओं को चेतावनी दिये हैं कि ऐसे-ऐसे बड़ों में भी अहंकार आने पर मैं छोड़ देता हूँ, तो दूसरों की बात ही क्या है ? श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! भगवान का प्यारा वही हो सकता है कि जिसमें अहंकार न हो। अहंकार का अनेक प्रकार का स्वरूप है। जिसमें पाँच सात प्रधान है। जो लोग सद्‌गुरु के कृपा पात्र नहीं होते हैं, जिनको स्वरूप ज्ञान नहीं रहता है, आत्मा क्या है प्रकृति क्या है, यह विवेक जिनमें नहीं रहता है, उन लोगों में अहंकार बहुत आता है। मैं बडा विद्वान हूँ, मैं बड़ा रूपवान हूँ, मैं बहुत धनवान हूं, सबसे मेरी ऊँची जाति है, मैं बहुत कुटुम्ब वाला हूँ, मैं बहुत बुद्धिमान हूँ, मैं बहुत बलवान हूँ, मेरी मान प्रतिष्ठा सबसे ज्यादा है, इस प्रकार भगवद्विमुखी लोग अनेक प्रकार का अहंकार किया करते हैं। यह नहीं समझते कि सारी शक्ति तो भगावान की दी हुई है। भगवान अपनी शक्ति लेलें तो बल, रूप, विद्या, यौवन कहाँ रह जायगा। और सद्‌गुरुओं के कृपा पात्र जो ज्ञानी महात्मा लोग हैं वे भूलकर के भी अहङ्कार नहीं करते हैं। मुमुक्षु सत्पुरुषों का तो स्वभाव ही लोक विलक्षण होता है। जैसे किसी का कहा है—

> "गर्व नोद्वहते न निन्दति परान्नो भाषते निष्ठुरं,
> श्रुत्वा केनचिदप्रियं च सहते क्रोधंच नालम्बते।
> श्रुत्वा, काव्य मलक्षणं परिकृतं संतिष्ठते मूकवद्‌।
> दोषां श्च्छादयते स्वयं न कुरुते ह्येतत्सतां लक्षणम्‌ ॥"

एक मुमुक्षु पुरुष अपने गुरु से पूछे कि गुरुजी महाराज ! सत्पुरुषों का लक्षण क्या है ? सो कृपा करके बताइये ! गुरुजी बोले कि सुनाता हूं, ध्यान देकर सुनो। इतना कहकर ऊपर में जो श्लोक कहा हूँ उसीको सुनाया। श्लोकार्थ यह है कि सत्पुरुष लोग कभी भी किसी बात का अहङ्कार नहीं करते हैं। न किसी की कभी निन्दा करते हैं। अप्रिय वचन भी किसी से नहीं बोलते हैं। उनकी कोई निन्दा कर दे या उन्हें कोई

किसी प्रकार का अप्रिय बचन कहदे तो उसको सह जाते हैं। और उस अप्रिय वचन बोलने वाले के ऊपर क्रोध भी नहीं करते हैं। दूसरे से कहा हुआ दोषयुक्त पदों को भी श्रवण करके अनजान के समान गुपचुप सुन लेते हैं, दूसरे के दोषों को छिपाते हैं, दोषों को जानते हुए भी प्रगट नहीं करते हैं। दस लोगों में इसका अपमान न हो जाय इस विचार से उन दोषयुक्त पदों के सुधारने की भी उस वक्त चेष्टा नहीं करते हैं। यही सत्पुरुषों के लक्षण हैं। श्री देवराज गुरु कहते हैं हे महात्माओ! कहने का सरांश इतना ही है कि मुमुक्षुओं को किसी बात का अहङ्कार नहीं करना चाहिए। इस चेतन का जाति प्रयुक्त, विद्याप्रयुक्त, देश प्रयुक्त, ग्रामप्रयुक्त जो नाम है सो अनर्थ के हेतु हैं। यह बीच ही हुआ है और बीच ही में नष्ट हो जाता है। यह चेतन अनादि से परमात्मा का दास है और यही इसका नाशरहित सच्चा नाम है। जैसे बादलों से चन्द्रमा ढक जाते हैं और बादलों के नाश हो जाने पर यथार्थ प्रकाश हो जाता है। इसी प्रकार इस चेतन में अहङ्कार आनेसे असली नाम स्वरूप इसका ढक जाता है। अहङ्कार के चले जाने पर असली स्वरूप का प्रकाश होता है। बड़ों का कहना है कि (मू० श्री० भू०) अहंकारोऽग्निस्पर्शवत् ॥ अहंकार रूप मालिन्य निवर्त्तने आत्मनोऽविनश्य न्नाम दास इति ही ॥ इसका अर्थ यह हुआ कि रुई, कपडा वगैरह में अग्नि का स्पर्श होने से वह भस्म हो जाता है। उसी प्रकार अहंकार के आने से इस आतमा का स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। शुद्ध स्वरूप जो आत्मा है इसको अहंकार ने ही मलिन कर रखा है। इस अहंकार रूप दोष के निकल जाने पर इस आत्मा का अनादि सिद्ध नाश रहित नाम जो भगवद्दास है, यही रह जाता है। इससे हम मुमुक्षुओं को चाहिए कि इस अहङ्कार रूप प्रबल शत्रु से सदा बचने की कोशिश करते रहें। जैसे सदाचारी लोग दुराचारियों से अलग रहते हैं, जैसे अनन्य भगवद्भक्त लोग देवतान्तर तथा देवतान्तर में निष्ठावालों से फर्क रहते हैं। जैसे भगवान की कृपा के भरोसे रहने वाले शरणागत लोग इतर उपायान्तर वालों के सग से फर्क रहते हैं। इसी प्रकार सद्गुरु के कृपा पात्र सात्विक सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिये कि अहङ्कार से तथा अहङ्कारी मनुष्यों से सदा दूर रहें। अहङ्कारी जीवों के लक्षण क्या है इस बात को संक्षेप से पहले मैं कह चुका हूँ। फिर भी संक्षेप में निवेदन कर रहा हूं सो आप लोग ध्यान देकर सुनिये। अहङ्कार का स्वरूप तो अनेक प्रकार

का है, जिसको वर्णन करने से बर्त्तमान प्रसंग बहुत बढ़ जायगा। इससे थोड़े ही में समझाता हूँ। मुमुक्षुओं में तो अहङ्कार रहता ही नहीं है क्योंकि मुमुक्षु उसी को कहते हैं जो संसार बन्धन से छूटने की इच्छा रखता हो और अहङ्कार जो है सो संसार बन्धन में डालने वाला है। तो इन दोनों बातों से मेल नहीं खाता। जिसमें अहङ्कार है सो मुमुक्षु नहीं हो सकता है और जो सच्चा मुमुक्षु होगा उसके भीतर स्वप्न में भी अहङ्कार नहीं होगा क्यों कि गीता में भगवान का श्रीमुख वचन है कि :—

"अहंकार विमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।"

इसका सारांश यह हुआ कि जिसमें अहंकार आयेगा उसका आत्मा बिलकुल विमूढ हो जायगा याने उसका स्वरूप नष्ट हो जायगा। जैसे भग के नशा में मनुष्य विचार शून्य हो जाता है, उसी तरह अहंकार आने पर मनुष्य बिपरीत ज्ञानवाला हो जाता है। उसका ज्ञान ठिकाने नहीं रह जाता। यहाँ तक हो जाता है कि खुद अपने ही को प्रधानकर्त्ता मानने लगता है। भगवान के कर्तृत्व को अपने ऊपर किये हुए भगवान के अनेक उपकारों को बिलकुल भूल जाता है। इससे सच्चे मुमुक्षु लोग तो अहंकार रूप शत्रु से बहुत भयभीत होकर रहते हैं। जो बद्ध संसारी लोग हैं वे रात दिन अहकार ही में पड़े रहते हैं, न उन लोगों को को नित्य अनित्य का ज्ञान रहता है। इसी कारण उनमें अज्ञान की मात्रा बहुत अधिक रहती है। यही लोग मिथ्याभिमान में चूर रहते हैं। मैं बहुत विद्वान हूँ, मेरी बराबरी कौन कर सकता है मैं जिसको चाहता हूँ उसको परास्त कर देता हूं। मेरी सबसे ऊँची जाति है। बड़े आदमियों में हमारा बहुत मान है। मैं बहुत कुटुम्ब वाला हूं। हमारे सहायक भी बहुत हैं, सबसे ऊँचा आसन हमारा रहता है मैं बहुत रूपवान हूँ। द्रव्य भी मेरे पास बहुत है। महल मकान अधिकार भी हमको काफी मिला है। हमारा शरीर भी अच्छा हृष्ट पुष्ट है। मैं जो चाहता हूँ सो कर लेता हूं। मान मर्यादा भोजनादि में मैं सब से पहिले पूछा जाता हूँ। हर वक्त दस आदमी हमारे पास रहा करते हैं। सैकड़ों लोग मुझसे मिलने सदा आया जाया करते हैं। मेरे बराबर भाग्वान कौन हो सकता है। आचार विचार भी हममे सबसे ज्यादा है। दस लोग सदा हमें आदर की दृष्टि से देखा करते हैं। अनेकों मनुष्य हमें प्रणाम

किया करते हैं मैं सदा पवित्र रहता हूं। हमारे समान महात्मा भी कौन हो सकता है। आसन सिद्धि भी हमें प्राप्त ही है। सबसे पहिले हरेक बात में मैं ही पूछा जाता हूँ। अब तो संसार को मैं जीत लिया हूँ। माया से मैं दूर हो गया हूं। अनुभव में भी हमारे बराबर कोई नहीं। महात्माओं में भी हमारे बराबर कोई एकान्ती नजर नही आता है। बाकी लोग तो ससार में पड़े हुए हैं। मैं तो जीवन मुक्त हूँ। हमारे समान शास्त्र विषय को भी दूसरा कोई समझने वाला नहीं है। मैं तो सबसे उच्च कुल वाला हूँ। दुनियाँ में आकर जो कुछ मिलना चाहिए वह सब हमें मिल चुका है। ब्राह्मणों में भी हमारा पहिला नम्बर है। विद्या, रूप, धन, मान, मर्यादा आदि में भी मैं सब से श्रेष्ठ हूँ। श्रीदेवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! जो सत्संगहीन, स्वरूप ज्ञान से रहित, अज्ञान से भरे हुए, बारम्बार संसार चक्र में आने जाने वाले अभागे बद्ध संसारी लोग हैं, वे ही त्रिदोष में पड़े हुए मनुष्यों के समान इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से अहंकार में पड़े रहते हैं। ऐसे अहंकारी लोगों से सच्चे मुमुक्षु महात्मा कोसों दूर रहते हैं। और उत्तम जाति, विशेष ऐश्वर्य, भरपूर विद्या लोकोत्तर रूप, सर्व प्रकार से मान मर्यादा, आचार-विचार अनुष्ठान, आदि से पूर्ण होते हुए भी सच्चे मुमुक्षु स्वप्न में भी अहकार नहीं करते हैं। न तो इन चीजों के द्वारा उनके आत्मा में शान्ति ही प्राप्त होती है, और न इन पूर्वोक्त अनित्य चीजों को पाकर अपने को कभी भाग्यवान ही मानते हैं। सद्गुरुओं के कृपा पात्र चिरकाल तक सत्संग किये हुए सच्चे मुमुक्षु लोग तो यह सोचा करते हैं कि हाय भगवन! मनुष्य देह पाकर हमें मिला ही क्या है। ये जितनी चीजें हमें मिली हैं इनमें एक भी आत्मा की साथी नहीं है। जब मैं अपनी माँ के गर्भ में था उस समय ये कोई भी चीजें हमारे साथ न थीं और अभी यदि प्राण रूप पखेरू इस शरीर रूपी पिंजडे से निकलकर चल दे, तो इनमें एक भी कोई आत्मा के साथ नहीं चलने वाला है। अभी यदि आत्मा निकल जाय तो यह कुल, यह जाति, यह कुटुम्ब, यह भार्या, यह विद्या, यह धन, यह मान मर्यादा, ये सदा मिलने जुलने वाले कोई भी इस आत्मा के साथ चलने वाले नहीं हैं। मनुष्य देह पाने का प्रधान फल तो भगवान की प्राप्ति है। उसमें भी इन नेत्रों के सामने भगवान का साक्षात् दर्शन हो, नित्य भगवान से मिलना होवे, साक्षात् भगवान की सेवा बने, इस आत्मा का सर्वस्व धन जो भगवान का चरणारविन्द है,

वह साक्षात् दृष्टिगोचर हो, तभी तो इस मनुष्य का मनुष्य जन्म लेना पूर्ण रूप से सफल है। जैसे बड़ों का बचन है कि :—

"धनं मदीयं तव पाद पंकजं कदानु साक्षात्करवाणि चक्षुषा"।

"इसका अर्थ यह हुआ कि हे भगवान्! वासुदेव हमारा असल धन जो आपका चरण कमल है वह इन नेत्रों के सामने मन के मुताबिक अपनी इच्छानुसार साक्षात् मैं देखूँ वा करूँ"। बड़ों के इस दिव्य मनोरथ के मुताबिक जो भगवान के श्री चरणारविन्द का साक्षात् दर्शन है सो तो हमें अभी स्वप्न में भी नहीं हुआ है। फिर दुनियाँ में मनुष्य देह पाने का लाभ ही क्या हुआ। यह शरीर, यह जाति, यह धन, यह विद्या, यह ऐश्वर्य, यह मान मर्यादा सभी तो अनित्य ही है। जन्म के बाद ही मिला है, मरण के दिन हीं छूट जाने वाले हैं। जो परवश बिना इच्छा के भी काल के द्वारा जबर्दस्ती छूट जाने वाला है, उसके लिए क्या व्यर्थ अहङ्कार करें। अभी हमारे पास अहङ्कार करने की सामग्री ही क्या है। शुद्ध हृदय वाले तो हमें महात्मा ही कहते हैं। भजनानन्दी हीं बताते हैं। हमें भारी विद्वान ही समझते हैं। पवित्र अनुष्ठानी वैराग्यवान्, इन्द्रियजित भगवान का प्रेमी एकान्ती मानते हैं। परन्तु ये बातें हम में सचमुच होती तो मनुष्य देह का प्रधान फल जो परमात्मा का साक्षात्कार है सो क्यों नहीं होता। हे हरे! अन्य जीवों की अपेक्षा हमारे में तो हमें विशेषता कुछ नजर आती नहीं है। क्यों कि सबों के समान दस मास की गर्भ यातना भोगनी ही पड़ी है। जो सभी जीवों को होती है। आगे अभी परवश महा भयंकर मृत्यु की बला भोगने के लिये पड़ी ही हुई है। जो सभी जीवों के पीछे रहती है। भूख, प्यास, शोक, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, दूसरों की निन्दा, दूसरों से वैर इत्यादि महाशत्रुगण रात दिन पीछे पड़े ही हुए हैं। एकबार भी उस साँवली मनोहर मूर्ति का दर्शन सौभाग्य अभी तक इन अभागे नेत्रों को नहीं प्राप्त हुआ।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! भलीभाँति सत्सग किये हुए सद्गुरुओं के कृपा पात्र जो सच्चे मुमुक्षु लोग हैं वे लोग मान मर्यादा, विद्या, प्रतिष्ठा आदि को मुर्दे के शृङ्गार के समान मानते हैं। भगवान के साक्षात् दर्शन मिलन को ही अपना सच्चा स्वरूप

मानते हैं। हे महानुभावो! है भी यथार्थ ही। जो अच्छे अच्छ समझदार मुमुक्षु महात्मा हुए हैं उन सबों की ऐसी ही धारणा रही है और सब शास्त्रों का एक मुख से कहना भी यही है कि साक्षात् भगवान की प्राप्ति ही इस मनुष्य जन्म का प्रधान फल है। उस जन्म को, उस विद्या को, उस कुल जाति को, उस चतुरता को, उस व्रत अनुष्ठान को, उस संयम नियम को, उस पवित्रता को कोटि बार धिक्कार है कि जिसको पाकर प्यारे परमात्मा से साक्षात् मिलन जुलन नहीं हुआ। सारांश कहने का यह हुआ कि जिसका ससार चक्र के जन्म मरणादिक भयकर दुःखों से जी घबड़ाया हुआ हो और इससे छुटकारा पाकर सदा के लिए दिव्य धाम में जाकर भगवत्सेवा का आनन्द लेना हो तो उन लोगों को चाहिए कि अहकार रूप महाशत्रु से सदा दूर रहें। एक बात और भी सच्चे मुमुक्षुओं को सदा ध्यान में रखने की सख्त जरूरत है। वह यह है कि जिस प्रकार अहकार जीवों को संसार चक्र में वारम्बार डालने वाला है उसी प्रकार एक दूसरा शत्रु ममकार भी है। इससे भी सच्चे मुमुक्षुओं को बहुत बचकर रहना चाहिए। जैसे अहंकार से बचने की बडी जरूरत है उसी प्रकार इस ममकार रूपी महाशत्रु से भी। ममकार का क्या मतलब है याने ममकार किसको कहते हैं इसका खुलासा अर्थ आपलोगों से आगे निवेदन करता हूँ सो ध्यान देकर श्रवण करिये। यह ससार और इसमें रहने वाली सभी वस्तुएँ परमात्मा की हैं। इन सबों का मालिक भगवान है। हम जीवों के प्रारब्धानुसार सयोग वियोग वही किया करते हैं। हम जितने जीव हैं काल कर्म गुण स्वभाव आदि के परवश हैं। स्वतंत्र एक परमात्मा ही हैं। वास्तव में हमलोगों का यहाँ कोई भी नहीं है। उन्हीं के देने से शरीर मिला है। उन्हीं के देने से माता पिता मिले हैं। उन्हीं ने पृथ्वी बनाकर हमलोगों के लिए महल मकान इत्यादि दिया। वही परमात्मा हम चेतनों के प्रारब्धानुमार स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई बन्धु, कुटुम्ब आदि का संयोग लगाते हैं। वही भगवान सब चेतनों के प्रारब्धानुसार सबको न्यारे-न्यारे आयुष्य दे रखे हैं। सच्चे विचार से सोचा जाय तो इन सभी चीजों के ऊपर हम किसी जीवों की स्वाधीनता नहीं है। प्रधानता से यथार्थ में न किसी मेंपुत्र पैदा करने का स्वातन्त्र्य है न अपनी इच्छा-नुसार उस में उम्र डालने की शक्ति है, न अपनी मन मुताबिक अपनी स्त्री को जिंदा रखने की स्वाधीनता है। साराश कहने का यह हुआ कि यह शरीर अथवा इस शरीर के जितने

वह साक्षात् दृष्टिगोचर हो, तभी तो इस मनुष्य का मनुष्य जन्म लेना पूर्ण रूप से सफल है। जैसे बड़ों का वचन है कि :—

"धनं मदीयं तव पाद पंकजं कदानु साक्षात्करवाणि चक्षुषा"।

"इसका अर्थ यह हुआ कि हे भगवान्! वासुदेव हमारा असल धन जो आपका चरण कमल है वह इन नेत्रों के सामने मन के मुताबिक अपनी इच्छानुसार साक्षात् मैं देखूँ वा करूँ"। बड़ों के इस दिव्य मनोरथ के मुताबिक जो भगवान के श्री चरणारविन्द का साक्षात् दर्शन है सो तो हमें अभी स्वप्न में भी नहीं हुआ है। फिर दुनियाँ में मनुष्य देह पाने का लाभ ही क्या हुआ। यह शरीर, यह जाति, यह धन, यह विद्या, यह ऐश्वर्य, यह मान मर्यादा सभी तो अनित्य ही है। जन्म के बाद ही मिला है, मरण के दिन हीं छूट जाने वाले हैं। जो परवश बिना इच्छा के भी काल के द्वारा जबर्दस्ती छूट जाने वाला है, उसके लिए क्या व्यर्थ अहङ्कार करें। अभी हमारे पास अहङ्कार करने की सामग्री ही क्या है। शुद्ध हृदय वाले तो हमें महात्मा हीं कहते हैं। भजनानन्दी हीं बताते हैं। हमें भारी विद्वान ही समझते हैं। पवित्र अनुष्ठानी वैराग्यवान्, इन्द्रियजित भगवान का प्रेमी एकान्ती मानते हैं। परन्तु ये बातें हम में सचमुच होती तो मनुष्य देह का प्रधान फल जो परमात्मा का साक्षात्कार है सो क्यों नहीं होता। हे हरे! अन्य जीवों की अपेक्षा हमारे में तो हमें विशेषता कुछ नजर आती नहीं है। क्यों कि सबों के समान दस मास की गर्भ यातना भोगनी ही पड़ी है। जो सभी जीवों को होती है। आगे अभी परवश महा भयंकर मृत्यु की वला भोगने के लिये पड़ी ही हुई है। जो सभी जीवों के पीछे रहती है। भूख, प्यास, शोक, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, दूसरों की निन्दा, दूसरों से बैर इत्यादि महाशत्रुगण रात दिन पीछे पड़े ही हुए हैं। एकबार भी उस साँवली मनोहर मूर्ति का दर्शन सौभाग्य अभी तक इन अभागे नेत्रों को नहीं प्राप्त हुआ।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! भलीभाँति सत्सग किये हुए सद्गुरुओं के कृपा पात्र जो सच्चे मुमुक्षु लोग हैं वे लोग मान मर्यादा, विद्या, प्रतिष्ठा आदि को मुर्दे के शृङ्गार के समान मानते हैं। भगवान के साक्षात् दर्शन मिलन को हीं अपना सच्चा स्वरूप

मानते हैं। हे महानुभावो ! है भी यथार्थ ही। जो अच्छे अच्छ समझदार मुमुक्षु महात्मा हुए हैं उन सबों की ऐसी ही धारणा रही है और सब शास्त्रों का एक सुर से कहना भी यही है कि साक्षात् भगवान की प्राप्ति ही इस मनुष्य जन्म का प्रधान फल है। उस जन्म को, उस विद्या को, उस कुल जाति को, उस चतुरता को, उस व्रत अनुष्ठान को, उस संयम नियम को, उस पवित्रता को कोटि बार धिक्कार है कि जिसको पाकर प्यारे परमात्मा से साक्षात् मिलन जुलन नहीं हुआ। साराश कहने का यह हुआ कि जिसका ससार चक्र के जन्म मरणादिक भयकर दुःखों से जी घबडाया हुआ हो और इससे छुटकारा पाकर सदा के लिए दिव्य धाम में जाकर भगवत्सेवा का आनन्द लेना हो तो उन लोगों को चाहिए कि अहकार रूप महाशत्रु से सदा दूर रहें। एक बात और भी सच्चे मुमुक्षुओं को सदा ध्यान मे रखने की सख्त जरूरत है। वह यह है कि जिस प्रकार अहंकार जीवों को ससार चक्र में वारम्बार डालने वाला है उसी प्रकार एक दूसरा शत्रु ममकार भी है। इससे भी सच्चे मुमुक्षुओं को बहुत बचकर रहना चाहिए। जैसे अहकार से बचने की बडी जरूरत है उसी प्रकार इस ममकार रूपी महाशत्रु से भी। ममकार का क्या मतलब है याने ममकार किसको कहते हैं इसका खुलासा अर्थ आपलोगों से आगे निवेदन करता हूँ सो ध्यान देकर श्रवण करिये। यह ससार और इसमें रहने वाली सभी वस्तुएँ परमात्मा की हैं। इन सबों का मालिक भगवान है। हम जीवों के प्रारब्धानुसार सयोग वियोग वही किया करते हैं। हम जितने जीव है काल कर्म गुण स्वभाव आदि के परवश हैं। स्वतंत्र एक परमात्मा ही हैं। वास्तव मे हमलोगों का यहाँ कोई भी नहीं है। उन्हीं के देने से शरीर मिला है। उन्हीं के देने से माता पिता मिले हैं। उन्हीं ने पृथ्वी बनाकर हमलोगों के लिए महल मकान इत्यादि दिया। वही परमात्मा हम चेतनों के प्रारब्धानुसार स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई बन्धु, कुटुम्ब आदि का सयोग लगाते हैं। वही भगवान सब चेतनों के प्रारब्धानुसार सबको न्यारे-न्यारे आयुष्य दे रखे हैं। सच्चे विचार से सोचा जाय तो इन सभी चीजों के ऊपर हम किसी जीवों की स्वाधीनता नहीं है। प्रधानता से यथार्थ में न किसी मेंपुत्र पैदा करने का स्वातन्त्र्य है न अपनी इच्छानुसार उस में उम्र डालने की शक्ति है, न अपनी मन मुताबिक अपनी स्त्री को जिंदा रखने की स्वाधीनता है। सारांश कहने का यह हुआ कि यह शरीर अथवा इस शरीर के जितने

वह साक्षात् दृष्टिगोचर हो, तभी तो इस मनुष्य का मनुष्य जन्म लेना पूर्ण रूप से सफल है। जैसे बड़ों का वचन है कि :—

"धनं मदीयं तव पाद पंकजं कदानु साक्षात्करवाणि चक्षुषा"।

"इसका अर्थ यह हुआ कि हे भगवान्! वासुदेव हमारा असल धन जो आपका चरण कमल है वह इन नेत्रों के सामने मन के मुताबिक अपनी इच्छानुसार साक्षात् मैं देखूँ वा करूँ"। बड़ों के इस दिव्य मनोरथ के मुताबिक जो भगवान के श्री चरणारविन्द का साक्षात् दर्शन है सो तो हमें अभी स्वप्न में भी नहीं हुआ है। फिर दुनियाँ में मनुष्य देह पाने का लाभ ही क्या हुआ। यह शरीर, यह जाति, यह धन, यह विद्या, यह ऐश्वर्य, यह मान मर्यादा सभी तो अनित्य ही है। जन्म के बाद ही मिला है, मरण के दिन हीं छूट जाने वाले हैं। जो परवश विना इच्छा के भी काल के द्वारा जबर्दस्ती छूट जाने वाला है, उसके लिए क्या व्यर्थ अहङ्कार करें। अभी हमारे पास अहङ्कार करने की सामग्री ही क्या है। शुद्ध हृदय वाले तो हमें महात्मा हीं कहते हैं। भजनानन्दी हीं बताते हैं। हमें भारी विद्वान ही समझते हैं। पवित्र अनुष्ठानी वैराग्यवान्, इन्द्रियजित भगवान का प्रेमी एकान्ती मानते हैं। परन्तु ये बातें हम में सचमुच होती तो मनुष्य देह का प्रधान फल जो परमात्मा का साक्षात्कार है सो क्यों नहीं होता। हे हरे! अन्य जीवों की अपेक्षा हमारे में तो हमें विशेषता कुछ नजर आती नहीं है। क्यों कि सबों के समान दस मास की गर्भ यातना भोगनी ही पड़ी है। जो सभी जीवों को होती है। आगे अभी परवश महा भयंकर मृत्यु की बला भोगने के लिये पड़ी ही हुई है। जो सभी जीवों के पीछे रहती है। भूख, प्यास, शोक, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, दूसरों की निन्दा, दूसरों से वैर इत्यादि महाशत्रुगण रात दिन पीछे पड़े ही हुए हैं। एकवार भी उस साँवली मनोहर मूर्ति का दर्शन सौभाग्य अभी तक इन अभागे नेत्रों को नहीं प्राप्त हुआ।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! भलीभाँति सत्सग किये हुए सद्गुरुओं के कृपा पात्र जो सच्चे-मुमुक्षु लोग हैं वे लोग मान मर्यादा, विद्या, प्रतिष्ठा आदि को मुर्दे के शृङ्गार के समान मानते हैं। भगवान के साक्षात् दर्शन मिलन को ही अपना सच्चा स्वरूप

मानते हैं। हे महानुभावो ! है भी यथार्थ ही। जो अच्छे अच्छ समझदार मुमुक्षु महात्मा हुए हैं उन सबों की ऐसी ही धारणा रही है और सब शास्त्रों का एक मुख से कहना भी यही है कि साक्षात् भगवान की प्राप्ति ही इस मनुष्य जन्म का प्रधान फल है। उस जन्म को, उस विद्या को, उस कुल जाति को, उस चतुरता को, उस व्रत अनुष्ठान को, उस सयम नियम को, उस पवित्रता को कोटि बार धिक्कार है कि जिसको पाकर प्यारे परमात्मा से साक्षात् मिलन जुलन नहीं हुआ। सारांश कहने का यह हुआ कि जिसका ससार चक्र के जन्म मरणादिक भयंकर दुःखों से जी घबड़ाया हुआ हो और इससे छुटकारा पाकर सदा के लिए दिव्य धाम में जाकर भगवत्सेवा का आनन्द लेना हो तो उन लोगों को चाहिए कि अहकार रूप महाशत्रु से सदा दूर रहें। एक बात और भी सच्चे मुमुक्षुओं को सदा ध्यान मे रखने की सख्त जरूरत है। वह यह है कि जिस प्रकार अहंकार जीवों को संसार चक्र में बारम्बार डालने वाला है उसी प्रकार एक दूसरा शत्रु ममकार भी है। इससे भी सच्चे मुमुक्षुओं को बहुत बचकर रहना चाहिए। जैसे अहंकार से बचने की बडी जरूरत है उसी प्रकार इस ममकार रूपी महाशत्रु से भी। ममकार का क्या मतलब है याने ममकार किसको कहते हैं इसका खुलासा अर्थ आपलोगों से आगे निवेदन करता हूँ सो ध्यान देकर श्रवण करिये। यह ससार और इसमें रहने वाली सभी वस्तुएँ परमात्मा की हैं। इन सबों का मालिक भगवान है। हम जीवों के प्रारब्धानुसार सयोग वियोग वही किया करते हैं। हम जितने जीव हैं काल कर्म गुण स्वभाव आदि के परवश हैं। स्वतंत्र एक परमात्मा ही हैं। वास्तव में हमलोगों का यहाँ कोई भी नही है। उन्हीं के देने से शरीर मिला है। उन्हीं के देने से माता पिता मिले हैं। उन्हीं ने पृथ्वी बनाकर हमलोगों के लिए महल मकान इत्यादि दिया। वही परमात्मा हम चेतनों के प्रारब्धानुसार स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई बन्धु, कुटुम्ब आदि का सयोग लगाते हैं। वही भगवान सब चेतनों के प्रारब्धानुसार सबको न्यारे-न्यारे आयुष्य दे रखे हैं। सच्चे विचार से सोचा जाय तो इन सभी चीजों के ऊपर हम किसी जीवों की स्वाधीनता नहीं है। प्रधानता से यथार्थ में न किसी मैंपुत्र पैदा करने का स्वातन्त्र्य है न अपनी इच्छा-नुसार उस में उम्र डालने की शक्ति है, न अपनी मन मुताबिक अपनी स्त्री को जिंदा रखने की स्वाधीनता है। साराश कहने का यह हुआ कि यह शरीर अथवा इस शरीर के जितने

सम्बन्धी हैं ये सब परमात्मा के हाथ में हैं और उन्हीं के हैं और इन सबों का संयोग और वियोग इन चेतनों के प्रारब्धानुसार समय-समय पर वही कराया करते हैं। हम लोग यदि चाहें कि सौ वर्ष जीयें, हमारा लड़का सौ वर्ष जीता रहे, हमारी स्त्री सदा हमारे साथ रहे, हम सदा धनवान होकर रहें, यह सभी मनोरथ हम लोगों का फिजूल है। जब कि हम लोगों की इच्छा से यह सृष्टि ही नहीं हुई है फिर इच्छानुसार सबों का संयोग कैसे रह सकता है। हम लोग यदि चाहें कि अमुक मनुष्य जल्दी मर जाय, यह भी विचार से बाहर की बात है। संयोग वियोग के प्रसंग में हम जितने जीव हैं बिलकुल पराधीन हैं। किससे किस को कितने दिन का संयोग, किस दिन किस से किस का वियोग होगा ; ये सब बातें सिवाय परमात्मा के और कोई भी न तो जानता है और न जान सकेगा। जिन चेतनों के ऊपर, जिस प्रकार सुख दुःख भोगने का, संयोग वियोग होने का उनके प्रारब्धानुसार परमात्मा ने संकल्प कर लिया है वही होगा। उसके अलावा, तिल भर भी इधर उधर नहीं हो सकता है। इससे सभी चीजें परमात्मा की हैं हम लोगों की नहीं। सबों का संयोग वियोग परमात्मा ही के हाथ में है हम लोगों के आधीन नहीं। हम तथा हमारे सम्बन्धी कहाने वाले वास्तव में सब श्री रामजी के ही हैं। जितने दिन वह चाहेंगे उतने दिन तक संयोग रक्खेंगे। जब चाहेंगे वियोग रखेंगे। इससे हम सच्चे मुमुक्षुओं को यह सदा विचार कर रहना चाहिये कि इन सबों में ममकार की बृद्धि न होने पावे अर्थात् बहुत सत्संग किये हुए जो मुमुक्षु महात्मा लोग हैं वे संसार में इस तरह रहते हैं। यह धन, यह कुटुम्ब, यह स्त्री, यह पुत्र, यह शरीर, यह मठ, यह महल मकान मन्दिर यह सब मेरा नहीं है परमात्मा का है। हमारे प्रारब्धानुसार परमात्मा की तरफ से सारा सामान का जुटान भया है। जब वह चाहेंगे तब इनका वियोग हो जावेगा। इन सबों में से हृदय से अपनापन त्याग कर रहा करो। जैसे किसी के पास कोई अपनी अमानत वस्तु रख कर जाते वक्त यह कह जाता है कि "यह हमारी चीज आप रक्खे रहिये, इससे अपना काम भी लेते रहिए परन्तु जिस वक्त मैं चाहूँगा उसी वक्त अपनी चीज ले लूँगा। इसमें आप अपनेपन का व्यामोह न रखियेगा"। इतना कह कर अमानत धरके चला जाता है और किसी वक्त आकर अपनी अमानत वस्तु ले लेना चाहता है तो समझदार इमानदार लोग न देने में इतराज करते हैं, न उसके लेकर चले जाने पर किसी

प्रकार की उदासी मुख पर लाते हैं, न चीज़ अपने यहां से चले जाने पर उसके लिए किसी प्रकार का शोक मोह ही करते हैं। इसी तरह यह स्त्री, पुत्र, पौत्र, मित्र, ऐश्वर्य, कुटुम्ब, आदि वस्तु परमात्मा ने तुम्हारे पास अपनी अमानत छोड़ रक्खी है। जिस जिसकी उन्हें जरूरत होगी उसको क्रमशः लेते जायेंगे याने वियोग कराते जायेंगे। इसमें तुम्हारा कुछ वश न चलेगा। इसलिए परमात्मा की अमानत जो यह पूर्वोक्त चीजें हैं उन पर से पहले ही से ममता को त्याग कर याने अपनत्व को छोड कर रहा करो। ऐसा यदि न करोगे और दूसरों की अमानत चीज पर अपनी अज्ञानता वश अपनत्व करके रहोगे मेरी स्त्री, मैं स्त्री वाला हूँ, अच्छा काम सम्भालने वाला मेरा सुपात्र लडका है, अब इसके भरोसे में निश्चिन्त होकर रहूँगा। हमारे कुटुम्बी अच्छे हैं, इनके द्वारा हमको खूब सहायता मिलेगी। बहुत मेरे पास सम्पत्ति है, कैसा भी खर्च करूँगा तो भी सैकडों वर्ष निकल जायेंगे। इस प्रकार अपनी अज्ञानता वश पराई चीजों के ऊपर आशा बाँध कर रहोगे तो परवश वियोग हो जाने पर भयकर शोक मोह का सामना करना पड़ेगा। गई हुई चीज तो हाथ न आयगी परन्तु पराधीन चीजों के ऊपर ममता करने का यह बुरा फल होगा कि देव दुर्लभ इस मनुष्य देह को शोक, मोह में पडकर व्यर्थ नष्ट हो जाना पड़ेगा। पराधीन गई हुई चीज तो मिल न सकेगी और शोक मोह में पड कर शरीर चिन्ता उद्वेग होने के कारण अत्यन्त कमजोर हो जायगा जिससे भगवद्भजन होना मुश्किल होगा। शोक मोह के कारण जब कलेजा कुचल जावेगा तो भगवान का भजन सेवा पूजा ध्यान वगैरह से भी रुचि हट जायेगी, इससे परलोक भी बिगड़ जायगा और जो चला गया सो तो मिलेगा नहीं। बस दूसरे की अमानत्त चीज पर ममकार करने का ऐसा भयकर फल तुम्हें भोगना पडेगा, इसलिये तुम्हें बारम्बार समझाता हूँ कि यह स्त्री पुत्रादिक तुम्हारे कोई नहीं हैं ; यह सब परमात्मा की अमानत है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! सच्चे मुमुक्षु लोग इस प्रकार अपने मन को सद्गुरुओं के द्वारा प्राप्त ज्ञान से समझा कर ममकार रूप महाशत्रु से खूब सभल कर रहते हैं। ऐसे सम्भले हुए महात्माओं का अहकार ममकार कुछ भी नहीं बिगाड सकते हैं। बडों का कहना भी है कि :—

"मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहिते पुनि उपजै बहु शूला॥"

याने मोह जो है यही सब दुःखों का कारण है इससे अनेक प्रकार के शूल उत्पन्न होते हैं। जिन बड़भागी चेतनों को अनित्य चीजों में व्यामोह नहीं रहता है उन्हीं लोगों को परमार्थ चिन्तन का कुछ अवसर मिलता है। यह मोह मौके के ऊपर मर्म पर बहुत आघात पहुँचाता है। यहा इस प्रसग में देह और देह सम्बन्धियों पर ये लोग मेरे हैं ऐसा जो मान कर रहना है उसी को मोह शब्द से कह रहे हैं। इसी का नाम उल्टा ज्ञान है। इस प्रकार से मान कर जो सत्सग हीन रहते हैं उनका स्वार्थ, परमार्थ दोनों नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है क्योंकि मोह रूप यह एक विष का वृक्ष है, इसका फल महाशोक है जिसके ससर्ग से इस चेतन का मनुष्य जन्म व्यर्थ चला जाता है। मेरा देखा हुआ है कि अच्छे ऐश्वर्यवान एक सज्जन थे। उन्हें कभी सत्संग का मौका नहीं लगा। उनका अपने लड़कों पर हद से ज्यादा मोह और अपनापन रहता था। वह यह कभी नहीं समझते थे कि मनुष्य देह पाने का फल परमात्मा की प्राप्ति है। मन मुताबिक स्त्री, पुत्र, धन प्राप्त हो जाना इसको सौभाग्य समझते थे। बेटों में इतना व्यामोह था कि दो रोज के लिये भी किसी गांव को जाते थे और लड़कों को नहीं देखते थे तो उनके आत्मा में बड़ी अशान्ति पैदा होती थी। कभी सत्सग किये ही न थे जिससे समझ आये कि परमात्मा के अधीन इन परवश चीजों पर हद से ज्यादा अपनत्व करके नहीं रहना चाहिये। इन अनित्य चीजों के ऊपर जिसको जितना व्यामोह रहता है उतना ही उनको भयंकर दुःख का सामना करना पड़ता है। अचानक एक रोज बड़े बेटे की मौत हो गई। यह व्रजपात के समान भयंकर शब्द उनके कान में पड़ा। उसकी क्रिया तक उनसे नही सुधर पाई। शोक रूपी शत्रु ने इतने जोर से आक्रमण किया कि सुहृदों के अनेक समझाने पर भी किसी प्रकार वह अपने को न सम्भाल सके। बच्चे के वियोग की चिन्ता के कारण शरीर में केवल हड्डी मात्र शेष रह गई। किसी अनुभवी का कहा हुआ एक पद बहुत यथार्थ है :—चिता हम जिसको कहते हैं वो मुर्दों को जलाती है, बड़ी है, इस लिए चिन्ता जो जीतों को जलाती है।"

उसका परिणाम यह हुआ कि दो महीने के अन्दर ही देव दुर्लभ मनुष्य देह से उनके

आत्मा की विदाई हो गई। गया हुआ पुत्र तो मिला नहीं और परमार्थ पथ से भी भ्रष्ट हुए। श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! पूर्वोक्त सज्जन की इतनी दुर्दशा का मूल कारण विचार करने से यही दिख रहा है कि उन्होंने परमात्मा की जो अमानत चीज थी और अपना हक जिसके उपर तिल मात्र भी नहीं था उसपर अपनी मूर्खता वश हद से ज्यादा अपनापन मान रक्खा था। उसके व्यामोह में पागल होकर रहते थे इसीसे उनको स्वार्थ और परमार्थ दोनों से भ्रष्ट हो जाना पड़ा। है भी यथार्थ ही, जो दूसरे की अमानत चीज पर अज्ञानता वश अपना हक कायम रखेगा उसकी चाहे जितनी दुर्दशा हो सकती है। इसमें परमात्मा क्या करें। इस चेतन का सच्चा सहायक और सच्चा वन्धु एक परमात्मा ही है और वह अनादि से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। वाकी जितने हैं ये हमारे साथ न आदि में थे न अन्त में रहेंगे। अतः इन लोगों से जितना बने अन्तःकरण से व्यामोह छोड कर रहो। जितना बनै वैराग्य करके रहो। क्यों कि ये कोई भी आत्मा के सच्चे वन्धु नहीं हैं। वीच ही में मिले और वीच ही में छूट जाने वाले हैं। इनके साथ रहते हुए भी इनमें हार्दिक स्नेह मत करो। इनको तुम जो हृदय से सहायक मान रखे हो यह तुम्हारी भूल है। जो गर्भ में सहायक हुआ सदा के लिये सच्चा सहायक वही है। यह सब जुटान तुम लोगों के प्रारब्ध के द्वारा परमात्मा की तरफ से किया गया है। तुम्हारी इच्छा विना भी परवश ये सब छूट जाने वाले हैं। यदि इस प्रकार से भी शास्त्रों के वार-वार समझाने पर अपनी मूर्खतावश इन अनित्य चीजों पर पशुओं के समान अत्यन्त स्नेह करके रहोगे तो तुम्हारी मूर्खता का फल तुम्हें ही भोगना पडेगा। जिन लोगों ने सत्सग का अपमान किया और इन अनित्य चीजों पर ज्यादा प्रेम किया उनको दुःख और भयकर शोक भोगने के सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगा। इस प्रकार वारम्वार शास्त्रों के द्वारा वडे-वडे अनुभवी महात्मा लोग हम जीवों पर कृपा करके चेतावनी दे चुके हैं। इतने पर भी जो हद से ज्यादा व्यामोह करेंगे उन्हें भोगना हीं पडेगा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! इसी प्रकार एक ग्राम में देखा था कि एक महात्मा का शिष्य वडा सुपात्र हुआ, उसके ऊपर भी वह हद से ज्यादा अपनापन मान बैठे थे। एक दिन फुलवारी में उस शिष्य को एक वहुत जहरीला सर्प काट लिया और अनेक

उपाय करने पर भी नहीं बचा। उसके गुरु की यह दशा हुई कि पाठ-पूजन, जप-तप सब छूट गया और परिणाम यह हुआ कि कुछ दिनों बाद उनका भी शरीरान्त हो गया। उस शिष्य का वियोग उन से नहीं सहा गया। इस प्रकार अनेक प्रसंग है। इससे हम सच्चे मुमुक्षुओं को इस परमात्मा के अमानत चीजों पर से ममकार यानी अपनापन हटाकर ही रहना चाहिए। न इन अनित्य चीजों के मिलने से अपने को कृत्य-कृत्य मानना चाहिए न इनके वियोग होने पर पूर्वोक्त दो सज्जनों के समान शोक ग्रस्त ही होना चाहिए। इस प्रकार यदि अहंकार ममकार रूप दोनों शत्रुओं से सदा हमलोग संभलकर रहेंगे तो हमें देव दुर्लभ मनुष्य देह पाने का क्या फल है उसके विचार करने का अवसर मिलेगा। मुमुक्षुओं को एक बात और भी ध्यान रखने की बड़ी जरूरत है। वह यह है कि जो लोग मुक्ति स्थान को अवश्य जाने की इच्छा करने वाले बडभागी चेतन हैं उन्हें परमात्मा में, परमात्मा को बताने वाले शास्त्रों में, परमात्मा के दिव्यस्थान परमधाम में, इन सबों में दृढ़ता कराने वाले गुरुवर्यों में, अपने इष्ट देव के मन्त्रों में सद्गुरुओं के वचनों में पूर्ण विश्वास करके रहना चाहिए। इन सबों में कभी तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए न कभी संशय करना चाहिए। शास्त्रों में, परमात्मा में, सद्गुरुओं में, उनके वचनों में, जिसका विश्वास जितना अधिक होता है, उतनी ही जल्दी उसको उतनी सिद्धि प्राप्त होती है। जैसा कि कहा है कि :—

"यस्य यावाँश्च विश्वासः तस्य सिद्धिस्तु तावती"।

इन पूर्वोक्त चीजों पर अचल, मजबूत विश्वास से ही सफलता प्राप्त होती है और शास्त्रों में, भगवान में, सद्गुरुओं के उपदेश में, जब तक जिसको संशय बना रहता है तब तक उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कहा भी है कि :—

"कवनेउ सिद्धि कि बिन विश्वासा"।

इससे सच्चे मुमुक्षुओं को संशय रूपी शत्रु से सदा बचकर रहना चाहिए। शास्त्रों में लिखा भी है और बड़ों का कहना भी है कि :—

"संशयात्मा विनश्यति"

गीता में भगवान खुद श्रीमुख से आज्ञा कर रहे हैं हे अर्जुन ! यदि परमार्थ पथ पर चलने वाले मुमुक्षुओं को शास्त्रों में, गुरु वचनों में संशय रहेगा तो उनके आत्मा का कल्याण नहीं होगा क्यों कि संशय वाले आत्मा का तो विनाश ही होता है। इससे तुम्हें भी यदि अपने आत्मा का अवश्य कल्याण करना हो तो संशय रूप शत्रु को अपने पास से सदा के लिये दूर हटा दो। जैसे बिना यज्ञोपवीत वाले का किया हुआ वैदिक कर्म मंत्र निष्फल हो जाता है उसी प्रकार बिना विश्वास के श्रवण, मनन कुछ काम नही देते। चरम मन्त्र की व्याख्या के अन्त में श्री लोक गुरु स्वामी का स्पष्ट कहना है कि :—

"अस्मिन्नर्थे विश्वास रहितामन्वयोऽजीर्णे भोजनमिव"।

इसका मतलब यह हुआ कि संशय रहित जो मुमुक्षु लोग हैं, जिनको शास्त्र वचनों में अत्यन्त अचल विश्वास है वे ही लोग इस चरम श्लोक के विषय के परम अधिकारी हैं। जिन लोगों को विश्वास नहीं है उन लोगों के लिए इस चरम श्लोक के ऊपर परिस्थिति करने का विचार वैसा है जैसा अजीर्ण दशा में पूर्ण भोजन करना। जैसे अजीर्ण हालत मे भोजन करने वाला मनुष्य सिवाय दुःख के आराम नहीं पाता, उसी प्रकार संशय भ्रम वाले जो चेतन हैं वे यदि चरम श्लोक के ऊपर परिस्थिति करना चाहेंगे तो सिवाय हानि के उनको लाभ कुछ भी प्राप्त न होगा। सारांश कहने का यह हुआ कि सच्चे मुमुक्षुओं को संशय रूप प्रबल शत्रु से सदा दूर रहना चाहिये। चाहे कितना भी विद्वान हो, चाहे कितना भी अनुष्ठानी हो, चाहे कितना भी भजनानन्दी हो, चाहे कितना भी संयम नियम करने वाला हो, परन्तु यदि उसके हृदय में जरा भी संशय रहता होगा तो उसे एक का भी फल प्राप्त नही होगा और जिन लोगों में सद्गुरुओं की कृपा से संशय भ्रम नहीं रह गया है और बड़ों के बचन में पूर्ण विश्वास है वे लोग चाहे एक तुलसी दल भी अर्पण कर दें, उसको परमात्मा सोने के सुमेरु के समान मानते हैं। शास्त्रों में अच्छे पहुँचे हुए मुनियों के भी वचन हैं कि :—

"निः संशयेषु सर्वेषु नित्यं बसति वै हरिः"।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिन बड़ भागी चेतनों को सद्गुरुओं के वचनों में बिलकुल संशय नहीं होता है उनके हृदय में श्री हरि का नित्य ही निवास होता है। यानी संशय रहित

महात्माओं के हृदय में भगवान वासुदेव नित्य हो विराजते हैं। श्री तुलसी दासजी भी बार बार कहे हैं कि :—

"विश्वास करि कह दास तुलसी रामपद अनुराग हू"।

इसका भी यही भाव हुआ कि श्रीरामजी के श्रीचरण कमलों में अनुराग करने वाले महात्माओं को सबसे पहिले संशय भ्रम को छोड़ कर अचल विश्वास करके रहना चाहिये। श्री द्वय मन्त्र के अधिकारियों के लिए भी श्री लोक गुरू का यही आदेश है कि :—

"फल सिद्धि रवश्वं भवतीति दार्ढ्येन स्थितिः"।

इसका मतलब यह हुआ कि सद्गुरुओं की कृपा से भगवान वासुदेव अपना दिव्यधाम हमें अवश्य ही देंगे। इस प्रकार पूर्ण अचल विश्वास के साथ द्वयाधिकारियों को सदा रहना चाहिये। यहाँ तक है कि—"ननास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात्" सच्चे मुमुक्षुओं को तो सशय भ्रम वाले लोगों से सगति भी नहीं करनी चाहिए। जैसे दुराचारिणी के संग बैठने से पतिव्रता को भी धर्म भ्रष्ट होने का खौफ रहता है, उसी प्रकार जिन अभागे जीवों का सच्छास्त्रों में, भगवान में, सद्गुरुओ के बचनों में विश्वास नहीं रहता है, संशय-भ्रम बना रहता है, तर्क-वितर्क हुआ करता है उन लोगों की सगति में भूल कर भी नहीं बैठना चाहिए, न उन लोगों के मुख से कुछ सुनना ही चाहिये, न ऐसे अभागे भ्रमिष्ट जीवों के लिये कुछ रहस्य विषय का उपदेश ही करना चाहिए। जैसे ऊसर खेत में बोया हुआ बीज निष्फल जाता है उसी प्रकार संशय भ्रम वालो के लिये किया हुआ उपदेश व्यर्थ चला जाता है। इस कारण सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि सशय रूप शत्रु से सदा बच कर रहे।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि एक बार मैं चित्र कूट गया था। एक रोज देखा कि स्फटिक शिला पर शान्त स्वरूप दश बीस मुमुक्षु महात्मा बैठे हुए हैं। उन सबों के मुख पर परम शान्ति की झलक छा रही है। एक महापुरुष उच्च कोटि के विद्वान अच्छे अनुभवी भगवद्विषय कह रहे हैं। उस समय प्रसंग यही हो रहा था जो मैं आप लोगों से पहिले निवेदन कर चुका हूँ। वह उपदेश देने वाले महा पुरुष उन मुमुक्षु महात्माओं से बारम्बार इसी बात पर जोर

देकर कह रहे थे कि हे महानुभावो ! जैसे विना जमीन किसान खेती नहीं कर सकता है उसी प्रकार बिना विश्वास के कोई भी सिद्धि नहीं हो सकती है। जिसको मुक्त होने की जरूरत हो उसे अवश्य सच्छास्त्रों में, परमात्मा में, गुरु वचनों में, चाहे जैसे बने वैसे विश्वास करना ही पड़ेगा। इतने में एक महात्मा उस उपदेश देने वाले महापुरुष से हाथ जोड कर पूछे कि कृपानाथ ! दास अज्ञानी है, इससे श्री चरणों में प्रार्थना करना चाहता है। यदि आज्ञा हो और यह दास उसका अधिकारी समझा जाय तो पूछे और सरकार कृपा करके समझा देवें। इतना अवश्य है कि तर्क-वितर्क से दास नहीं पूछता। सरकार सद्गुरु हैं और इस दास को यह विषय मालूम नहीं है और ऐसी जगह यदि सशय दूर नहीं होगा तो फिर कहा हो सकता है। उस जिज्ञासु महात्मा का विनय भरा हुआ अत्यन्त नम्रता पूर्वक वचन श्रवण करके सब शास्त्रों के सारांश भाग को भली भाँति जानने वाले स्वामी रगनारायणजी बडी प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा दिये कि महात्मन् ! आप बिल्कुल संकोच न करके जो कुछ पूछना चाहते हों अवश्य कृपा करके पूछिये। हाथ जोड़ कर गद्गद् होकर बडी प्रसन्नता पूर्वक वह जिज्ञासु महात्मा कहे कि कृपा निधान ! सरकार की तरफ से यही बारम्बार आज्ञा हो रही है कि सशय जो है सो महान् शत्रु है। इससे इसको जड़ मूल से छोड़ देना चाहिए और भगवान में तथा परमपद में पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। जिसको विश्वास नहीं होगा उसको कोई भी फल नही प्राप्त होगा। परन्तु भगवान हैं और परमपद है ये दोनों अदृश्य विषय हैं। न तो इन्हें कभी देखा ही है न इनसे कभी कुछ व्यवहार ही हुआ है। सो इन अदृश्य विषयों में जिसको हमने कभी देखा ही नहीं है, सरकार ! उसमें एका एक कैसे विश्वास हो जायेगा। इस प्रकार उस जिज्ञासु महात्मा का वचन सुनकर श्री रंगनारायण गुरु बोले कि अच्छी तरह समझा कर इस विषय को मैं कहता हूँ आप सावधान चित्त से श्रवण करिये। शास्त्रों में प्रमाण चार प्रकार के हैं। एक प्रत्यक्ष, (प्रत्यक्ष का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से होता है, जैसे रूप का नेत्र से, शब्द का कान से, गन्ध का नासिका से, स्पर्श का त्वचा से, रस का जीह्वा से) दूसरा अनुमान तीसरा ऐतिह्य, चौथा शास्त्र। चारों का न्यारे-न्यारे विवरण करके समझा रहा हूँ। प्रत्यक्ष प्रमाण उसको कहते हैं कि आप हमको सामने देख रहे हैं और हम आप को। इस विषय में न हम को कुछ शंका है न आप को। जो नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष

देख रहे हैं यही नेत्र के द्वारा रूप का प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी कभी कभी काम नहीं देता है। जैसे किसी को दिशाभ्रम हो जाने पर सूर्य पश्चिम में उगे मालूम पड़ते हैं। यद्यपि दिशाभ्रम वाले को सूर्य पश्चिम में ही उगे मालूम पड़ रहे हैं उसके लिये प्रत्यक्ष पश्चिम में ही उगना है, परन्तु यथार्थ में यह है नहीं। उस वक्त दूसरे के कहने से यह कबूल करना पड़ेगा कि वास्तव में यह पूर्व दिशा है। हमें भ्रम से पश्चिम मालूम पड़ रहा है। महात्माजी! यहाँ पर अपना प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं दिया। दूसरे का ही कहा हुआ अर्थात् शब्द प्रमाण काम दिया। अब जो कहते हैं कि जो आंखों से देखूँगा उसीको सत्य मानूँगा, दूसरे के कहे हुए पर देखे बिना विश्वास कैसे करूँ। उसका यहां खण्डन हो गया यानी हर एक जगह प्रत्यक्ष प्रमाण काम नहीं दे सकता। बहुत सी जगह चाहे अपने को जचे अथवा न जचे परन्तु दूसरे से कही हुई ही बात पर परवश विश्वास करना पड़ता है। दूसरा प्रमाण अनुमान है। अनुमान किस को कहते हैं इसको भी खुलासा बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनिए। घड़े को देख कर घड़ा बनाने वाले का अनुमान होता है। वस्त्र देख कर उसके रचयिता को मानते हैं। उसी प्रकार जगत देख कर जगत का रचयिता भी कोई है, यह अनुमान करना पडता है। यहाँ भी प्रत्यक्ष प्रमाण से काम नहीं चला तो अनुमान की आवश्यकता पडी, और दूर कहीं धुआँ दीख रहा है उसके जरिये यह अनुमान कर सकते हैं कि वहां आग जरूर है। यद्यपि दूर के कारण अग्नि दीख नहीं रहा है। परन्तु धुएँ के जरिये वहां अग्नि का रहना निश्चित है। और इस बात को सब मानते हैं जैसे इसी का नाम अनुमान प्रमाण है। जिस जगह प्रत्यक्ष और अनुमान यह दोनों प्रमाण काम नहीं देते हैं वहां ऐतिह्य प्रमाण काम देता है। ऐतिह्य किसको कहते हैं इसको आगे बताता हूँ और पीछे भी सूय के दृष्टान्त से प्रसंग वश कह चुका हूँ। एक ने एक से पूछा कि तुम्हारी जाति क्या है? वह बोला कि ब्राह्मण। फिर पूछा तुम्हारे पिता का नाम क्या है? उसने कहा—लक्ष्मण पाठक। फिर पूछा गोत्र क्या है? उसने बताया गौतम। ये तीनों विषय उस मनुष्य के आंख से देखे हुए नहीं हैं न इनको कोई आँख से देख सकता है। इन तीनों को माता ने ही बताया है। यदि कोई हठ करे कि मैं प्रत्यक्ष देखे बिना इन्हें मानने को तैयार नहीं हूं, तो परवश कबूल करने के अतिरिक्त इनको प्रत्यक्ष करने का कोई

उपाय ही नहीं है। यहाँ ऐतिह्य प्रमाण के सिवाय प्रत्यक्ष और अनुमान से काम नहीं चल सकता। क्यों कि पिता का निश्चय देख कर कोई कर ही नहीं सकता। यहाँ परवश माता का कहना मानना पडेगा। गोत्र, पिता तथा जाति ये तीनों अदृष्ट विषय हैं, परोक्ष की बाते हैं और सुने ही हुए हैं, परन्तु इन पर किसी को सन्देह नहीं होता है, पूर्ण विश्वास करके इससे जगत में काम ले रहे हैं। इन तीनों बातों में जिसको सन्देह रहेगा उसका जगत में व्यवहार सिद्ध न होगा। वह लौकिक कार्य नही कर सकता है और न शास्त्रीय ही। जैसे एक बिगड़े दिमाग का आदमी था। "जो आँख से देखूँगा वही मानूँगा, सुना हुआ न मानूँगा" उसका भी यही हठ था। किसी कार्य वश किसी मकान की रजिष्टरी कराने को उसे कचहरी में जाने का मौक़ा पड़ा। रजिष्ट्रार ने पूछा तुम्हारी जाति क्या है? वह बोला मैं निश्चय नहीं कह सकता। इतना सुन कर फिर रजिष्ट्रार ने पूछा—अच्छा तुम्हारे बाप का क्या नाम है? वह बोला यह भी नहीं कह सकता, क्योंकि मैं खुद तो देखा नहीं कि मेरा पिता कौन है और देखे बिना दूसरे की कही हुई बात पर हमें विश्वास नहीं है। इतना सुन कर कचहरी वाले सब हँस पडे। फिर रजिष्ट्रार पूछे कि जब तुम्हें अपने बाप और जाति पर विश्वास ही नहीं है तो तुम्हारे नाम रजिष्ट्री कैसे हो सकती है। क्योंजी! कोई सिपाही है, इसका दिमाग ठीक नहीं है इसको बाहर करो। क्रोध में भर कर रजिष्ट्रार ने उसका स्टाम्प फेंक कर उसको रजिष्ट्री घर से बाहर करा दिया। वह बिगड़े दिमाग वाला मनुष्य हाथ जोड़ कर बोला कि माफ करिये सरकार! दाखिल खारिज का काम है रजिष्ट्री होना आवश्यक है मेहरबानी करके जरूर इसका रजिष्ट्री कर दीजिए। इतना सुन कर क्रोध में आकर फिर रजिष्ट्रार बोले कि अरे बेवकूफ जब तुम्हें अपने बाप ही का निश्चय नहीं है तो फिर रजिष्ट्री कैसे करूँ? इसमें तो जाति और बाप का नाम पहिले ही दर्ज करना होता है। यहाँ से तुम चले जावो। अगर फिर तुम्हें कचहरी में देखा तो जेल भेजवा दूंगा। श्री रंगनारायण गुरू कहते हैं कि कहिये महात्मा लक्ष्मी प्रपन्नजी! उस बिगडे दिमाग वाले मनुष्य का यानी उस प्रत्यक्षवादी का व्यवहार सिद्ध नहीं हुआ। कचहरी से निकाल कर सदा के लिये बाहर कर दिया गया। एक दिन उसी आदमी के यहां श्राद्ध पड़ा, हजारों रुपये की सामग्री इकट्ठी की गई। यह बिगडे दिमाग वाला कर्म करने को बैठा। कर्म कराने के लिए जो

कर्म काण्डी विद्वान् आये थे, बोले कि क्यों भाई ! तुम्हें संकल्प बोलना आता है, वह बोला—नहीं। पण्डितजी बोले अच्छा, सुपारी, पसा, अक्षत, जल हाथ में लो और अपना गोत्र बोलो। वह बोला जब मैं अपने गोत्र वाले को देखा ही नहीं तो कैसे गोत्र बोलूँ। पण्डित जी ने कहा अच्छा अपने बाप का नाम बोलो–वह बोला, हमें अपने बाप का भी निश्चय नहीं है। पंडितजी फिर बोले अच्छा अपने नाम के पीछे अपनी जाति बोलो—वह बोला इसमें भी हमें भ्रम है। इस प्रकार उन्मादी के समान उसको बोलते देख कर पण्डितजी हँस कर बोले—तुम्हारे बड़ों ने क्या तुम्हें नहीं बताया है कि तुम्हारा फलां गोत्र, जाति इत्यादि है ? कर्म काण्डीजी की बात सुन कर वह भ्रमिष्ट बोला कि बड़ों ने बहुत कुछ बताया है, परन्तु जब मैं आँखों से देखा ही नहीं तो कैसे मानूं। इतना सुन कर कर्मकाण्डी उसको बहुत डाँटे और बोले कि न जाने तुम्हारा दिमाग सारी दुनिया से न्यारा क्यों हो गया है। जब सारा जगत प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष को मानता नहीं तब तो ऐसा करना तुम्हारा भी वाजिब था। परन्तु जो बात अपने अधिकार से बाहर की है उसका तो बड़ों के मुख से सुन कर ही विश्वास करना पड़ता है। इतना उनके समझाने पर भी जब वह नहीं माना तो कर्मकाण्डी विद्वान् क्रोध में आकर वहां से जाने को तैयार हो गये। फिर वह प्रत्यक्षवादी बोला कि महाराज ! माफ करिये। इस शास्त्रीय कर्म को पूरा करा कर फिर जाइये। पण्डितजी बोले कि संकल्प के बिना कर्मकाण्ड कराने की पद्धति नहीं है और संकल्प गोत्र, जाति, नाम के बिना होता नहीं है, और गोत्र, पिता, जाति में तुम्हारा विश्वास नहीं है। अतः शास्त्रीय कर्म होगा कैसे ? मैं अपने घर को जाता हूं। तेरे ऐसे मूर्ख के साथ विवाद करने से हमारा भी समय नष्ट हुआ। चाहे तुम कर्म काण्ड करो चाहे भाड़ में पड़ो। इतना कह कर वह कर्मकाण्डी जी वहां से चले गये। उनके साथ बाकी ब्राह्मण मण्डली जो आई थी वह भी चली गयी। जाती हुई उस विप्र मण्डली को वह रोका कि महाराज भोजन करके आप लोग जाना। वे क्रोध में आकर बोले कि जिसको अपने गोत्र, बाप, जाति का निश्चय नहीं है उसके यहाँ हम कैसे भोजन करें ? इतना कह कर वे सब भी चले गये। उसका सब कर्मकाण्ड हण्ड-भण्ड हो गया। गांव वाले उस प्रत्यक्षवादी को जाति वर्ग से अलग कर दिये। श्री रंग-नारायण गरु कहते हैं कि देखिये महात्माजी ! उस पुरुष का शास्त्रीय कर्म भी बिगड गया।

जो सिर्फ प्रत्यक्षवादी हैं वे सौ जन्म में भी अपने गोत्र, जाति और बाप का निश्चय नहीं कर सकते। क्यों कि ये तीनों अदृष्ट बातें हैं। इन तीनों पर तो दूसरों के कहने से ही विश्वास करना पड़ता है। देखे विना भी अचल विश्वास करने पर ही जगत का लौकिक तथा पार लौकिक व्यवहार बनता है और अपनी मूर्खतावश जो देखूँगा वही मानूँगा इसी का हठ करेगा उसका लौकिक तथा वैदिक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि वह विगडे दिमाग वाला प्रत्यक्षवादी सौदागरसिंह दुर्दशा में पडा। जब कि लोक में भी परवश ऐतिह्य यानी शब्द प्रमाण को मान कर ही काम चलाना पड़ता है और एक दो विगड़े हुए दिमाग वालों को छोड़ कर सभी दुनियाँ ऐतिह्य प्रमाण को मानती ही है, और उस पर दृढ विश्वास करके अपना व्यवहारिक तथा पारमार्थिक कार्य कर रही है, तो परमात्मा के प्रसंग में एक कण्ठ से लाखों आस्तिक महात्माओं के मानने कहने पर भी यदि कोई सौदागरसिंह का भाई बन कर कहे कि परमात्मा और परमपद अदृष्ट विषय हैं यानी परोक्ष विषय हैं, इनको प्रत्यक्ष देखे विना इसमें से संशय और भ्रम कैसे जा सकता है और इन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। तो उसकी कही हुई बात का सच्चे आस्तिक मुमुक्षुओं की सभा में बिलकुल आदर नही हो सकता, जब कि माता के कहने से पिता होने का पूर्ण विश्वास लोक में किया जाता है और सब उसको मानते ही हैं तो लाखों वर्ष, सम्पूर्ण संसार के सुखों को छोड़ कर एकान्त निर्जन स्थल में जाकर तपश्चर्या करके, परमात्मा का साक्षात्कार करके जिन व्यास, पराशर, वाल्मीकि, आदि मुनियों ने अपने ग्रन्थों में तत्त्व निर्णय किया है उन महामुनियों के वचनों के अनुसार परमात्मा और परमपद के बाबत कृपा करके उपदेश करने वाले जो सद्गुरु लोग हैं, उनके वचनों के द्वारा कौन है कि जो संशय भ्रम को छोड़ कर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकता है और इतना समझाने पर भी यदि मन्द भागी कोई जीव संशय भ्रम में ही पड़ा रहेगा और गुरु में, भगवान में, परमधाम में अटल विश्वास नहीं करेगा तो सौदागरसिंह के समान सद्गोष्ठी से बहिष्कृत होगा। हरि भक्तों में, सत्समाज में उसका आदर नहीं होगा। फिर उसका मनुष्य जीवन भी व्यर्थ चला जायगा। फिर वही मसल होगा कि "सो परत्र दुःख पावई शिर धुनि-धुनि पछिताय। कालहिं कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय"। फिर समय निकल जाने पर पछताने से कुछ हाथ नहीं लगेगा। इससे महात्माजी! जिनको अपने कल्याण की चाहना

हो, संसार से छुटकारा पाना हो, उसे तो सब से पहिले सद्‌गुरुओं के वचनों पर अवश्य विश्वास करना ही पड़ेगा क्योंकि बड़ों का वचन है कि :—

"बिन बिश्वास भगती नहीं, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम पद, होइ न दृढ़ अनुराग" ॥

यानी जिसको दृढ़ विश्वास नहीं होगा उससे भलीभाँति भगवत्सेवा भजन हो ही नहीं सकता और बिना भक्ति किये मोह भी नही भाग सकता और मोह के बिना गये श्री रामजी के चरणों में दृढ़ प्रीति भी नहीं हो सकती है। और भी कहा है कि :—

"कौने उ सिद्धि कि बिनु विश्वासा। बिनु विश्वास न संशय नाशा।"

सद्‌गुरुओं के वचनों में विश्वास के विना किसी प्रकार की सिद्धि हो ही नहीं सकती। इसी से पहुँचे हुए महात्माओं का कहना है कि "विश्वास करि यह दास तुलसी रामपद अनुराग हू" इन सबों के कहने का सारांश यही हुआ कि जिसको बड़ों के वचन में विश्वास होगा उन्हीं से भजन, कीर्त्तन, सेवा वगैरह सब कुछ बन सकेगा सद्‌गुरुओं के वचनों के अनुसार जो लोग भगवन्नाम का जप करेंगे, प्रभु का ध्यान करेंगे, भगवान की, भागवतों की, आचार्यों की सेवा करते रहेंगे, उन्हें सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होगी। इसी तरह करते-करते धीरे-धीरे उन्हें भगवान का साक्षात्कार भी होगा, उन्हें परमधाम भी मिलेगा और जो भगवान में, सद्‌गुरुओं में, शास्त्रों में तर्क वितर्क करते रहेंगे, संशय भ्रम में पडे रहेंगे, विश्वास न करेंगे वे परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जावेंगे। अतः हे महात्माओं! सब से पहिले मुमुक्षुओं को चाहिए कि संशय भ्रम को जड़ मूल से छोड कर बडों के वचनों में अचल विश्वास पूर्वक प्यारे परमात्मा का भजन, कीर्त्तन, जप ध्यान, सेवा निरन्तर शक्ति के अनुसार किया करें। महात्मा लक्ष्मी प्रपन्न जी! आपके प्रश्न के उत्तर में चार प्रकार के प्रमाण कहा था। जिनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य का संक्षेप में वर्णन हो चुका ये तीनों प्रमाण जहाँ काम नहीं देते हैं वहाँ शास्त्रों के जरिये काम लिया जाता है। जिसका वर्णन मैं आगे करता हूँ ध्यान देकर श्रवण करिये। जैसे परमपद को यहाँ से कोई देखता नही है न वहाँ से कोई आकर कहता है कि

परमपद ऐसा है, मैं देखकर आया हूँ न यहाँ से कोई जाकर वहाँ का ऐश्वर्य बताने के लिए फिर यहाँ आता है। वहाँ की तो यही प्रसिद्धि है कि जाकर फिर यहाँ कोई लौटकर नहीं आता। उसी परमपद को वैकुण्ठलोक कहते हैं। श्री गोलोक धाम तथा विष्णु भगवान का परमपद भी कहते हैं। उसीको दिव्य मुक्ति स्थान और श्री अयोध्या भी कहते हैं। इस प्रकार अनेक शब्दों में उस दिव्यधाम की प्रख्याति है। वह चोदह लोक से भी ऊपर है, बहुत दूर है। उसके बाबत मुनियों के इस प्रकार वचन हैं कि पचास करोड योजन मे यह ब्रह्माण्ड है। उसके दसगुने ऊपर पानी का हिस्सा है। उसके ऊपर दसगुना अग्नि है, उसके ऊपर दसगुना वायु है, वायु के ऊपर दसगुना आकाश है, उसके ऊपर दसगुना महातत्व है, उससे ऊपर दसगुना अहंकार है, उससे ऊपर दसगुना मूल प्रकृति तत्व है, उसके बहुत दूर के बाद श्री बिरजा नामक महानदी है, उसके उसपार एक तरफ कैवल्य नामक एक स्थान है। जहाँ पर सिर्फ आत्मा का चिन्तन करने वाले चेतन भेजे जाते हैं। उसके बहुत दूर और ऊपर अपने परमपिता परमात्मा का सदा साक्षात् विराजने का स्थान परमधाम है। उसको परमव्योम भी कहते हैं तथा त्रिपाद्विभूति भी। वहाँ के ऐश्वर्य तथा सौन्दर्य के असीम आनन्द का भली भाँति कोई वर्णन नहीं कर सकता। उसके बाबत त्रिकालदर्शी महामुनियों के इस प्रकार अनेक तरह के बचन हैं—

"लीला विभूति सीमा सा वेद तोयां महानदी।
जन्म ज्वर बिमुक्तानां यज्जलं सुख र्धनम् ॥"

यानी बिरजा के इस पार जो लोक है उसे लीला बिभूति कहते हैं और बिरजा के उसपार में जो है उसे परमव्योम कहते हैं।

"बिरजा परमव्योम्नो रन्तरा केवलं स्मृतम्।
तदीच्छन्त्यल्पमतयो मोक्षं सुख विवर्जितम् ॥"

यानी बिरजा और परमधाम के किसी एक तरफ कैवल्य नामक लोक है। वह त्रिपाद्वि-भूति से अलग है। वहाँ पर परमात्मा के स्वरूप, रूप, गुण, बिभव आदि के अनुभव का

लाभ वहाँ वाले चेतनों को कभी भी प्राप्त नहीं होता। वहाँ का नियम ही ऐसा है। इसी से शास्त्रों में उसका सुख रहित मोक्ष स्थान के नाम से वर्णन किया है। जो वहाँ जाना चाहते हैं उन्हें अल्प मति कहा है। और त्रिपाद्विभूति कितना सुन्दर तथा आनन्द वाला है उसका वर्णन करते-करते यहाँ तक मुनियों के वचन हैं कि :—

"एतेवैनि रयास्तात स्थानस्य परमात्मनः ।"

इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा के सदा साक्षात् विराजने का जो वह परमपद स्थान है ; उसके सामने ब्रह्मलोक आदि जो देवों के लोक हैं वे नरक के समान प्रतीत होते हैं। श्री रंगनारायण गुरु कहते हैं कि कहिए महात्मा लक्ष्मीप्रपन्नजी ! जिस परमपद का मैं वर्णन किया हूँ वह परमात्मा का एक अनूठा दिव्य लोक है। उसी परमधाम के लिए लाखों महात्मा अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए संयम, नियम, भजन, कीर्त्तन आदि अनेक अनुष्ठान कर रहें हैं। उसी परमधाम में जाने के लिए कोई भक्ति कर रहे हैं तो कोई शरणागति का अवलम्ब पकडे हैं कितने कर्म ज्ञानादि में लगे हुए हैं। जिन लोगों को शास्त्रों की शैली मालूम नहीं है, चौदह लोक तथा चौदह लोकों का सुख नाशवन्त है। जैसे गीता में भगवान का श्रीमुख वचन है कि :—

"आब्रह्म भुवना ल्लोकाः पुनरावर्त्तिनो ऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥"

यानी हे अर्जुन ! पाताल से लेकर ब्रह्मलोक तक जो जीव रहते हैं उनका आवा गमन नहीं छूटता है। हे अर्जुन ! जो बड़भागी चेतन मुझको प्राप्त कर लेता है वह फिर इस संसार में जन्म नहीं पाता, यानी सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इम परमात्मा के श्रीमुख वचन के तरफ जिनका अपने दुर्भाग्य वश ध्यान नहीं जमा हुआ है वे देवलोकों में ही जाने की चेष्टा करते हैं। और जिन बडभागियों को ससार का रूप अत्यन्त भयावन मालूम हो चुका है। और ब्रह्म लोक आदि में जाने वालों का जन्म-मरणादि दुःख दूर नहीं होता, बारम्बार ससार चक्र में उनका आवागमन बना ही रहता है इस बात को भली भाँति जान चुके हैं वे श्री विरजा नदी के उसपार कैवल्य लोक का उलंघन करके जिस परमपद का वर्णन किया है उसी जगह

जाने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं। उस परमपद के बाबत प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ भी काम नही देता है क्यों कि वहाँ से कोई आता जाता तो है नहीं। अनुमान जो दूसरा प्रमाण है वह भी वहाँ के प्रति कुछ काम नहीं करता क्यों कि धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान होता है। तब "पर्वतो वह्निमान धूमत्वान्" ऐसा कहना होता है। इसका भाव यह हुआ कि एक मनुष्य किसी मनुष्य से कह रहा है देखो भाई! वह पर्वत जो दीख रहा है उसके नीचे जरूर आग है। वह पूछा भाई! दूर की बात तुम्हें कैसे मालूम हुई? वह बोला अनुमान से। फिर वह बोला तुमने अनुमान कैसे किया? वह बोला "धूम त्वात्" धुआँ से। तुम भी देखो नजर आरहा है। श्री रंगनारायण गुरु कहते हैं कि पर्वत मे अग्नि रहने का अनुमान जसे धुआँ के जरिये कर लिया गया उसी प्रकार परमपद के निश्चय मे कोई भी किसी प्रकार कुछ भी अनुमान लगा ही नहीं सकता। क्यों कि जरिया कुछ दिखता नहीं तो वहाँ अनुमान कैसा? इस लिए उस मोक्ष धाम के बाबत अनुमान प्रमाण भी फेल हो जाता है अब रहा तीसरा ऐतिह्य नाम वाला। प्रमाण इसको भी परमपद के निर्णय मे काम नहीं ले सकते हैं। क्यों कि पिता के निर्णय में पुत्र तो नहीं देखा है कि मेरा पिता यही है। गोत्र निर्णय में भी यही बात है। हमलोग तो अपने गोत्र वाले पुरुष को तो नहीं देखे हैं। परन्तु गर्ग, गौतम, शाण्डिल्य, भरद्वाज, आदि मुनि लोग जब हुए थे उस वक्त से लेकर आज तक उनकी संतति बराबर चली आरही है। गौतम जी ने अपने पुत्र को बताया कि हम तुम्हारे गोत्र हैं। उनका पुत्र अपने पुत्र को बताया कि हम गौतम गोत्र हैं। इसी क्रम से एक से एक आज तक कहते हुए चले आरहे हैं। परन्तु परमपद के निश्चय करने में यह बात लागू नहीं होती है। क्यों कि वेदान्त का खुले शब्दों में कहना है कि "अनावृत्तिः शब्दात्" इसका भाव-यह हुआ कि परमपद में जाने के बाद उस मुक्त जीव का बिरजा के इस पार फिर आना ही नहीं होता। इस प्रकार शास्त्रों का बारम्बार कहना है। तो जब कि वहाँ जाकर कोई जीव फिर बिरजा के इस पार आता ही नहीं है; फिर कौन किससे कहेगा और कौन किसका सुनेगा। श्री रंगनारायण गुरु कहते हैं कि महात्मा लक्ष्मी प्रपन्न जी! परमपद के निर्णय के बाबत पूर्वोक्त तीनों प्रमाण कुछ भी काम नहीं आते। अब जहाँ ये तीनों प्रमाण फेल हो गये, वहाँ शास्त्रों का वचन काम में लाना पड़ता है। उपनिषदों में लिखा है कि

"तद्विष्णोः परमंपदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इसका अर्थ यह हुआ कि परमपद जो है वह श्री विष्णु भगवान का ही है। उस परमपद को वहाँ के रहने वाले जो नित्य सूरि लोग हैं वे ही देखते हैं। और भी उस परमधाम के बावत अनेक उपनिषदों में अनेक बचन पाये जाते हैं। कौशीत की उपनिषद्, त्रिपाद्विभूति, महानारायणोपनिषद्, बृहद्ब्रह्म संहिता, पद्मपुराण उत्तर खण्ड, बृहद्दरीत स्मृति आदि ग्रन्थों में उस दिव्य धाम के निर्णय के बावत अनेक बचन मिलते हैं। नास्तिक लोग अपनी बेसमझी से भले ही चाहे जो कहा सुना करें, परन्तु ज्ञानी बड़े-बड़े आस्तिक महात्मा तो उसको भली भांति मानते ही हैं और उस दिव्यधाम के मिलने के लिये अनेक शास्त्रीय उपायों में निरत भी हैं। कहिए महात्मा लक्ष्मी प्रपन्नजी! आप तो कहते थे कि अदृष्ट परोक्ष में आँख से देखे बिना संशय रहित विश्वास कैसे कर सकते हैं। परन्तु परमपद को यहां वाले तो कोई नहीं देखे हैं और उसको मिलने के लिए लाखों आस्तिक लोग अनेक प्रकार के यत्न कर ही रहे हैं तो यदि देखी ही चीज पर विश्वास किया जाता और संशय छोड़ा जाता तो वह मुमुक्षु आस्तिक समाज दुनियाँ में कहां से दिखता। और यदि कहैं कि उन लोगों को विश्वास नहीं है तो यह बात कह ही नहीं सकते क्यों कि विश्वास के बिना कोई परमार्थ पथ के साधन में अपना समय बिता नहीं सकता। इससे सच्चे मुमुक्षुओं को चाहिए कि परमात्मा के और परमात्मा के दिव्य धाम के और उन दोनों के मिलने के लिये शास्त्रों में जो उपाय वर्णन किये हैं उन उपायों के बावत अपनी तरफ से तर्क-वितर्क, संशय-भ्रम कुछ न करके प्राचीन मुमुक्षुओं के समान शास्त्रों ही के बचन पर पूर्ण विश्वास करके उसमें निरत हो जाँय।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज संरक्षित विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य
श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमांसा
पञ्चम खण्ड समाप्त

॥ श्रीमते रामानुजाय नमः ॥

शरणागति मीमांसा

(षष्टम खण्ड)

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! यह जीव ससार बन्धन से छूट कर जब तक परमपद में नहीं चला जाता है तब तक अनेक प्रयत्न करने पर भी इसको सच्चा सुख नहीं प्राप्त होता। इन चौदह लोकों के जितने सुख हैं, उन सब में दुख मिला हुआ है। अपने अज्ञान के वश में होकर यह जीव थोडा भी लौकिक सुख प्राप्त हो जाने पर अपने को कृत-कृत्य तथा भाग्यवान मानने लगता है। परन्तु शास्त्रों का तथा बड़े-बडे पहुंचे हुए अनुभवी महात्माओं का तो बारम्बार यही कहना है कि :—

नदेहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि।
तथा च दुःखं मूढानां वृथा हं करणं परम् ॥

(श्रीमद्भागवत स्कं० ११ श्लोक १८ वां)

कोन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टि दः ॥

(श्रीमद्भागवत स्कं० ११ श्लोक २० वां)

याने इस संसार मात्र में जितने देहधारी चेतन हैं उनमें किसी को भी दुख रहित सुख नहीं प्राप्त है, चाहे पामर हो या पण्डित, धनी हो या गरीब, राजा हो या प्रजा नौ महीना गर्भ में निवास करके ही ससार में जन्म लेना होता है और इच्छा नहीं रहने पर भी अनेक रोगों को भोगना पड़ता है। बुढ़ापे की विपदा भोगनी पड़ती है। इच्छा बिना भी कुटुम्ब को छोड़ कर

खुद रोते हुए एक दिन मरना पड़ता है। जीवों के पीछे जब तक जन्म मरण की बला लगी है तब तक किसी प्रकार भी सुखी नहीं माना जा सकता। अपने अज्ञान वश भले ही सुख माना करे। जैसे किसी को दो महीने के बाद फांसी का आर्डर हो चुका और उसको कोई भी चीज फांसी के चिन्ता के कारण सुखदाई नहीं बनती। उसी प्रकार जिसको मृत्यु के दिन का स्मरण बना रहता है उसको कैसा भी लौकिक सुख क्यों न प्राप्त भया हो; परन्तु आत्मा में किसी प्रकार भी सच्ची शान्ति नहीं मिलती है। जन्म और मरण का भयंकर दुःख जो लोग भूले रहते हैं; उन्हीं को कुछ देर के लिये संसार सुहावना मालूम पड़ता है।

और इस संसार का स्वरूप भलीभांति समझ चुके हैं—जो कुछ सत्संग कर चुके हैं ऐसे मुमुक्षुओं को तो संसार कभी सुखदाई नहीं बनता। इस ससार में रहने वाले जीवों की अपेक्षा देव लोक में रहने वालों को कुछ ज्यादा सुख है परन्तु शास्त्रों का तो उनके प्रति भी यही कहना है कि :—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते।
क्षीण पुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः॥

जब तक उन लोगों के पुण्यों की परिसमाप्ति नहीं होती है तब तक ही वे देव लोक में सुख पाते हैं। जब पुण्यों का नाश हो जाता है तो इच्छा नहीं रहते हुए भी परवश फिर ससार चक्र में काल के द्वारा गिरा दिये जाते हैं। स्वर्गादिक लोकों में रहने वाले जीवों की तथा वहां रहने वाले देवों की भी कालान्तर में यही दशा है। श्रीगीताजी में खुलासा श्री भगवान की श्री मुख वाणी है कि :—

आब्रह्म भुवना लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

भगवान अर्जुनजी से कहते हैं कि हे अर्जुन! ब्रह्म लोक से लेकर जितने लोक हैं उन में जाने वालों का आवागमन बनाही रहता है। सिर्फ माया से परे जो मेरा परमपद है वहां ही

जाने वाले बड़भागी जीव सदा के लिये जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पाकर दुख रहित असीम सुख को प्राप्त होते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि शास्त्रों का तथा बडो का बारम्बार यही समझाना है कि न इस संसार में रहने वाले जीवों को, न स्वर्गादिक लोकों में रहने वालों को दुख रहित सुख प्राप्त भया है, क्यों कि इन सब के पीछे मृत्यु की बला लगी हुई है। परन्तु जो लोग सत्सग नहीं किये हुए हैं उनके दिमाग में यह बात जल्दी से नही आती है और जो सच्चे मुमुक्षु महात्माओं के सत्सग के द्वारा इन पूर्वोक्त बातों को भलीभाति जान समझ चुके हैं तथा अनेक बार परवश कुटुम्ब के वियोग में शोक ग्रस्त हो दुःख भोग चुके हैं; उनका तो इस संसार से बहुत जी घबडाया करता है। हे महात्माओ! वास्तव में जिसमे जरा भी कुछ समझ होगी वह इस ससार में सुखी नहीं रह सकेगा। जिस बड़भागी जीव ने इस चौदह लोक रूप महा जेलखाने से छुटकारा पाकर प्रकृति से परे विरजा पार जो परमपद है उसको पा लिया उसी का मनुष्य देह पाना सफल हुआ, और मनुष्य देह पाकर भी इस ससार चक्र में आना जाना बना रहा तो उसका जन्म पृथ्वी का भार रूप ही भया। मनुष्य मात्र को लापरवाही छोड कर शास्त्रों के उपदेशों की कदर करता हुआ संसार बन्धन से छूट कर परम पद मिलने के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए और जन्म मरण चक्र से छूट कर परमपद में जाने के लिये शास्त्रोक्त उपाय पर पूर्ण विश्वास करके उस मार्ग के ऊपर अपनी परिस्थिति कर लेनी चाहिए। क्यों कि देव दुर्लभ इस मनुष्य देह को पाकर जो भवसागर से तरने का प्रयत्न नहीं करता है वह जीव बहुत मन्दभागी है, हद से ज्यादा बेसमझ है! जब आत्मा निकल जाता है तो उसे फिर बहुत पछताना पडता है और ऐसा अमूल्य समय निकल जाने पर फिर पछताने से कुछ भी लाभ नहीं होता है। इससे हरेक देहधारी को चाहिये कि जैसे शरीर पोषण के लिये अनेक प्रयत्न किया करता है उसी तरह अपने आत्मा के कल्याण के लिये अवश्य कुछ न कुछ समय जरूर दिया करें क्यो कि जब तक परमपद का सुख इस जीव को नहीं प्राप्त होगा तब तक किसी प्रकार भी यह सुखी नहीं हो सकेगा। इसके द्वारा जुटाया हुआ जो अनेक प्रकार का सांसारिक सुख है यह अनित्य है। सदा के लिये नहीं है। इच्छा के बिना भी काल के द्वारा छुडा दिया जाता है। एक परमपद का ही ऐसा असीम सुख है कि जिसके मिल

जाने के बाद फिर कभी दुख का सामना करना ही नहीं पड़ता है। ऐसा देव दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर भी जो भवसागर से नहीं तरता है उसको आत्मा के घात करने वालों की दुर्गति प्राप्त होती है। जैसे कि बड़ों का वचन है :—

दोहा—जो न तरै भवसागरहिं, नरसमाज अस पाय।
वे कृत निन्दक मन्दमति, आतम हन गति जाय॥

इस दोहे का वही अर्थ है जो कि पहले कह चुके हैं। इससे प्रत्येक मनुष्य को संसार बंधन से छुटने के लिये और उस परमपद की प्राप्ति के लिये शास्त्रों में कहे हुए उपायों की अवश्य खोज करनी चाहिए। संसार में दो प्रकार के अधिकारी हैं। एक बुभुक्षु दूसरा मुमुक्षु। शास्त्र की आज्ञानुसार चाहिए तो इन दोनों को अपना मुक्ति मार्ग सुधारना, क्यों कि दस रोज आगे पीछे सब को श्मशान घाट पर जाना है और मुक्ति मिले बिना आवागमन मिट नहीं सकता। और जब तक आवागमन से छुटकारा नहीं मिलेगा तब तक सच्चा सुख मिल ही नहीं सकता। जिनको संसार का स्वरूप और परमपद का आराम सत्संग न करने के कारण नहीं मालूम है उनके लिये सत्संग अपेक्षित है और जो सत्संग द्वारा इस संसार का अति भयकर स्वरूप समझ चुके हैं, भयंकर जन्म-मरण चक्र के स्मरण से जिनका हृदय घबड़ाया हुआ है और जो अवश्य संसार बन्धन से छूट कर इसी जन्म के अन्त में परमपद जाना चाहते हैं ऐसे सच्चे मुमुक्षुओं के लिए भवसागर से तरने के लिये और उसे परमपद में जाने के लिये सत् शास्त्रों के द्वारा सब के लायक कौनसा अचूक उपाय निर्णय किया गया है अब इसी बात का आगे विचार करेंगे।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्ष महात्माओ! इस प्रसग को एकाग्र मन से श्रवण करना चाहिए। शास्त्रों में ससार से पार होकर भगवत्सेवा में जाने के लिए तो अनेक प्रकार के उपाय वर्णन किये गये हैं परन्तु बडों के कहने से और शास्त्रों के श्रवण से यह मालूम पडा कि भक्ति और शरणागति इन दो उपायों को छोडकर बाकी जितने हैं वे अनेक झंझटों से भरे हुए हैं सुनने में तो प्रिय लगते हैं परन्तु अनुष्ठान करने में इतने कठिन हैं कि एक जन्म तो क्या लाखों जन्म में भी कोई उनके बल से संसार बन्धन से नहीं छूट सकता है। उपाय स्वरूप

जो भक्ति है यह भी सुनने ही में सुलभ है परन्तु भलीभांति इसका स्वरूप जब मालूम हो जाता है तो समझ आता है कि साधन स्वरूप भक्ति योग से भी संसार बन्धन छूटना और परमपद मिलना बड़ा ही मुश्किल है। इस प्रपति मीमांसा के पूर्व भाग में कर्म का स्वरूप और उसकी कठिनता तथा ज्ञान का और भक्तियोग का स्वरूप भलीभाति से वर्णन कर आया हूं। जिसको समझने की इच्छा होय सो पूर्व भाग से समझ लेवे। यहां तो सबके लायक अत्यन्त सरल अचूक उपाय जो भगवान की शरणागति है उसी के सम्बन्ध में सब प्रकार से विचार करना है किन्तु पहिले यह कहूँगा कि भक्ति और प्रपति में क्या भेद है और भक्ति मे किस बात की कठिनाई है और शरणागति में क्या सुलभता है, तथा शरणागति में प्रमाण क्या है, शरणागति कहते किसको हैं। संसार बन्धन से छूटकर परमपद मे जाने के लिये साधन भावना से स्वतन्त्रता पूर्वक अपने को कर्त्ता भोक्ता मान कर जो नवधा भक्ति का अनुष्ठान करना है उसको साधन स्वरूप भक्तियोग कहते हैं। इस प्रसंग को अच्छी तरह से समझना चाहिये। श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरणसेवा, सब प्रकार से भगवान का पूजन, श्री हरि को साष्टांग प्रणाम, और भी श्री भगवान की अनेक कैंकर्य, प्रभु के साथ सख्य भावना, श्रीपति के श्री चरणों मे आत्मा का अपण करना नवधा भक्ति है। इसी नवधा भक्ति को मुक्ति का साधन मानकर जो करना है उसका नाम साधन स्वरूप भक्ति योग है। इस भक्ति योग को जो परमपद मिलने के लिये उपाय मान कर करते हैं उसको भक्त कहते हैं। साधन भक्ति को करने वाले भक्त भगवान की तरफ से स्वतन्त्र कर्त्ता और भोक्ता माने जाते हैं। क्योंकि जिस चीज का जो कर्त्ता होता है वही उसका भोक्ता भी रहता है। यही शास्त्रों का सिद्धान्त है। "स्वतन्त्रः कर्त्ता मत्फल साधनत्वान्मदर्थमिदं कर्म।" इसका यह भाव भया कि जो खुद अपने को करने वाला मान कर कुछ साधन करता है, शास्त्रों के द्वारा वह स्वतन्त्र कहा जाता है क्योंकि साधन दशा में ही वह मानसिक संकल्प कर लेता है कि अपने आराम के लिये मैं इस साधन को कर रहा हूँ; इससे इस साधन का कर्त्ता भी मैं हूँ। इस साधन के जरिये मिलने वाला जो फल है उसको भोगने वाला भी मैं ही रहूँगा, इस प्रकार मानसिक संकल्प करने के कारण अपने साधन का कर्त्ता और उसके द्वारा मिलने वाला फल का भी भोक्ता वही रहता है। इस साधन भक्ति वाले अधिकारी का सारा कर्तव्य अहंकार गर्भित होने के कारण परमात्मा की

तरफ से भी इसके लिए अनेक प्रकार की शर्तें रखी गई हैं। जसे कि अपने को कर्त्ता मान कर साधन भक्ति करने वाले को सबसे पहले सांगोपांग कर्म योग को कर लेना चाहिए। सांगोपांग कर्मयोग सिद्ध हो जाने के बाद उसको शास्त्रोक्त साधन स्वरूप ज्ञान योग में जाने लायक अधिकार प्राप्त होगा। बाद पूर्ण रूप से शास्त्र के सिद्धान्त मुजब ज्ञान योग प्राप्त हो जाने के अनन्तर फिर उसको साधन भक्ति की प्राप्ति होगी। इतना होने के बाद भी मरते समय श्री भगवान के श्री विग्रह का ध्यान करता हुआ तथा उनके श्री नामों का मुख से उच्चारण करता हुआ यदि शरीर छोड़ेगा तब उसकी मुक्ति हो सकेगी और उसके प्रारब्ध वश यदि अन्त में भगवान का स्मरण न होकर किसी दूसरी चीज का स्मरण हो आया तो गति बिगड़ जायगी और अन्त में जहां मन जायेगा उसी जगह परवश जन्म लेना पड़ेगा। जसे महात्मा जड़भरतजी अन्त में हरिण के बच्चे के स्मरण से फिर हरिणी के गर्भ में आये, इस साधन भक्ति के सिद्ध होने में बड़े-बडे अड़ंगे हैं। पहले तो सांगोपांग कर्मयोग का स्वरूप ही जानना मुश्किल है। क्यों कि श्री भगवान ही का कहा हुआ है कि "गहना कर्मणो गतिः" याने कर्म की गति बड़ी गहन है, अति दुर्ज्ञेय है। किसी प्रकार लाखों में कोई एक उसका स्वरूप समझ जाय तो भी उसको सिद्ध कर लेना महा कठिन है खास भगवान का श्री मुख वचन है कि :—

"असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः"

जिसका मन वश नहीं हुआ है उस अधिकारी से कर्मयोग सिद्ध हो ही नही सकता।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! पूर्वोक्त इस साधन स्वरूप भक्तियोग में इतने शर्त और अड़ंगे हैं कि काल, कर्म, गुण, स्वभाव के परवश रहने वाले जीव से करोड़ों जन्म में भी पालन होना अति अशक्य है। मन इन्द्रिय वश होय तो कर्मयोग की सिद्धि हो, कर्मयोग सिद्ध हो जावे उसको ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है। जिसको पूर्ण ज्ञानयोग मिल चुका, साधन भक्तियोग में जाने का वही अधिकारी होता है। अन्त में प्राण निकलते समय भगवत् ध्यान पूर्वक भगवान का नाम उच्चारण करता हुआ मरे, उसको जानिए कि साधन भक्तियोग की सिद्धि मिली। इस साधन स्वरूप भक्तियोग करने वालों के लिये आदि में

मन, इन्द्रिय वश करने की शत, अन्त में भगवान का ध्यान करके मरने की शर्त, परवश जीव के लिए कितनी कठिन बात है। कह लेना तथा सुन लेना तो सहज है परन्तु करना तो महा मुश्किल है। पहिले पूर्व भाग शरणागति मीमांसा में इस साधन स्वरूप भक्ति योग निर्णय प्रसंग में इसका भली भाँति निर्णय कर चुके हैं। अपने को अत्यन्त परतन्त्र समझने वाले मुमुक्षु लोग इस साधन स्वरूप भक्ति योग से लाखों कोस दूर भागते हैं। जिसकी इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटकर परमपद में जाने की उत्कट इच्छा है उसके लिए इस साधन स्वरूप भक्तियोग से कुछ भी फायदा नहीं निकल सकता है, यहाँ तक संक्षेप में साधन स्वरूप भक्ति योग का स्वरूप तथा उसकी कठिनता वर्णन किया हूँ और भी इसके सम्बन्ध में कुछ कह के फिर सबके लायक बिना परिश्रम इसी जन्म के अन्त में अवश्य परमपद पहुँचा देने वाला सीधा उपाय जो शरणागति योग है उसका वर्णन करूँगा।

हम भजन करेंगे तो तरेंगे। भजन किये बिना संसार से नहीं तर सकते। कलि में केवल नाम ही आधार है। जो नाम का सहारा लेगा वह जरूर संसार से पार होगा। मुक्ति मिलने के लिए कलि में भगवान का कीर्त्तन ही प्रधान है। भगवान के धाम में किसी प्रकार भी पडे रहने से मुक्ति हो जावेगी नाम लेने से भवसागर सूख जावेगा। जसे :—

"नाम लेत भवसिन्धुसुखा हीं"

भवमागर से जो पार जाना चाहे, श्रीराम कथा उसके लिए दृढ नौका है। जसे कि :—

"भवसागर चह पार जो पावा। राम कथा ताकहँ दृढ़ नावा॥"

जो भगवन्नाम लेकर जम्हाई लेता है उसके अनेक पाप नष्ट होते हैं। भगवान का नाम संसार समुद्र तरने के लिए जहाज है। अन्त में मरते समय श्री भगवान के श्री नामों को अवश्य उच्चारण करके ही मरना चाहिए। उससे अवश्य मुक्ति मिलेगी। जो पुण्य तिथि में मरता है, उसकी अच्छी गति होती है। इत्यादि जितनी बातें हैं ये सब पूर्वोक्त साधन स्वरूप भक्तियोग से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इन सबों में भी वही शर्त लागू है। इन पूर्वोक्त सभी प्रसगों में सब से पहिले मन और इन्द्रियों को वश कर लेने की सख्त जरूरत है। इन

साधनों को करने वाले अधिकारियों की मुक्ति तभी होगी जब कि श्री भगवान के श्री नामों का उच्चारण करते हुए एकाग्र मन से शरीर छोड़ पायेंगे। ऐसा नही हुआ तो महात्मा जड़ भरत जी के समान जन्मते-मरते रहेंगे, चाहे कितना भी कोई साधन भक्ति योग को क्यों न करें। परन्तु जब तक उसका मन इन्द्रिय वश नहीं होगा तब तक वह सिद्ध नहीं होगा। जब सिद्ध नहीं होगा फिर मुक्ति रूप फल किस तरह मिल सकेगा। क्रम बिगड़ने से अन्तिम स्मृति भी नहीं हो सकेगी। और अजामिल का हे नारायण कहके तरने वाला म्लेच्छ का प्रसंग है, ललिता आदि के जो चरित्र हैं यह साधन भक्ति योग के अन्तरगत नहीं हैं। किन्तु श्री भगवान के द्वारा अति स्वतन्त्रपने से ग्रहण किया हुआ जो सीमा से बाहर निर्हेतुक कृपा-रूप दिव्य गुण है उससे स्वीकार किया गया, याने माना हुआ जो अज्ञात सुकृत है उसको निमित्त करके परमात्मा ने उन लोगों को मुक्ति प्रदान की। उनकी स्वीकृति में कुछ क्रम नहीं है, न उनका उसमें कुछ साधन है, न साधन कर्तृत्वाभिमान है। किन्तु अपार करुणा सागर परमात्मा की निर्हेतुक कृपा से ही मान लिया गया अज्ञात सुकृत का व्याज मात्र है। जहाँ इस चेतन की तरफ से स्वतंत्रता पूर्वक कर्म, ज्ञान, भक्ति करके शुद्ध होकर तरने का प्रसंग है वहाँ ही अनेक शर्त का प्रसंग है। इसकी जितनी शर्तें हैं वे एक से एक बडी कठिन हैं इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटकर जो परमपद जाने की इच्छा करने वाले मुमुक्षु हैं इस साधन स्वरूप भक्तियोग के द्वारा तो उनका मनोरथ सिद्ध होना बहुत मुश्किल है क्यों कि इसके ऊपर परिस्थिति करके रहने वाले अधिकारी के प्रति खुद श्री भगवान का श्रीमुख वचन है।

"अनेक जन्म संसिद्धस्ततो यान्ति परांगतिम्"।

याने अनेक जन्मों में जब उसका साधन सिद्ध होगा तब वह परमगति को जावेगा। जब उसकी गति के बाबत खुद श्री भगवान ही समय का निश्चय नहीं कर रहे हैं तो अनेक जन्मों का क्या ठिकाना। इसका भली भाँति स्वरूप जो महात्मा समझ जाते हैं वे उसी वक्त उसका भरोसा छोड़कर भगवान की कृपा का सहारा पकड़ते हैं। जैसे महात्मा श्री तुलसी दासजी कहते हैं कि :—

"ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥

कर्म, ज्ञान, भक्तियोग आदि जो अनेक साधन हैं वे सब सत्य ही है झूठ नहीं। परन्तु हम को तो संसार बन्धन से छूट कर जल्दी से जल्दी परमपद मे जाने के लिए एक श्री हरिजी की कृपा का ही भरोसा है।-इस प्रकार कहने का तात्पर्य यही है कि साधन स्वरूप जो कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदिक साधन हैं उनके भरोसे कब मोक्ष होगी, इसका कुछ ठिकाना ही नहीं है। क्यों कि उसके अनेक शर्तों के पालन करने में हरेक प्रकार से परवश यह चेतन महा असमर्थ है और भगवान की निर्हेतुक कृपा के भरोसे पर संसार बन्धन से छूट कर इसी जन्म के अन्त में परमपद चले जाना अत्यन्त सहज है इसी से अशक्य, परतन्त्र, स्वरूप से बिरुद्ध उन कठिन उपायों का अवलम्ब छोडकर बडे-बडे समझदार महात्मा लोग परतन्त्र स्वरूप के अनुरूप सबके लायक सरल से सरल अचूक उपाय जो श्री हरि की कृपा है उसीके, सहारे को पकडते हैं। जब साधन स्वरूपभक्तियोग की कठिनता की तरफ ध्यान गया तो झट महात्मा तुलसीदासजी श्री रघुनाथजी से यही प्रार्थना किये कि :—

"मेरे न बने बनाये राम कोटि कलपलों, राम रावरे बनाये बने पल पाव में।"

याने हे श्री रघुनाथजी! मैं अपने बल से तो करोडों कल्प में भी अपना उद्धार नहीं कर पाऊँगा। और आपकी निर्हेतुक कृपा के बल से तो पाव पल में ही उद्धार हो सकता है।

इसी प्रकार और भी बड़े-बड़े आचार्यों का साधन स्वरूप भक्तियोग की कठिनता की तरफ ध्यान गया तो वे भी यही कहे कि :—

"कलौ भक्त्यादिका मार्गा दुःसाध्या इति मे मतिः।
तस्मात्सर्व प्रयत्नेन शरणं भावयेद्धरिम्॥

याने साधन स्वरूप कर्म, ज्ञान, भक्ति योग के जो मार्ग हैं इस कलि में वे बडे ही दुःसाध्य हैं। इससे उन साधनों का भरोसा छोड़ कर इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटने की चाहना करने वाले अधिकारियों को चाहिए कि श्री भगवान के शरणागत होकर रहें।

श्री श्रीदेशिक स्वामीजी का भी दयाशतक में यही कहना है कि ।—

"अनुभवितु मघौघं नाल मागामि कालः प्रशमयितुमशेषं निष्क्रियाभिर्न-शक्यं । स्वयमितिहिद्येत्वं स्वीकृत श्री निवासा शिथिलित भव भीतिः श्रेयसे जाय सेनः ॥"

इस श्लोक का यही सारांश है कि इस जीव के पास इतना असंख्य पाप है कि अनन्त काल पयन्त साधनों के जरिये छूट नहीं सकता। श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा ही एक ऐसा सरल उपाय है कि जिसके सहारे से कोई भी आसानी से भवबन्धन से छूट कर परमपद में जा सकता है।

श्री श्रीलोकाचार्य स्वामीजी का श्री मुख बचन हैं :—

'कर्म फलवत् कृपा फलमपि अनुभाव्यमेव"

इसका यह भाव भया कि जिम प्रकार कर्मों के फल के कारण यह चेतन संसार में पड़ा हुआ है, श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा कासहारा यदि लेवे तो उसके वल से इसी जन्म के अन्त में अवश्य भवसागर से पार होकर परमपद प्राप्त होगा।

श्री परमाचार्य जी की भी तो श्री भगवान से यही प्रार्थना है कि "हे करुणासागर! साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदिक से मैं रहित हूँ। अकिञ्चन हूँ याने उपायान्तर शून्य हूँ। अनन्य गति हूं याने रक्षकान्तर शून्य हूँ। हमें तो एक आपकी कृपा ही का सहारा है।" इससे भी यही सारांश आया कि इस चेतन का उद्धार भगवत्कृपा के विना कभी हो नहीं सकता।

आदिशेषावतार श्रीरामानुज स्वामीजी महाराज शरणागति गद्य में श्री भगवान से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् हे श्रीमन्नारायण! हे काकुत्स्थ!

"अनाद्यविद्या सञ्चितानन्ताशक्यविस्त्रंसन कर्मपाश प्रग्रथितोऽनागता नन्तकाल समीक्षयाप्यदृष्ट सन्तारो पायो निखिल जन्तु जात शरण्य श्रीमन्ना-रायण त्वत्पादार बिन्द युगलं शरणमहं प्रपद्ये।"

हे भगवन ! वासुदेव ! यह जीव अनादि की अविद्या से सञ्चय किये हुए असंख्य कर्मों के मजबूत बन्धनों से इस तरह जकड़ के बंधा हुआ है कि उन को जरा हिला भी नहीं सकता है। जब कि हिला नहीं सकता तो उनसे छूटेगा कैसे। इसका खुलासा भाव यह भया कि अपने साधनों के बल से अनादि काल से आज तक इस जीव का संसार बन्धन छुट नही पाया न आगे अनन्त काल तक छूटने का भरोसा है। आपकी निर्हेतुक कृपा ही एक ऐसा अचूक अति प्रबल उपाय है कि जिसका सहारा लेकर चाहे जो इस अनादि बन्धन से छूट कर परमपद के असीम सुख का भागी बन सकता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि शीघ्र से शीघ्र भवसागर से पार होने के लिये श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा के सिवा इस चेतन के स्वरूपानुरूप दूसरा उपाय नहीं है। पहले से इस प्रसंग में यही चला है कि वेदान्तादि सच्छास्त्रों मे संसार बन्धन से छूटकर मुक्ति मिलने के लिये दो प्रकार के साधनों का निर्णय किया है। एक भक्ति और दूसरा प्रपत्ति याने एक तो श्री भगवान की उपासना और दूसरा श्री भगवान की शरणागति। साधन स्वरूप भक्ति योग को उपासना कहते हैं और श्री भगवान की निर्हेतुक कृपा के बल से परमपद मिलने की आशा रखना इसको शरणागति कहते हैं विचार यह चला है कि इन दोनों उपायों में कठिन कौन है और सब के लायक सरल कौन है। विचार करते करते शास्त्र तथा स्वरूप ज्ञान में पहुँचे हुए बडे-बड़े महात्माओं के अनुभवों से यही सिद्ध हुआ कि साधन स्वरूप भक्तियोग से मुक्ति लेना महा कठिन है। भक्तियोग के बल से करोडों में एक कोई भले ही संसार से पार हो जाय परन्तु श्री भगवान की शरणागति ऐसी सरल तथा अचूक उपाय है कि इसके बल से चाहे जो इसी जन्म के अन्त में डंका घोप ससार बन्धन से छूट सकता है।

इस प्रसग में इन दोनों उपायों पर विचार किया जा रहा है कि इनका स्वरूप क्या है। इन में सुलभ कौन है इसी विचार में शास्त्र और महात्माओं के वचनों के द्वारा यह निर्णय किया गया है कि साधन स्वरूप भक्ति योग अत्यन्त कठिन है, उसमें अनेक शर्त है उसको सब कोई कर नहीं सकता है। साधन स्वरूप भक्ति योग करने वाले का मोक्ष कब होगा इस बात का तो कुछ पता ही नहीं है। हाँ यह अवश्य लिखा है कि (सप्तैता मोक्षदायिकाः) सातपुरियों में जो निवास करेगा, सात पुरियों में जिसका शरीर छूटेगा उसे मोक्ष मिलेगा

इसको सुनकर बहुत से अधिकारी प्रसन्न होते हैं और सातपुरियों में शरीर छोड़ने की कोशिश भी करते हैं। बहुत से अधिकारी प्रतिज्ञा करके रहते हैं कि मैं ताजिन्दगी धाम से बाहर नहीं जाऊँगा। परन्तु उन्हें यह समझ नहीं आता है कि यह प्रसंग साधन भक्तियोग से सम्बन्ध रखने वाला है। इस में भी वही शर्त लागू है जो कि कर्मयोग के प्रारम्भ में है। तीर्थवास से, तीर्थवास के बल से मोक्ष चाहना यह भी कर्मयोग के अन्तर्गत है न कि शरणागति योग के। इसमें भी वही बला है कि जिसका मन आदि इन्द्रियाँ वश नहीं हैं उनको पूर्ण रूप से तीर्थवास का फल मिल नहीं सकता। जैसे कि श्री अयोध्या माहात्म्य में लिखा है :—

श्लोक :—"यस्य हस्तौच पादौच जिह्वा चापि सुसंयता।
विद्या तपश्च कीर्त्तिश्च सतीर्थ फल मश्नुते॥
प्रतिग्रह निवृतश्च सन्तुष्टो येन केनचित्।
अहंकार निवृतश्च सतीर्थ फल मश्नुते॥
अकामुको निरालम्बः स्वल्पाहारो जितेन्द्रियः।
विमुक्तः सर्व दोषैश्च सतीर्थ फल मश्नुते॥
अक्रोधनश्च योनित्यं सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु सतीर्थ फल मश्नुते॥"

इन श्लोकों का वही भाव है जो पहले कह चुके हैं फिर भी कुछ कहते हैं।

"जिसके हाथ कुकर्मों में प्रवृत्त नहीं होते, जिसके पग अधर्म के तरफ कभी नहीं जाते, जिसकी जीभ अभक्ष्य भक्षण नहीं करती, कभी दूसरों की बुराई नही करती ऐसे अधिकारी को तीर्थवास का फल प्राप्त होता है।"

"जो कभी प्रतिग्रह नहीं लेता याने तीर्थ में निवास करके जो अन्न, द्रव्य, वस्त्र, गाय वगैरह संकल्प की हुई वस्तु कभी नहीं ग्रहण करता; जिसमें धन का, जन का, विद्या का,

जाति का, और भी किसी बात का अहंकार नहीं है। यदृच्छा लाभ से जो सन्तुष्ट रहता है तीर्थ वास का फल उसको प्राप्त होता है।"

"जो दूसरे की बेटी बहिन को अपनी बेटी बहिन के समान जानता है याने पर स्त्री को जो माता के समान मानता है, कभी व्यभिचार में प्रवृत्त नहीं होता है, अपनी इन्द्रियों को वश में रखा है तथा सब दोषों से रहित है, स्वप्न में भी जिसका मन विषयों की तरफ नहीं जाता है, जिसमें क्रोध का लेश भी नहीं है, जो कभी झूठ नहीं बोलता है, दूसरे के दुःखों से दुखी होता है, सब जीवों पर दया रखता है, किसी का भी मान, बडाई, वैभव देखकर प्रसन्न होता है, ईर्ष्या बैर चुगली से दूर रहता है, ऐसे अधिकारी को तीर्थवास का फल प्राप्त होता है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि साधन स्वरूप भक्तियोग का प्रसंग सुनने में तो प्रिय लगता है परन्तु जब उसके नियमों पर विचार किया जाता है तो सच्चे मुमुक्षु का जी घबड़ाता है। जैसे पुरी के निवास से, पुरियों में मरण से, जरूर मोक्ष मिलता है। यह सुनकर मुमुक्षु बहुत प्रसन्न होते हैं। परन्तु पुरियों के निवास करने वाले अधिकारियों को किस तरह से रहना चाहिए। धामों में निवास करने वाले कैसे अधिकारी को मोक्ष मिल सकता है इस बात की जब शर्त सुनते हैं और उसको जब अपने में मिलाते हैं तो "झंझट रहित कौनसा सीधा उपाय है जिसको पकडने से शीघ्र मुक्त हो जाऊँ" ऐसा सोचने लगते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि महात्माओ! साधन स्वरूप सारे कर्म काण्डो में तथा ज्ञान-योग में और भक्तियोग में मन आदि इन्द्रियो का वश में करने की सख्त शर्त है। श्री गीता शास्त्र का यह अटल सिद्धान्त है कि जिसका मन बुद्धि काबू में नहीं है उस अधिकारी से किया हुआ किसी प्रकार का भी साधन सिद्ध होता ही नहीं है। जगत में साधन करने वाले अधिकारियों की कमी नहीं है। साधनयोग में लाखों ऐसे अधिकारी हैं कि टाइम भी काफ खर्च करते हैं, द्रव्यादिक भी बहुत लगा रहे हैं। शारीरिक कष्ट भी करते ही हैं। परन्तु फल भाग में प्रायः वञ्चित देखे जाते हैं। इसका मूल कारण यही है कि मन इन्द्रियाँ किसी के काबू में नहीं हैं इससी से बहुत परिश्रम से भी किया हुआ साधन योग पूर्ण रूप से किसी का सिद्ध हो नहीं पाता है। जब सिद्ध ही नहीं हो पाता है, तो पूर्ण रूप से फल देने में

लोग ऐसा भी कहते हैं कि सन्यासियों का ही मोक्ष होता है गृहस्थों का नहीं। कितने ऐसा कहते हैं कि जो घर द्वार छोड़ के जगल में चले जाते हैं उन्हीं की मुक्ति होती है औरों की नहीं। किसी-किसी का यह भी कहना है कि जो बहुत संयम नियम का पालन करते हैं उन्हीं को निर्वाण पद मिलता है। बहुतों का कहना है कि जो माया को त्याग देते हैं, प्रपञ्च से फरक हो जाते हैं उन्हीं को मोक्ष मिलता है। बहुत ऐसा भी बोलते हैं कि पुरुष ही मोक्ष के अधिकारी हैं स्त्रियाँ नहीं। किसी किसी के द्वारा ऐसा सुनने में आता है कि विद्वानों का मोक्ष होता है औरों का नहीं। इस प्रकार मुक्ति के सम्बन्ध में अनेक मत भेद सुनने में आते हैं परन्तु सब शास्त्रों का तथा उपनिषदों का सार भूत जो श्री गीताजी हैं उसमें खुद अपने श्रीमुख से साक्षात् श्री भगवान त्रिलोकीनाथ आज्ञा कर रहे हैं कि ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, स्त्री हो या पुरुष, नपुंसक हो या पञ्चम, बालक हो या तरुण या वृद्ध, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थ हो या सन्यासी, पण्डित हो या मूर्ख श्री भगवान के श्री चरणों के शरण हो जाय वही इस जन्म के अन्त में अवश्य सार वन्धन से छूटकर असीम सुख का स्थल जो परमपद है वहाँ चला जाता है। मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है पशु पक्षी भी यदि श्री हरि के शरण हो जाँय तो उनका भी फिर संसार समुद्र में पतन नहीं होगा। श्री भगवान की शरणागति करने का सबका एक रूप से अधिकार है। क्योंकि परमात्मा सब का निरुपाधिक पिता है। उनका नाम "निखिल जन्तु जात शरण्य" है। इसका भाव यह हुआ कि चाहे कोई जीव क्यों न हो जो उनके शरण में आता है उसको किसी प्रकार का अधिकार भेद न विचारते हुए अति प्रेम से गद्गद् हृदय से स्वीकार करते हैं। श्री गीता शास्त्र का तो जोर देकर कहना है कि हर एक के लिए दुरत्यया माया से पार होने के लिए श्री भगवान की शरणागति ही सरल से सरल उपाय है। सारा ब्रह्माण्ड का द्रव्य माया से ही रचा हुआ है। ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सब माया के अन्तर्गत हैं। जब तक प्रकृति से पार विराजने वाली श्री विरजा नदी के जल का संस्पर्श नहीं होता है तब तक चेतन मात्र माया के ही अन्तर्गत हैं। यह माया परमात्मा की एक विचित्र शक्ति है। इसके रूप में हर एक को मोह लेने की प्रबल शक्ति है। कोई वर्ण हो, कोई आश्रम हो, जंगल में रहता हो या घर में शरीरधारी मात्र इसके चक्र में पड़े हैं। माया से रची हुई पृथ्वी के आधार से ही

यों सब रहते हैं। माया के रचे हुए पदार्थों को ही तो खाकर जीते हैं। माया के रचे हुये शरीर में ही सब निवास करते हैं। गृह, मठ, घट, कमण्डल, अन्न, फल, पय, शाक सब माया कृत पदार्थ हैं। कोई गृहासक्त है कोई मठासक्त है, कोई पुत्र प्रेम में मग्न है, कोई शिष्यों पर ही न्योछावर है। सारांश कहने का यह है कि हर एक जीव किसी न किसी प्रकार के बन्धन से जकड कर बँधे हैं। विरजा स्नान के पहिले जो कोई कहे कि मैं माया से छूटा हुआ हूं या मैं माया मोह से परे हूँ, उसको यही कहना चाहिए कि उसमें बिल्कुल समझ नहीं है। जब कि बडों का वचन है कि :—

"गो गोचर जँह लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।"

तो बिरजा स्नान के पहले इस ब्रह्माण्ड में रहता हुआ माया के प्रपञ्च से छूटा हुआ किस तरह से माना जा सकता है। मृग चर्म माया कृत है, कम्बल माया कृत है, शाक, फल माया कृत है इस लिए किसी न किसी प्रकार सब माया के चक्र में है।

ऐसे और भी अनेक वचन महापुरुषों के हैं जैसे :—

"शिव बिरञ्चि कहँ मोहई को है बपुरा आन"

याने बडे-बडे देव जो शिव ब्रह्मादिक हैं उन्हें भी यह मोह लेती है तो प्राकृत जीवों की कथा ही क्या है। ब्रह्मा शकरादिक भी इस माया से थर-थर काँपते हैं फिर और की बात ही क्या है।

"शिव बिरञ्चि जेहि देखि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं"।

इस चौपाई का भाव वही है जो पहले कह चुके हैं। बहुत से ऐसे लोग है कि देखने में मालूम पडते हैं कि इन में माया का लेश भी नहीं है। परन्तु बड़ों का यह कहना है कि उन में भी "तिल तैलवत, दारुवह्निवत" याने तिल में तेल के समान, लकड़ियों में अग्नि के समान सूक्ष्म वासना रूप से बैठी ही हुई है। चाहे कुछ देर के लिए कुछ नहीं करती हो परन्तु जब चाहे तब उपद्रव मचा सकती है। भगवान के नित्य पार्षद, भगवान के साथ

लोग ऐसा भी कहते हैं कि सन्यासियों का ही मोक्ष होता है गृहस्थों का नहीं। कितने ऐसा कहते हैं कि जो घर द्वार छोड़ के जगल में चले जाते हैं उन्हीं की मुक्ति होती है औरों की नहीं। किसी-किसी का यह भी कहना है कि जो बहुत संयम नियम का पालन करते हैं उन्हीं को निर्वाण पद मिलता है। बहुतों का कहना है कि जो माया को त्याग देते हैं, प्रपञ्च से फरक हो जाते हैं उन्हीं को मोक्ष मिलता है। बहुत ऐसा भी बोलते हैं कि पुरुष ही मोक्ष के अधिकारी हैं स्त्रियाँ नहीं। किसी किसी के द्वारा ऐसा सुनने में आता है कि विद्वानों का मोक्ष होता है औरों का नहीं। इस प्रकार मुक्ति के सम्बन्ध में अनेक मत भेद सुनने में आते हैं परन्तु सब शास्त्रों का तथा उपनिषदों का सार भूत जो श्री गीताजी हैं उसमें खुद अपने श्रीमुख से साक्षात् श्री भगवान त्रिलोकीनाथ आज्ञा कर रहे हैं कि ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, स्त्री हो या पुरुष, नपुंसक हो या पञ्चम, बालक हो या तरुण या वृद्ध, ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, वानप्रस्थ हो या सन्यासी, पण्डित हो या मूर्ख श्री भगवान के श्री चरणों के शरण हो जाय वही इस जन्म के अन्त में अवश्य सार बन्धन से छूटकर असीम सुख का स्थल जो परमपद है वहाँ चला जाता है। मनुष्यों के लिए तो कहना ही क्या है पशु पक्षी भी यदि श्री हरि के शरण हो जाँय तो उनका भी फिर संसार समुद्र में पतन नहीं होगा। श्री भगवान की शरणागति करने का सबका एक रूप से अधिकार है। क्योंकि परमात्मा सब का निरुपाधिक पिता है। उनका नाम "निखिल जन्तु जात शरण्य" है। इसका भाव यह हुआ कि चाहे कोई जीव क्यों न हो जो उनके शरण में आता है उसको किसी प्रकार का अधिकार भेद न विचारते हुए अति प्रेम से गद्गद् हृदय से स्वीकार करते हैं। श्री गीता शास्त्र का तो जोर देकर कहना है कि हर एक के लिए दुरत्यया माया से पार होने के लिए श्री भगवान की शरणागति ही सरल से सरल उपाय है। सारा ब्रह्माण्ड का दृश्य माया से ही रचा हुआ है। ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सब माया के अन्तर्गत हैं। जब तक प्रकृति से पार विराजने वाली श्री विरजा नदी के जल का संस्पर्श नहीं होता है तब तक चेतन मात्र माया के ही अन्तर्गत हैं। यह माया परमात्मा की एक विचित्र शक्ति हैं। इसके रूप में हर एक को मोह लेने की प्रबल शक्ति है। कोई वर्ण हो, कोई आश्रम हो, जंगल में रहता हो या घर में शरीरधारी मात्र इसके चक्र में पड़े हैं। माया से रची हुई पृथ्वी के आधार से ही

तो सब रहते हैं। माया के रचे हुए पदार्थों को ही तो खाकर जीते हैं। माया के रचे हुये शरीर में ही सब निवास करते हैं। गृह, मठ, घट, कमण्डल, अन्न, फल, पय, शाक सब माया कृत पदार्थ हैं। कोई गृहासक्त है कोई मठासक्त है, कोई पुत्र प्रेम में मग्न है, कोई शिष्यों पर ही न्योछावर है। सारांश कहने का यह है कि हर एक जीव किसी न किसी प्रकार के बन्धन से जकड़ कर बँधे हैं। बिरजा स्नान के पहिले जो कोई कहे कि मैं माया से छूटा हुआ हूं या मैं माया मोह से परे हूँ, उसको यही कहना चाहिए कि उसमें बिल्कुल समझ नहीं है। जब कि बड़ों का वचन है कि :—

"गो गोचर जँह लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।"

तो बिरजा स्नान के पहले इस ब्रह्माण्ड में रहता हुआ माया के प्रपञ्च से छूटा हुआ किस तरह से माना जा सकता है। मृग चर्म माया कृत है, कम्बल माया कृत है, शाक, फल माया कृत है इस लिए किसी न किसी प्रकार सब माया के चक्र में है।

ऐसे और भी अनेक वचन महापुरुषों के हैं जैसे :—

"शिव बिरञ्चि कहँ मोहई को है बपुरा आन"

याने बड़े-बड़े देव जो शिव ब्रह्मादिक हैं उन्हें भी यह मोह लेती है तो प्राकृत जीवों की कथा ही क्या है। ब्रह्मा शंकरादिक भी इस माया से थर-थर काँपते हैं फिर और की बात ही क्या है।

"शिव बिरञ्चि जेहि देखि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं"।

इस चौपाई का भाव वही है जो पहले कह चुके हैं। बहुत से ऐसे लोग हैं कि देखने में मालूम पड़ते हैं कि इन में माया का लेश भी नहीं है। परन्तु बड़ों का यह कहना है कि उन में भी "तिल तैलवत, दारुवह्निवत" याने तिल में तेल के समान, लकड़ियों में अग्नि के समान सूक्ष्म वासना रूप से बैठी ही हुई है। चाहे कुछ देर के लिए कुछ नहीं करती हो परन्तु जब चाहे तब उपद्रव मचा सकती है। भगवान के नित्य पार्षद, भगवान के साथ

भगवान की सेवा निमित्त अवतार लेकर आते हैं उनमें भी संसार में आने के नाते सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाती है।

आदि शेष भगवान के अवतार श्री बलराम जी श्री कृष्ण परमात्मा के प्रति मणि के लिए शंका कर बैठे और भगवान श्रीमुख से "न प्रत्येतिममाग्रजः" कह कर इस बात को स्पष्ट किये। इसी को सूक्ष्म रूप से इस विभूति में भगवत्पार्षदों में भी माया का निवास कहते हैं। यह कथा इस प्रकार है कि जब सत्राजित ने भगवान श्री कृष्णजी के ऊपर मणि चोरी का कलंक लगाया तो भगवान उसकी खोज में लगे। पीछे पता चला कि शतधन्वा अक्रूरजी को मणि दे दिया और अक्रूरजी लेकर कहीं भग गये बात भी सत्य ही थी। फिर भगवान अक्रूरजी को दूत द्वारा बुलवाये। पूछने पर अक्रूरजी बतलाये कि मणि हमारे ही पास है। फिर भगवान अक्रूरजी से बोले एकबार सब के सामने मणि को बता दीजिए। बाद चाहे जहाँ रखिये। कारण कि भैया बलरामजी की हमारे ऊपर शंका हो गई है कि श्रीकृष्णजी ही मणि रख लिये हैं और हमसे बताते नहीं। अतः आप जब मणि सब के सामने दिखा दीजिएगा तो शंका मिट जायेगी। उसी वक्त का भगवान का श्री मुख वचन है कि "न प्रत्येतिममाग्रजः" भगवान का वचन सुनकर अक्रूरजी ने वैसा ही किया। बाद श्री भगवान के ऊपर से बलरामजी की शंका मिट गई।

इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में माया का साम्राज्य है। दण्डकारण्य की यात्रा में माया की सूक्ष्म वासना ने श्री लक्ष्मणजी के द्वारा श्री जानकी महारानी तथा श्री रघुनाथजी का कुछ देर के लिये अपमान करवाया था। यह कथा पद्मपुराण के उत्तर खण्ड मे है तथा बड़ों की गोष्ठी में प्रसिद्ध भी है। अतः इस माया का कठिन कर्त्तव्य कहने में नहीं आता है। वेद तथा पुराणों में इससे छूटने के लिये बहुतसे उपाय बताये गये हैं, परन्तु जितना इससे छूटने का विचार करते हैं उतना हीं ज्यादा उलझन में डाल देती है। जैसे बड़ों का वचन है कि :—

"श्रुति पुराण बहु युक्ति बताई। छुटे न अधिक अधिक अरुझाई।"

इसका भाव ऊपर कह चुके हैं। इस प्रकार माया जीवों को अपने चक्रव्यूह में फँसा रखी है। कहने वाले बहुत कहते हैं। सुनने वाले बहुत सुनते हैं। समझाने वाले बहुत समझाते हैं।

परन्तु मोहनी माया इस प्रकार भुलावा लगा रखी है कि हृदय में दशा आने हीं नहीं पाती। जैसा कि विशेष पुरुषों ने कहा है कि :—

"कहे सुने समझे समझावे हृदय दशा नहिं आवे।"

इसका भाव ऊपर कह चुके हैं। इस माया को प्रकृति कहते हैं तथा अविद्या भी। इसके बहुत परिवार भी हैं। उनके जरिये ब्रह्माण्ड के सभी जीवों पर कब्जा जमाया है। परिवार असंख्य, उनमें दस, बीस प्रधान हैं। उनके नाम ये हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्य, ईर्षा, बैर, कुत्सा, अहंकार, ममकार, वासना, मन, इन्द्रियां इत्यादि। किसी को मैं गृहाधीश हूँ इस प्रकार अभिमान में डालकर मारती है। तो किसी को मैं मठाधीश हूं इस प्रकार के अभिमान में चौपट करती है। किसी को मैं मालिक हूँ, घर भर का पालन-पोषण करने वाला हूं मैं नहीं रहूँगा तो कौन काम चला सकता है इस प्रकार भुलावे में डाल कर रखती है। मैं मठाधीश हूँ मेरे को हजारों दण्डवत करते हैं, सैकड़ों को जिलाता हूँ, बहुत भजनानन्दी हूँ, माया से फरक हूँ सदा शुद्ध रहता हूँ, मेरे समान आचार विचार पालने वाले कोई भी नहीं हैं, मैं बहुत ज्ञान वाला हूं, सब से ऊँचा हूँ, हमारी जाति सबसे बडी है, मैं तो बहुत सुबोध हूं, मेरे में तो इतनी विद्या है कि सबको पराजय कर देता हूँ। बहुतों को इस प्रकार अभिमान में डालकर नष्ट करती है। अनेकों को दूसरों की चुगली निन्दा में लगाकर फँसाये रखती है। बहुतों को रूप में फँसा कर मारती है। क्रोध की मात्रा ज्यादा बढ़ाकर किसी से अनर्थ कराया करती है। वास्तव में विचार करने पर संसार में एक श्री भगवान के सिवा किसी का कोई भी नहीं है। परन्तु यह माया तो ऐसा गजब मोह जाल फैला रखी है कि असली चीज जो परमात्मा हैं उनसे मानो किसी को कुछ मतलब ही नहीं रह गया। शास्त्र बहुत समझाता है कि भाई! खूब सम्भल कर रहो। जब तुम गर्भ में थे तो कोई तुम्हारे साथ नहीं था और जब मरने लगोगे तो कोई भी साथ नहीं जायेगा। जैसे इस माया रचित अनित्य शरीर तथा अनित्य शरीर सम्बन्धी कुटुम्ब के लिये सारा समय खोते हो वैसे ही सच्चे बन्धु अनादि पिता परमात्मा की सेवा के लिए कुछ समय लिया करो।

इस प्रकार शास्त्रों के द्वारा बहुबार समझाने पर भी यह अभागा जीव बिलकुल नहीं

समझता है। समझना तो दूर रहा यदि कोई परमात्मा का नाम लेता है, भगवान की सेवा करता है, भगवान के नाम पर तिलक लगाता है तथा माला धारण किया है ऐसे को देख कर माया से मोहित बहुत से अभागे जीव मजाक किया करते हैं और उसके छुड़ा देने के लिये अनेक प्रयत्न करते हैं। आत्मा के कल्याण के लिए शास्त्रों के द्वारा जो साधन बताये गये हैं पापी जीव उनको फिजूल कहते हैं।

इस प्रकार जगत में माया अपना ढंग जमा रखी है। जिससे सारा जगत उल्टाज्ञान वाला हो रहा है। नित्य को अनित्य, अनित्य को नित्य, सच्चा को झूठा, झूठे को सच्चा मान रहा है। यह माया धोखे में डाल कर सब जीवों से विपरीत काम करा रही है। पाप पुण्य का भागी इसको बना कर आप न्यारी हो जाती है। पता नहीं कब से हम जीवों को फँसा रखी है। शास्त्र तथा बड़ों का यह कहना है कि अनादि काल से जीवों को दुर्दशा में पटक रखी है। माया प्रबल शक्ति है। इसके विचार में बड़ों-बड़ों का दिमाग चकरा जाता है। माया के फन्दे में पड़ जाने के कारण ही हम जीवों में इतने असंख्य दोष भर गये हैं कि उनका गिनना मुश्किल हो गया है फिर छुड़ा कैसे सकता है। जैसा बड़ों ने कहा है :—

निगम शेष शारद निहोरि जो अपने दोष कहावों।
तौ न सिराहिं कल्प शत लगि प्रभु कहा एक मुख गावों॥

इसका भाव यह भया कि हे श्री रघुनाथजी! निगम शेष शारदा को भी निहोरि कर यदि अपना दोष आपके सामने कहवाना चाहूँ तो भी हमारे में इतने असंख्य दोष हैं कि करोड़ों कल्प तक शेष शारदा के गिनते रहने पर भी उनका अन्त नहीं हो पायेगा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षुओ! इस माया के कारण जीवों को क्या-क्या नहीं भोगना पड़ता है जिसकी कुछ गिनती नहीं। इसका इतना आश्चर्यजनक कर्त्तव्य है कि ज्ञानी कहाने वालों को अज्ञानी बना रखी है और चतुर कहाने वालों को बेवकूफ। संसार का सुख अनित्य है। आज या दश दिन में यह शरीर मट्टी में मिलने वाला है। इसके जितने साथी हैं ये न गर्भस्थली में रहते समय कुछ सहारा दिये थे, न मरते समय किसी के साथ मरते हैं।

शरीर, कुटुम्ब, महल, सोना, चांदी, हीरा, मोती, गज, रथ, स्त्री, पुत्रादि ये सब जुटान अनित्य है। क्षण भंगुर है। दश दिन आगे पीछे अवश्य परवश छूट जाने वाला ही है। सारा स्वांस का खेल है। स्वांस गया कि सब पर पानी फिरा। यह मालूम नहीं कि शरीर में यह स्वांस कब तक रहेगा। बहुतों को देखे कि चलते चलते हार्ट फेल हो गया। उसके सारे मनोरथ पर पानी फिर गया। आराम के लिये धन सञ्चय वगैरह अनेक प्रयत्न उसके निष्फल हुए। स्वांस है तो सब है और स्वांस गया तो कुछ नही। एक स्वास के न रहने पर कोई भी क्यों न हो, उसी वक्त मुर्दा शब्द से पुकारा जाता है और किसी न किसी प्रकार मट्टी में मिला दिया जाता है। जो कुछ ह सब स्वास से है और उस स्वास का मालिक परमात्मा है। परमात्मा जब तक चाहें तब तक यह स्वांस शरीर में है। वह जब चाहें तब निकाल कर बाहर कर दें।

इन पूर्वोक्त वार्ता को दुनियाँ में ऐसा कौन शरीर धारी है कि नहीं जानता है। परन्तु बड़ों के तथा शास्त्रों के द्वारा बार-बार समझाने पर भी यह किसी को नहीं जमती है। क्षण में छूट जाने वाले सांसारिक वस्तुओं की तरफ लोगों का जितना झुकाव हो रहा है उतना स्वास के मालिक प्यारे परमात्मा में नहीं नजर आता है। बड़े-बड़े प्रेमी भक्त कहाने वालों का बेटा-बेटी के ब्याह में जितना उत्साह होता है, उस समय जितना खर्च करने के लिए उदारता आती है उस तरह प्रेम से भगवान के उत्सव में भगवान के लिए किञ्चित् भी नहीं पायी जाती है। पुत्र होने के समय महीनों गाना बजाना, उत्सव उत्साह सुनने में आता है उस प्रकार भगवान के उत्सव में नहीं देखने में आता है। जो दुनियाँ में अपने को उच्च कोटि का भक्त मानते हैं उनके घर में भी उनकी स्त्री पुत्रों के लिए जितने भूषण वस्त्र देखने में आता है उतने उनके सेवा विग्रह के शृङ्गार सजावट के लिए नहीं। जँवाई के आने पर जितने प्रकार के पदार्थ बनते हैं उतने प्रकार के भगवान के भोग के लिए कभी नहीं बनाये जाते।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! यह सब इस नटिनी माया का ही कर्त्तव्य है। सब अपने को चतुर मानते हैं परन्तु किस तरह सब को बेवकूफ बना रखा है। अब इससे बढकर और बेवकूफी क्या हो सकेगी कि जो स्वांस के मालिक परमात्मा हैं उनके लिए

तो साधारण उत्सव किया जाय और दश दिन में जो मुर्दा कहाने वाला उसके लिए धूम धड़ाके के साथ विशेष किया जाय।

इसी के उपर तो बड़े लोगों का वचन है कि :—

सवैया :—

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग सन्त कहन्त जो अन्त लहा है।
ताको सहै शठ संकट कोटिक काढत दन्त करन्त हहा है॥
जान पने को गुमान बड़ो तुलसी के बिचारे गँवार महा है।
जानकि जीवन जान ना जानत जान कहावत जान कहाँ है॥

इस सवैया का वही भाव है जो पहिले कह चुके हैं। दुनियाँ अपने को चतुर ज्ञानी और समझदार मानती है और माया खूब ताली बजा बजा कर हँसती है और कहती है कि ऐ दुनियाँ वालों! तुम महा वेवकूफ और पागल हो। जब नाशवन्त चीजों के लिए ही तुम सदा मरे जा रहे हो और सच्चे बन्धु प्यारे परमात्मा की तरफ तुम्हारा झुकाव ही नहीं है तो काहे के ज्ञानी और चतुर हो। यही तो हमारा अद्भूत कर्त्तव्य है। सच्चा को झूठा और झूठा को सच्चा मानकर संसार के आवागमन चक्र में खूब भटका करो।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि इस तरह उल्टे ज्ञान में डालकर सब जीवों को खूब संसार में भरमाती है। कौन नहीं जानता है कि स्त्री पुरुषों के शरीर में मल मूत्र भरा हुआ है। शरीर से वायु निकले पर चौतरफा दुर्गन्ध छा जाता है। शास्त्र भी कहता है कि :—

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन वलीयसा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्री भिर्यस्य मंनोहृतम्॥

इसका भाव यह भया कि मल मूत्र का विकार भरा हुआ देखने मात्र को रमणीय वास्तविक दुर्गंधों का भण्डार जो स्त्रियों का शरीर है, अपने अज्ञान वश जो उसके ऊपर मोह कर रहते हैं उन लोगों की विद्या, तथा तप, वैराग्य, मौन धारण, एकान्त का निवास ये सब फिजूल हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! मैं केवल शरणागति विषय का विवेचन करने वाला हूँ। माया का प्रसंग जो कुछ कहा केवल माया के प्रावल्य का नमूना बताने वास्ते। इससे छूटकर परमपद गये बिना चेतन को स्वप्न में भी आराम नहीं है। श्री भगवान की शरणागति को छोडकर माया से छूटने के लिए जितने उपाय शास्त्रों मे वर्णित है सब कमजोर हैं। यह ऐसी प्रबल है कि सब साधनों को दबा देती है। किसी से कभी डरती नहीं है। सो पहले कह चुके हैं कि :—

"शिव विरंचि जेहि देखि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे मांही ॥

याने ब्रह्मा शंकरादिक जिसको देख कर डर जाते हैं तो दूसरा कौन है जो इसको जीत सकता है। यह माया सिर्फ एक परमात्मा से ही डरती है। पूर्वाचार्यों का श्री मुख वचन है कि :—

"माया जन्मोहिनी"

श्री हरि से तो यह बहुत डरती है। उनके सामने खडे होने मे लज्जा करती है। श्री शुकदेव मुनि कहते हैं कि :—

"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षा पथेऽनया।
विमोहिता विकत्थन्तेममाहमिति दुर्धियः॥"

इस श्लोक का वही भाव है जो पहले कह चुके हैं। जो परमात्मा का सहारा लेगा वह अवश्य माया से पार होगा। श्री भगवान का श्री गीता में श्री मुख वचन है कि :—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

"हे अर्जुन ! यह माया नाम वाली एक अति विचित्र शक्ति है, त्रिगुणमयी है, अति दुरत्यय है जो मेरी शरणागति करते हैं याने इतरावलम्ब को त्याग-कर जो मेरी निर्हेतुक कृपा का सहारा लेते हैं वे अवश्य इसको तरजाते हैं।"

शास्त्रों में अनेक प्रकार के माया तरने के लिये उपाय कहे गये हैं। परन्तु परवश जीव के लिये उन कठिन उपायों के द्वारा इस दुरत्यय माया से पार होना महा अशक्य है। अतः इससे तरने की इच्छा करने वाले अधिकारियों को चाहिये कि हमारे शरण होकर रहें।

यह भगवान का श्री मुख वचन है, सब शास्त्रों का सार है। इसमें माया से पार होने के लिये सब के लायक कैसा सुन्दर अचूक उपाय खुद भगवान के ही श्रीमुख द्वारा बताया गया है।

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"

इस पद में स्पष्ट आज्ञा कर रहे हैं कि कोई वर्ण तथा आश्रम वाला माया से तरना चाहता हो तो हमारी शरणागति के द्वारा सुगमता से पार हो सकता है। देखिये माया बन्धन से छूटकर परमपद जाने के लिए सबके लायक श्री भगवान की शरणागति कैसा सुन्दर सरल उपाय है। जिसके अधिकार में माया रहती है, जिससे सदा भय खाती है उसका यह आदेश है कि—

"मम माया दुरत्यया"

अर्जुन! मेरी माया अति दुरत्यय है। "शिव विरंचि कँह मोहई" ब्रह्माशंकरादिक को भी अपने झपेटे में लेकर बैठी हुई है। "को है बपुरा आन" फिर दूसरा कौन है जो इससे बच सकता, हमारी शरणागति के अतिरिक्त माया से तरने के लिये और कुछ भी उपाय नहीं है। कृपा सागर भगवान इस श्लोक में तीनों बातों को स्पष्ट बता दिये हैं। एक तो यह कि हमारी शरणागति के विना दूसरे किसी उपाय से माया को तरना चाहे तो नहीं तर सकता, दूसरी बात यह कि जो मेरी शरणागति कर लेगा वह अवश्य ही इससे पार हो जायेगा। तीसरी यह कि चाहे सो माया से तरने के लिये हमारी शरणागति कर सकता है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि इस श्लोक में इतर उपायों के द्वारा माया को तरना दुरत्यय बता दिये और अपनी शरणागति को अचूक उपाय बताये। और यह भी निर्णय कर दिये कि चाहे जैसा भी कोई क्यों न हो हमारी शरणागति किये विना इस माया से पार हो ही नहीं सकता। पहले कह चुके हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त सब देवों को माया बड़ी बुरी हालत से

अपने झपटे में ले रखी है। जो स्वयं माया के फन्दे में पडे हैं उनकी शरणागति से माया कैसे दूर हो सकेगी। जैसे किसी को भयंकर काला नाग काट लेता है तो जहर को उतारने के लिये जानकार लोग गरुड़ मन्त्र का प्रयोग करते हैं। क्योंकि गरुड़ से सर्प डरता है। गरुड मन्त्र के प्रयोग से जहर उतर भी जाता है। किन्तु गरुड़ मन्त्र का प्रयोग न करके विष उतारने के लिए कोई मेढक मन्त्र का प्रयोग करे तो उसका प्रयत्न निष्फल जायगा। क्यों कि सर्प मेढक को खा जाता है। सर्प के नाम से मेढक थर-थर काँपता है। फिर मेढ़क के मन्त्र से सर्प का जहर किस तरह से उतरेगा। इसीसे श्रीमद्भागवत छठवाँ स्कन्ध २२ वां श्लोक में स्वय देवताओं ने भगवान से प्रार्थना की है।

"अविस्मितंतं परिपूर्ण कामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥"

हे भगवान वासुदेव! आप सब प्रकार से परिपूर्ण हैं। माया से पार करने में आप ही समर्थ हैं। जो आप के श्री चरणों का सहारा छोड़कर देवों के द्वारा माया बन्धन से छूटना चाहते हैं वे ऐसे हैं जैसे कोई जहाज को त्याग कर कुत्ते की पूंछ पकड़ कर समुद्र को तरना चाहता हो।

सारांश कहने का यह हुआ कि एक भगवान के शरणागति अतिरिक्त सुगमता से माया बन्धन से छूटन के लिये कोई भी दूसरा अचूक उपाय नहीं है। "दैवी ह्येषा" इस श्लोक में "मामेव" जो पद है उससे यह निर्णय होता है कि उपायान्तर त्याग किये बिना भगवान की शरणागति भी माया से नहीं तार सकेगी। "दैवी ह्येषा" भगवान के इस श्रीमुख वचन से इस बात का निश्चय हुआ कि भगवान की शरणागति के बिना इस दुरत्यय माया को तरने के लिए सबके लायक और कोई भी सरल उपाय नहीं है।

दूसरी बात यह निकलती है कि श्री भगवान की शरणागति करने का जीव मात्र को अधिकार है। तीसरी बात यह निकली कि भगवान के शरणागत हुए बिना इतर उपायों से कोटि जन्म में भी कोई माया से पार नहीं हो सकेगा। चौथी बात यह है कि भगवान ही

की शरणागति से माया छूट सकेगी। भगवान के सिवा इतर देवों की शरणागति करोड़ों जन्म में भी माया से कोई पार नहीं हो सकेगा। शरणागति का नायक एक श्री लक्ष्मीकान्त भगवान ही हैं। श्लोक में पांचवीं बात यह निश्चित हुई कि इतरावलम्ब त्यागपूर्वक ही भगवान की शरणागति, शरणागति शब्द से कही जाती है। भगवान के इस श्रीमुख वाणी से इस बात का स्पष्ट निर्णय हो गया कि दुरत्यय भगवान की माया तरने में वर्ण और आश्रम से कुछ भी सहयोग नहीं मिलता। चाहे कोई वर्ण हो, किसी आश्रम वाला हो। जिसको मायाकृत संसार बन्धन से छूटने की इच्छा होगी उसे भगवान की शरणागति करनी ही पड़ेगी। भगवान श्रीनिवास के श्रीचरणों में शरणागति किये बिना किसी देव के बल से या वर्ण के बल से आश्रम के बल से या साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग के बल से करोड़ों जन्म में भी कोई इस माया बन्धन से नही छुटकारा पा सकेगा। थोड़ी देर के लिए भले ही चाहे जो कुछ कह सुन ले परन्तु कहने सुनने से कुछ नहीं लाभ हो सकेगा। भगवान की माया से तो तभी पार होगा जब कि त्राहि-त्राहि करके इतरावलम्ब त्यागपूर्वक भगवान की कृपा का अवलम्ब लेगा। जीवों में मिथ्या अहकार घुसा है। अहंकार में पडके भगवत्कृपापात्र अनुभवी सद्गुरुओं के पास जाते नही अतः शास्त्रों के असली विषय का निर्णय होता नहीं। इससे यह जीव शरणागत वत्सल भगवान की शरणागत रक्षणरूप अचूक रीति को नहीं जान कर भगवान को छोड इतर साधनों में व्यर्थ पचि-पचि कर मरता है। दुनियाँ में ऐसा कौन अधिकारी है कि इतरावलम्ब छोड़कर भगवान की शरणागति कर लेने के बाद माया को नहीं तर सकता है, अर्थात् अवश्य तरेगा।

"जाने बिनु राम रीति पचि-पचि जग मरत।
परिहरि छल शरण गये तुलसिहुं ते तरत॥"

ये हैं अनुभवी महात्माओं के शब्द। भले ही अनेक, इतर साधनों में व्यर्थ समय बिताया करे परन्तु शास्त्रों का और बड-बड़े पहुँचे हुए महात्माओं का तो यह जोरों के साथ कहना है कि एक भगवान श्री सीतारामजी बिना दूसरा कौन है कि इस दुरत्यय माया बन्धन से छुड़ाकर असीम सुख में पहुँचा सके बड़ों का वचन है कि—

सवैया :—

"जप योग बिराग महा मख साधन दान दया दम कोटि करै ।
मुनि सिद्ध सुरेश महेश गणेश सुसेवत जन्म अनेक मरै ॥
निगमागम वेद पुराण पढ़ै तपसानल में युग पुञ्ज जरै ।
मन ते प्रण रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥

बस इस बात को हृदय में जँचा कर रहना और इसी पर परिस्थिति करके समय बिताना। इसीका नाम भगवान की शरणागति है। भगवान की शरणागति में सब जीव मात्र का अधिकार है। शरणागति को फल प्राप्ति कहते हैं। जिस चीज में सब का अधिकार रहता है उसमें देश, काल प्रकार का नियम नहीं रहता। भगवान सर्वत्र रहते हैं यह जीव चाहे जहाँ उनकी शरणागति कर सकता है। शरणागति करने में किसी देश का भी नियम नहीं है। चाहे जिस देश में भी की जा सकती है। उसी प्रकार समय का भी नियम नही है। २४ घण्टे में चाहे जिस समय अपने परमपिता परमात्मा की शरणागति कर सकते हैं। शरणागति में प्रकार का भी नियम नहीं है। शुद्ध हालत में अथवा अशुद्ध हालत में जब भी सगति लग जाय उसी वक्त श्री भगवान के शरण हो सकते हैं। श्री विभिषणजी समुद्र तट पर बेसमय बिना प्रकार श्री भगवान की शरणागति किये थे। भारत में लिखा है कि द्रौपदी ने रजस्वला हालत में शरणागति करी थी। इसलिए भगवान की शरणागति करने में किसी देश काल प्रकार का नियम नहीं है और जहाँ शरणागति करने के लिए देश कालादि का नियम किया है वहाँ साधन प्रपत्ति वालों के लिये जानना चाहिये। अपने से करी हुई प्रपत्ति के बल से ससार बन्धन से छूटकर परमपद जाने की जो इच्छा करना है। इसी का नाम साधन प्रपत्ति है। यद्यपि साधन स्वरूप भक्तियोग से यह साधन प्रपत्ति कुछ सरल मालूम पड़ती है परन्तु इस साधन प्रपत्ति में भी अनेक झम्कटें हैं। यह साधन प्रपत्ति भी अहकार गर्भित होने के कारण साधन स्वरूप भक्तियोग के समान हो यहाँ से लेकर परलोक तक स्वरूप सुधारने में अनर्थ उत्पन्न करती है।

इसका खुलासा भाव यह हुआ कि साधन प्रपत्ति में इस चेतन को स्वतन्त्र कर्ता होना पड़ता है और जहां पर स्वतन्त्रता पूर्वक किसी भी साधन में प्रवृत्त होने के लिये शास्त्रों में आदेश है वहां फिर साधनकर्ता अधिकारी के पीछे अनेक प्रकार के विधि विधान का इतना अड़ंगा लगा है कि सब तरह से सम्हलकर करने पर भी काल कर्म गुण स्वभाव के आधीन इस चेतन के द्वारा साधन सिद्ध नहीं हो पाता है। किसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरों में सिद्ध भी कर पावे तो उसके लिए फल भाग में धोखा है। प्रपत्ति शास्त्र का कहना है कि जो प्रधान कर्त्ता है वही फल का प्रधान भोक्ता भी बनता है इस कारण परमपद में भी साधन दशा की कर्तृत्वाहंकार की वासना फल दशा में भोक्तृत्वाहंकार रूप से अधिकारी के साथ-साथ बनी ही रहती है। परमपद में भी उस अधिकारी को लीलाविभूति वाली सूक्ष्म वासना परमात्मा के परिपूर्ण अनुभवानन्द से, दिव्य कैंकर्य से चित्त हटाकर प्राकृत कामनाओं के तरफ उसके मन को झुका देती है। परमपद में पहुँचे हुए अधिकारियों के लिये श्रुतियों का कहना है कि :—

"यदा अयं स्त्री लोक कामो भवति तदा संकल्पादेवास्यस्त्रियः समुपतिष्ठन्ते। यदा अयं पितृलोक कामाभवति तदा संकल्पा देवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ते।"

इसका भाव यह भया कि फल दशा में भी उस अधिकारी को स्त्रियों को देखने की कामना तथा पितरों को देखने की भावना उत्पन्न हो आया करती है। विरजा नहा लेने के बाद परमपद में निवास मिलने पर भी अनन्य भोग्य जो आत्मा का असली स्वरूप है, अधिकारी के लिये उसकी सिद्धि नहीं हो पाई। साधन दशा में तो अधिकारी अनन्य शरणत्व रूप, जो आत्मा का स्वरूप है उससे वंचित ही रहा। क्योंकि फल प्रपत्ति के स्वरूप को भलीभांति समझे हुए जो पूर्वाचार्य हैं प्रपत्ति शास्त्र से निर्णीत सिद्धान्त के अनुसार उनका तो यह कहना है कि :—

"उपायः स्वप्राप्ते रुपनिशदधीतः सभगवान्"

इसका यह भाव भया कि भगवत् की प्राप्ति के लिए भगवान ही उपाय हैं। बस इसीका

नाम फल प्राप्ति हुआ। चाहे प्रपत्ति कहिए या शरणागति या भगवान की निर्हेतुक कृपा, एक ही बात है। विशेष शास्त्रों का कहना है कि भगवान की प्राप्ति में भगवान ही उपाय है चेतन के द्वारा किया हुआ इतरावलम्ब नही। न उपाय का स्वीकार ही उपाय है। किन्तु कृपा करके इन दोनों को बताने वाले और बताकर चेतन के द्वारा कराने वाले भगवान हीं उपाय हैं। जैसे :—

"त्यागश्चनोपायः स्वीकारश्चनोपायः किन्तु उभय कारयिता भगवान् एव उपायः।"

इस सूक्ति का वही अर्थ है जो ऊपर कह चुके हैं। जोभगवत्प्राप्ति के लिए भगवान को उपाय न मानकर अपने से की हुई शरणागति को उपाय मानते हैं "उनको साधन प्रपत्तिवाले" कहते हैं। प्रपत्ति का पूरा स्वरूप न समझने के कारण साधन प्रपत्तिवाले अधिकारी अपने से किया हुआ जो प्रपत्ति का स्वीकार है उसी को उपाय मान बैठते हैं। अपने बेसमझपने के कारण आत्मा के जो तीन आकार हैं उनसे बंचित रह जाते हैं। स्वयं कर्त्ता होने के कारण अनन्यार्ह शेषत्व उनका बिगड़ जाता है। भगवान को छोड़कर स्वकृत शरणागति को उपाय मानने के कारण अनन्य शरणत्व जो दूसरा स्वरूप है वह भी नहीं सुधर पाता। स्वयं कर्त्ता होने के कारण परमपद में भी प्रधान भोक्ता उन्हीं को रहना पड़ता है। इससे उनमें वहा तक भी भोक्तृत्वाभिमान रहने के कारण अनन्य भोग्यत्व रूप जो आत्मा का तीसरा स्वरूप है वह भी नहीं सुधर पाया। परमपद पहुँचने पर भी इसी कारण उनकी वासना नही जा पाती है इसीसे इस प्रसंग में यह कहा गया है कि फल प्रपत्ति वालों के लिए शरणागति करने में देश काल प्रकारादि का कुछ भी नियम नहीं है। परन्तु साधन प्रपत्ति वालों के लिये तो देश-कालादि का नियम है ही। इससे जहाँ कही भी भगवान के शरणागत होने में देश कालादि विधान का नियम आवे वहाँ साधन प्रपत्ति वालों के लिए ही समझना चाहिए।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ। हम कह आये हैं वह अति सूक्ष्म है। जो कभी इसको सुने नहीं और भगवत्कृपा पात्र महात्माओं की सत्संगति किये नहीं और प्रपत्ति शास्त्र को देखे नहीं है, न प्रपत्ति शास्त्र जानने वाले सद्गुरुओं की गोष्ठी में कभी बैठे

हैं और मै बहुत समजदार हूँ इस बात के अभिमान में चूर हैं वे इस प्रसंग को सुनकर आश्चर्य में पड़ जायेंगे। और सद्गुरु के कृपापात्र जो सच्चे मुमुक्षु हैं उनका हृदय इस निर्णय को सुनकर खिल उठेगा। जैसे साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, अचिद्वत्परतन्त्र स्वरूप को जानने वाले मुमुक्षुओं के लिए स्वरूप विरुद्ध मालूम पड़ता है, उसी प्रकार फल प्रपत्ति के स्वरूप को भली भाँति समझने वाले मुमुक्षु महात्माओं के लिए तो अहंकार गर्भित होने के कारण यह साधन प्रपत्ति भी अत्यन्त स्वरूप विरुद्ध ही प्रतीत होती है। क्योंकि उसमें किसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ही नहीं रह जाता। साधन प्रपत्ति और फल प्रपत्ति के बाबत जिसको और ज्यादा समझने की इच्छा हो सो संस्कृत प्रपत्ति मीमांसा से समझ सकता है। उसका सारांश मैं कहा हूँ। इस विषय को अच्छी तरह से समझना चाहिए कि जिससे ध्यान में बना रहे। इसी लिए फिर भी संक्षेप में इसकी याद दिलाये देता हूं। सावधानी से आप लोग श्रवण करिये। इस बात को लेकर यह बात चली है कि माया से तरकर जब तक यह जीव परमपद में नहीं पहुँचेगा तब तक सुखी नहीं होगा। बाद यह प्रसंग चला कि माया से तरकर परमपद जाने के लिए शास्त्रों में कितने प्रकार के उपाय वर्णन किये गये हैं और उनमें सब के लायक अचूक और सुलभ कौनसा उपाय है। इसके बाद यह प्रसंग कहा गया कि माया से छूटकर परमपद में चले जाने के लिए भक्ति और प्रपत्ति ये दो प्रकार के प्रधान उपाय हैं इसी के बाद यह वर्णन हुआ कि साधन स्वरूप जो भक्तियोग है यह हद से ज्यादा कठिन है और प्रपत्ति सबके लायक अत्यन्त सुलभ उपाय है। यह प्रसंग कहके भगवान के श्रीमुख वचन के द्वारा यह निर्णय चला कि इस दुरत्यय माया से पार होने के लिए भगवान की प्रपत्ति के याने शरणागति के सिवा कोई भी दूसरा सीधा और अचूक उपाय नहीं है। बाद यह कहा गया कि भगवान की शरणागति में जीव मात्र का अधिकार है। इससे भगवान की शरणागति होने में किसी भी देश काल प्रकार आदि का नियम नहीं है। कोई अधिकारी कहीं भी चाहे जब भगवान की शरणागति कर सकता है। इसी प्रसंग में यह बात आयी कि एक साधन प्रपत्ति दूसरी फल प्रपत्ति। इस तरह दो प्रकार के प्रपत्ति में भी भेद है। जो लोग भगवान को या भगवान की निर्हेतुक कृपा को उपाय न मानकर अपने से करी हुई शरणागति को माया बन्धन से छूटने के लिए उपाय मानते हैं वे साधन प्रपत्ति

वाले अधिकारी कहे जाते हैं। और जो अन्य किसी उपाय को न लेकर माया से छूटकर परमपद में जाकर श्री भगवान की नित्य सेवा प्राप्ति के लिए सिर्फ एक भगवान को ही उपाय मानते हैं उनको फल प्रपत्ति वाले अधिकारी कहते हैं। उपनिषदों में कहा है कि भगवान का श्री चरण ही हमारा उपाय है भगवान की निर्हेतुक कृपा ही हमें सहारा है इत्यादि सभी बातों का एक ही अर्थ होता है। इन शब्दों का जो प्रयोग करते हैं वे ही फल प्रपत्ति वाले अधिकारी कहे जाते हैं। साधन प्रपत्ति में प्रधान कर्ता और भोक्ता शास्त्रों के द्वारा वह अधिकारी ही माना जाता है। इसी कारण उसके पीछे अनेक प्रकार के विधि विधान के नियम लगाये गये हैं। फल भाग में भी उसके लिए भेद बताया गया है जो कि पहले हम कह चुके हैं।

साधन स्वरूप भक्तियोग अधिकारी से और फल प्रपत्ति वाले अधिकारी से प्रायः बहुत से अंश में मिलान होता है। फल प्रपत्ति में प्रधान कर्ता और प्रधान भोक्ता श्री भगवान ही रहते हैं। क्योंकि साधन दशा में उस अधिकारी का भगवान ही उपाय रहते हैं याने भगवान की निर्हेतुक कृपा ही को वह साधन रूप से स्वीकार किया रहता है। इससे फल प्रपत्ति वाले अधिकारी में कर्तृत्वाभिमान नहीं माना जाता। इसका कारण फल दशा में भी इस अधिकारी का विशेष दर्जा रहता है। साधन प्रपत्ति वाला अधिकारी फल दशा में भगवान के दरबार में बहिरंग माना जाता है। क्योंकि उसके कर्त्तव्यों का प्रधान कर्ता उसने अपने को मान रखा है। और फल प्रपत्ति वाले जो अधिकारी हैं उनका प्रधान कर्ता-भोक्ता श्री भगवान ही रहते हैं। इसलिए परमपद में श्री भगवान के श्री दिव्य महल का वह अन्तरंग अधिकारी बनाया जाता है। श्रीजी, श्री लक्ष्मणजी, श्री वत्स, श्री कौस्तुभ आदि दिव्य पार्षदों के समान कोटि उसको वहां प्राप्त होती है। यह बीच में दो प्रकार की प्रपत्ति और दोनों पर परिस्थिति करने वाले अधिकारियों का साधन दशा में और फल दशा में जसा कुछ भेद शास्त्रों में बताया है वैसा मैं विवेचन किया हूँ। अब फिर भी जो फल प्रपत्ति का प्रसंग कहना शुरू किया था उसको अच्छी तरह से आगे कहता हूँ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मममाया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

यह गीता शास्त्र का सारांश भगवान की श्रीमुख वाणी है इसके जरिये इस बात का निश्चय हो चुका कि दुरत्यय भगवान की माया से तरने के लिये एक भगवान की शरणागति के सिवा कोई दूसरा सरल उपाय नहीं है। और भगवान की शरणागति में जीव मात्र का अधिकार है। भगवान की शरणागति में देश कालादि का नियम नहीं है। परन्तु एक बात का सख्त नियम है। भगवान श्रीपति में की हुई शरणागति माया से पार करती है। भगवान के सिवा यदि दूसरे की शरणागति करें तो वह शरणागति सफल नहीं होती याने माया बन्धन से नहीं छुड़ा सकती है। अतः मुमुक्षुओं के लिए शास्त्रों की आज्ञा है कि माया से पार होने के लिये एक श्री लक्ष्मीकान्त की ही शरणागति का अवलम्ब लेवे। जैसे उपनिषदों में लिखा है :—

"यो वै ब्रह्माणं बिदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तंहि देव आत्म बुद्धि प्रसादं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।"

इसका भाव यह भया कि जो परमात्मा श्री निवास आदि सृष्टि में प्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न किये और अब वेदों का ज्ञान कराये। मुमुक्षुओं को चाहिए कि माया से छूटकर परमपद जाने के लिए एक उन्हीं परमात्मा के शरण होवें। इस श्रुति वाक्य से सन्देह रहित निर्णय हुआ कि मुमुक्षुओं को माया बन्धन से छूटने के लिए एक श्री हरि की ही शरणागति करनी चाहिए। वह भगवान कैसे हैं (आत्म बुद्धि प्रसादं) "आत्म बुद्धेयव प्रसादो यस्य स आत्म बुद्धि प्रसादः तं आत्म बुद्धि प्रसादं अर्थात् निर्हेतुक कृपा करण शीलम्।" भगवान अपनी निर्हेतुक कृपा से ही आश्रितों पर प्रसन्न होते हैं अर्थात् शरणागतों से इतरावलम्ब नहीं चाहा करते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं हे महात्माओ! "दैवी ह्येषा" गीता के इस श्रीमुख वचन से तथा "योवै ब्रह्माणं विदधातिपूर्वं" इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा पक्का निश्चय हो चुका कि माया से तरने के लिए भगवान श्रीमन्नारायण की शरणागति के सिवा और कोई भी सब के लायक सरल तथा अचूक उपाय नहीं है। ये भी निश्चय हो चुका कि भगवान श्रीपति के सिवा दूसरे की शरणागति करना मुमुक्षु महात्माओं के लिए सख्त मना है। माया से तरने की

इच्छा करने वालों को दूसरे की शरणागति करने से कुछ लाभ नहीं हो सकता। "मामेव" इस श्रीमुख वाणी से यह भाव निकलता है कि शरण होने वाले अधिकारी को अकिञ्चन और अनन्यगति अवश्य होकर रहना चाहिए।

ये दो आकार जिस अधिकारी में रहेंगे उसी अधिकारी से श्री भगवान मे की हुई शरणागति काम दे सकेगी और जिस अधिकारो में ये दो आकार नही होंगे शरणागति उस अधिकारी को माया से नहीं तार सकेगी। जो उपायान्तर को त्याग कर दिया है याने साधनस्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का बिल्कुल सहारा नही पकडा है उसको अकिञ्चन अधिकारी कहते हैं और भगवान श्रीपति के सिवा जिसने स्वप्न मे भी दूसरे को अपना रक्षक नहीं माना है उसको अनन्यगति कहते हैं।

इसका खुलासा अर्थ यह भया कि भगवान के शरणागत होने के पहले शरणागत होने वाले अधिकारी को चाहिए कि उपायन्तर और रक्षकान्तर को त्याग कर दे। शरणागति करने वाले अधिकारी के लिए और किसी बात की सख्ती नहीं रखी है परन्तु इस बात के लिए तो सख्त शर्त है कि उपायान्तर तथा रक्षकान्तर त्याग देने के वाद ही भगवान की शरणागति की जाती है और उसी अधिकारी की शरणागति भगवान के द्वारा शरणागति में मानी जाती है। जो उपायान्तर और रक्षकान्तर का अवलम्ब पकडे रहते हैं और अपने को भगवान का शरणागत भी माना करते हैं उनका अपने को शरणागत मानना माया से तरने में कुछ भी सहायक नहीं बन सकता, क्योंकि उन्हों ने शरणागति का क्रम छोड दिया है। इसी लिए भगवान अपने श्री मुख वाणी से श्री गीता जी के चरम श्लोक में सब से पहिले शरणागत के लिए उपायान्तर त्याग की ही आज्ञा किये : जैसे कि :—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य"

उपायान्तर का स्वरूप क्या है, उपायान्तर में कितनी कठिनाइयाँ है तथा भगवान श्रीपति के अतिरिक्त दूसरे देवतान्तरों को अपना रक्षक मानने में कितनी हानि है। जिन लोगों ने शास्त्रों के प्रशसावाद के प्रमाणों के धोखे में आकर श्री हरि को छोड़कर दूसरे देवों को अपना रक्षक माना है वे पीछे बहुत पछिताएँगे।

इनका खुलासा निर्णय तथा अकिञ्चन, अनन्य गति किसको कहते हैं इस बात का भी भली भाँति से निर्णय शरणागति मीमांसा के पूर्व भाग में कर आये हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति को परलोक का साधन मानकर स्वतंत्रता पूर्वक जो करना है उसीको उपायान्तर तथा साधनान्तर भी कहते हैं। माया बन्धन से छूटकर परमपद जाने के लिए भगवान को तो उपाय मानते हैं और स्वरूपानुरूप कर्म ज्ञान भक्ति को कैंकर्य भावना से करते हैं उनको शरणागत अधिकारी कहते हैं। भगवान की शरणागति के बल पर माया तरने की चाहना करने वाले जो शरणागत लोग हैं वह कर्म, ज्ञान, भक्ति को छोड़ते नहीं हैं किन्तु सब करते हैं। फर्क इतना ही है कि उपायान्तरी लोग उसको परलोक का साधन मानकर करते हैं और शरणागत लोग माया से छूटकर परमपद में जाकर श्रीजी के साथ भगवान का नित्य कैंकर्य मिलने के लिए साधन तो श्री भगवान को मानते हैं और कर्म ज्ञान भक्ति को फल स्वरूप कैंकर्य भावना से करते हैं। जो साधन भावना से भक्ति को करते हैं उन्हें भक्त कहते हैं तथा उपासक भी कहते हैं। उन्ही को उपायान्तरी तथा साधनान्तरी भी कहते हैं। साधनान्तर तथा उपायान्तर अधिकारी भी उन्हीं को कहते हैं। श्री भगवान को उपाय मानते हैं और कर्म ज्ञान भक्ति को साधन भावना से न करके कैंकर्य भावना से करते हैं उनको प्रपन्न भी कहते हैं। शास्त्रों में उनका नाम भागवत भी बताया है। उसी अधिकारी का नाम श्री वैष्णव भी है। श्री वैष्णव भी शरणागत का ही नाम है। यही विषय चला है कि इसी जन्म के अन्त में दुरत्यय माया से तरकर परमपद जाने के लिए कठिन उपाय है तथा सीधा उपाय कौन है। शास्त्रों के द्वारा अनेक प्रकार से साधन भक्तियोग को अत्यन्त कठिन तथा परतन्त्र स्वरूप के विरुद्ध बताया गया है ओर भगवान की शरणागति को सबके लायक सरल से सरल अचूक उपाय निर्णय किया। आगे उसी शरणागति प्रसंग को और भी खुलासा करके कह रहा हूँ। सावधान चित्त से श्रवण करिये।

"यो वै ब्रह्माणं" इस मंत्र में यह आया है कि "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" याने मोक्ष की चाहना करने वाले अधिकारी को चाहिए कि श्री भगवान के शरण हो जाय। अब यह विचारना है कि शरण शब्द का इस प्रसंग में क्या अर्थ है। लक्ष्मी तन्त्र का वचन है कि :—

उपाये गृह रक्षित्रोः शब्दः शरण मित्ययम् ।
वर्तते साम्प्रतं चैष उपायार्थैक वाचकः ॥

इसका भाव यह भया कि यद्यपि शरण शब्द का तीन अर्थ होता है एक तो रक्षक, दूसरा मकान तीसरा उपाय। परन्तु जहाँ जहाँ शरणागति के प्रसंग मे शरण शब्द आवे वहाँ वहाँ इसका अर्थ उपाय समझना चाहिए। इससे 'मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इसका खुलासा यह अर्थ भया कि माया बन्धन से छूटने की इच्छा से मैं परमात्मा के शरण होता हूँ। याने संसार बन्धन से छूटकर परमपद में जाने के लिए प्यारे परमात्मा को उपायत्व करके स्वीकार करता हूं। इससे यह सिद्ध हुआ कि माया से तरने के लिए भगवान को उपायत्व करके स्वीकार करके रहना इसीका नाम भगवान की शरणागति करना है। जहाँ जहाँ यह शरणागति का प्रसंग आवै वहाँ वहाँ यही अर्थ समझना चाहिए। बड़ो का तथा शास्त्रो का यह भी कहना है कि भगवान की निर्हेतुक कृपा का भरोसा संसार सागर से पार होने के लिए रखना इसीका नाम भगवान की शरणागति करनी है। चाहे भगवान को उपायत्व करके स्वीकार करना या भगवान की निर्हेतुक कृपा के भरोसे रहना ये सब एकी बात है। 'दैवी ह्येषा" इस श्लोक में भगवान आज्ञा किये हैं कि दुरत्यय हमारी माया से तरने के लिए एक हमारी ही शरणागति अचूक उपाय है। इसी प्रसंग को लेकर "श्री रामायण" में श्री हनुमानजी के द्वारा महात्मा तुलसीदासजी कहवा रहे हैं कि :—

चौ०—नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेइ छोहा ॥

श्री हनुमानजी श्री रघुनाथजी से प्रार्थना करते हैं कि हे सरकार ! हे नाथ ! यह जीव आपकी दुरत्यय माया से मोहा हुआ है। इसका निस्तार तो आप ही के छोह से हो सकता है याने आपकी निर्हेतुक कृपा बिना इससे यह कभी छूटकारा नहीं पा सकता।

श्री देवराज गुरु कहते है कि श्री गीता के "दैवी ह्येषा" इस श्लोक के प्रसंग से और इस चौपाई के प्रसंग से पूरा-पूरा इस बात का मिलान होगया कि भगवान की निर्हेतुक कृपा के बल से माया से तरने का भरोसा करना या भगवान की शरणागति के बल से, दोनो एकी बात है। और भी महात्मा श्री तुलसीदासजी कहते हैं :—

"माधव अस तुम्हारि है माया ।
करि बिचार पचि मरिय तरिय नहिं जबलौं करहु न दाया ।"

फिर भी दूसरे भजन में कहते हैं कि :—

"अस कछु समझिपरै रघुराया ।
बिन तव कृपा दयाल दास हित मोह न छूटै माया ॥"

इन पदों से भी यही निश्चय हुआ कि दुरत्यय यह जो भगवान की माया है सो भगवान की निर्हेतुक कृपा के सहारा से ही छूट सकती है। "नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेइ छोहा ॥" इस चौपाई से यही सारांश निकला कि दुरत्यय माया से पार हो जाने के लिए जिसकी इच्छा हो उसको चाहिए कि एक श्रीरघुनाथजी की निर्हेतुक दया का ही सहारा लेवे। साथ ही साथ ये भी याद रखे कि भगवान की निर्हेतुक दया का सहारा लेने वालों का माया बन्धन से जरूर छुटकारा हो जाता है। परन्तु निर्हेतुक दया का यह स्वभाव है कि वह दूसरे उपाय की गन्ध तक भी नहीं सह सकती है। इसीलिये आगे की चौपाई में झट कह दिये कि :—

तापर श्री रघुबीर दुहाई। जानौं नहिं कछु भजन उपाई ॥"

पहली चौपाई में प्रार्थना किये कि हे नाथ ! आपकी माया से मोहा हुआ जो जीव है सो आपही की कृपा से छुटकारा पा सकता है। याने मुझे तो माया मोह से छूटने के लिए आपकी कृपा के सिवा स्वप्न में भी दूसरा अवलम्ब नहीं है। दूसरी चौपाई में प्राथना करते हैं कि हे श्री रघुनाथजी सरकार ! मैं तो सरकार की शपथ करके कहता हूं कि एक सरकार की कृपा के सिवा दूसरा भजन उपाय जानता तक भी नहीं हूँ। श्री हनुमानजी के श्रीमुख से निकली इन दो चौपाइयों के द्वारा पूरा पूरा शरणागति का स्वरूप निर्णय हुआ। उपायान्तर त्याग पूर्वक ही भगवान को या भगवद्दया को उपाय मानकर रहेंगे, वही मोह माया से छूटकर अवश्य परमधाम को जायेंगे।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! बहुत परमपद तो चाहते हैं और शरणागति-

का नाम सुनकर चिढ़ते हैं। ऐसे अधिकारी को माया बन्धन से किस तरह छुटकारा हो सकेगा। श्री गीताजी में तो श्री भगवान अपने श्रीमुख से आज्ञा किये हैं कि :—

"ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्तिभूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥"

अर्जुनजी से आज्ञा करते हैं कि हे अर्जुन ! जिस अनादि परमात्मा के जरिये इस ससार के पोषण पालन की प्रवृत्ति चल रही है प्रथम उसी आद्य परमपुरुष परमात्मा की शरण कर लेवे। उसके बाद जहां पर जाकर फिर ससार चक्र में नहीं आना होता है उस परमपद के मार्ग का अन्वेषण करें। भगवान की इस श्रीमुख वाणी से यह भाव निकलता है कि शास्त्र नियम के अनुसार परमात्मा की शरण हुए बिना चाहे कितना भी कोई परिश्रम क्यो न करे परन्तु उस परमपद के रास्ते का पता नहीं पा सकेगा। "दैवी ह्येषा" इस श्लोक में "मामेव" यह पद आया है और "ततः पदं" इस श्लोक में "तमेव" पद आया है। इन दोनों से यह भाव निकलता है कि एक परमात्मा की ही शरणागति से माया बन्धन छूट सकता है और परमात्मा के ही शरणागतों को परमपद का रास्ता मिल सकता है। इससे जिसको परमपद की इच्छा हो उसको सबसे पहिले चाहिए कि प्यारे परमपदनाथ के श्री चरणों की शरण हो जाय। साधनस्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग की कठिनता को तथा उसकी शर्तों को श्रवण करके जब अर्जुनजी घबड़ाये तो फिर भगवान आज्ञा किये कि :—

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

इत्यादि—

तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं चाप्स्यसि चाव्ययम्॥

अर्जुन ! सब जीवों के भीतर अन्तर्यामी रूप से परमात्मा विराजते हैं। यदि साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग की कठिनता से तथा उसके शर्तों के पालन से घबड़ाते हो तो सब जीवों के अन्दर अन्तर्यामी रूप से विराजते हुए जो परमात्मा हैं सर्व भाव से उन्हीं की

शरणागति कर लो। जब तुम उनके शरणागत हो जावोगे तो उनके अनुग्रह से जब तक संसार में रहोगे तब तक भी तुम्हें परम शान्ति रहेगी और अन्त में उन्हीं के अनुग्रह से तुम्हें विकार रहित जो उनका परमधाम है वह भी प्राप्त हो जायगा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं हे महात्माओ! इस श्लोक में भी "तमेव" तथा "सर्वभावेन" यह पद आया है। इसका यही भाव भया कि जिसको भगवान के अनुग्रह बल से परमशान्ति पाने की इच्छा हो और भगवान की ही कृपा के बल से परमधाम लेना हो उन्हें चाहिए कि भगवान के शरणागत होकर के रहे। परन्तु शरणागत होने वाले अधिकारी को चाहिए कि भगवान की शरणागति के सिवा इतर उपायों का मन से भी अवलम्ब न लेवे। यह जो शरणागति योग है सो सब शास्त्रों का सारांश विषय है। भगवान जब अर्जुनजी को अट्ठारह अध्याय गीता का उपदेश कर दिये उसके बाद बोले कि :—

"इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥"

इसका यह भाव भया कि साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग का स्वरूप उसकी कठिनता और हद से ज्यादा जीवों की परतन्त्रता, हे अर्जुन! इस सब बातों को खुलासा करके तुम्हें अट्ठारह अध्याय में समझा दिया हूँ। यह गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान है। इसको अच्छी तरह से मन से विचार कर लो। इसमें जो तुम्हें अच्छा मालूम पड़े उस पर अपनी परिस्थिति कर लो।

इस प्रकार भगवान के श्रीमुख से जब अर्जुन ने सुना तब उनका मुख सूख गया। बहुत सोच में पड गये। सोच में पड़ने का यह कारण है कि साधन स्वरूप इन तीनों योगों को करने में अपने को अत्यन्त असमर्थ देखा। क्योंकि एक जगह तो प्रभु ने आज्ञा किया कि साधन रूप से कर्म करो। फिर तुरन्त ही कहा कि "गहना कर्मणोगतिः" याने हे अर्जुन! कर्म की गति बहुत गहन है।

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।"

कर्म क्या है और अकर्म क्या है इसको समझने में कवि लोग भी मोहित हो जाते हैं। फिर कहा कि :—

"असंयतात्मनायोगो दुष्प्राप इति मे मतिः।"

हे अर्जुन! जिसकी मन इन्द्रियाँ काबू में नहीं हैं उस अधिकारी से यह कर्मयोग सिद्ध ही नहीं हो सकता, ज्ञान योग तो बहुत जल्दी पवित्र करने वाला है परन्तु :—

"तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति"

जिसका कर्मयोग नही सिद्ध हो पाया है उस अधिकारी को ज्ञानयोग प्राप्त ही नहीं हो सकता। फिर आज्ञा किये कि :—

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"।

हे अर्जुन! शास्त्र बहुत समझाता है कि इस बात को करो, इस बात को छोडो। परन्तु शास्त्र का उपदेश क्या करेगा। क्योंकि जिसकी जो प्रकृति पड गयी है उसी तरफ उसका खिंचाव होता है। फिर भगवान आज्ञा किये कि :—

हर्षामर्ष भयोद्विग्नैर्योमुक्तः स तु मे प्रियः"।

अर्जुन! साधन स्वरूप भक्तियोग वाला अधिकारी भी अच्छा है परन्तु उन अधिकारियों में भी हमें वह प्रिय है जिसको प्राकृत चीज पाकर कभी हर्ष नहीं होता है, किसी का व भव देख के ईर्षा नहीं उत्पन्न होती, कभी किसी बात से जिसको भय नहीं होता, जिसके मन में उद्वेग नहीं आता ; ऐसे लक्षण वाले जो भक्त हैं वह प्रिय हैं। फिर भगवान आज्ञा किये कि साधन स्वरूप भक्तियोग जिसका सिद्ध हो जाता है वह संसार बन्धन से छूट जाता है। जिसका साधनस्वरूप भक्तियोग सिद्ध हो जायगा, उसको जरूर मरते समय हमारा ध्यान स्मरण आवेगा। जो साधनस्वरूप भक्तियोग का अधिकारी अन्त में मेरा स्मरण करता हुआ शरीर छोडेगा उसको परमगति होगी याने मुक्ति होगी। यदि ऐसा नहीं होगा तो अन्त में उस अधिकारी का जहाँ कहीं मन जायेगा वहां हीं उसको जन्म लेना पडेगा। जैसे जडभरतजी को अन्त में हरिण के बच्चे में मन जाने के कारण हरिणी के गर्भ में जाना पडा

"अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥"
"यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ॥"

इन दोनों श्लोकों का वही भाव है जो कि पहले कह चुके हैं। मध्य में अर्जुनजी ने एकवार भगवान से पूछा था कि भगवान ! आप तो कहते हैं कि मन को वश किये बिना कर्मयोग सिद्ध नहीं होगा । परन्तु :—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥"

मन तो बहुत ही चञ्चल है, दुःख देने वाला है और हद्द से ज्यादा बलवान है । जैसे वायु का रोकना असम्भव है उसी प्रकार मन को भी वश करना महा अशक्य है। अर्जुनजी के वचन सुनकर भगवान भी यही कहे कि अर्जुन ! यह संशय रहित बात है। मन बहुत चञ्चल है, इसको वश में करना बड़ा मुश्किल है। परन्तु साधनस्वरूप कर्म, ज्ञान, भक्तियोग के बल से तरने की इच्छा करने वालों को चाहिए कि पूर्ण अभ्यास से और प्रबल वैराग्य के बल से इसको अवश्य वश करें ।

सावधान पूर्वक साधनयोग को करता हुआ भी अधिकारी यदि कभी मनके झपेटे में आजायगा तो उसका साधन सिद्ध नहीं होगा। उसे ससार में जन्म लेना पड़ेगा । हाँ ! किसी साधन योग वाले के कुल में जन्म पाकर फिर भी पूर्वाभ्यास से अपने साधन को सिद्ध करने में प्रवृत होगा। इस प्रकार अनेक जन्मों तक करता-करता जब कभी उसका साधन सिद्ध होगा तभी परमगति को जायगा। यह सब जिम्मेवारी उस साधनयोग को करने वाले अधिकारी पर है ।

इस प्रकार अट्ठारह अध्यायों में भगवान के श्रीमुख से अर्जुनजी ने ज्ञान सुना। बाद श्री भगवान यह भी कहे कि "यथेच्छसि तथा कुरु" सब साधन करने की जिम्मेदारी अर्जुनजी के

ऊपर ही रख दिये "यथेच्छसि, तथा कुरु" इसको कहकर भगवान चुप बैठ गये। अर्जुनजी भी मौन धारण कर सोचने लगे कि मैं कौनसा साधन करूँ। यदि कर्मयोग पर परिस्थिति करूँ तो भगवान के श्रीमुख से कहा हुआ है कि "गहना कर्मणो गतिः" याने कर्म की गति बडी दुर्ज्ञेय है और उसमें कवि लोग भी मोहित हो जाते हैं। जब कर्म की गति दुर्ज्ञेय है, उसका पूर्ण स्वरूप ही जानना मुश्किल है फिर पूर्णरूप से कर कैसे सकेंगे। यदि किसी प्रकार साहस करके इसमें प्रवृति करना चाहें तो श्रीमुख आज्ञा है कि मन वश किये बिना कर्मयोग सिद्ध ही नहीं हो सकता। इसमें मन वश करने का अड़ंगा पहले रखा है। यदि मन वश करने चलें तो श्री भगवान के श्रीमुख से ऐसा हुआ है कि यह मन चञ्चल है और निःसन्देह दुर्निग्रह है। यदि इसको वश करने का उपाय करें तो श्रीमुख से आज्ञा हुई है कि :—

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"।

जिसकी जैसी प्रकृति पड गई है उसी तरफ उसका खिचाव होगा। तो हम तो मन वश करने का अभ्यास करने चलें और बीच में न जाने प्रकृति किधर खिचाव कर दे। मन वश करके किसी प्रकार दो चार वर्ष साधनयोग को सिद्ध करने में भी लगें फिर भी किसी तरह मन के झकोरे में पड जाय तो मुक्ति न होकर फिर दुनियां में जन्म लेना पड़े। यदि आगे जन्म की आशा लेवें तो किस भरोसे पर। वहां भी मन तो साथ ही रहेगा। खुद श्रीमुख से आज्ञा हुई कि "अनेक जन्म ससिद्धः" जब कि अनादि से आज तक असंख्य जन्म बीत चुके और मुक्ति मिलने का ठिकाना नहीं हुआ फिर आगे का क्या ठिकाना। भगवान के श्रीमुख से ही जब अनेक जन्म बताया जा रहा है तो अनेक जन्मों की बारी कब आयेगी इसका क्या पता। मन इन्द्रियां ये सब साधनयोग के सिद्ध होने में बाधक हैं। ये एक से एक अति प्रबल हैं। इन दुष्टों का प्राबल्य देखते हुए साधनयोग हमारे द्वारा सिद्ध होगा इस बात पर किसी तरह भरोसा आता ही नहीं है। यह तो हुआ कर्मयोग का चक्र व्यूह। यदि कहें कि इसको छोडकर ज्ञानयोग से आत्मा का कल्याण कर लेवें तो श्रीमुख की आज्ञा है कि :—

"तत्स्वयं योग संसिद्ध कालेनात्मनि बिन्दति"

जिसका कर्मयोग सिद्ध ही नहीं हुआ है उसे ज्ञानयोग प्राप्त नहीं हो सकता। शास्त्रों

में ज्ञानयोग को भी मुक्ति का साधन बताया है। जैसे "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती। परन्तु उसमें भी सख्त नियम यह है कि :—

"नाविरतो दुश्चरितात्प्रज्ञाने नैनमाप्नुयात"

जब तक साधक में लेश मात्र भी दुश्चरित्र रहेगा तब तक कितना भी ज्ञान कहा सुना करे परन्तु उसकी मुक्ति नहीं होगी। शास्त्रों की यह सख्त आज्ञा है कि पहिले मन, बचन, कर्म से दुश्चरित्रों को छोड़ दे उसके बाद ज्ञानयोग का साधन करे। ज्ञानयोग का भरोसा लेने में बड़ी-बड़ी रुकावटें पड़ी हुई हैं। दुश्चरित्र को त्यागे विना ज्ञानयोग से कुछ लाभ नहीं होगा और जिसका मन तथा इन्द्रियाँ काबू में नहीं हैं वह अधिकारी किस तरह मन, बच, कर्म से दुश्चरित्रता से बच सकता है इसको परमात्मा ही जाने। इससे इस ज्ञानयोग के भरोसे पर भी आत्मा का कल्याण होना महा असम्भव सा दीख रहा है। अब रहा साधन स्वरूप भक्तियोग का प्रसंग उसके बाबत भगवान के श्रीमुख से आज्ञा हुई है कि जो हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि से रहित है ऐसा भक्त हमारा प्रिय है। इस नियम के अनुसार भी भगवान का प्रिय बनना बड़ा मुश्किल है क्योंकि दुनियाँ में ऐसा कौन चेतन है कि इन चारों दुर्गुणों से रहित है। हर्ष, ईर्षा, भय, उद्वेग तो रात दिन आत्मा के पीछे पड़े हुए हैं। किसी प्रकार इन दुर्गुणों से छूटने की कोशिश भी करे तो सिर्फ उतने ही से काम नहीं चल सकता। क्योंकि 'साधन स्वरूप भक्तियोग बल से तरने की इच्छा करने वाले अधिकारियों के लिए भगवान की तरफ से ही यह सख्त शर्त रखी हुई है कि :—

"अन्तकाले तु मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरं।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम्॥"

मरते समय मेरा ही स्मरण करता हुआ जो भक्तियोग निष्ठाधिकारी शरीर छोडेगा उसीको परमगति की प्राप्ति होगी। यदि ऐसा नहीं हुआ और कहीं दूसरी जगह चित्त चला गया तो फिर वहाँ ही उसको जन्म लेना पड़ेगा जैसे जडभरतजी का हुआ।

अर्जुनजी अपने मन में सोच रहे हैं और मन हीं मन कह रहे हैं कि साधन भक्तियोग

कहने सुनने में तो अच्छा लगता है परन्तु भगवान की तरफ से इसमें जो अन्तिम स्मृति की शर्त है सो हम काल, कर्म, गुण, स्वभाव आदि के पराधीन चेतनों के लिये बड़ी ही मुश्किल की बात है। मोह माया के अत्यन्त पराधीन यह चेतन "मैं अन्त में भगवान का स्मरण ही करके मरूँगा" इस बात की कैसे प्रतिज्ञा कर सकता है। न जाने किस समय कौन से रोग से होश में या बेहोश में यह प्राण निकलेगा। फिर अन्तिम स्मृति की शर्त्त, इस पराधीन जीव के लिये पालन करना तो महामुश्किल है। मरते समय मे प्राण पीड़ा रहेगी, मृत्यु का भय रहेगा। हरेक प्रकार से हृदय में घवडाहट न्यारी ही रहेगी। जन्म भर का अनेक प्रकार से पाला-पोषा हुआ शरीर आज श्मशान भूमि पर बुरी तरह से जला दिया जायगा। इसबात की भयंकर चिन्ता मरते समय बनी ही रहेगी। सारे कुटुम्ब के लोग उस वक्त दुखित रहते हैं। बहुत से अधीर होकर रोते रहते हैं। बहुत से मरते हुए बन्धु से, चिल्ला चिल्लाकर उस वक्त अधीर होकर कहा करते हैं कि तुम हम लोगों को छोड़ कर चले जाते हो, हम लोगों की क्या दशा होगी। एक तो खुद ही वह चेतन प्राण पीडा से व्यग्र रहता है फिर उन कुटुम्बियों की चिल्लाहट सुनकर हृदय में दुपट घबड़ाहट छाजाती है। एक शरीर छूटने का मोह, दूसरे कुटुम्बों के छूटने का मोह। प्राण से बढकर के जिन स्त्री पुत्रादिकों पालन किया वे सब आज परवश छूट रहे हैं। उन लोगों के छूटने का व्यामोह उसको न्यारा ही सता रहा है। जन्मभर की कमाई हुई सारी सम्पत्ति आज हाथ से परवश छूट रही है। इस बात की बेचयनी और बेहोशी बढती जा रही है। इस प्रकार से परवश मरने वाला चेतन किस प्रकार से प्रतिज्ञा करके कह सकता है कि मैं मरते समय भगवान का ही ध्यान स्मरण करता हुआ शरीर छोडूँगा। श्री अर्जुनजी मन में सोचते हुए कह रहे हैं कि साधनस्वरूप भक्तियोग के बल से भी मुक्ति मिलना महा असम्भव है। तीनों योगों के बल से तो हमें विश्वास नहीं है कि यह परवश जीव कभी मुक्ति ले सके। क्या करें क्या न करें इसमें दिमाग चक्कर खाता है। यदि करने की हिम्मत करूँ तो तीनो योगों में इतनी शर्तें हैं कि किसी प्रकार से इस परवश जीव से उनका पालन परिपूर्ण रीति से होही नहीं सकता। यदि न करें तो भी नहीं बनता। खास भगवान ने उपदेश किया है इसलिए त्यागना भी ठीक नहीं स्वतन्त्रतापूर्वक तीनों योगों के करने में किसी तरह भी सिद्ध होने की सम्भावना नहीं दीखती और अचिद्वत्परतन्त्र रूप

आत्मस्वरूप से भी विरुद्ध है। इस प्रकार संशयात्मक अनेत बातों को बिचार करते हुए अत्यन्त शोकाविष्ट अर्जुन को देखकर कृपासागर भगवान बोले कि अर्जुन! साधनस्वरूप इन तीनों योगों की कठिनाइयों को श्रवण करके और अपने को उसके करने में असमर्थ जानकर और अत्यन्त परतन्त्र आत्मस्वरूप के बिरुद्ध इन साधनों को समझकर क्या करूँ क्या न करूँ, इस बिचार में जो तुम व्यग्र हो रहे तो यह ठीक ही है। तुम्हारा सोचना यथार्थ है। वास्तव में ये तीनों योग बहुत हीं कठिन हैं। मैं भी जानता था कि अत्यन्त परतन्त्र इस चेतन से वह बनना असम्भव ही है और वास्तव में परतन्त्र स्वरूप के विरुद्ध भी है। परन्तु इन तीनों का स्वरूप और कठिनाइयां यदि भलीभांति हम नहीं समझाते तो शायद तुम्हारे मन में यह रह जाता कि क्या कठिन उपाय हमसे नहीं हो सकते थे कि भगवान ने हमको इतना सुलभ उपाय बताया? तुम में इस बात का भ्रम न आजावे इसलिए मैने पहिले कठिन उपायों का ही उपदेश किया। अब तुम इन उपायों की कठिनाइयों को खूब समझ गये और इनके चक्रव्यूह से खूब घबड़ा भी गये हो। इसलिए सब के लायक तुम्हारे परतन्त्र स्वरूप के अनुरूप इसी जन्म के अन्त में परमपद में पहुँचा देने वाला अत्यन्त सरल अचूक उपाय बताता हूं सावधान होकर सुनो :—

"सर्वगुह्यतमं भूयः श्रुणु मे परमं बचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

हे अर्जुन! अब आगे जो उपाय कह रहा हूँ इससे अवश्य ही तुम्हारा हित होगा। यह अचूक उपाय है। अकिञ्चन और अनन्य गति जो अधिकारी हैं उनको मैं अपना इष्ट मानता हूँ जो उपायान्तर रक्षकान्तर त्याग पूर्वक हमको ही उपायत्व करके स्वीकार करते हैं और मेरे ही ऊपर अपने रक्षण का भार छोड़ देते हैं, वे ही अकिञ्चन और अनन्यगति अधिकारी कहे जाते हैं। इससे तुम हमारा इष्ट हो। जितना भी पीछे मैं तुम्हें उपदेश दे आया हूँ उन सबों से यह उत्कृष्ट बचन है। अभी तक जो ज्ञान कह आये वह गुह्य और गुह्यतर था। अब जो बताता हूँ यह सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। शास्त्रों में कहीं भी जो ज्ञान आये हैं उन सब से यह गुह्यतम विषय है। जो गोप्य चीज है उसे गुह्य कहते हैं। जो कुछ ज्यादा गोप्य है

उसे गुह्यतर कहते हैं और जो बहुत गोप्य है उसे गुह्यतम कहते हैं। और जिस ज्ञान को अत्यन्त परीक्षा करके महान् मुमुक्षु अत्यन्त परीक्षित करोडों मे अति श्रद्धावान एक किसी अधिकारी को ही दे सकते हैं। इसको सर्वगुह्यतम ज्ञान कहते है। आज तुम्हे वही ज्ञान मैं बता रहा हूं।

जिस शरणागति को तीन श्लोकों मे सूक्ष्मरूप से बता आया हूँ उसीको विस्तार से कह रहा हूँ। साधनस्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग की कठिनाइयों को देखकर और उसके करने में अपने को असमर्थ जानकर जो तुम सोच में पड रहे हो उसका त्याग दो और जो तुम्हारे स्वरूप के अनुरूप है जिसको तुम आसानी के साथ कर सकते हो ऐसा उपाय बताता हूँ उसको तुम करो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इसका अर्थ छन्द में :—

धर्मों में साधन भाव तजि कैंकर्य की करि भावना।
मुझको ही साधन मानिरहु यदि परमपद है पावना ॥
मत्प्राप्ति प्रतिबन्धक अघों से अवशि तोहि छुड़ाऊँगा।
मति शोचु निश्चय परमपदमें भी तुम्हें पहुंचाऊँगा ॥

अभी तक कर्म, ज्ञान, भक्ति रूप जिन धर्मों को तुम्हें मोक्ष का उपाय करके मैंने बताया था उन धर्मों में से उपाय भावना हटाकर कैंकर्य भावना से किया करो और संसार बन्धन से छूटकर परमपद जाने के लिए एक मेरी शरणागति का अवलम्ब पकडो। शरणागति के अवलम्ब पकड़ने का यह भाव भया कि एक हमको ही उपायत्व करके स्वीकार कर लो। याने इतरावलम्ब त्याग पूर्वक एक मेरी निर्हेतुक कृपा के ऊपर अपनी परिस्थिति कर लो। इस प्रकार कैंकर्य भावना से धर्मों को करते हुए इतरावलम्ब त्यागपूर्वक आत्मोज्जीवन का सर्व स्वभार यदि हमारे ऊपर छोड कर रखोगे तो हमारी प्राप्ति में विघ्न करने वाले जितने तुम्हारे पाप हैं

उन सभी पापों से मैं तुम्हें छुड़ा दूंगा और तुम्हारा अभीष्ट जो मेरी प्राप्ति है उसे भी अवश्य करा दूंगा। अब तुम्हें बिल्कुल सोच करने की जरूरत नहीं है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु महात्माओ! सब गीता शास्त्र का सारभूत यह चरम श्लोक है। सब गीता शास्त्र में मोक्ष के उपाय रूप से जितने धर्म कहे गये हैं उन्हें भगवान गुह्यतर ज्ञान कहते हैं और "सर्वधर्मान्" इस श्लोक में परमपद मिलने के लिये शरणागति योग को जो उपाय करके बताये हैं इस उपाय को सर्वगुह्यतम उपाय निर्णय किये हैं। इसका खुलासा यह भाव भया कि इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटकर परमपद जाने के लिये श्री भगवान की शरणागति से बढ़कर कोई भी सबके लायक सीधा और अचूक उपाय नहीं है। अपने कर्त्तव्य बल से संसार बन्धन से पार होने की इच्छा रखना और उपाय रूप से भक्तियोग अनुष्ठान करना इसीका नाम भक्ति है। और अपने कर्त्तव्य की आशा छोड़ कर श्री भगवान की कृपा के भरोसे पर इस दुरत्यय माया से पार होकर परम पद में जाकर श्री परमात्मा की नित्य सेवा मिलने की आशा रखना इसी का नाम शरणागति है। शरणागति को ही प्रपत्ति भी कहते हैं जो लोग इतरावलम्ब त्यागपूर्वक श्री भगवान की शरणागति का दृढ़ भरोसा पकडकर रहते हैं उन लोगों के लिये शास्त्रों के नियम के अनुसार इसी जन्म के अन्त में भगवान को अवश्य परमपद देना ही पडता है। यद्यपि शरणागति योग में भी शरणागतों के लिये मन तथा इन्द्रियों को वश करके रहने के लिए नियम हुई है। शरणागत होने के बाद जान करके शास्त्र विरुद्ध विषयों में प्रवृत्त होने के लिए शास्त्रों की तरफ से मनाई भी हुई है। बडों की तो यहां तक आज्ञा है कि साधन भक्तियोग वाले अधिकारियों की अपेक्षा शरणागतों को ज्यादा वैराग्य की आवश्यकता है क्योंकि उन लोगों को अनन्य भोग्य जो आत्मा का स्वरूप है इसका शास्त्रों के वचनानुसार बडों के द्वारा पूरा ज्ञान करा दिया गया है। तो भी इतरावलम्ब त्यागपूर्वक जो श्री भगवान के शरण हो चुके हैं उन आश्रितों के तरफ श्री भगवान का अत्यन्त झुकाव तथा ज्यादा व्यामोह देखकर परमात्मा के उन प्यारे शरणागत मुमुक्षुओं के लिए कुछ विशेष नियम शास्त्रों को करना पडा। वह यह है कि—

"कौटिल्ये सतिशिक्षया प्यनघयन्कोडी करोति प्रभु।"

इसका यह भाव भया कि शास्त्रों के मनाई करने पर भी और उसके अनुसार सदा मम्हल के रहने पर भी इस प्राकृत शरीर में रहने के कारण :—

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति"

इस श्रीमुख वचन के अनुसार यदि जानकर कुछ अपराध किसी शरणागत के द्वारा अनिवार्य स्वभाव के कारण परवश कदाचित हो जायगा तो साधनस्वरूप भक्तियोग वाले अधिकारी उपासक भक्तों के समान उस शरणागत महात्मा का पुनर्जन्म तो नहीं होगा किन्तु इसी शरीर से किसी प्रकार भी उन अपराधों का फल भोगाकर शरीर छूटते समय उस प्रपन्न को कृपासिन्धु शरणागत वत्सल श्री भगवान अगीकार कर लेते हैं। शास्त्रों के द्वारा उपासक भक्तों की अपेक्षा शरणागत मुमुक्षुओं के लिए इतनी विशेषता रखी गई है। क्योंकि उपासकों के लिए "असयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः" मन वश हुए विना कर्म, ज्ञान, भक्तियोग की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार शास्त्रों का अटल सिद्धान्त भगवान ने बताया है।

"तस्मात्त्वमिन्द्रयाण्यादौनियम्यभरतर्षभ"

इससे उपासक अधिकारियों को चाहिए कि सबसे पहिले मन इन्द्रियों को भलीभाँति वश में कर लेवे क्योंकि उसके बिना किसी तरह भी उसका साधन सिद्ध ही नहीं हो सकता है। जब सिद्ध ही नहीं हो पायेगा तो फिर उसको फल कैसे मिल सकेगा। परन्तु शरणागत के लिए तो इस अंश की अत्यन्त सख्ती नहीं है। परन्तु एक बात को तो शरणागतों के लिए भी सख्त शर्त हुई है, वो यही है कि उपायान्तर, रक्षकान्तर त्याग करके ही श्री भगवान की शरणागति करनी चाहिए। जिस प्रकार मन, इन्द्रिय वश किये विना कितना भी साधनयोग में परिश्रम करे परन्तु वह सिद्ध होता ही नहीं है। उसी प्रकार उपायान्तर त्याग किये बिना चाहे कितना भी भगवान की शरणागति किया करे या भले ही अपने को शरणागत माना करे या मैं भगवान का शरणागत हूं इस प्रकार भले ही ताजिन्दगी पुकारा करे परन्तु भगवान की तरफ से उसकी शरणागतों में गिनती होती ही नहीं है। क्योंकि जहां-जहां शरणागत होने के लिए भगवान ने चेतनों को आज्ञा दी है, वहाँ वहाँ इस बात की पहिले ही शर्त

रख दिया है कि इतरावलम्ब त्याग करके ही हमारी शरणागति करो तब तो शरणागति फल दे सकती है नहीं तो नहीं। जैसे :—"मामेव ये प्रपद्यन्ते" "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत्" "तमेव शरणं गच्छ" "मामेक मेव शरणं" इत्यादि सभी श्रीमुख वचनों में एवकार पद आया है उसका यही मतलब है कि हे चेतनो ! इतरावलम्ब त्यागपूर्वक ही हमारी शरणागति का अवलम्ब पकड़ो। इतरावलम्ब त्याग किए बिना यदि शरणागति करोगे तो वह पूर्ण रूप से काम न दे सकेगी। उन पूर्वोक्त श्लोकों में सूक्ष्मरूप से इतरावलम्ब त्यागने की आज्ञा दी है। श्रीगीताजी के इस चरम श्लोक में तो खुलासा बतादी है कि उपायान्तर त्यागपूर्वक ही हमें उपायत्व करके स्वीकार करे। जैसे कि :—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज"

इसका अर्थ यही भया कि पहिले उपायान्तर को त्याग करो उसके बाद हमारी शरणागति करो तब मैं सब पापों से छुड़ाकर तुम्हें परमपद में ले चलूँगा। यदि उपायान्तर त्याग पूर्वक हमारी शरणागति तुमने कर ली तो फिर अपने उद्धार के बाबत बिलकुल तुम्हें सोचने की जरूरत नहीं है। सारांश कहने का यही आया कि शरणागति योग सरल जरूर है। माया बन्धन से छूट जाने के लिये उपाय भी सुलभ से सुलभ है। अधिकारी के लिए इसमें किसी प्रकार का झंझट भी नहीं है। इसी जन्म के अन्त में मोक्ष भी मिल जाता है। सब प्रकार से सबके लिए शरणागति योग से सुलभ कोई भी उपाय नहीं है। परन्तु इसी बात का इसमें सख्त नियम है कि अन्य किसी भी धर्म का मन से भी अवलम्ब यदि पकड़ा रहे तो यह शरणागति योग काम नहीं देता। इसलिए शरणागत अधिकारियों को चाहिए कि कर्म, ज्ञान, भक्ति, जप, तप, तीर्थ, व्रत, दान, पाठ, पूजा, श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सेवा, सख्य, आत्मनिवेदन, भगवदाराधन, भागवतार्चन इत्यादि धर्मों का बिल्कुल जड़ मूल से अवलम्ब छोड़ के भगवान की शरणागति करे। भगवान की यही आज्ञा है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु महात्माओ ! "सर्वधर्मान्परित्यज्य" गीता के सारभूत इस चरम श्लोक में भगवान खुद श्रीमुख से शरणागत होने वालों के लिए आज्ञा करते हैं कि शरण होने वालों को चाहिए कि सबसे पहिले सर्वधर्मों का परित्याग कर दे बाद हमारी

शरणागति करे। देखिए, इस श्लोक का अर्थ समझने में बहुत सावधानता रखनी चाहिए नहीं तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाय। क्योंकि पहिले श्रीमुख से भगवान आज्ञा कर आये हैं कि :—

"धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"।

याने हे अर्जुन! धर्मों की स्थापना के लिये युग युग में मैं अवतार धारण करता हूँ। और वही भगवान कहते हैं कि :—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य"

याने सब धर्मों का परित्याग करके हमारी शरणागति करो। इन दोनों श्रीमुख वाणी की संगति लगाकर इस प्रसग को सुलझाना चाहिए। बहुत ऐसे हैं कि बड़ों के द्वारा तो इसका अर्थ सुने नहीं, स्वयं संगति लगा नहीं सकते इससे अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। ये नहीं जानते कि शास्त्रों की शैली बिना भगवत्कृपा पात्रों के कोई नहीं लगा सकता है। बड़े-बड़े भगवत्कृपापात्र शरणागति शास्त्र के पारंगत महापुरुषों ने इस प्रसग की जिस प्रकार सगति लगाई है उसी प्रकार आप लोगों की सेवा में निवेदन करता हूं। यह शरणागतों के लिए अत्यन्त जरूरत की चीज है। यह जाना तो सब जाना। बहुत शरणागत भलीभांति इस प्रसंग को सद्गुरुओं के द्वारा नहीं समझ लेने के कारण शरणागति से मिलने वाले फल से बञ्चित रहजाते हैं। इससे इस प्रसग को कहते सुनते समय चित्त को एकाग्र कर लेना चाहिए। भगवान का श्रीमुख बचन है कि :—

"नहिं देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्य शेषतः।
यस्तु कर्मफल त्यागी सत्यागी त्यभिधीयते॥"

भाव यह भया कि हे अर्जुन! देहधारी मात्र किसी प्रकार भी सब कर्मों का त्याग नहीं कर सकते, इससे भगवत् आज्ञा मानकर जो स्वरूपानुरूप कर्मों को करते हैं और उसके फलों की चाहना नहीं करते हैं इसीका नाम कर्मों का त्याग है।

"अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।"

अर्जुन ! जिन लोगों का अहंकार से आत्मा मलीन हो गया है वे ही अपने को स्वतन्त्र कर्ता मानते हैं। भगवान की इस श्रीमुख वाणी से "सर्वधर्मान्परित्यज्य" इस पद का यही अर्थ भया कि स्वरूपतः तो धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए किन्तु स्वरूपानुरूप धर्मों को करते हुए सिर्फ उसमें से कर्तृत्व और भोक्तृत्वाहंकार त्याग देना चाहिए। यहाँ पर भगवान की तरफ से अपने आश्रितों के लिए सर्व धर्म त्याग पूर्वक जो शरणागति करने की आज्ञा दी जा रही है इसका यही भाव है कि मोक्ष के लिए उपाय भावना से जो कर्म, ज्ञान, भक्ति रूप धर्म को करने को कहे हैं सो उन में से उपाय बुद्धि का परित्याग कर और कैंकर्य भावना से करो। अचिद्वत्परतन्त्र अनन्यशरणत्व आत्मा का स्वरूप है। इस प्रकार स्वरूप ज्ञान को भलीभांति नहीं समझे हुए जो अपने को स्वतन्त्र कर्ता मानकर कर्मज्ञान भक्ति को मोक्ष का साधन मानकर अनुष्ठान करते हैं, यह आत्मा अचिद्वत्परतन्त्र है। अनन्य शरणत्व इसका स्वरूप है। यह जीव माया बन्धन से इस प्रकार से जकडा हुआ है कि बिना भगवान की दया के अपने कर्तव्यों के बल से न तो अनादिकाल से आज-तक छुटकारा पा सका है, न अपने कर्तव्यों के बल से अनन्तकाल तक किसी प्रकार भी पाने की सम्भावना है। पहले तो साधन का स्वरूप ही समझना महा मुश्किल है। क्यों कि "गहना कर्मणोगतिः" "कवयोऽप्यत्र मोहिताः" कर्मों की गति दुर्ज्ञेय है, बडे-बडे कवि लोग भी इसमें मोहित हो जाते हैं याने इसके समझने में चकरा जाते हैं। एक तो कर्म का स्वरूप ही समझना अशक्य है फिर किसी प्रकार करोड़ों में एक कोई समझ भी जाय तो उसके करने में इतनी उलझन है याने इतने शर्ते हैं कि इस परवश जीव से अनेक प्रकार से प्रयत्न करने पर भी किसी तरह कर्म योग की सिद्धि नहीं होगी और बिना परमपद गये यह जीव कभी सुखी नहीं होगा। इस तरह से साधन का स्वरूप और उसकी कठिनता तथा उसके करने में अपनी असमर्थता भलीभांति जो समझ जाते हैं वे अधिकारी साधन भावना छोड़, अपने को प्रधान कर्त्ता न मान, मैं परमात्मा के अधिकार में हूँ। कर्म, ज्ञान, भक्ति करने की उनकी आज्ञा है। इसलिए उनके तरफ से जितनी हममे शक्ति दी गई है उसके अनुसार उनकी आज्ञा पालन करना हमारा स्वरूप है याने परम कर्तव्य है। इस तरह से विचार करके स्वरूप ज्ञानी कर्तृत्वाभिमान तथा भोक्तृत्वाभिमान छोड़ कर्म, ज्ञान, भक्ति को करते हैं

और संसार बन्धन से छूटकर परमपद में जाकर युगल सरकार की नित्य सेवा मिलने के लिए भगवान की निर्हेतुक कृपा को साधन मानकर रहते हैं। और भी अनेक महापुरुषों के वचन हैं जैसे :—

"प्रापकान्तरमज्ञानामुपायः"

याने भवसागर से पार होने के लिए जो भगवान की निर्हेतुक कृपा को छोडकर कर्म, ज्ञान, भक्ति को साधन मानकर करते हैं, वे अज्ञ हैं। अर्थात् कर्मादिकों का स्वरूप उनकी कठिनता तथा उलझनें और काल, कर्म, गुण, स्वभाव, काम, क्रोध, लोभ मोह आदि से जीव की परतन्त्रता अतः इनको सिद्ध करने में अपनी असमर्थता इत्यादि बातों को वे नहीं जान पाये हैं इसी कारण से स्वरूपानुरूप सरल से सरल सिद्ध उपाय जो परमात्मा हैं उनका भरोसा छोडकर परतन्त्र, स्वरूप से विरुद्ध जो दुर्गम उपाय हैं उसमें प्रवृत्त होते हैं और—

"ज्ञानिनामपायः"

अर्थात् इस कारण ज्ञानियों के लिए तो प्रापकान्तर याने उपायान्तर कर्मादिकों में उपाय भावना से प्रवृत्ति उपाय है, अनर्थ स्वरूप है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि उपासक लोग याने उपायान्तरी कर्मादिकों को किस तरह करते हैं और भगवान के शरणागत लोग किस तरह करते हैं। इसका स्पष्ट आगे निर्णय करते हैं। साधन स्वरूप जो नवधा भक्ति है उसीको उपायान्तर भी कहते हैं। कर्म, ज्ञान, उसीका अग है। इस नवधा भक्ति का शास्त्रों में दो प्रकार का आकार बताया है। एक साधनाकार दूसरा फलाकार। मुक्ति का साधन मान उपायान्तरी लोग भगवत् चरित्र श्रवण करते हैं और शरणागत साधन तो भगवान को मानते हैं तथा चरित्र को फलस्वरुप मान कर श्रवण करते हैं। उसी प्रकार स्वतंन्त्र अधिकारी भगवान का कीर्त्तन मोक्ष का साधन मानकर करते हैं और शरणागत अधिकारी नाम कीर्त्तन तथा नाम जप को फल भावना से करते हैं। उपायान्तरी लोग भगवान के स्मरण को परलोक का साधन मानकर करते हैं और प्रपन्न लोग फल मानकर करते हैं। भगवान की चरण सेवा को प्रापकान्तरी लोग गोलोक का साधन मानकर करते हैं और शरणागत लोग फल भावना से

करते हैं उपासना वाले भगवान की सेवा पूजा श्री वकुण्ठ का साधन मानकर करते हैं और शरणागत लोग कैंकर्य भावना से करते हैं। भक्त लोग भगवान के साष्टांग प्रणाम को मुक्ति का साधन मानकर करते हैं और भागवत अपना फल समझकर भगवद्भाग-वताचार्यों को साष्टांग प्रणाम करते हैं। उपायान्तरी भगवान के साथ सख्य भावना को परलोक का साधन मानते हैं और भागवत लोग परलोक का साधन तो श्री सीताराम जी को ही मानते हैं और सख्य भावना को स्वयं प्रयोजन रूप माना करते हैं। उसी प्रकार साध-नान्तरी लोग भगवान के श्री चरणों में आत्म समर्पण को परमपद मिलने का साधन मानते हैं और शरणागत लोग परमपद मिलने का साधन तो श्यामसुन्दर को मानते हैं और भगवान के श्री चरणों में आत्म समर्पण को फल स्वरूप माना करते हैं।

श्री देवराज गुरु कहे, महात्माओ। नवधा भक्ति को किस तरह से उपायान्तरी लोग और किस तरह से शरणागत इसका स्पष्ट निर्णय किया। वहुत थोडे मे भी वर्णन हो सकता था। परन्तु इसको बार-बार अच्छी तरह समझाने की जरूरत है। इसीसे फरक-फरक नवधा भक्ति का नाम धर-धर के भेद बताये हैं। इसी प्रसंग को सुलझाने के लिए और भी कुछ कह रहा हूँ। शास्त्रों में करने के लिए जितने कर्म कहे गये हैं उन सब का एक ही उद्देश्य है पाप छूटना और पुण्य मिलना। परन्तु उन कर्मों के करने में भी उपासक और प्रपन्न की भिन्न रीति है। जैसे सन्ध्यावन्दन उपासक तथा शरणागत दोनों ही करते हैं। परन्तु उपासक पाप छुड़ाने और पुण्य मिलने लिए करते हैं और शरणागत भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर किया करते हैं। कारण कि पाप छूटने के लिए और पुण्य मिलने के लिए यदि करें तो उनकी शरणागति टूट जावेगी क्योंकि शरणागतों के लिए तो भगवान आज्ञा कर चुके हैं कि—

"सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः"

इस श्रीमुख वाणी में शरणागति के भरोसे पर ससार वन्धन से छूटकर मुक्ति चाहने वाले याने भगवान का नित्य कैंकर्य चाहने वाले अधिकारी के प्रति भगवान की आज्ञा है कि

स्वरूपानुरूप धर्म को करो। परन्तु उसमें साधन और फल भावना लेकर नहीं। किन्तु भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर। और हमारी प्राप्ति के लिए हमको उपायत्व करके स्वीकार करो। ऐसा यदि करोगे तो हमारी प्राप्ति मे विघ्न करने वाले तुम्हारे पास जितने पाप हैं उन सब से तुमको छुडा दूंगा। यदि तुम हमारा अवलम्ब पकड लिए तो तुम्हारे आत्मा के कल्याण के बाबत दूसरा पुण्य सम्पादन करने की तुम्हें जरूरत नहीं है, न पाप छुडाने के लिए तुम्हें किसी प्रकार का प्रयत्न करने की आवश्यकता है। भगवान के इस श्रीमुख वचन के अनुसार शरणागत अधिकारी कर्म धर्मों को पुण्य सम्पादन के लिये और पाप छुडाने के लिए कर ही नहीं सकता। क्योंकि उसके पुण्य स्थान मे काम करने के लिए तो खुद भगवान हो गये और उसके सारे पापों के छुडाने की जिम्मेदारी भगवान पर हो गई। इसलिये जो कुछ स्वरूपानुरूप शरणागत अधिकारी को कर्म, धर्म करना पडे उसको ऐसा मानना चाहिये कि मैं भगवान का दास हूँ। कर्म, धर्म करना उनकी आज्ञा है। मालिक की आज्ञा पालन करना नौकर का कर्तव्य है। शरणागत उसी को कहते हैं जिसको अपनी रक्षा के लिये अपने पास कुछ न अवलम्ब हो। इसका कारण यह है कि किसी भी कर्म को साधन भावना से मन से भी यदि शरणागत करेगा तो शरणागति टूट जावेगी। उधर साधन योग की शर्तें भी पालन नहीं हो पायेंगी। भगवान उपायान्तर, रक्षकान्तर रहित अधिकारी का उपाय होते हैं और उसी अधिकारी का सब पाप छुडाने की प्रतिज्ञा करते हैं। जो लोग खुद ही अपने द्वारा पुण्य सम्पादन करने के लिये, पाप छुड़ाने के लिये कर्म करते हैं उनका भगवान उपाय नहीं बनते हैं, न उनको पापोंसे छुड़ाने की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं। इससे शरणागतों को चाहिये कि स्वरूपानुरूप कर्म को साधन भावना छोड़कर कैंकर्य भावना से किया करे। जैसे :—

"त्रिविध पाप क्षयार्थं सन्ध्यावन्दन महं करिष्ये।"

तीन प्रकार के पापों को छुडाने के लिये मैं सन्ध्यावन्दन करता हूँ। इस प्रकार से सकल्प साधन निष्ठावाले अधिकारी लोग किया करते हैं।

"श्री भगवदाज्ञया श्रीमन्नारायण कैंकर्य रूप सन्ध्यावन्दन महं करिष्ये" भगवान की आज्ञा

कि सन्ध्यावन्दन अवश्य करना चाहिए। भगवान का मैं दास हूँ उनकी आज्ञा का पालन करना हमारा परम कर्तव्य है। इससे साधन भावना छोडकर कैंकर्य भावना से मैं सन्ध्यावन्दन करता हूँ भगवान के शरणागत लोग इस तरह से सकल्प किया करते हैं। उसी प्रकार श्राद्ध तर्पन भी दोनों ही अधिकारी करते हैं परन्तु दोनों का संकल्प भिन्न-भिन्न है और भावना भी भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार उपासक लोग जब किसी को कुछ द्रव्य, अन्न, वस्त्र, जमीन, गौ वगैरह देने लगते हैं तो (पाप क्षयार्थ पुण्य सम्पादनार्थ इदं दानमहं करिष्ये) पाप छूटने के लिये, पुण्य मिलने के लिये इस दान को मैं कर रहा हूँ। इस प्रकार से अहकार गर्भित सकल्प किया करते हैं। और भगवान के शरणागत लोग यह समझे रहते हैं कि भगवान का तो द्रव्य है और समय समय पर लेने वाले अधिकारियों को देने के लिए प्रभु की आज्ञा है और उनकी आज्ञा पालन करना हमारा कर्त्तव्य है। भगवान की चीज भगवान की आज्ञा से भगवान में, भागवतों में, गुरुवर्यों में तथा गरीबों में उपयोग करना यह हमारा कर्तव्य है। जिसकी यह वस्तु है वह भगवान इसके फल के अधिकारी हैं। इससे पाप छूटना, पुण्य सम्पादन होना इस बात की स्वप्न में भी हमें भावना नहीं है। हमारा सब पाप छुड़ाने वाले और हमारा उपाय तो श्री भगवान हैं। ऐसा शुद्ध विचार करते हुए किसी भी चीज का दान किया करते हैं। शरणागत लोग तो कुछ भी देते समय प्रायः संकल्प करते ही नहीं हैं। यदि कभी करें तो (भगवदीयं वस्तु भगवदाज्ञया भगवच्चेतनेभ्यः आज्ञा कैंकर्य रूपं दातुं संकल्प मह कुर्वे) इस संकल्प का भाव पहिले ही कह चुके हैं। इस प्रकार से विचार करके किसी को कुछ देने से शरणागत अधिकारी को पाप पुण्य कुछ भी असर नहीं किया करता है। उपायान्तरी लोग कुछ भी देने के लिए पुण्य तिथि की अपेक्षा किया करते हैं। द्वादशी तिथि, अमावस्या तिथि, संक्रान्ति का दिन, ग्रहण का दिन, कुम्भ, अर्द्धकुम्भी का दिन, व्यतीपात, सोमवती आदि तिथियों को ढूँढते रहते हैं। क्योंकि पुण्य सम्पादन करना और पाप छुडाना वे अपनी जिम्मेवारी पर लिए रहते हैं। ये तो समझते नहीं हैं कि भगवत की वस्तु अपनी मानकर खास निमित्त तिथियों को ढूँढ़कर अपने लिए पुण्य सम्पादन के निमित्त से देने से कितना भारी अनर्थ होता है। और भगवान के शरणागत को साधन मानके तो कुछ करना नहीं रहता, न फल भावना की आवश्यकता रहती है। उन्हें सब कैंकये की ही भावना से करना

है। इसलिए वह प्रायः करके कभी भी पुण्य तिथि की अपेक्षा नहीं करते हैं। चाहे जब कैंकर्य भावना से दान दे दिया करते हैं। कभी निमित तिथियों मे भी कुछ देने का काम पड़ता है तो उस वक्त वह पुण्य मिलने के निमित्त और पाप छुडाने के निमित्त कुछ नहीं करते। क्योंकि वह सारी चीजों को भगवान की मानते हैं। यद्यपि शरणागत लोग स्वरूपानुरूप कुछ भी कर्म करने में, स्वरूपानुरूप कुछ भी देने में अहंकार न आजावे, साधन भावना तथा फलाभिसन्धि मन में न आवे इस बात से बहुत सम्हले रहते हैं तथापि निमित्त तिथियों का तथा पुण्यकाल का नाम श्रवण कर ग्रहण समय, सक्रान्ति समय और भी पर्वकाल तथा खास खास शास्त्रोक्त तप के स्थान आदि से बहुत भयभीत होते हैं। क्योंकि शास्त्रों मे कहा है कि इन पुर्वोक्त पर्वों में जप, तप, स्नान, ध्यान, दान आदिक करने से बहुत ज्यादा पुण्य मिलता है और ऐसे ही पर्वों में ज्यादातर लाखों लोग पुण्य नदियों के निकट तथा तीर्थ स्थानो मे स्नान, ध्यान, धर्म दानादि करने के लिए इकट्ठे हुआ करते हैं। यह मन अनादि से उपायान्तरों में पड के आतमा के स्वरूप को प्रायः नष्ट ही कर चुका है। ये तो किसी तरह गुरु भगवान के निर्हेतुक अनुग्रह से उपायान्तर त्याग पूर्वक भगवान श्रीपति के श्री चरणो मे शरणागति कर पाया है। इन पर्वों के योग से अनेकों को उपायान्तर मे प्रवृत देखकर ऐसा न कहीं मन में आजाय कि महापर्व का दिन है आज कुछ करने से ज्यादा पुण्य होता है। पुण्य सम्पादन और पाप छुडाने के लिए कुछ जप स्नान वगैरह में प्रवृत हो जाऊँ। साधन भावना हटाकर भगवान की आज्ञा पालने के निमित्त तो स्नान, ध्यान, जप, अनुसन्धान करने में कुछ हानि नहीं है। परन्तु तोभी पुण्य काल में शरणागत महात्मा तो भयभीत होते ही हैं।

एक रोज किसी पर्व काल के दिन श्री नारदजी को एकान्त में उदास बठे देखकर कृपासागर भगवान पूछे कि आज आप उदास तथा भयभीत के समान क्यों बैठे हुए हैं ? प्रभुका श्रीमुख वचन सुनते ही अति प्रेम से साष्टांग दण्डवत करके श्री नारदजी बोले कि :—

"कालेष्वपि च सर्वेषु दिक्षु सर्वासु केशव।
शरीरे च गतौ चापि वर्तते मे महद्भयम्॥"

हे कृपानाथ ! इन पुण्य कालों में पूर्व उत्तर आदि दिशाओं में उपायान्तर प्रवृति के योग्य इस द्विज शरीर में शरणागति के अतिरिक्त बाकी उपायान्तरों में हमें तो बहुत भय रहता है। हे शरणागत वत्सल ! अनादि काल से इस संसार चक्र में भ्रमण करता करता किसी प्रकार गुरुकृपा से स्वरूपानुरूप असली रास्ता जो आपकी शरणागति है सो मिल पाई है। शरणागति के सिवा इस जीव के उद्धार के लिये कोई सच्चा दूसरा सुगम मार्ग नहीं है। और ये पर्व वगैरह के दिन हैं सो प्रायः जीवों को उपायान्तर में प्रवृत कराने वाले हैं और पूर्व दिशा उत्तर दिशा मन से उपायान्तर में प्रवृत कराने वाली हैं। इसलिये परवश उपायान्तर को याद कराने वाले निमित्त तिथियों को संक्रान्ति ग्रहण आदिक पर्वों को देख सुनकर बहुत भय हुआ करता है। इसका कारण यह है कि इस चेतन को भगवान की निर्हेतुक कृपा से हटाकर प्रायः करके उपायान्तर में प्रवृत करने वाले ये सब पर्व हुआ करते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! नारदजी के मुख से इस प्रकार शरणागति निष्ठा का वचन सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न भये और अन्तर्ध्यान होते भये। हे मुमुक्षु महात्माओ ! यह उपायान्तर शरणागति निष्ठा का कट्टर शत्रु है। इससे शरणागतों को चाहिये कि इससे बहुत सम्हल कर रहें। श्राद्ध तर्पण भी उपासक और प्रपन्न दोनों हीं करते हैं परन्तु दोनों की रीति भिन्न भिन्न है। उपासक लोभ तो इस रीति से करते हैं कि जहाँ भी हमारे पितर लोग होंगे उनको इस श्राद्ध तर्पण के द्वारा सहायता मिलेगी। परन्तु शरणागत भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर ही करते हैं। शरणागतों के पितरों के बाबत तो शास्त्रों की ऐसी आज्ञा है :—

अण्वयादपि चैकस्य सम्यगन्यस्यात्मनो हरौ ।
सर्व एव प्रमुच्येरन् नराः पूर्वेऽपरे तथा ॥

उपायान्तर त्यागपूर्वक कुल में एक भी यदि कोई श्री भगवान के शरण हो जाता है तो उसके सम्बन्ध से अनेक पीढी परमपद चली जाती है। शास्त्र के इस नियम के अनुसार वैष्णवों के पितर लोग तो शरणागत होते ही मात्र भगवान के लोक को चले जाते हैं। फिर

उनको किसी की मदद लेने की जरूरत ही नहीं रह जाती क्योंकि उनके वावत शास्त्रों का यह कहना है कि :—

वैष्णवानां तुपितरो नवै निरयगामिनः ।
पितृ लोकेन ते सन्ति न सन्ति यममन्दिरे ॥
पार्श्व देशे विराजन्ते श्रीहरेः परमेपदे ।

इसका भाव यह भया कि शरणागत वैष्णवों के पितर पितृलोक मे नहीं रहते हैं न यमपुरी में हीं। किन्तु शरणागतवत्सल भगवान के अनुग्रह से परमपद मे भगवान के समीपवर्ती होकर रहते हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार वैष्णवों के पितरों को किसी से मदद लेने की जरूरत नहीं है। तो भी भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर श्राद्ध तर्पणादि अवश्य करना चाहिये। सन्ध्यातर्पणादि में जो कहीं-कहीं देवतान्तरों का नाम आया है जैसे :—

सूर्यश्च मामन्युश्च

इन मंत्रों के प्रयोग करने से शरणागत देवतान्तरी नही कहे जा सकते हैं। क्योंकि शरणागति शास्त्र के पारङ्गत श्रीवरदाचार्य जी महाराज "प्रपन्न पारिजात" ग्रन्थ में लिखते हैं कि :—

देवतान्तर संभक्तिं नित्यकर्म विधिं विना"

याने शरणागतों को चाहिए कि अपना इष्टदेव जो भगवान श्रीमन्नारायण हैं उनको छोड़कर वाकी देवों की भक्ति भूलकर भी न करे और नित्य कर्म में जो देवतान्तरों का नाम आता है सो शरणागतों की शरणागति का भञ्जक नहीं है। जिस प्रकार एकादशी आदि व्रतों में अन्न लेना मना है परन्तु मूग के पदार्थ लेने से व्रत भंग नहीं होता है यह "स्मृतिरन्ताकर" नामक धर्म शास्त्र में लिखा है। शरणागतों को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि सन्ध्या के समय जो मानसिक ध्यान और पूजन किया जाता है वह अपने इष्ट देव श्री लक्ष्मी पति भगवान का ही करना चाहिए। वडों की आज्ञानुसार तो सन्ध्या तपणादिक में देवतान्तर का प्रसग शरणागति तथा अनन्यता का भजक नहीं है। परन्तु तो भी जिस शरणागत का

हे कृपानाथ ! इन पुण्य कालों में पूर्व उत्तर आदि दिशाओं में उपायान्तर प्रवृति के योग्य इस द्विज शरीर में शरणागति के अतिरिक्त बाकी उपायान्तरों में हमें तो बहुत भय रहता है। हे शरणागत वत्सल ! अनादि काल से इस संसार चक्र में भ्रमण करता करता किसी प्रकार गुरुकृपा से स्वरूपानुरूप असली रास्ता जो आपकी शरणागति है सो मिल पाई है। शरणागति के सिवा इस जीव के उद्धार के लिये कोई सच्चा दूसरा सुगम मार्ग नहीं है। और ये पर्व वगैरह के दिन हैं सो प्रायः जीवों को उपायान्तर में प्रवृत कराने वाले हैं और पूर्व दिशा उत्तर दिशा मन से उपायान्तर में प्रवृत कराने वाली हैं। इसलिये परवश उपायान्तर को याद कराने वाले निमित्त तिथियों को संक्रान्ति ग्रहण आदिक पर्वों को देख सुनकर बहुत भय हुआ करता है। इसका कारण यह है कि इस चेतन को भगवान की निर्हेतुक कृपा से हटाकर प्रायः करके उपायान्तर में प्रवृत करने वाले ये सब पर्व हुआ करते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! नारदजी के मुख से इस प्रकार शरणागति निष्ठा का वचन सुनकर भगवान बड़े प्रसन्न भये और अन्तर्ध्यान होते भये। हे मुमुक्षु महात्माओ ! यह उपायान्तर शरणागति निष्ठा का कट्टर शत्रु है। इससे शरणागतों को चाहिये कि इससे बहुत सम्हल कर रहें। श्राद्ध तर्पण भी उपासक और प्रपन्न दोनों हीं करते हैं परन्तु दोनों की रीति भिन्न भिन्न है। उपासक लोग तो इस रीति से करते हैं कि जहाँ भी हमारे पितर लोग होंगे उनको इस श्राद्ध तर्पण के द्वारा सहायता मिलेगी। परन्तु शरणागत भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर ही करते हैं। शरणागतों के पितरों के बाबत तो शास्त्रों की ऐसी आज्ञा है :—

अण्वयादपि चैकस्य सम्यगन्यस्यात्मनो हरौ।
सर्व एव प्रमुच्येरन् नराः पूर्वेऽपरे तथा॥

उपायान्तर त्यागपूर्वक कुल में एक भी यदि कोई श्री भगवान के शरण हो जाता है तो उसके सम्बन्ध से अनेक पीढ़ी परमपद चली जाती है। शास्त्र के इस नियम के अनुसार वैष्णवों के पितर लोग तो शरणागत होते ही मात्र भगवान के लोक को चले जाते हैं। फिर

उनको किसी की मदद लेने की जरूरत ही नहीं रह जाती क्योंकि उनके बाबत शास्त्रों का यह कहना है कि :—

> वैष्णवानां तुपितरो नवै निरयगामिनः।
> पितृ लोकेन ते सन्ति न सन्ति यममन्दिरे॥
> पार्श्व देशे विराजन्ते श्रीहरेः परमेपदे।

इसका भाव यह भया कि शरणागत वैष्णवों के पितर पितृलोक मे नहीं रहते हैं न यमपुरी में हीं। किन्तु शरणागतवत्सल भगवान के अनुग्रह से परमपद मे भगवान के समीपवर्त्ती होकर रहते हैं। शास्त्रों के आदेशानुसार वैष्णवों के पितरों को किसी से मदद लेने की जरूरत नहीं है। तो भी भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर श्राद्ध तर्पणादि अवश्य करना चाहिये। सन्ध्यातर्पणादि में जो कहीं-कहीं देवतान्तरों का नाम आया है जैसे :—

> सूर्यश्च मामन्युश्च

इन मंत्रों के प्रयोग करने से शरणागत देवतान्तरी नही कहे जा सकते हैं। क्योंकि शरणागति शास्त्र के पारङ्गत श्रीवरदाचार्य जी महाराज "प्रपन्न पारिजात" ग्रन्थ में लिखते हैं कि :—

> देवतान्तर संभक्ति नित्यकर्म बिधिं बिना"

याने शरणागतों को चाहिए कि अपना इष्टदेव जो भगवान श्रीमन्नारायण हैं उनको छोड़कर वाकी देवों की भक्ति भूलकर भी न करे और नित्य कर्म में जो देवतान्तरों का नाम आता है सो शरणागतों की शरणागति का भञ्जक नहीं है। जिस प्रकार एकादशी आदि व्रतों में अन्न लेना मना है परन्तु मूग के पदार्थ लेने से व्रत भंग नहीं होता है यह "स्मृतिरन्ताकर" नामक धर्म शास्त्र में लिखा है। शरणागतों को इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि सन्ध्या के समय जो मानसिक ध्यान और पूजन किया जाता है वह अपने इष्ट देव श्री लक्ष्मी पति भगवान का ही करना चाहिए। बड़ों की आज्ञानुसार तो सन्ध्या तपणादिक में देवतान्तर का प्रसंग शरणागति तथा अनन्यता का भजक नहीं है। परन्तु तो भी जिस शरणागत का

चित्त नहीं मानता हो वह वह ऐसा समझ ले कि परमात्मा का अनन्त नाम है। इस नित्य कर्म विधि में जो देवतान्तरों के नाम आये हैं। ये उनके न होकर हमारे उसी प्यारे परमात्मा के हैं इस तरह से मन को समझा कर नित्य कर्म कर लिया करे। जिसको इस तरह से करने पर भी शान्ति न मिले, वह देवतान्तरों के नाम के जगह अपने प्यारे परमात्मा का नाम बोल लिया करे। कारण कि शास्त्रों का यह भी कहना है।

"अत्यन्त भक्तियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रमः"

दुनियाँ में जितने कर्मकाण्डी हैं वे सब अपने अपने कर्म के पूर्ण रूप से परिसमाप्ति के लिए श्री भगवान के श्री नामों का ही स्मरण किया करते हैं। जैसे कि :—

"यस्य स्मृत्या च नाम्ना च यज्ञ दान क्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो बन्दे तमच्युतम् ॥"

इसका भाव यह भया कि जिसके स्मरण से तथा नाम लेने मात्र से यज्ञ दान क्रियादिकों की न्यूनता मिटकर सविध परिपूर्णता हो जाती है ऐसे जो अच्युत भगवान हैं उनको प्रणाम करता हूँ। और भी कहा है कि :—

"मन्त्र तस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः
सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव"

इसका यह भाव भया कि मन्त्रादि जपने में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतादि उच्चारण में टाइम कुटाइम में, योग्य सामग्री जुटाने में जो भी कुछ त्रुटि हो जाती है सो भगवान के नाम कीर्त्तन से सब मिट जाती है। सारांश यह हुआ कि जब परमात्मा के स्मरण-मात्र से कर्मकाण्डों के सभी दोष दूर होते हैं तो मन नहीं मानने पर देवतान्तर के स्थान में परमात्मा का नाम बोल कर नित्य कर्म जो सन्ध्या तर्पणादिक हैं उसको कर लेने से हजारों विधि से बढ़कर क्यों नहीं कहा जा सकता है। बड़ों का वचन है कि :—

"तेन तप्तं हुतं दत्त मेवा खिलं तेन सर्वं कृतं कर्म जालम् ।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशं मनवद्य अवलोक्य कालम् ॥"

याने जिसने श्रीराम नाम का उच्चारण किया उससे कुछ भी कर्म काण्ड बाकी नहीं रहा। श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु महात्माओ ! शरणागतो को चाहिए कि हरेक स्वरूपानुरूप कर्मों को पाप छुड़ाना और पुण्य मिलाना इस भावना से न करके भगवान की आज्ञा कैंकर्य मानकर किया करें। उपायान्तरी लोग पाप छुडाने और पुण्य सम्पादन की भावना से सक्रान्ति तथा ग्रहण मे स्नान दानादि किया करते और शरणागत पाप छुडाना पुण्य सम्पादन करना इस भावना को हटाकर भगवान की आज्ञा पालन बुद्धि से किया करते हैं और सदा डरा करते हैं कि मन में पाप छुडाने और पुण्य सम्पादन करने की भावना न आजाय क्योंकि उपायान्तर भावना आई कि शरणागति टूटी। उसी प्रकार उपासक लोग भगवान की पुरियों में निवास मोक्ष का साधन मानकर किया करते हैं और शरणागत भगवान की निर्हेतुक कृपा को तो मोक्ष का साधन मानते हैं और पुरियों के निवास को फल स्वरूप मानते हैं क्योंकि यदि पुरियों के निवास को मोक्ष का साधन मानें तो शरणागति टूट जायगी। उसी प्रकार गंगा यमुना, सरयू, कावेरी आदिक स्वरूपानुरूप पुण्य नदियों में शरणागत पाप छुडाना और पुण्य सम्पादन करना इस भावना से नहीं स्नान करते हैं किन्तु भगवान की आज्ञा है कि स्नान करना चाहिए इस भावना से ही करते हैं।

इसी प्रकार उर्ध्वपुण्ड्र तिलक का धारण करना, तुलसी कमलाक्ष की माला पहरना, बाहु मूल में भगवत् आयुधों का धारण करना, गुरु का श्रीपाद तीर्थ लेना, गुरु के त्रिविडी को मस्तक पर लेना, भगवान की सेवा पूजा करना, भगवान को स्नान कराना, भगवान का तिरुमज्जन करना, भगवान का शृङ्गार करना, भगवान को हरेक प्रकार का भूषण धारण कराना, श्रीहरि को चन्दन पुष्प चढ़ाना, उनके लिए बालभोग, राजभोग, उत्थापन भोग, शयन भोग, दुग्ध, दही, माखन, मिश्री, मलाई, फल, फूल, मेवा वगैरह का अर्पण करना, अत्तर लागू कराना, तुलसी पुष्प से अर्चना करना श्रीरामनौमी, जन्माष्टमी, श्रीवामन द्वादशी, नृसिंह चतुर्दशी इन जयन्तियो में व्रत करना तथा महोत्सव मनाना, एकादशी व्रत करना गुरु के जन्म तिथि तथा अन्तिम तिथि में महोत्सव मनाना, दिव्य देशों की यात्रा करना, भगवान के तीर्थों में, मन्दिरो में दर्शनार्थ जाना, भगवान की परिक्रमा करना, भगवान का चरणामृत, तुलसी, बालभोग आदि को ग्रहण करना, भगवान की स्तुति करना, भगवान के स्तोत्रों का पाठ करना,

भगवान की आरती उतारना, श्रीहरि के लिये मन्दिर बनाना, उसमें अनेक प्रकार से जीविका का प्रबन्ध करना, भगवान के पुष्प तुलसी माला आदि के लिये पुष्प वाटिका का इन्तजाम करना, भगवान की, भागवतों की तथा श्रीगुरु महाराज की किसी प्रकार की भी सेवा करना, भगवच्चरित्रों का श्रवण करना, भगवान के श्रीनामों का जप कीर्त्तन करना, श्रीहरि का स्मरण ध्यान करना, श्री सीतारामजी को दण्डवत साष्टांग प्रणाम करना इत्यादि सभी बातों को भगवान श्रीपति के शरणागत महात्मा लोग फलस्वरूप ही मानकर किया करते हैं और उपासक लोग पाप छूटना और पुण्य सम्पादन होना इस भावना से करते हैं। शरणागत लोगों को तो स्वरूपानुरूप किसी धर्म कर्म के करते समय पाप छूटना और पुण्य मिलना ऐसी भावना मन से भी करना महापातक स्वरूप है। शरणागति प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में यहां तक लिखा है कि भगवान की शरणागति के सिवा याने भगवान की निर्हेतुक कृपा के अतिरिक्त यदि दूसरे उपाय में शरणागत मन से क्षण मात्र भी प्रवृत्ति करे तो उसकी शरणागति टूट जाती है। जैसे कि :—

"उपायापाय संयोगे निष्ठया हीयतेऽनया"

इसका वही अर्थ है जो कि पहले कह चुके हैं। शरणागत को तो यहाँ तक शास्त्र कहता है कि शास्त्र के विरुद्ध आचरण में तथा भगवान की निर्हेतुक कृपा के सिवा दूसरे उपायों में मन से भी यदि प्रवृति होगी तो उसकी शरणागति टूट जायगी।

"उपाय संप्लवे भूयः प्रायश्चित्तं समाचरेत्"

पुनः शरणागति को ठिकाने लाने के लिए शरणागतों के लिए शरणागति शास्त्रों मे कहा हुआ जो प्रायश्चित है उसको तुरन्त ही कर लेना चाहिए। इतर शास्त्र विहित प्रायश्चित तो शरणागतों के लिये मना होने के कारण कर नहीं सकते। क्योंकि प्रपन्न पारिजात में आदेश है कि :—

"चान्द्रायणादिकं कर्म न तु कुर्यात् कदाचन"

याने प्रायश्चित रूप में कहे गये जो कृच्छ्र चान्द्रायणादिक व्रत हैं इन्हें शरणागत कभी न

करें। शरणागतों के लिये तो फिर भगवान की शरणागति कर लेना यही प्रायश्चित है। जैसे कि :—

"प्रायश्चित्तिरियं तेषां यत्पुनः शरणं व्रजेत्"

फिर भगवान की शरणागति कर लेना शरणागतो के लिए यही प्रायश्चित है शरणागतों को बहुत सम्हल कर रहना चाहिए। शास्त्र से विरुद्ध आचरण मे तथा भगवान की निर्हेतुक कृपा के सिवा दूसरे उपायों में ज्ञानपूर्वक तो कभी प्रवृत्ति करे नहीं और यदि भूलकर प्रमाद से कभी मानसिक प्रवृति दीख पडे तो उसी वक्त भगवान का नाम लेकर एक लम्बी साष्टाग करले और हाथ जोड कर प्रार्थना करे कि "हे शरणागत वत्सल! आपके श्रीचरणों के शरण हो रहा हूँ इस हमारे अपराध को क्षमा करिये। फिर ऐसा अपराध कभो न होगा।" शरणागति शास्त्रों का कहना है कि इस प्रकार के करने से टूटी हुई शरणागति फिर ठिकाने आ जाती है।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षु महात्माओ! जैसे शरणागति उपायान्तरों का लेश नही सह सकती उसी प्रकार देवतान्तर का सम्बन्ध भी नहीं सह सकती है। क्योंकि मुमुक्षुओं के लिये शास्त्रों का सख्त आदेश है कि :—

'मुमुक्षवो घोररुपान् हित्वा भूतपती नथ।
नारायण कलाःशान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥'

इसका यह भाव भया कि मुमुक्षु महात्मा लोग घोर रूप वाले पितृपति भूतपति, प्रजापति जो ब्रह्मा शकरादिक देव हैं उनको छोडकर श्रीनारायण भगवान के शान्त कला जो श्रीराम कृष्णादिक अवतार हैं उन्हीं को भजते हैं। मोक्षदाता अपने इष्टदेव को भजते हैं और दूसरे की निन्दा भी नहीं करते हैं। इस प्रकार मुमुक्षुओं के लिए शास्त्रों की आज्ञा है कि सिवाय श्रीपति के दूसरे देवों का भजन पूजन नमस्कार आदि को न करें।

भरद्वाज सहिता में भरद्वाज मुनि ने आचार्य के द्वारा शरणागत शिष्य को उपदेश दिलाया है कि :—

इस श्लोक का वही भाव है कि जो पहिले कह चुके हैं। और भी बृहद्ब्रह्म संहिता में एकान्ती शरणागत मुमुक्षुओं का स्वभाव वर्णन आया है कि :—

नानिवेदित मश्नन्ति न नश्यन्ति वृथाक्षणम् ।
मनसा वचसा विष्णोर्नाम मन्त्रैक जल्पकाः ॥

श्री भगवान के शरणागत लोग श्री भगवान को अर्पण किये बिना कुछ भी नहीं खाते हैं। अनुभव कैंकर्य के बिना एकक्षण भी वृथा नहीं बिताते हैं। मन से भगवान के स्मरण के सिवा कुछ भी चिन्तन नहीं करते। जिह्वा से भगवान के श्रीनाम श्री मन्त्र के सिवा और कुछ नहीं उच्चारण करते।

न च मन्त्रान्तरं येषां न व्रतान्तर सेवनम् ।
न फलान्तर जिज्ञासा न देवान्तर दर्शनम् ॥

परमैकान्ती शरणागति मुमुक्षु महात्मा लोग अपने इष्टदेव श्री भगवान के मन्त्रों के सिवा दूसरे देवों के मन्त्रों को न तो उच्चारण करते हैं न जपते हैं। श्री भगवान के व्रतों को छोड़कर दूसरे देवो का व्रत भी नहीं करते हैं। भगवान की सेवा के सिवा भगवान से और कुछ भी नहीं याचना करते हैं। अपने इष्टदेव श्री भगवान के दर्शनो के सिवा देवतान्तरों का दर्शन भी नहीं करते हैं।

नान्य शेषस्य ग्रहणं फलादेरपि भूमिप ।
नान्य वेषानुकरणं नान्यपर्वानुमोदनम् ॥

इसका यह भाव भया कि श्रीपति के शरणागत अपने इष्टदेव श्री भगवान के प्रसाद के सिवा दूसरे देवों का अर्पण किया हुआ अन्न, वस्त्र, फल, फूल, माला, चन्दन वगैरह कुछ भी नहीं ग्रहण करते हैं। शरणागतो के लिए शास्त्रो में जो वेष धारण करने को कहा है जैसे कि उर्ध्व पुण्ड्र तिलक, तुलसी तथा कमलाक्ष की माला, शंख चक्रादि। इसके सिवा न दूसरा तिलक, न दूसरी चीज की माला, न दूसरे देवो का चिह्न शरणागत लोग धारण करते हैं याने

यजस्वनित्यमात्मेशं मानंसी रन्यदेवताः।
लक्ष्यस्व लक्षणै भर्तु र्मा लक्षिष्ठान्य लक्षणैः॥

हे श्रीपति के शरणागत महात्माओ ! सदा अपने इष्टदेव प्यारे परमात्मा का ही पूजन किया करो, दूसरे देवताओं का नमस्कार तक भी न करो। अपने गुरुओं के आचार के अनुगुण प्यारे परमात्मा के आयुधों से ही अंकित होवो। देवतान्तरों के चिह्नों से भूल करके भी अंकित नहीं होना और भी श्री जी के प्रति भगवान अपने शरणागतों की सत्ता इस श्लोक में दिन चर्या वर्णन किये हैं। आज्ञा किये हैं कि :—

"नान्यं तु पूजयेद्देवं न नमेन्न स्मरेन्नच।
न पश्येन्न च गायेच्च न च निन्देत् कदाचन॥"

इसका यह भाव भया कि श्रीपति के शरणागतों को चाहिये कि श्री भगवान के सिवा दूसरे देवों का दर्शन पूजन ध्यान नमस्कार आदिक न किया करें तथा दूसरे देव की निन्दा भी न करें। और भी भरद्वाज मुनि का वचन है कि :—

'विष्णोः सेवेत तीर्थानि तथैवायतनानिच।'

अर्थात् श्री भगवान के शरणागतों को चाहिये कि श्री विष्णु भगवान के ही तीर्थों में जावे जिस मन्दिर में सिर्फ श्री जी और श्री भगवान और उनके नित्य पार्षद श्री लक्ष्मणजी, श्री बलरामजी, श्री गरुड़जी, श्री हनुमानजी आदि विराजे हों उसी मन्दिर में दर्शन को जाना चाहिए। जिस मन्दिर में श्री भगवान और उनके पूर्वोक्त पार्षदगण तथा श्री आचार्य प्रतिमा के सिवा दूसरे देवों की भी स्थापना भई हो या इतर देवों की कैसी भी मूर्ति रखी हो उसमें नहीं जाना चाहिए न वहां का कुछ भी ग्रहण करना चाहिए। इसके प्रणाम में निम्नलिखित श्लोक है।

गृहेयस्यान्यदेवार्चा व्यक्तो न च जनार्दनः।
न तस्य किञ्चिदश्नीया दीप वेदान्त वेदिनः॥

इस श्लोक का वही भाव है कि जो पहिले कह चुके हैं। और भी बृहद्ब्रह्म संहिता में एकान्ती शरणागत मुमुक्षुओं का स्वभाव वर्णन आया है कि :—

नानिवेदित मश्नन्ति न नश्यन्ति वृथाक्षणम्।
मनसा वचसा विष्णोर्नाम मन्त्रैक जल्पकाः॥

श्री भगवान के शरणागत लोग श्री भगवान को अर्पण किये बिना कुछ भी नहीं खाते हैं। अनुभव कैंकर्य के बिना एकक्षण भी वृथा नहीं बिताते हैं। मन से भगवान के स्मरण के सिवा कुछ भी चिन्तन नहीं करते। जिह्वा से भगवान के श्रीनाम श्री मन्त्र के सिवा और कुछ नहीं उच्चारण करते।

न च मन्त्रान्तरं येषां न व्रतान्तर सेवनम्।
न फलान्तर जिज्ञासा न देवान्तर दर्शनम्॥

परमैकान्ती शरणागति मुमुक्षु महात्मा लोग अपने इष्टदेव श्री भगवान के मन्त्रों के सिवा दूसरे देवों के मन्त्रो को न तो उच्चारण करते हैं न जपते हैं। श्री भगवान के व्रतों को छोड़कर दूसरे देवो का व्रत भी नहीं करते हैं। भगवान की सेवा के सिवा भगवान से और कुछ भी नहीं याचना करते हैं। अपने इष्टदेव श्री भगवान के दर्शनो के सिवा देवतान्तरों का दर्शन भी नहीं करते हैं।

नान्य शेषस्य ग्रहणं फलादेरपि भूमिप।
नान्य वेषानुकरणं नान्यपर्वानुमोदनम्॥

इसका यह भाव भया कि श्रीपति के शरणागत अपने इष्टदेव श्री भगवान के प्रसाद के सिवा दूसरे देवों का अर्पण किया हुआ अन्न, वस्त्र, फल, फूल, माला, चन्दन वगैरह कुछ भी नहीं ग्रहण करते हैं। शरणागतो के लिए शास्त्रो में जो वेष धारण करने को कहा है जैसे कि उर्ध्व पुण्ड्र तिलक, तुलसी तथा कमलाक्ष की माला, शंख चक्रादि। इसके सिवा न दूसरा तिलक, न दूसरी चीज की माला, न दूसरे देवो का चिह्न शरणागत लोग धारण करते हैं याने

वैष्णव वेष के सिवा स्वप्न में भी दूसरा वेष नहीं धारण करते हैं। शरणागत वैष्णवों को क्या धारण करना चाहिए यह आगे के श्लोक में लिखा है।

ये कण्ठ लग्न तुलसी नलिनाक्ष माला,
ये बाहुमूल परिचिह्नित शंख चक्रे।
येवा ललाट पटले लसदूर्ध्वपुण्ड्र,
एते वैष्णवाः भुवन माशु पवित्रयन्ति ॥

कण्ठ में तुलसी और कमलाक्ष की माला, बाहु मूल में शखचक्र का चिह्न, ललाट में उर्ध्व पुंड्र तिलक जो धारण करके रहते हैं उन वैष्णवों का जहाँ चरण स्पर्श होता है वहाँ की पृथ्वी पवित्र हो जाती है। इस श्लोक का सक्षेप में यही भाव हुआ। और शरणागत मुमुक्षु लोग अपने इष्टदेव के पर्व के सिवा अन्य देवों का उत्सव भी नहीं करते।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोनारी तथेतरः।
चक्राद्यै रङ्कयेद्गात्रमात्मीयस्यां खिलस्य च ॥
नारी वा पुरुषो वापि प्रपद्य शरणं हरिम्।
संसार बन्धनान्मुक्तिं लभते चेह जन्मनि ॥
यः शरण्य मशेषाणां प्राप्नोति शरणं हरिम्।
समुक्तः सर्वपापेभ्य स्वकुलं च समुद्धरेत् ॥

"ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, स्त्री हो या और कोई हो सबों को अपने कल्याण के लिए अपने बाहूँ मूल में श्री शख-चक्र का चिह्न अवश्य धारण करना चाहिए।" स्त्री हो या पुरुष हो यदि भगवान का शरणागत हो जावे तो इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटकर वह अवश्य परमधाम को चला जाता है।"

"देवतान्तर उपायान्तर प्रयोजनान्तर त्यागपूर्वक सदाचार्य के द्वारा जो भगवान श्रीपति के शरणागत हो जाता है वह सब पापों से छूट जाता है उसके कुल का भी उद्धार हो जाता है।"

इससे ससार बन्धन से छूटने की इच्छा करने वाले चेतनों को चाहिए कि अवश्य श्री भगवान के शरणागत होकर रहें।

यः प्रपन्नोऽपि लक्ष्मीशं न चक्रादिभि रङ्कितः ।
न बहत्युर्ध्वपुण्ड्रं वा नैकान्त्यन्तस्य विद्यते ॥

भले ही भगवान लक्ष्मीकान्त के शरणागत क्यों न हो, या अपने को शरणागत क्यों न मानता हो परन्तु यदि चक्रादि आयुधों से अकित न हो और उर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण न करता हो तो उसको एकान्ती वैष्णव नहीं कह सकते याने एकान्ती भागवतों के लिए शास्त्रों में जो फल बताया है सो उसे नही प्राप्त हो सकता है।

नान्योत्सवावलोकं च नान्ययात्रा प्रवर्त्तनम् ।
नान्य व्रतानुचरणं नान्य शक्ति मंगागपि ॥

श्री भगवान अनन्य शरणागत मुमुक्षु लोग अपने इष्टदेव श्री भगवान के उत्सवों के सिवा दूसरे देवों के उत्सवो को भी देखने नहीं जाते। अपने इष्टदेव श्री भगवान के तीर्थों के सिवा दूसरे देवों के तीर्थों में भी नहीं जाते।

स्वाधिकार विरुद्धं च व्याखानं नाटकं तथा ।
निबन्धनं श्रवणं दृश्यं बर्जयेत् सत्त्वसंश्रयः ॥

शरणागत मुमुक्षुओं को स्वरूप से विरुद्ध लेक्चर व्याख्यान नहीं सुनना चाहिए। नाटक तमाशा वगैरह देखने भी नहीं जाना चाहिए। अपने अधिकार से विरुद्ध ग्रन्थों को नहीं सुनना पढना चाहिए और भी स्वरूप नाशक अनेक प्रकार के चमत्कारिक चीजों को याने जादू सिनेमा वगैरह को देखने के लिए नही जाना चाहिए क्योंकि इन सब के ससर्ग से हृदय में मालिन्य आने का भय रहता है।

यज्ञो दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृकर्म च ।
वृथा भवति विप्रेन्द्रा उर्ध्वपुण्ड्रं विना कृतम् ॥

वैष्णव वेष के सिवा स्वप्न में भी दूसरा वेष नहीं धारण करते हैं। शरणागत वैष्णवों को क्या धारण करना चाहिए यह आगे के श्लोक में लिखा है।

ये कण्ठ लग्न तुलसी नलिनाक्ष माला,
ये बाहुमूल परिचिह्नित शंख चक्रे।
येवा ललाट पटले लसदूर्ध्वपुण्ड्र,
स्ते वैष्णवाः भुवन माशु पवित्रयन्ति॥

कण्ठ में तुलसी और कमलाक्ष की माला, बाहु मूल में शखचक्र का चिह्न, ललाट में उर्ध्व पुंड्र तिलक जो धारण करके रहते हैं उन वैष्णवों का जहाँ चरण स्पर्श होता है वहाँ की पृथ्वी पवित्र हो जाती है। इस श्लोक का सक्षेप में यही भाव हुआ। और शरणागत मुमुक्षु लोग अपने इष्टदेव के पर्व के सिवा अन्य देवों का उत्सव भी नही करते।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रोनारी तथेतरः।
चक्राद्यै रङ्कयेद्गात्रमात्मीयस्यां खिलस्य च॥
नारी वा पुरुषो वापि प्रपद्य शरणं हरिम्।
संसार बन्धनान्मुक्तिं लभते चेह जन्मनि॥
यः शरण्य मशेषाणां प्राप्नोति शरणं हरिम्।
समुक्तः सर्वपापेभ्य स्वकुलं च समुद्धरेत्॥

"ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, स्त्री हो या और कोई हो सबों को अपने कल्याण के लिए अपने बाहू मूल में श्री शख-चक्र का चिह्न अवश्य धारण करना चाहिए।" स्त्री हो या पुरुष हो यदि भगवान का शरणागत हो जावे तो इसी जन्म के अन्त में संसार बन्धन से छूटकर वह अवश्य परमधाम को चला जाता है।"

"देवतान्तर उपायान्तर प्रयोजनान्तर त्यागपूर्वक सदाचार्य के द्वारा जो भगवान श्रीपति के शरणागत हो जाता है वह सब पापों से छूट जाता है उसके कुल का भी उद्धार हो जाता है।"

इससे ससार बन्धन से छूटने की इच्छा करने वाले चेतनों को चाहिए कि अवश्य श्री भगवान के शरणागत होकर रहें।

य: प्रपन्नोऽपि लक्ष्मीशं न चक्रादिभि रङ्कितः ।
न बहत्युर्ध्वपुण्ड्रं वा नैकान्त्यन्तस्य विद्यते ॥

भले ही भगवान लक्ष्मीकान्त के शरणागत क्यों न हो, या अपने को शरणागत क्यों न मानता हो परन्तु यदि चक्रादि आयुधों से अकित न हो और उर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण न करता हो तो उसको एकान्ती वैष्णव नहीं कह सकते याने एकान्ती भागवतों के लिए शास्त्रों में जो फल बताया है सो उसे नही प्राप्त हो सकता है।

नान्योत्सवावलोकं च नान्ययात्रा प्रवर्त्तनम् ।
नान्य व्रतानुचरणं नान्य शक्ति र्मनागपि ॥

श्री भगवान अनन्य शरणागत मुमुक्षु लोग अपने इष्टदेव श्री भगवान के उत्सवों के सिवा दूसरे देवों के उत्सवों को भी देखने नहीं जाते। अपने इष्टदेव श्री भगवान के तीर्थों के सिवा दूसरे देवों के तीर्थों में भी नही जाते।

स्वाधिकार विरुद्धं च व्याख्यानं नाटकं तथा ।
निबन्धनं श्रवणं दृश्यं बर्जयेत् सत्त्वसंश्रयः ॥

शरणागत मुमुक्षुओं को स्वरूप से विरुद्ध लेक्चर व्याख्यान नहीं सुनना चाहिए। नाटक तमाशा वगैरह देखने भी नहीं जाना चाहिए। अपने अधिकार से विरुद्ध ग्रन्थो को नहीं सुनना पढना चाहिए और भी स्वरूप नाशक अनेक प्रकार के चमत्कारिक चीजों को याने जादू सिनेमा वगैरह को देखने के लिए नहीं जाना चाहिए क्योंकि इन सब के ससर्ग से हृदय में मालिन्य आने का भय रहता है।

यज्ञो दानं जपो होमः स्वाध्यायः पितृकर्म च ।
वृथा भवति विप्रेन्द्रा उर्ध्वपुण्ड्रं बिना कृतम् ॥

परन्तु इस नदी का जल नहीं पीऊँगा इस प्रकार सोचते सोचते वह मर गया परन्तु गंगाजल का पान नहीं किया।

उपासक लोग मरते समय गंगाजल पान करते हैं और उनकी प्रससा हुआ करती है कि अन्त में इनको गंगाजल मिला। और उस चातक पक्षी ने प्यास के मारे तो प्राण छोड दिया परन्तु गंगाजल को नही पिया। मरते समय यदि किसी को गङ्गाजल देवे और उसको यदि वह न लेवे तो कोई भी उसकी प्रशसा नही करेगा किन्तु निन्दा ही करेगा कि कैसा यह अभागा है कि मरते समय गङ्गाजल का अपमान कर रहा है। परन्तु श्री तुलसीदासजी महाराज तो उस चातक पक्षी की निन्दा न करके बार-बार प्रशंसा ही कर रहे हैं और कह रहे हैं कि वाह रे भाई चातक! तुम्हारे निष्ठा पालने की कोटि-कोटि धन्यवाद है कि ऐसे समय में भी प्राण तो दे दिया परन्तु अपनी निष्ठा को नही छोड़ा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि महात्माओ उसी प्रकार भगवान श्रीपति के शरणागत अधिकारी के सिवा इतर लोगो के लिए दूसरे देवों का भजन, पूजन, नमस्कार वगैरह पुन्य कारक है। शरणागत अधिकारियो के लिए पुन्य कारक न होकर उनकी शरणागति निष्ठा का भञ्जक है। यदि श्री भगवान के शरणागत भूलकर के भी देवतान्तर में प्रवृत्त होवे तो उसके अनन्यता व्रत का नाश हो जायेगा। जैसे शरणागत के लिए उपायान्तर में जाने पर प्रायश्चित करना बताया है उसी प्रकार भूलकर कभी यदि दूसरे देवों का भजन या दूसरे देवों का नमस्कार या दूसरे देवों का व्रत करले या भोग लगाया हुआ संस्पर्श करले, दूसरे देवों का दर्शन करले तो उसकी शरणागति टूट जाती है। जैसे उपायान्तर में प्रवृत होने पर प्रपत्ति को ठिकाने आने के लिये प्रपन्न को प्रपत्ति प्रतिपादक शास्त्रों के द्वारा प्रायश्चित करना बताया है। उसी प्रकार श्री भगवान के अतिरिक्त भ्रम से भी दूसरे देवो के भजन, पूजन, वन्दन करने पर शरणागति प्रतिपादक शास्त्रों के द्वारा शरणागतों के लिए प्रायश्चित करने को आदेश किया गया है। प्रपति प्रतिपादक शास्त्रों का कहना है कि प्रपन्न तो अपने इष्टदेव के सिवा इतर देवों में कभी प्रवृत्ति करते ही नहीं। यदि किसी कारण वश भूल से देवतान्तर मे प्रवृत्ति हो जाय तो टूटी हुई शरणागति को

ठिकाने आने के लिये फिर उसे प्रायश्चित कर लेना चाहिए। शास्त्र विहित इतर प्रायश्चित तो स्वरूप विरुद्ध होने के कारण शरणागत कर नहीं सकता। इस लिए संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध जो भगवान श्रीपति हैं उनको साष्टाग करके प्रार्थना करे कि हे कृपा-सागर हमारे अपराधों को क्षमा करिये, अब ऐसा कभी न करेंगे। शरणागत मुमुक्षुओं के लिए श्रीभगवान के सिवा इतर देवों का भजन, पूजन, शास्त्रों के द्वारा मना कर दिया गया है उसको मैंने भूल से कर लिया। यह मेरे से बडा भारी अपराध हुआ।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ! प्रपति प्रतिपादक शास्त्रों में इसको वैयू ही शान्ति बताया है। जैसे कि :—

भजने चान्ययदेवाना मपचारे च शॉप्रिणिः।
वैयूही परमां शान्तिं कुर्वीत सत्वसंश्रयः॥

इस श्लोक का वही भाव है जो कि पहले कह चुके हैं। श्री देवराज गुरु कहते हैं कि प्रपति शास्त्र को नहीं जानने वाले तो इस बात को सुनकर आश्चय करेंगे परन्तु शरणागति शास्त्रों को जानने वाले तो आश्चर्य नहीं करेंगे। शास्त्रों की शैली और धर्म का प्रसग विलक्षण होता है। हरेक धर्म का हरेक अधिकारी नहीं है। जब तक विवाह नही भया रहता है तब तक वो ब्रह्मचारी कहाता है। गृहस्थों के अपेक्षा शास्त्रों के द्वारा ब्रह्मचारी का धर्म भी कुछ विलक्षण बताया गया है जैसे सुरमा नहीं लगाना, पुष्पमाला नहीं धारण करना, ताम्बूल नहीं खाना, मलयागिर चन्दन का लेप नहीं करना, कच्छ नहीं बाँधना इत्यादि ब्रह्मचारियों के लिए शास्त्रों में धर्म कहा है। वही ब्रह्मचारी जब गृहस्थाश्रम को स्वीकार कर लेता है याने जब विवाह कर लेता है तो उसके लिए जो जो बात शास्त्रों के द्वारा मनाई थी वही करने के लिए आज्ञा दी जाती है। ब्रह्मचारी हालत में कच्छ बाँधना पाप था, गृहस्थ हालत में कच्छ बाँधना पुण्य हो गया। बिना कच्छ के रहना पाप हो गया। ब्रह्मचारी दशा में पान खाना, चन्दन लगाना, सुरमा लगाना, पुष्पमाला धारण करना मना था वही जब विवाह करके गृहस्थ हो गया तो उसके लिए विधान हो गया।

वही जब गृहस्थाश्रम को छोड़कर सन्यासी हो गया तो दूसरा धर्म हो गया। गृहस्थाश्रम में अग्निहोत्र करना उसके लिए पुण्य था सन्यासी हो जाने पर अग्निहोत्र की मनाई हो गई।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि महात्माओ! जब तक यह चेतन चौदह लोकों के सुखों की चाहना में रहता है तब तक सामान्य अधिकारी गिना जाता है। उस सामान्य अधिकारी के लिए शास्त्रों के द्वारा यह बताया जाता है कि यज्ञों के द्वारा, अनुष्ठानों के द्वारा देवताओं की पूजा करो तुम्हें इन्द्रलोक मिलेगा, कैलाश मिलेगा, ब्रह्मलोक मिलेगा। वही अधिकारी जब कुछ ज्यादा समझने लगता है, मुमुक्षुओं का कुछ दिन सत्संग कर लेता है तो पहिली उपासना से शास्त्र उसका चित्र हटाता है और कहता है कि भाई! यज्ञों के द्वारा देवताओं को पूज कर स्वर्ग में तुम जाओगे। परन्तु जब तुम्हारा पुण्य क्षीण हो जायेगा तब उस स्वर्ग लोग से जरूर गिरा दिये जाओगे। क्योंकि स्वर्ग, कैलाश, ब्रह्मलोक ये जितने देवताओं के लोक हैं सो सब नाशवन्त हैं। इन में जाने वालों का संसार में आवागमन बनाही रहता है। इससे भगवान श्रीपति की भक्ति उपासना करो तुम्हें परमपद मिलेगा। वहाँ से फिर कभी संसार चक्र में आना नहीं होगा। गीताजी में भगवान का श्रीमुख वचन है कि :—

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं बिशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति ।
आब्रह्म भुवना लोकाः पुनरावर्ति नो ऽर्जुन ॥

इसका अर्थ है कि ब्रह्मलोक से लेकर जितने लोक हैं सब पुनरावर्ती हैं याने देवों को पूजकर, देवों का अनुष्ठान कर यज्ञों द्वारा देवों को प्रसन्न करके कोई भी किसी देव के लोक में यदि जाता है तो अपने पुण्य के क्षय हो जाने के बाद फिर उसे संसार चक्र में आना ही पड़ता है। कैलाश, इन्द्रलोक, ब्रह्मलोक आदि लोकों में जाने वालों का आवागमन बना ही रहता है और जो हमको प्राप्त हो जाता है सो आवागमन से रहित हो जाता है याने जो लोग शरणागति करके हमारे लोक में याने परमपद में चले जाते हैं। उनका भयंकर संसार चक्र में फिर आना नहीं होता है। वे सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि मुमुक्षु महात्माओ ! यही शास्त्र की शैली है। पहिले देवों का पूजन, यज्ञों द्वारा देवों का आराधन, उसका फल देवों के लोको की प्राप्ति सामान्य अधिकारियों के लिए सामान्य शास्त्र बतलाता है। वही अधिकारी जब कुछ काल सत्संग कर लेता है तो सत्संग किये हुए अधिकारी को शास्त्र बताता है कि भाई ! जब भगवान खुद कहते हैं कि देवलोक में जाने वालों का आवागमन बना ही रहता है। और—"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" "यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम" मेरे लोक मे जाने वालों का फिर इस संसार चक्र में आना नहीं होता है। जहाँ जाकर फिर इस भयंकर ससार चक्र में नहीं आया जाता है वे ही मेरा परमधाम है। फिर शास्त्र कहता है कि "तैस्तैः कामै र्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्ते ऽन्य देवताः" अनित्य चीजों की कामनाओं से जिन लोगों का ज्ञान नष्ट हो जाता है वे ही भगवान को छोडकर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। "अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्प मेधसाम्" उन अल्प बुद्धि वाले देवोंकी उपासना करने वालों को जो फल मिलता है सो भी नाशवान होता है। ये सब श्लोक श्री गीताजी के हैं। खुद भगवान की श्रीमुख वाणी है और अन्य शास्त्र भी कहता है कि :—

"एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः"

याने प्यारे परमातमा का स्थान जो परमपद है वह इतना सुन्दर है, वहाँ इतना बढ चढ़-कर आनन्द है कि जिसके सामने ये स्वर्गादिक लोक नरक के समान हैं। विशेष सत्संग किये हुए मुमुक्षु अधिकारियों के लिए शास्त्र कहता है कि भाई ! भगवान के सिवा दूसरे देवों को पूजने वालों को भगवान नष्ट ज्ञान वाले बताते हैं। देवों के द्वारा मिले हुए फलों को नाशवन्त बताते हैं। देवलोकों में जाने वालों का फिर आवागमन बताते हैं और परमपद के सुख के सामने देवलोकों के सुख को नरकवत बताया जाता है। खुद भगवान अपने श्रीमुख से ही कहते हैं कि :—

"देवान् देव यजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि"

हे अर्जुन ! देवों को यजन पूजन उपासना अनुष्ठान करने वाले देवों के लोक में जाते हैं और पुण्य नाश होने के बाद वहाँ से मृत्यु लोक में फिर गिरा दिये जाते हैं और हमारी भक्ति यजन पूजन करने वाले हमारे लोक में जाते हैं और वे लोग फिर इस संसार चक्र में नहीं आते हैं। सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे महात्माओ ! इस प्रकार जब विशेष शास्त्रों के द्वारा सत्संग किया हुआ सारी बातों की छान बीन समझ लेता है तो झट सामान्य देवों का पूजन छोड़ देता है। मन में कहता है कि पैसा भी लगावें, टाइम भी लगावें और खुद भगवान के श्री मुखवाणी द्वारा "नष्टज्ञान" और "अल्प बुद्धि" ठहराये जावें। देवलोकों में जावें तो पुण्यनाश के बाद वहां से गिराये जावें। फिर जन्म मरण के चक्र में भटका करें। यह देवों का यजन और इनके द्वारा मिला हुआ फल यह क्या है ? यह धर्म है या कोई बला है। वह अधिकारी पछताता है कि हाय ! आजतक मेरा व्यर्थ समय निकल गया ऐसा पश्चाताप पूर्वक सब छोड़ कर और अनन्य होकर भगवान श्रीकान्त के भजने में लग जाता है और कृत-कृत्य होता है कि अब हम असली रास्ते पर आ गये। यह मार्ग अचल मिल गया। इसका फल भी परमपद है सो सदा नित्य है। इस तरह विचार-विचार कर बहुत प्रसन्न होता है। वही श्री भगवान की उपासना निष्ठ अधिकारी कुछ काल के बाद जब भक्ति और शरणागति का प्रसंग सुनता है और भक्ति की कठिनता और शरणागति की सरलता, भक्ति की अनेक शर्तें जसे कि आदि में मन इन्द्रिय वश होने से ही उपासना पूर्णरूप से फल दे सकेगी। जिसका मन इन्द्रिय वश में नहीं होगा उसको भक्ति मुक्ति नहीं दे सकेगी। जिसका मन इन्द्रिय वश न होगा उसका कर्मयोग भी सिद्ध न होगा। जैसे कि :—"असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः" उसी प्रकार जिसका कर्मयोग सिद्ध नहीं होगा उसका ज्ञानयोग भी फल नहीं दे सकेगा। भलीभांति जब कि साधन स्वरूप ज्ञानयोग मिल ही न पायेगा तो फल कैसे दे सकेगा। क्योंकि कर्मयोग जिसका सिद्ध हो पायेगा उसीको तो ज्ञानयोग मिलेगा। जैसे कि :—"तत्स्वयं योग ससिद्धः कालेनात्मनि विन्दति" और जिनका कर्मयोग, ज्ञानयोग सिद्ध नहीं होगा उस अधिकारी को साधन स्वरूप भक्तियोग प्राप्त नहीं होगा क्योंकि शास्त्र-कारों ने शास्त्रों के द्वारा इसका क्रमहीं इसी प्रकार निर्णय कर रखा है। और कर्मयोग,

ज्ञानयोग, भलीभांति सिद्ध हो जाने पर और भक्तियोग मिल जाने पर भी अच्छी तरह मन इन्द्रियों को वश में रख कर जो ताजिन्दगी हरवक्त अविछिन्न भगवान का स्मरण रखेगा और मरते वक्त श्री भगवान का ही स्मरण करता हुआ यदि शरीर छोडेगा तो उसकी गति होगी। जैसे कि :—

"अन्त कालेतु मामेव स्मरन मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम्।"

और किसी प्रकार कर्मयोग तथा ज्ञानयोग भी सिद्ध कर लिया साधनस्वरूप भक्तियोग भी अविच्छिन्न निवाह लिया और मरते वक्त भगवान का ध्यान स्मरण न होकर यदि और किसी चीज का ध्यान स्मरण हो आया तो साधन स्वरूप भक्तियोग निष्ठ अधिकारी की मुक्ति नहीं होगी। जहाँ मन जावेगा वहां हीं उसको फिर जन्म लेना पडेगा। जैसे जडभरत का मरते वक्त हरिण के बच्चे में मन जाने से फिर हरिण का वच्चा होना पडा। मरते वक्त जहाँ मन जायेगा साधन स्वरूप भक्तियोग के अवलम्ब से तरने की इच्छा रखने वाले अधिकारी का वहाँ अवश्य जन्म होगा। इसके प्रमाण में श्रीगीता में खुद भगवान श्रीमुख से आज्ञा करते हैं कि 'यं यं वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥' इस प्रकार साधन स्वरूप भक्तियोग की अनेक शर्तें जब अधिकारी सुनता है और बाद शरणागति योग की सुगमता का प्रसग श्रवण करता है तब झट साधन भक्तियोग से भी उसका मन हट जाता है और शरणागतियोग पर परिस्थिति हो जाती है। जसे उपायान्तर निष्ठ अधिकारी का कब मोक्ष होगा इसका निश्चय नहीं है। जैसे कि :—

"अनेक जन्म संसिद्ध स्ततो याति परांगतिम्।"

अनेक जन्म भली भांति अपने साधनों से सिद्ध हो पायेगा। तब परमगति को जायगा। गीता के इस श्री मुख वचन के अनुसार यह निर्णय हुआ कि 'साधन भक्ति के भरोसे पर मोक्ष चाहने वाले अधिकारी का कब मोक्ष होगा इसका पक्का निश्चय नहीं है।

दूसरी बात यह है कि मन इन्द्रिय वश हुए विना साधन स्वरूप कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति

योग कभी सिद्ध होता ही नहीं है। जैसे कि गीताजी में भगवान का श्रीमुख वचन है कि— "असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः" इसका अर्थ पहले ही कह चुके हैं।

तीसरी बात यह है कि साधनस्वरूप भक्तियोग निष्ठ अधिकारी के बाबत शुकदेव मुनि का वचन है कि जब उसका अन्त समय आवे तो चाहिए कि कहीं एकान्त पवित्र स्थान में चला जावे और देह से तथा देह के सम्बन्धियों से चित्त हटा देवे। ऐसा यदि न करे तो उसका साधन बिगड़ जावेगा। जैसा कि नीचे के श्लोक में कहा है :—

अन्तकालेतु पुरुष आगते गत साध्वसः।
कुर्यादसङ्ग शस्त्रेण स्पृहां देहेऽनु ये चतम्॥

चौथी बात यह है कि उपायान्तर निष्ठ अधिकारी के प्रति शास्त्रों का ऐसा कहना है कि भले ही अन्त समय में वह एकान्त में भी चला गया, सब सुसाधनों का संयोग भी उसको लग गया परन्तु यदि भगवान का स्मरण करता हुआ शरीर नहीं छोडेगा तो उसकी मुक्ति नहीं होगी। क्योंकि साधन भक्तियोग निष्ठ अधिकारी के प्रति गीताजी में भगवान का श्रीमुख वचन है कि :—

अन्तकालेतु मामेव स्मरन मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम्॥

जो उपायान्तर निष्ठ अधिकारी श्री भगवान का ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करेगा उसीको परमगति होगी। यदि अन्त में भगवान का स्मरण न होकर किसी और चीज का स्मरण हो गया तो जिसका स्मरण होगा उसी जगह उस अधिकारी का फिर जन्म होगा। सब साधनों का योग होते हुए भी सर्वस्व स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, राज्यकोष विभूति त्याग कर एकान्त जंगल मे निवास होते हुए भी सिर्फ एक भगवान के अन्तिम स्मृति के बिना हरिण बच्चे का स्मरण आ जाने के कारण इतने बडे साधन निष्ठ अधिकारी को पुनः पशु योनि में जन्म लेना पड़ा।

पांचवी बात यह है कि प्रपति शास्त्र की जो मीमांसा है उसका कहना है कि यदि जन्म जन्मान्तरों में घूणाक्षर न्याय से किसी काल में कदाचित साधन निष्ठ अधिकारी का अन्तिम भगवत्स्मृति सुधर जाय और वह परमपद में चला जाय तो भी वहा श्री भगवान का अन्तरग कैंकर्य उसको नहीं मिलता है। क्योंकि वह अधिकारी साधन दशा में अपने को स्वतन्त्र कर्त्ता मानकर रहा।

श्री देवराज गुरु कहते हैं कि हे मुमुक्षुओ! कहने का भाव यह है कि उपायान्तर कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के सम्पादन में अनेक वडे-वड़े अडचन है। अनेक भावुक महानुभाव अति लगन के साथ करने पश्चात भी जब सफल नहीं हुए तो हम काल कर्म स्वभाव के सिकचे में जकडे हुए कलयुगी चेतन जिसके लिए कोई सुविधा नहीं इनको सम्यक करके इनके द्वारा श्री भगवच्चरण कमल प्राप्त करें यह सर्वथा असम्भव है। इसके लिए अनेक सारतम शास्त्र के प्रमाण भी दिये और इसी शरीर से भगवत्प्राप्ति भी होनी चाहिए क्योंकि भगवान की परम निर्हेतुक दया से प्राप्त देवदुर्लभ मानव जीवन का बार बार मिलना अति कठिन है। इस शास्त्रीय बचन के अनुकूल कि (कीटेषु जन्म शतकोटिषु मानुषत्वम्) कीटादि योनियों में करोड़ोंवार भ्रमण करने के बाद भगवान की दया से मनुष्य शरीर प्राप्त होता है। एकबार स्टेशन से गाडी निकल जाने के बाद २४ घण्टा के बाद ही उस पर पुनः आती है। शरीर का भी यही क्रम है। शरीर छूटने बाद न जाने किन-किन योनियों में जाना पड़ेगा इसका निश्चय नहीं। हमें फिर यह कहकर न क्रन्दन करना पडे कि हाय! "मृतश्चाहं पुनर्जातः जातश्चाहं पुनर्मृत" मृत्यु के गाल में गया फिर माता के गर्भ में नव मास सड़कर बाहर आया इसी तरह अनेकानेक बार सहस्रों योनियों में मैं प्राप्त हो रहा हूँ यह ध्यान रखना पडेगा। और इसी लिये आवागमन के भयानक चक्र से भय भीत होकर जीव इस असार संसार सागर से पार होने की तीव्र त्वरा को लेकर, मोक्ष प्राप्ति हेतु कर्म ज्ञान, भक्ति को साधन स्वरूप स्वीकार कर, परम पिता परमेश्वर की नित्य अन्तरग कैंकर्य्य की प्राप्ति में जब अगाध कठिनाइयाँ देखता है तो उसे ईश्वर प्राप्ति के लिये अनन्य शरणागत ही बनना चाहिये। क्योंकि अनन्य शरणागति ही एक ऐसा उपाय है कि जिससे इस जन्म के बाद दूसरा जन्म नहीं हो सकता है, अतः अनन्य शरणागत बनकर ही रहना चाहिए।

श्रीमदनन्त श्री जगद्गुरू भगवद्रामानुज संरक्षित विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त प्रवर्तकाचार्य
श्रीश्री १००८ श्रीस्वामीजी सीतारामाचार्यजी महाराज कृत शरणागति मीमांसा
षष्टम खण्ड समाप्त
इति

भजन

(राग भूपावली.)

प्रभु के शरणागत होना, दिव्य वैकुण्ठ नगर जाना। टेर ॥
प्रभु एक श्री मन्नारायण सब ही जग के मांय।
इनही के शरणागत होकर भव-सागर तर जाय ॥
सदा हरि भक्तन में रहना, प्रभु के शरणागत होना। टे० ।
देव मात्र श्रीपति के सबही, दास भूत जग मांय।
श्रीपति के शरणागत जन पर प्रेम करत सुख पाय ॥
किसी से कबहु नहिं डरना प्रभु के शरणागत होना। टे० ।
श्री वैकुण्ठ नगर अति सुन्दर, रत्न जड़ित सब काम।
महल मकान सभी कंचन के नित्य मुक्त के धाम ॥
सदा श्री पति के सग रहना, प्रभु के शरणा गत होना। टे० ।
श्री रामानुज की कृपा से मिलत दास को ज्ञान।
इनही की कृपा से छूटत दम्भ, कपट, मद, मान ॥
सदा इनही के गुण गाना, प्रभु के शरणा गत होना। टे० ।
दुःख रूप संसार है, इसमें सुख सत सग।
श्री वैष्णव को दास गात जस करो सदा सत संग ॥
कभू नहिं काल वृथा खोना प्रभु के शरणागत होना। टे० ।

शरणागतों को चाहिए कि इस भजन को कण्ठस्थ करके नित्य गान किया करें।

प्रकाशक :—

श्री श्री १००८ परम पूज्य श्री स्वामीजी
महाराज वैकुण्ठाचार्यजी
अवध

मुद्रक - महालचन्द वयेद, १८६, जमुनालाल बजाज स्ट्रीट (क्रोस स्ट्रीट,) कलकत्ता-७

शरणागति मीमांसा एवं अन्यान्य ग्रन्थों के मिलने के पते :—

१—श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी सीतारामाचार्य जी महाराज, वैकुण्ठ मण्डप, नजरबाग, अयोध्या (उत्तर प्रदेश)

२—श्री श्री १००८ श्री स्वामीजी वैकुण्ठाचार्य जी महाराज, रघुनाथपुर, सारन (बिहार)

३—प्रेमसुखदास रामेश्वर दास, हनुमानगंज, कटनी (उत्तर प्रदेश)

४—ज्वालाप्रसाद ब्रह्मदत्त बागड़ोदिया, जयाजी राव काटन मिल्स लि० बिरला नगर (ग्वालियर)

५—ज्वालाप्रसाद हरिराम बागड़ोदिया, २२, महर्षि देवेन्द्र रोड, कलकत्ता।

६—श्री नारायणदासजी सराफ, चौक, फैजाबाद (उत्तर प्रदेश)

७—श्री लक्ष्मीनारायण राधावल्लभ जी कावरा, पिपरिया (म० प्र०)

८—श्री गणेशरामजी मुरलीधरजी, सोलापुर।

प्रकाशक :—

श्री श्री १००८ परम पूज्य श्री

स्वामीजी वैकुण्ठाचार्यजी

अवध